卐 श्री वीतरागायनमः 卐

श्री माघनंद्याचार्य विरचित

शास्त्रसार समुच्चय

हिन्दी टीकाकार

परमपूज्य विद्यालंकार
श्री १०८ आचार्य देशभूषण जी मुनिमहाराज

प्रकाशक :—

श्रीमति जैन, धर्मपत्नी श्री राजेन्द्र कुमार जैन
११-कीर्लिंग रोड़, नई देहली

१००० प्रति] वीर निर्वाण सम्वत् २४८४ [मूल्य ५ रुपये

प्रकाशक :—

श्रीमति जैन, धर्मपत्नी
श्री राजेन्द्र कुमार जैन
११-कीलिंग रोड, नई देहली

मुद्रक :—

श्री देशभूषण मुद्रणालय
४११, एसप्लेनेड रोड दिल्ली—६.

दो शब्द

देहली भारतवर्ष की राजधानी है। आज स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद तो देहली का बहुत ही विशिष्ट स्थान है। समस्त धर्मों के धर्मगुरु प्रायः सदैव हो देहली में विद्यमान रहते हैं। देहली के सौभाग्य से गत तीन वर्षों से पूज्य आचार्य १०८ विद्यालंकार श्री देशभूषण जी महाराज का देहली चातुर्मास हो रहा है। पूज्य आचार्य श्री कानड़ी संस्कृत तथा हिन्दी भाषा के एक उच्च कोटि के विद्वान हैं साथ ही आपको अंग्रेजी का भी ज्ञान है। आचार्य श्री को जैन धर्म प्रभावना की एक अद्वितीय लगन है। अब तक आप कितने ही ग्रन्थों का अनुवाद तथा कितनी ही मूल पुस्तकें जैन धर्म पर लिख चुके हैं। आपके द्वारा अनुवादित रत्नाकर शतक, भरतेश वैभव, अपराजितेश्वर शतक अधिक प्रसिद्ध हैं।

पूज्य आचार्य श्री माघनन्दी विरचित प्रस्तुत कानडी ग्रन्थ 'शास्त्रसार समुच्चय' एक अद्वितीय जैन धर्म ग्रन्थ है जिसमें चारों अनुयोगों का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। आचार्य श्री द्वारा सर्व प्रथम इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद किया गया है जो आपके सन्मुख है। आचार्य श्री ने इस ग्रन्थ के अनुवाद में ही इस चातुर्मास का अधिक समय व्यतीत किया है। जैन साहित्य के प्रति आपकी यह अपूर्व सेवा है जिसके लिए जैन समाज आपका सदैव ऋणी रहेगा।

इस ग्रन्थ के अतिरिक्त इस वर्ष चातुर्मास में आचार्य श्री ने अपना बाकी समय श्री भूवलय महान् ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद में व्यतीत किया है। ग्रन्थराज श्री भूवलय संसार का एक निराला ग्रन्थ है जो आचार्य श्री कुमुदेन्दु जी ने अंकों में निर्माण किया है। भूवलय ग्रन्थ का प्रकाशन एक ऐसा कार्य होगा जो संसार में जैन धर्म की प्राचीनता तथा महत्व को दीपक के समान प्रकाश में लाएगा। इस ग्रन्थ के प्रकाशन का कार्य भूवलय ग्रन्थ प्रकाशन समिति ने अपने ऊपर लिया है। उसके संस्थापक भी आचार्य श्री ही हैं। उस ग्रन्थ का मंगल-प्राभृत शीघ्र प्रकाशित होगा।

आचार्य श्री जगत को एक महान विभूति हैं। आपके देहली चातुर्मास से जैन जनता ने नहीं वरंच अजैन जनता ने भी बहुत धर्म लाभ उठाया

है। भारत के सुप्रसिद्ध व्यापारी तथा आर्य धर्म शिरोमणि श्री युगलकिशोर जी बिड़ला तो आप को अपने धर्मगुरु के रूप में सदैव ही पूजते रहे हैं। आपके उपदेशों से प्रभावित होकर कांग्रेस अध्यक्ष श्री ढेबर भाई, श्री निजलिंगप्पा मुख्यमन्त्री मैसूर राज्य, सुप्रीम कोर्ट के जज, भारत राज्य मन्त्रीगण तथा अनेकों अन्य ख्याति प्राप्त महान व्यक्ति आपकी सेवा में धर्म लाभ प्राप्ति हेतु, आपके उपदेश श्रवण को आते रहें हैं। श्री जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना है कि पूज्य आचार्य श्री सदैव ही हमारे मार्गप्रदर्शक रहें। जैन समाज, श्रीमति जैन धर्मपत्नी श्री राजेन्द्र कुमार जी जैन—११ कौलिंग रोड नई देहली की अत्यन्त आभारी हैं। जिनकी ओर से इस ग्रन्थ की १००० प्रतियां प्रकाशित की जा रही हैं। आपकी धर्मनिष्ठा तथा दानशीलता अनुकरणीय है।

आदीश्वरप्रसाद जैन एम. ए.

मन्त्री

श्री भूवलय ग्रन्थराज प्रकाशन समिति

२० अक्तूबर १९५७ जैन मित्र मण्डल, धर्मपुरा देहली।

प्रकाशनीय वक्तव्य

उत्तरी भारत के सौभाग्य से जयपुर-अलवर-फिरोजपुर-गुड़गांवा आदि अनेक स्थानों में धर्म प्रभावना करते हुए बाल ब्रह्मचारी विद्यालंकार परम पूज्य १०८ आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज का दिनांक २६-५-१६५५ रविवार को प्रातःकाल भारतवर्ष की राजधानी देहली में शुभागमन हुआ। समस्त जैन समाज ने आनन्द में विभोर होकर गद्‌गद् हृदय से भक्ति भाव पूर्वक महाराज जी का स्वागत किया। देहली की समाज को महाराज जी के दर्शन पाकर तथा उनके कल्याणकारी उपदेश सुनकर अत्यन्त धर्म लाभ मिला।

संक्षिप्त परिचयः—आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज का जन्म संवत् १६६५ में बम्बई प्रान्त के बेलगांव जिले में कोथलपुर नामक ग्राम में हुआ था। आपके पिता जी का नाम श्री सत्यगौड़ तथा माताजी का अक्कावती था। माताजी इस संसार को असार जानकर आपको तीन मास की ही आयु में छोड़ कर चल बसी। पिता जी ने भी अधिक मोह न रक्खा और ६ (नौ) वर्ष पश्चात् वे भी परलोक सिधार गये। माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् आपका पालन-पोषण आपकी नानी जी ने किया।

आपने सोलह वर्ष की आयु में ही कानड़ी और महाराष्ट्री भाषाओं का विद्याध्ययन कर लिया। जिस समय आप १६ वर्ष के हुए आपके मामाजी ने आपका विवाह करने का विचार किया, परन्तु संयोगवश श्री जैकीर्ति जी मुनि महाराज का आपके ग्राम में शुभागमन हुआ। मुनि महाराज का निमित्त और उपदेश मिलते ही आप में धर्म भावना जाग्रत हो गई और गुरु के चरणों में तन मन लगा दिया। गुरुजी ने सबसे पहले अभक्ष पदार्थों का त्याग कराया और अष्टमूल गुण धारण कराये। कुछ दिन बाद गुरु जी के साथ ही श्री सम्मेद शिखर जी की यात्रा को चले गये।

गुरु जी के साथ रहने पर दिन-प्रति दिन धर्म की ओर ध्यान लगने लगा और मुनि दीक्षा लेने की इच्छा प्रगट की—परन्तु बाल्य अवस्था होने के कारण और श्रावकों के विरोध करने पर आपको रामटेक तीर्थ पर सर्व प्रथम ऐलक दीक्षा दी गई। परन्तु आपके आग्रह करने पर एक

माह पश्चात् ही श्री १०८ जैकीर्ति जी महाराज ने कुन्थलगिरि पर आपको मुनि दीक्षा दे दी।

आपको प्राचीन ग्रन्थों के अनुवाद तथा जैन साहित्य के प्रसार का बहुत ही ध्यान रहता है। आपने अनेक प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का अनुवाद किया है तथा अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया है। भरतेश वैभव-भावनासार-अपराजितेश्वर शतक-दशलक्षण धर्म-नर से नारायण इत्यादि २।

श्री भूवलय—आज से लगभग १२-१३ सौ वर्ष पूर्व आचार्य श्री कुमुदेन्दु नामक एक महान् विद्वान् ऋषि का भारतवर्ष में आभिर्भाव हुआ—उन्होंने एक ऐसे ग्रन्थराज की रचना की जिसमें अंकों को प्रयोग में लाया गया। इस ग्रन्थ में एक भी अक्षर नहीं है। सारा भूवलय ग्रन्थ नौ अंकों तथा एक बिंदी से बना है। इस ग्रन्थ में उस काल की प्रचलित ७१८ भाषाओं का साहित्य पाया जाता है। अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य श्री १०८ देशभूषण जी महाराज अपना अमूल्य समय लगाकर इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करने में प्रयत्नशील हैं। इस ग्रन्थ की विशालता का अनुभव इससे लगाया जा सकता है कि केवल हिन्दी भाषा में अनुवाद करने में ही कम से कम पांच सात वर्ष लगेंगे। इस ग्रन्थ में से अनेक अन्य ग्रन्थों के निकलने की भी सम्भावना है। इस कार्य के पूर्ण होने से समाज का अवश्य ही एक बड़ा उपकार होगा।

देहली चातुर्मास के समय श्री १०८ आचार्य देशभूषण जी महाराज द्वारा "शास्त्र सार समुच्चय" ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद किया गया है आशा है धर्म प्रेमी महानुभाव इस ग्रन्थ को पढ़कर धर्म लाभ उठायेंगे।

इस ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद करने में पं० अजित कुमार जी शास्त्री मुलतान वाले तथा पं० रामशंकर त्रिपाठीजी बस्ती ने विशेष सहयोग दिया है अतः उनके लिए धन्यवाद।

वशेशर नाथ जैन

२५-११-१९५७ पहाड़ी धीरज देहली।

दो शब्द

संसारसागर में आत्मा को डुबाने वाला अज्ञान (ज्ञान की कमी) तथा कुज्ञान [मिथ्याज्ञान] है और संसार से पार करने वाला सज्ज्ञान है। वैसे तो मनुष्य पढ़ लिखकर लौकिक ज्ञान में बहुत निपुण हो जाते हैं जैसे कि आजकल भौतिक विज्ञान में पाश्चात्य देशों के विज्ञानवेत्ता अणुबम उद्जनबम आदि बना कर बहुत कुछ उन्नति कर चुके हैं किन्तु उस सूक्ष्म विशाल ज्ञान से आत्मा को कुछ पोषण नहीं मिलता। वह महान ज्ञान तो हिरोशिमा, नागासीका—जैसे जापान के विशाल नगरों को क्षणभर में विध्वंस करने में निमित्तकारण बन गया है। आध्यात्मिक ज्ञान ही आत्मकल्याण का साधन है।

सततस्मरणीय पूज्यतम तीर्थंकरों ने उसी आध्यात्मिक ज्ञान का प्रचार किया यद्यपि उन्होंने परमाणु आदि जड़ पदार्थों का सूक्ष्म विवेचन भी अपने दिव्यउपदेश में स्पष्ट किया है परन्तु उनका संकेत मुख्यरूप से आध्यात्मिक ज्ञान को ओर रहा। उसी आध्यात्मिक ज्ञान को अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर की शिष्य परम्परा ने ग्रन्थनिबद्ध करके जगत्कल्याण के लिए सुरक्षित रक्खा। उन्होंने भगवान महावीर की वाणी को चार अनुयोगों में विभक्त करके भिन्न-भिन्न अनुयोगों की अक्षरात्मक रचना की। परन्तु श्री माघनन्दि आचार्य ने सूत्रात्मक शास्त्रसार समुच्चय ग्रन्थ में उन चारों अनुयोगों को संक्षेप में रखकर अनुपम रचना संसार के सामने रक्खी।

उसी शास्त्रसार समुच्चय ग्रन्थ की टीका श्री माणिक्यनन्दि आचार्य ने की है जोकि संभवतः संस्कृत भाषा में होगी। एक कानड़ी टीका किसी अज्ञातनामा विद्वान ने की है जोकि अच्छी सुगम एवं उपयोगी है। उसकी उपयोगिता अनुभव करके हमने उसका हिन्दी अनुवाद कर दिया है। ग्रन्थ की अन्य मूल लिखित प्रति न मिल सकने से ग्रन्थ का मिलान न किया जा सका, अतः अनेक गाथाओं एवं श्लोकों की अशुद्धियों का ठीक संशोधन होने से रह गया है।

ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए श्रीमति जैन धर्मपत्नी श्री राजेन्द्र कुमार जी जैन ११—कीलिंग रोड न्यू देहली ने आर्थिक व्यय करके सज्ज्ञान के प्रसार में सहयोग दिया है उनका यह आर्थिक दान उनके मुक्ति के कारणभूत पुण्यानुबंधका कारण है। धनका सदुपयोग विश्वकल्याण के कारणभूत सत्कार्यों में व्यय करना ही है। श्रीमति जैन की यह उदारभावना और भी प्रगति करे और

अपने स्वस्थ प्रसन्न जीवन से स्वपर कल्याण करने में अग्रेसर रहें, ऐसा हमारा शुभाशीर्वाद है।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में पं० अजितकुमार जी शास्त्री, सम्पादक जैन-गजट तथा पं० रामशंकर जी त्रिपाठी बस्तो ने अच्छा सहयोग दिया है। एवं अनेक स्थलों पर क्षुल्लिका विशालमती ने सहायता की है, एतदर्थ उन्हें भी शुभाशीर्वाद है।

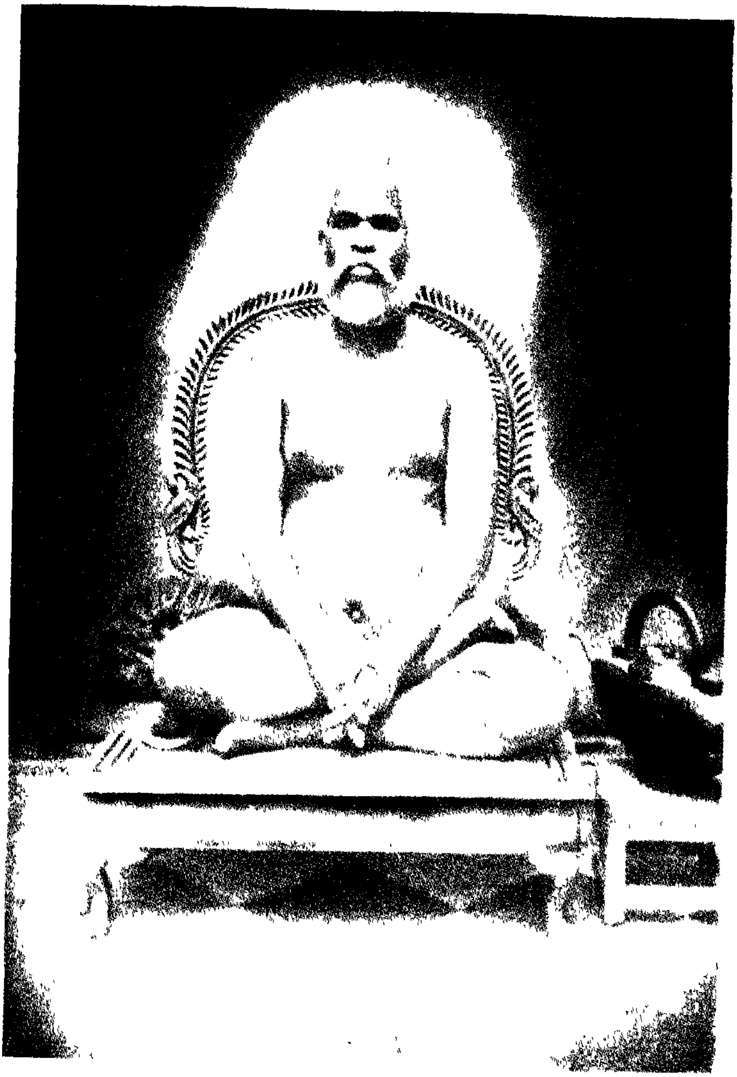
हमारे सामने भूवलय सिद्धान्त के अनुवाद का भी महान कार्य है, उसमें भी हमारा पर्याप्त समय तथा उपयोग इसी अवसर पर लगा रहा, साथ ही उन दिनों में बिहार भी होता रहा, इस कारण शास्त्रसार समुच्चय के अनुवाद कार्य में त्रुटियां रह जाना सम्भव है विद्वान गण उन त्रुटियों को सुधार कर अपन कर्तव्य का पालन करें, ऐसा हमारा अनुरोध है।

भगवान महावीर का शासन विश्वव्यापी हो मानव समाज दुर्गुण दुराचार छोड़कर सन्मार्गगामी बने और विश्व की अशान्ति दूर हो, हमारी यही भावना है।

[आचार्य श्री १०८] देशभूषण [जी महाराज]
[दिल्ली-चातुर्मास]

शास्त्रसार समुच्चय

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'शास्त्रसार समुच्चय' जिसका विषय उसके नाम से स्पष्ट है। इस ग्रन्थ में आचार्य महोदय ने उन सभी विषयों की चर्चा की है जिनको जानने की अभिलाषा प्रत्येक श्रावक को होती है। इसमें ज्योतिष, वैद्यक-जैसे लौकिक विषयों की भी चर्चा की गई है। ग्रन्थ की टीका कानड़ी भाषा में की गई है। सूत्रों के रचयिता आचार्य माघनन्दि योगीन्द्र हैं। जो वस्तु-तत्त्व के मर्मज्ञ, महान् तपस्वी और योग-साधना में निरत रहते थे। इतना ही नहीं किंतु ध्यान और अध्ययन आदि में अपना पूरा समय लगाते थे। और कभी-कभी भेद-विज्ञान द्वारा आत्मस्वरूप को प्राप्त करने तथा आत्म-प्रतीति के साथ स्वरूपानुभव करने में जो उन्हें सरस आनन्द आता था उसमें वे सदा सराबोर रहते थे। जब कभी उपयोग में अस्थिरता आने का योग बनता तो आचार्य महोदय तत्त्व-चिंतन और मनन द्वारा उसे स्थिर करने का प्रयत्न करते। और फिर ग्रन्थ



स्वस्ति श्री १०८ विद्यालंकार

आचार्य श्री देशभूषण मुनि महाराज जी

रचनादि शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करते थे। आपके नाम के साथ लगी हुई 'योगीन्द्र' उपाधि आपकी कठोर तपश्चर्या एवं आत्म-साधना का जयघोष कर रही है। आप कनड़ी भाषा के साथ संस्कृत भाषा के विशिष्ट विद्वान थे। और संक्षिप्त तथा सार रूप रचना करने में दक्ष थे।

माघनन्दी नाम के अनेक विद्वान और आचार्य हो गए हैं। उनमें वे कौन हैं और गुरूपरम्परा क्या है ? यह विचारणीय है। इस ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि प्रस्तुत माघनन्दि योगीन्द्र (मूलसंघ बलात्कार गण) के गुरु विद्वान श्री 'कुमुदेन्दु' थे। यह कुमुदेन्दु प्रतिष्ठा-कल्प टिप्पण के भी कर्ता थे। अतः इनका समय संभवतः विक्रम की १२ वीं १३ वीं शताब्दी होना चाहिए। एक माघनन्दी कुमुदचन्द्र के शिष्य थे, जो माघनन्दि श्रावकाचार तथा शास्त्रसार समुच्चय के कनाड़ी टीकाकार हैं। कर्नाटक कवि चरित के अनुसार इनका समय ईस्वीसन् १२६० (वि० सं० १३१७) है। शास्त्रसार समुच्चय के कर्ता माघनन्दि योगीन्द्र इन से पूर्ववर्ती हैं। अर्थात् उनका समय विक्रम की १३ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। आपकी यह अनुपम कृति संक्षिप्त स्पष्ट और अर्थ-गाम्भीर्य को लिए हुए है। इस ग्रन्थ में प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग के साथ अनगार (मुनि) और श्रावक के धर्म तथा कर्तव्य का अच्छा विवेचन किया गया है। ग्रन्थ की टीका की भाषा कनाड़ी होने से वह तद्भाषा-भाषियों के लिये तो उपयोगी है ही, किन्तु आचार्य श्री १०८ देश-भूषण जी महाराज द्वारा हिन्दी टीका हो जाने से वह हिन्दी भाषा-भाषी जनों के लिये भी उपयोगी हो गया है।

श्री आचार्य ने जब इस ग्रन्थ का अध्ययन किया था, उसी समय से इस की टीका करने का उनका विचार था, परन्तु पर्याप्त साधन सामग्री के अनुकूल न होने से वे उसे उस समय कार्य रूप में परिणत नहीं कर सके थे। किन्तु भारत की राजधानी दिल्ली में उनका चातुर्मास होने से उन्हें वह सुयोग मिल गया, और वे अपने विचार को पूर्ण करने में समर्थ हो सके हैं। पूज्यवर आचार्य श्री की मातृ-भाषा हिन्दी न होने पर भी उनका यह हिन्दी अनुवाद सुरुचि पूर्ण है। साथ ही, भाषा सरल और मुहावरेदार है और ग्रन्थ के हार्द को स्पष्ट करने में पूरा परिश्रम किया गया है। आचार्य श्री का उक्त कार्य अभिनन्द-नीय है। आशा है, आचार्य महाराज भविष्य में जनता का ध्यान जिनवाणी के संरक्षण की ओर आकर्षित करने की कृपा करेंगे।

—परमानन्द जैन शास्त्री

वक्तव्य

संसार में भ्रम, अज्ञान, असत्धारणा, आध्यात्मिक अन्धकार हैं, जैसे सूर्य अस्त हो जाने पर नेत्रों को बाहरी पदार्थ रात्रि के गहन अन्धकार में दिखाई नहीं देते, ठीक उसी तरह गहन अज्ञान अन्धकार में ज्ञान का अधिपति आत्मा स्वयं अपने आपको नहीं देख पाता।

किन्तु सौभाग्य है कि सदा रात्रि का अन्धकार नहीं बना रहता, कुछ समय पीछे सूर्य-उदय के साथ प्रकाश अवश्य हुआ करता है, इसी तरह अज्ञान अन्धकार भी संसार में सदा व्याप्त नहीं रहता, उस आध्यात्मिक अन्धकार को दूर करनेवाला ज्ञान-सूर्य भी कभी उदित होता ही है जिसके महान प्रकाश में अज्ञान धारणाएं, फैले हुए भ्रम और असत् श्रद्धा बहुत कुछ दूर हो जाती हैं, उसी ज्ञान-प्रकाश में सांसारिक विविध दुःखों से पीड़ित जीव सन्मार्ग का अवलोकन करके गहन संसार वनको पार करके अजर अमर बन जाया करते हैं।

जिस तरह दिन और रात्रि की परम्परा सदा से चली आ रही है, ज्ञान-प्रकाश और अज्ञान-अन्धकार फैलने की परम्परा भी सदा से चली आ रही है। ज्ञान-प्रकाशक तीर्थंकर जब प्रगट होते हैं तब जगत में ज्ञान की महान ज्योति जगमगा उठती है और जब उनका निर्वाण हो जाता है तब धीरे-धीरे वह ज्योति बुझकर अज्ञान फैल जाता है।

इस युग की अपेक्षा भरतक्षेत्र में सबसे पहले सत्ज्ञान के प्रकाशक अनुपम दिवाकर आदि जिनेश्वर भगवान ऋषभनाथ सुषमादुःषमा काल के अन्तिम चरण में प्रगट हुए। उन्होंने अपने अनुपम ज्ञान बल से पहले समस्त किंकर्तव्य-विमूढ जनता को जीवन-निर्वाह की विधियां-असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य, विद्या आदि कलाएं सिखाईं। अपनी ब्राह्मी पुत्री को अक्षर विद्या और लघुपुत्री सुन्दरी को अंक-विद्या सिखलाई, इस प्रकार लिखने पढ़ने का सूत्रपात किया। अपने भरत, बाहुबली आदि उदीयमान महान पुत्रों को नाट्य, राजनीति, मल्ल युद्ध आदि कलाओं में निपुण किया। भगवान ऋषभ नाथ ने अपने यौवन काल में स्वयं निष्कण्टक न्याय नीति से राज्य-शासन किया तथा आयु के अन्तिम चरण में अपने राज-सिंहासन पर भरत को बिठा कर स्वयं मुनि-दीक्षा लेकर योग धारण किया।

जिस तरह उन्होंने अपने गृहस्थ-आश्रम में जनता को सबसे प्रथम समस्त कलाएँ सिखलाई थीं, इसी प्रकार घर परिवार से विरक्त होकर नग्न दिगम्बर रूप धारण करने के अनन्तर सबसे पहले उन्होंने मुनि-चर्याका आदर्श भी उपस्थित किया। उस योगि-मार्ग में उन्हें एक हजार वर्ष तक मौन भाव से कठोर तपस्या करने के पश्चात् जब केवल ज्ञान प्राप्त हुआ तब वे इस युगके सबसे प्रथम वीतराग सर्वज्ञ अर्हंत परमात्मा बने। उस समय उन्होंने सबसे प्रथम जनता को संसार से पार होकर मुक्ति प्राप्त करने का सन्मार्ग प्रदर्शन किया, कर्म-बन्धन, कर्म-मोचन, आत्मा, परमात्मा, जीवअजीव आदि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप अपनी दिव्य-ध्वनि द्वारा बतलाया। आर्य-क्षेत्र में सर्वत्र विहार करके समवशरण द्वारा धर्म का प्रचार तथा तत्व ज्ञान का प्रसार किया। जनता में आध्यात्मिक रुचि उत्पन्न की। इस प्रकार वे सबसे पहले धर्म-उपदेष्टा प्रख्यात हुए।

प्रसिद्ध वैदिक दिगम्बर ऋषि शुकदेव जी से जब पूछा गया कि 'आप अन्य अवतारों को नमस्कार न करके ऋषभ-अवतार (भगवान ऋषभ नाथ) को ही नमस्कार क्यों करते हैं? तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'अन्य अवतारों ने संसार का मार्ग बतलाया है, किन्तु ऋषभ देव ने मुक्ति का मार्ग बतलाया है, अतः मैं केवल ऋषभदेव को नमस्कार करता हूँ।'

भगवान ऋषभनाथ ने दीर्घ काल तक धर्म-प्रचार करने के अनन्तर कैलाश पर्वत से मुक्ति प्राप्त की। इस प्रकार वे प्रथम तीर्थंकर हुए। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत पहले चक्रवर्ती सम्राट् हुए, उनके ही नाम पर इस देश का नाम 'भारत' प्रसिद्ध हुआ।

भगवान ऋषभनाथ के मुक्त हो जाने पर उनकी शिष्य-परम्परा तत्व-उपदेश तथा धर्म-प्रचार करती रही। फिर भगवान अजितनाथ दूसरे तीर्थंकर हुए उन्होंने राज-शासन करने के पश्चात् मुनि-दीक्षा लेकर अर्हंत-पद प्राप्त किया। तदनन्तर भगवान ऋषभनाथ के समान ही महान धर्म-प्रचार और तात्विक प्रसार किया। भगवान अजितनाथ के मुक्त हो जाने पर क्रमशः सम्भव नाथ, अभिनन्दननाथ आदि तीर्थंकर क्रमशः होते रहे। बीसवें तीर्थंकर मुनि-सुव्रतनाथ हुए इनके समय में राम, लक्ष्मण, रावण आदि हुए। बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ हुए। नारायण कृष्ण इनके चचेरे भाई थे, कौरव पाण्डव इनके समय में हुए हैं। तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ और अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर हुए। इनमें से भी वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ,

पार्श्वनाथ और महावीर ये पांच तीर्थङ्कर बाल ब्रह्मचारी हुए हैं। सभी तीर्थङ्करों ने अपने समय में धर्म तथा सत्‌ज्ञान का महान प्रचार किया है।

समस्त तीर्थङ्करों का तात्विक उपदेश एक ही समान रहा क्योंकि सत्य एक ही प्रकार का होता है, उसके अनेक भेद नहीं हुआ करते। अतः जैसी कुछ वस्तु-व्यवस्था भगवान ऋषभनाथ के ज्ञान द्वारा अवगत होकर उनकी दिव्य-ध्वनि से प्रगट हुई वैसा ही वस्तु-कथन भगवान महावीर द्वारा हुआ।

भगवान महावीर के मुक्त हो जाने पर भगवान महावीर के चार शिष्य केवल ज्ञानी (सर्वज्ञ) हुए। श्री इन्द्र-भूति गौतम गणधर, सुधर्म गणधर तथा जम्बू स्वामी अनुबद्ध केवली हुए और श्रीधर अननुबद्ध केवली हुए हैं। जो कि कुण्डल गिरि से मुक्त हुए। इनके पश्चात् भरत क्षेत्र में केवल-ज्ञान-सूर्य अस्त हो गया। तब भगवान महावीर का तात्विक प्रचार उनकी शिष्य-परम्परा ने किया।

चार केवलियों के बाद नन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पांच द्वादशांग वेत्ता श्रुत-केवली हुए। भद्रबाहु आचार्य के पश्चात् श्रुत-केवल-ज्ञान-सूर्य भी अस्त हो गया। इन पांचों का समय सौ वर्ष है। तदनन्तर विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गङ्गदेव और सुधर्म, ये ग्यारह यति ग्यारह अंग दशपूर्व के वेत्ता हुए। इन सबका काल १८३ वर्ष है।

तदनतर श्री नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस ये पांच मुनिवर ग्यारह अंग के ज्ञाता हुए। ये सब २२० वर्षों में हुए। फिर सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु, और लोहार्य ये चार मुनिराज आचारांग के धारक हुए। ये आचारांग के पूर्ण ज्ञाता थे, शेष १० अंग, १४ पूर्वों का इन्हें एकदेश ज्ञान था।

इनके पीछे श्री धरसेन तथा गुणधर आचार्य हुए है। श्री धरसेनाचार्य ने अपना आयुकाल सन्निकट जानकर अन्य साधु संघ से श्री पुष्पदन्त/भूतबली नामक दो मेधावी मुनियों को अपने पास बुलाया और उन्हें सिद्धान्त पढ़ाया। सिद्धान्तमें पारङ्गत करके उन्हें अपने पास से विदा कर दिया। श्री धरसेनाचार्य गिरिनगर (गिरनार) के निकट चन्द्रक गुफा में रहते थे जोकि अब तक विद्यमान है।

श्री पुष्पदन्त भूतबली आचार्य ने षट्खण्ड आगम की और श्री गुणधर आचार्य ने कसाय-पाहुड़ ग्रन्थ की रचना की। सम्भवतः षट्खण्ड आगम से पहले कसाय-पाहुड की रचना हुई है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य अपने आपको

द्वादशांग वेत्ता श्री भद्रबाहु आचार्य का शिष्य लिखते हैं, इस दृष्टि से उनका समय श्री पुष्पदन्त, भूतबली से भी पहले का बैठता है किन्तु चारों आचार्य विक्रम की दूसरी शताब्दी के माने जाते हैं, अतः श्री कुन्द-कुन्दाचार्य का समय विचारणीय है।

इस प्रकार भगवान वीरप्रभु का उपदिष्ट सैद्धान्तिक ज्ञान अविच्छिन्न गुरु-परम्परा से श्री धरसेन, गुणधर, पुष्पदन्त, भूतबली, कुन्दकुन्द आचार्य को प्राप्त हुआ और उन्होंने (धरसेन आचार्य के सिवाय) आगम-रचना प्रारम्भ की। श्वेताम्बरीय आगम-रचना विक्रम सं० ५१० में बल्लीपुर में श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में हुई।

श्री गणधर, पुष्पदन्त भूतबली, कुन्दकुन्द आचार्य के अनन्तर ग्रन्थ निर्माण की पद्धति चल पड़ी। तदनुसार श्री उमास्वामी, समन्तभद्र, पूज्यपाद यतिवृषभ, अकलंकदेव, वीरसेन, जिनसेन आदि आचार्यों ने गुरु-परम्परा से प्राप्त ज्ञान के अनुसार विभिन्न विषयों पर विभिन्न ग्रन्थों की रचना की। उन ग्रन्थों में प्रायः किसी एक ही अनुयोग का विषय-विवरण रक्खा गया है।

कर्णाटक कविचरित के अनुसार संवत् १३१७ में श्री कुमुदचन्द्र आचार्य के शिष्य श्री माघनन्दी आचार्य हुए इन्होंने चारों अनुयोगों को सूत्र-निबद्ध करके शास्त्रसार-समुच्चय ग्रन्थ की रचना की है। इसमें संक्षेप से चारों अनुयोगों का विषय आ गया है। इस ग्रन्थ की एक टीका माणिक्यनन्दि मुनि ने की है संभवतः वह संस्कृत भाषा में होगी। कनड़ी टीका एक अन्य विद्वान ने बनाई है। ग्रन्थ के अन्त में जो प्रशस्ति के पद्य हैं उनसे उस विद्वान का नाम 'चन्द्रकीर्ति' प्रतीत होता है और संभवतः वह गृहविरत महाव्रती मुनि थे, उन्होंने यह टीका निल्लिकार (कर्णाटक प्रान्त) नगर के भगवान अनन्तनाथ के मंदिर में आश्विन सुदी १० (विजया दशमी) को लिखी है।

यह टीका अच्छे परिश्रम के साथ लिखी गई है, अच्छा उपयोगी पठ्यनीय विषय इसमें संकलित किया गया है। किस संवत् में यह लिखी गई, यह ज्ञात नहीं हो सका। यह टीका कर्णाटक लिपि में प्रकाशित हो चुकी है। प्रकाशक को एक प्रति के सिवाय अन्य कोई लिखित प्रति उपलब्ध न हो सकी, जिससे कि वह दोनों प्रतियों का मिलान करके संशोधन कर लेते, इस कठिनाई के कारण टीका में निबद्ध अनेक श्लोक और गाथाएं अशुद्ध छप गई हैं। अस्तु।

इसी टीका की उपयोगिता का अनुभव करके सततज्ञानोपयोगी विद्यालङ्कार आचार्य देशभूषण जी महाराज ने इस वर्ष चातुर्मास में इस कनड़ी टीका का हिन्दी अनुवाद किया है। एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद

करना कितना श्रम-साध्य कठिन कार्य है इसको भुक्त योगी ही समझ सकते हैं। फिर भी ४२४ पृष्ठ प्रमाण इस टीका का अनुवाद महाराज ने स्वल्प समय में कर ही डाला।

इसके साथ ही वे महान अद्भुत ग्रन्थ भूवलय के अनुवाद और सम्पादन में भी पर्याप्त योग देते रहे। इस तरह उनके कठिन श्रम को विद्वान ही आंक सकते हैं। इस ग्रन्थ के सम्पादन में मैंने भी कुछ योग दिया है। असाता वश नेत्र पीड़ा, इन्फ्ल्युञ्जा (श्लेष्म) ज्वर तथा वायु पीड़ा-ग्रस्त होने के कारण मुझे लगभग डेढ़ मास तक विश्राम करना पड़ा, ग्रन्थ का सम्पादन, प्रकाशन उस समय भी चलता रहा, अतः उस भाग को मैं नहीं देख सका।

ग्रन्थ मूल प्रति उपलब्ध न होने से संशोधन का कार्य मेरे लिए भी कठिन रहा। बहुत सी गाथाएँ तथा संस्कृत श्लोक तिलोयपण्णत्ति, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों से मिलान करके शुद्ध कर लिए गये, जिन उद्‌धृत पद्यों के विषय में मूल ग्रन्थ का पता न लग सका उनको ज्यों का त्यों रखदेना पड़ा अतः विद्वान इस कठिनाई को दृष्टि में रखकर त्रुटियों के लिए क्षमा करें। ग्रन्थ इससे भी अधिक सुन्दर सम्पादित होता किन्तु प्रकाशकों की नियमित स्वल्प समय में ही प्रकाशित कर देने की प्रेरणा ने अधिक-समय-साध्य कार्य स्वल्प समय में करने के कारण वैसा न होने दिया। अस्तु।

—अजितकुमार शास्त्री
सम्पादक जैन गजट,
दिल्ली।

16.10.87

विषय-सूची

प्रथमानुयोग

करणानुयोग

चरणानुयोग



श्रीमति जैन
धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमारजी जैन
११-कीलिंग रोड, नई दिल्ली।

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

श्री माघनंद्याचार्यविरचित

शास्त्रसारसमुच्चय

कानड़ी टीका

का

श्री आचार्य १०८ देशभूषण जी महाराज के द्वारा

हिंदी भाषानुवाद

मंगला चरण

श्री विबुधवंद्यजिनरं केवलचित्सुखदसिद्धपरमेष्ठिगळं ॥
भावजजयिसाधुगळं भाविसि पोडमट्टु पडेवेनक्षयसुखमं॥

अर्थ—मैं (माघनंद्याचार्य) अविनश्वर सुख की प्राप्ति के लिये, चतुर्निकाय देवों द्वारा वंदनीय श्री अरहंत तथा आत्मसुख में रमण करने वाले सिद्ध परमेष्ठी, आत्म तत्व की साधना में तल्लीन रहने वाले आचार्य, उपाध्याय और साधु ऐसे पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करता हूं। इस प्रकार मंगलाचरण करके ग्रंथकार आचार्य श्री माघनंदी शास्त्र रचना करने की प्रतिज्ञा करते हैं कि—

मैं श्री वीर भगवान् के द्वारा कहे गये शास्त्रसार समुच्चय की वृत्ति को कहूंगा। जो वृत्ति संपूर्ण संसारी जीवों के लिये सार सुख प्रदान कर अनंत गुण संपत्ति को देने वाली होगी।

विषयकषायध्वद्यान दावानलदह्यमान पंचप्रकार संसारकांतार परिभ्रमण भयभीत निखिल निकट विनयजनं निरन्तराविनश्वर परम ल्हाद सुखसुदारसमनेबयसुत्तमिर्कुमासुखामृतानुभूतियं निजनिरंजन परमात्मस्वरूप प्राप्तियिल्लदागदा सहजशुद्धात्मस्वरूपप्राप्तियुं अभेदरत्नत्रययाराधने यिदिल्लदागदु । आ सहज शुद्धात्मस्वरूपरुचिपरिछित्ति निश्चलानुभूतिरूपे निश्चयरत्नत्रया नुष्ठानवुं, तद्बहिरंग सहकारिकारणभूत भेदरत्नत्रयलब्धियिल्लदागदु । तद्बहिरंग रत्नत्रयप्राप्तियु चेतनाचेतनादि स्वपर पदार्थ सम्यक्श्रद्धान ज्ञानव्रताद्यनुष्ठानगुण गळिल्लवदिद्दरे उंटागुवदिल्ला। तद्गुणविषयभूत सुशास्त्र विल्लादिद्दवरिल्ला सुशास्त्रमुं वीतराग सर्वज्ञप्रणीतमप्पुदरिदं ग्रन्थकारं तदादियल्लि मंगलार्थमभेदरत्नत्रय भावनाफलभूतानंतचतुष्टयात्मक अर्हत्परमेश्वरं गेद्रव्यभाव नमस्कारंमाडिदपेनदेंतेने—

अर्थ—दावानल (जंगल में मीलों तक फैली हुई भयानक अग्नि) के समान विषय कषाय इस संसार वन में संसारी जीवों को जलाया करते हैं। उसी संताप से संतप्त संसारी जीव शांति सुख की खोज में इधर-उधर (चारों गतियों की चौरासी लाख योनियों में) भटकते फिरते हैं, उस सांसारिक दुःख से भयभीत निकट भव्य जीव, अविनाशी परमाल्हादस्वरूप सुख पाने की उत्कंठा रखता है। परन्तु वह अनन्त अविनश्वर सुख शुद्ध निरंजनात्मस्वरूप (परमात्मा का स्वरूप) प्रगट होने पर मिलता है।

उस सरल शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति अभेद रत्नत्रय के बिना नही हो सकती, उसे चाहे अभेद रत्नत्रय कहो या निश्चय रत्नत्रय कहो वह शुद्धात्मरुचि, परिचय और निश्चल अनुभूति रूप होती है। वह निश्चय रत्नत्रय, उस बहिरंग कारण भूत भेद रत्नत्रय की प्राप्ति के बिना नहीं हो सकता और वह बहिरंग रत्नत्रय चेतना चेतनादिक स्वपरपदार्थ के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और व्रतानुष्ठान गुण बिना नही हो सकता। जिसका अनिवार्य निमित्त कारण सम्यक् शास्त्र का अध्ययन है वह सुशास्त्र श्री वीतराग सर्वज्ञप्रणीत होने के कारण ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के आदि में मंगल निमित्त, भेद रत्नत्रय भावना फलभूत अनन्त चतुष्टयात्मक अरहंत परमेष्ठी को द्रव्य भाव पूर्वक नमस्कार किया है। वह इस प्रकार है कि——

श्री मन्नम्रामरस्तोमं प्राप्तानंतचतुष्टयं ।।
नत्वा जिनाधिपं वक्ष्ये शास्त्रसारसमुच्चयं ।।

अर्थ—श्रीमन्–समवसरणादि बहिरंग लक्ष्मी से युक्त और (नम्रामरस्तोमं) चतुर्निकाय के देव इन्द्रादिक उनके द्वारा पूजनीय, तथा (प्राप्तानन्त चतुष्टयं) अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, और अनन्त वीर्य स्वरूप अनन्तचतुष्टयात्मक अन्तरंग सम्पत्ति से युक्त ऐसे (जिनाधिपं) अनेक भवग्रहण विषयव्यसन प्रापण हेतु कर्मारातीन् जयतीति जिनः, इस व्युत्पत्ति से युक्त जिन भगवान मोक्षलक्ष्मी के अधिपति अर्थात् ईश को (नत्वा) द्रव्यभावात्मक नमस्कार करके शास्त्रसारसमुच्चयं) परमागम के सार भूत समूह को (वक्ष्येहम्) से संक्षेप में कहूंगा। इस शास्त्र में प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग, ऐसे चारों अनुयोगों का वर्णन है इसलिए शास्त्रसार समुच्चय सार्थक नाम है।

प्रथमानुयोग

अथ त्रिविधः कालः ।।१।।

अर्थ—इस प्रकार मंगल निमित्त विशेष इष्ट देवता को नमस्कार करने के बाद कहते हैं कि त्रिविधः कालः अनन्तानन्तरूप अतीतकाल से भी अनन्त गुणित अनागतकाल, समायादिक वर्तमान काल, इस प्रकार से काल तीन प्रकार के होते हैं।

द्विविधः ।।२।।

अर्थ—पांच भरत और पांच ऐरावतों की अपेक्षा से शरीर की ऊंचाई बल और आयु आदि की हानि से युक्त दस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण वाला अवसर्पिणी काल तथा उत्सेध आयु बलादि की वृद्धिवाला दशकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण उत्सर्पिणीकाल है। इस प्रकार काल के दो भेद हो जाते हैं।

षड्विधोवा ।।३।।

अर्थ—सुषम सुषमा, १ सुषमा, २ सुषम दुःषमा, ३ दुःषम सुषमा, ४ दुःषमा, ५ अतिदुःषमा ६ ऐसे अवसर्पिणी काल के छः भेद हैं। इस प्रकार इनसे उलटे अति दुःषमा १ दुःषमा २ दुःषमसुषमा ३ सुषम दुःषमा ४ सुषमा ५ सुषम सुषमा ६ ये उत्सर्पिणी के छः भेद हैं।

इस अवसर्पिणी में सुषम सुषमा नाम का जो प्रथम काल है वह चार कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण प्रवर्तता है, इसमें उत्तम भोग भूमि की सी प्रवृत्ति होती है। उस

युग के स्त्री पुरुष ६००० हजार धनुष की ऊंचाई वाले तथा तीन पल्योपम आयु वाले और तीन दिन के बाद बदरी फल के प्रमाण आहार लेने वाले होते हैं। उन के शरीर की कांति बाल सूर्य के समान होती है। समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन तथा ३२ शुभ लक्षणों से युक्त होते हैं। मार्दव और आर्जव गुण से युक्तवेसत्य सुकोमल सुभाषा भाषी होते हैं, उनकी बोली मृदु मधुर वीणा के नाद के समान होती है, वे ९००० हजार हाथियों के समान बल से युक्त होते हैं। क्रोध लोभ, मद, मात्सर्य और मान से रहित होते हैं, सहज १, शारीरिक २ आगंतुक ३ दुःख से रहित होते हैं। संगीत आदि विद्याओं में प्रवीण होते हैं, सुन्दर रूप वाले होते हैं, सुगंध निःस्वास वाले होते हैं तथा मिथ्यात्वादि चार गुणस्थान वाले होते हैं, उपशमादि सम्यक्त्व के धारक होते हैं, जघन्य कापोत पीत, पद्म, और शुक्ल लेश्या रूप परिणाम वाले होते हैं, निहार रहित होते हैं, अनपवर्त्य आयु वाले होते हैं, जन्म से ही बालक कुमार यौवन और मरण पर्याय से युक्त होते हैं, रोग शोक खेद और स्वेद आदि से रहित, भाई बहिन के विकल्प से रहित, परस्पर प्रेमवाले होते हैं। आपस में प्रेम पूर्वक दंपति भावको लेकर अपने समय को बिताते हैं। अपने संकल्प मात्र से ही अपने को देने वाले दश प्रकार के कल्पवृक्षों से भोगोपभोग सामग्री प्राप्तकर भोगते हुए आयु व्यतीत करते हैं, जब अपने आयु में नव महीने का समय शेष रह जाता है तब वह युगल एकबार गर्भ धारण कर फिर अपनी आयु के छः महीने बाकी रहें उसमें देवायु को बांधकर मरण के समय दोनों दंपति स्वर्ग में देव होते हैं। जो सम्यग्दृष्टि जीव होते हैं वे सब तो सौधर्म आदि स्वर्ग में और मिथ्या दृष्टि जीव भवनत्रिक में जाकर पैदा होते हैं, यहाँ पर छोड़ा हुआ युगल का शरीर तुरन्त ही ओस के समान पिघल जाता है, उनके द्वारा उत्पन्न हुए स्त्री पुरुष के जोड़े तीन दिन तक तो अंगुष्ठ को चूसते रहते हैं, तीन दिन के बाद रेंगने लगते हैं फिर तीन दिन बाद चलने लगते हैं, फिर तीन दिन बाद उनका मन स्थिर हो जाता है फिर तीन दिनों बाद यौवन प्राप्त होता है फिर तीन दिन बाद कथा सुनने वाले होते हैं फिर तीन दिन बाद सम्यक्त्व ग्रहण करने योग्य होते हैं। इस प्रकार २१ दिन में संपूर्ण कला संपन्न हो जाते हैं।

कनाड़ी पद्य—

पगळिरुळोडेयर्बडव। परो केळेयाळरसुजाति भेवविषय ॥
र्कमरणं मळिमार्गम तनु। ळ्वगाळिकाळ्गिच्चुर्विनसुमिल्ला महियोळ्॥१॥

अर्थ—उस भूमि में रात और दिनका, गरीब और अमीर आदि का भेद

नहीं होता है। विष सर्प समूह अकाल वर्षा तूफान दावानल इत्यादि उस भूमि में नहीं होता है, पुनः पंचेन्द्रिय सम्मूर्छन विकलेंद्रिय असैनी पचेंद्रिय अपर्याप्त जीव तथा जलचर जीव वहां नहीं होते हैं। स्थलचर और नभचर जाति के जीव युगल रूप से उत्पन्न होते हैं क्योंकि उस क्षेत्र में स्वभाव से परस्पर विरोध रहित तथा वहां पर होनेवाले सरस स्वादिष्ट तृण पत्र पुष्प फलादिकों खाकर अत्यंत निर्मल पानी को पीकर तीन पल्योपम कालतक जीकर निज आयु अवसान काल में सुमरण से मरकर देव गति में उपतन्न होते हैं।

सुषमा (मध्यम भोग भूमिका) काल 2nd काल

मध्यम भोग भूमि का काल तीन कोड़ाकोड़ी सागरोपम होता है, सो उत्सेध आयु और बल आदि क्रमशः कम कम होते आकर इस काल के शुरू में दो कोस का शरीर दो पल्योपम आयु दो दिन के अंतर से फल मात्र आहार एकबार ग्रहण करते हैं, पूर्ण चंद्र के प्रकाश के समान उनके शरीर की कांति होती है, जन्म से पांच दिन तक अंगुष्ठ चूसते हुए क्रमशः ३५ दिन में संपूर्ण कला संपन्न होते हैं। बाकी और बात पूर्व की भांति समझना।

सुषम दुषमा (जघन्य भोग भूमिका) काल 3rd काल

यह जघन्य भोग भूमि का काल यानी तीसरा काल दो कोड़ा कोडी सागर का होता है, सो उत्सेध आयु तथा बल क्रम से कम होते होते इस काल के आदि में एक कोस का शरीर एक पल्योपम आयु और एक दिन अंतर से आंवला प्रमाण एक बार आहार लेते हैं। प्रियंगु (श्याम) वर्ण शरीर होता है। जन्म से सात दिन तक अंगुष्ठ चूसते हुए उनचास दिन में सर्वकला संपन्न बन जाते हैं, बाकी सब पूर्ववत् समझना ॥३॥ इस प्रकार यह अनवस्थित भोग-भूमि का क्रम है।

चौथा दुषम सुषमा काल 4th

यह चौथा अनवस्थित कर्म भूमि का काल ४२ हजार वर्ष कम एक कोड़ा कोड़ी सागरोपम प्रमाण का होता है। सो क्रमशः घटकर इस काल के आदि में ५०० धनुष शरीर कोड पूर्व प्रमित आयु प्रति दिन आहार करने वाले पंच वर्ण शरीर महाबल पराक्रम शाली अनेक प्रकार के भोग को भोगने वाले धर्मानुरक्त हो कर प्रवर्तन करने वाले इस काल में त्रेसठशलाका पुरुष क्रम से उत्पन्न होते हैं।

पाँचवां दुषम काल- 5th

जोकि २१ हजार वर्ष का होता है। उस काल के स्त्री पुरुष प्रारम्भ में १२० वर्ष की आयु वाले सात हाथ प्रमाण शरीर वाले रूक्षवर्ण बहु आहारी

कम ताकत वाले शौचा चार से हीन, भोगादि में आसक्त रहनें वाले होते हैं ऐसे इस पंचम कालके अन्त में अंतिम प्रतिपदा के दिन पूर्वाण्ह में धर्म का नाश, मध्याह्न में राजा का नाश और अपराण्ह में अग्नि का नाश काल स्वभाव से हो जाएगा।

छटवां अति दुषमा काल

यह काल भी २१ हजार वर्ष का होता है सो आयु काय और बल कम होते होते इस छठे काल के प्रारम्भ में मनुष्यों शरीर की ऊंचाई दो हाथ की के आयु बीस वर्ष तथा धूम्र वर्ण होगा, निरंतर आहार करने वाले मनुष्य होंगे तथा इस छठे काल के अन्त में पन्द्रह वर्ष की आयु और एक हाथ का शरीर होगा। इस काल में षट् कर्म का अभाव, जाति पाँति का अभाव, कुल धर्म का अभाव इत्यादि होकर लोग निर्भय स्वेच्छाचारी हो जावेंगे, वस्त्रालंकार से रहित नग्न विचरने लगेंगे मछली आदि का आहार करने वाले होंगे पशु पक्षी के समान उनकी जीवन चर्या होगी पति पत्नी का भी नाता नहीं रहेगा ऐसा इस छठे काल के अंत में जब ४६ दिन बाकी रहेंगे तब सात रोज तक तीक्ष्ण वायु चलेगी सात दिन अत्यन्त भयंकर शीत पड़ेगी सात दिन वर्षा होगी फिर सात दिन विष की वृष्टि होगी इसके बाद सात दिन तक अग्नि की वर्षा होगी जिससे कि भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्य खंडों में क्षुद्र पर्वत उपसमुद्र छोटी छोटी नदियाँ ये सब भस्म होकर संपूर्ण पृथ्वी समतल हो जावेगी और सात दिन तक रज और धुवाँ से आकाश व्याप्त रहेगा। इस प्रकार इन क्षेत्रों में चौथा पांचवा और छठा इन तीनों कालो में अनवस्थित कर्म भूमि होगी इसके अनन्तर जिस प्रकार शुक्लपक्ष के बाद कृष्ण पक्ष आता है उसी प्रकार अवसर्पणी के। बाद उत्सर्पणी काल का प्रारंभ होता है जिसमें सबसे पहले अति दुषमा काल आरंभ होता है।

अति दुषमा काल

इस काल में मनुष्यों की आयु १५ वर्ष और उत्सेध एक हाथ की होगी जो कि क्रमश: बढती रहती है। इस काल के प्रारंभ में संपूर्ण आकाश धूम्रसे आच्छादित होने से पहिले के समान सात दिन तक लगातार पुष्करवृष्टि फिर सात दिन तक क्षीर वृष्टि, सात दिन तक घृतवर्षा, सात दिन तक इक्षुरस की वर्षा होकर पूर्व में विजयार्ध पर्वत की विशाल गुफा में विद्याधर और देवों के द्वारा सुरक्षित रखे हुए जीवों में से कुछ तो मर जाते हैं बाकी जो जीवित रहते हैं वे सब निकल कर बाहर आते हैं और वे अति मधुर मिष्टान्न के समान होने वाली मृत्तिका के आहार को करते हुए वस्त्रालंकार से रहित होकर

धूम्रवर्ण वाले मनुष्य जीवन पाकर क्रमशः बढ़कर दो हाथ के शरीर वाले हो जाते हैं ॥ १ ॥

पुनः दुःषम काल 5th

यह काल भी २१००० हजार वर्ष का होता है। इस काल के मनुष्य क्रम से बढ़कर सात हाथ की ऊंचाई युक्त शरीर वाले हो जाते हैं बाकी सब क्रम पूर्वोक्त प्रकार से समझ लेना। इसी प्रतिपंचम काल के अंत में जब एक हजार वर्ष बाकी रहते हैं तब मनु लोग कुलंकर उत्पन्न होकर तत्कालोचित सत्क्रियाओं का उपदेश करते हैं।

प्रति दुःषम सुषम काल 4th

यह काल ४२ हजार वर्ष कम एक कोड़ा कोड़ी सागर का होता है। इस युग के मनुष्य पूर्वोक्त आयु काय से बढते बढते जाकर अंत में ५०० सौ धनुष की ऊंचाई के शरीरवाले और एक करोड़ पूर्व की आयु वाले होते हैं।

चउविसबारसतिगुणे तिथ्थयरा छत्ति खंडभरहवही।
तिक्काले होंति हातेवं ठिसलाकपुरिसाते ॥१॥

शेष व्याख्यान पूर्ववत् समझना चाहिये।

इस प्रकार ये तीनों काल अनवस्थित कर्म भूमि वाले होते हैं। पुनः सुषम दुःषमा चौथा, सुषमा पांचवां तथा सुषम सुषमा छठा इस प्रकार ये तीन काल अनवस्थित जघन्य, मध्यम और उत्तम भोगभूमि रूप में आते हैं जिनका प्रमाण दो कोड़ा कोड़ी सागर, तीन कोड़ा कोड़ी सागर और चार कोड़ा कोड़ी सागर का होता है जिन कालों में मनुष्य तथा स्त्रियां भी एक दो और तीन कोस की ऊंचाई के शरीर वाले तथा एक दो और तीन पल्य की आयु वाले होते हैं। दो-तीन दिन के बाद बदरीफल के प्रमाण एक बार आहार को करने वाले होते हैं। प्रियंगु समान शरीर, चंद्रमा के समान शरीर और बालसूर्य के समान शरीर वाले होते है। कल्प वृक्षों द्वारा प्राप्त भोगोपभोग को भोगने वाले होते हैं।

मिथ्यात्वादि चार गुणस्थान वाले होते है। सम्यक्त्व सहित होते है और संपूर्णक्रम पूर्वोक्त प्रकार होकर उनके शरीर की ऊंचाई आयु बल बढकर क्रम से बलशाली होते हैं। किन्तु इन्हीं पंच भरत और पंच ऐरावत क्षेत्र के विजयार्घ पर्वत की श्रेणियों में तथा मलेच्छ खंडों में भी दुःषम सुषमा नाम का काल शुरु से अंत तक एवं अंत से आदि तक हो ऐसी हानि वृद्धि होती है। इस प्रकार

कल्पकाल - उत्सर्पिणी + अवसर्पिणी

उत्सर्पिणी से अवसर्पिणी तक तथा अवसर्पिणी से उत्सर्पिणी होते तक हुए अनंतानंत कल्पकाल क्रम से प्रवर्तते रहते हैं।

॥ दशविधकल्पद्रुमाः ॥४॥

१गृहांग]२भोजनांग ३भाजनांग ४पानांग ५वस्त्रांग ६भूषणांग ७माल्यांग ८दीपांग ९ज्योतिरांग १०तूर्यांग। इस प्रकार के कल्प वृक्ष उस भोग भूमि के जीवों को नाना भोगोपभोग सामग्री देते रहते हैं। जैसे आगे कहा भी है-

हाटभित्तिसमन्वित । नाटकशालेगळ विविधसौंधगळकों ।
डाटमनेमेरवुनिच्चं । पाटिसुवुवु मिथुनततिगेगृहमहिजातं ॥२॥
अनतिशय सौख्यभाजन-। मेनिसुव भाजनयिवप्पुवेंबंते कन-।
त्कनकमणिखचितबहुभा-।जनंगळं भाजनांगतरुकोडुतिक्कुं ॥३॥
अमर्दिन सवियोष्ठ्सवि । समनेनिसुव तेजाबलायुरारोग्य सज-।
तमनमृतान्नमनोल्दिी-। गुमागळं, भोजनांग कल्पावनिजं ॥४॥
कुडिवडेसोक्किसवबु ना-। ण्डिसववु मनक्केल्लंप नीवुघुरतमं।
पडेयनघवेनिसुवमधुगळ । नेडेमडगदे कुडुगुमुचित मद्यांगकुजं ॥५॥
पळिचित्रावळिभोगं। पळियिडे देवांगवेंब वसनंगळनें ॥
घळियिपुदोर्मडिपळ्कन । परिणहतनेने पोल्तुविषदवसनांगकुजं ॥६॥
मघमघिप जाविपोंगे-। दगेमल्लिगेयेंब पलवु पूमालेगळं ॥
बगेयरिवुनीडुगुं मा-। लेगानं पोल्तुदप्रमाल्यमहीजं ॥७॥
मकुटं केयूर क-। र्णकुंतलकोप्पुसरिगे दूसरं मणिमु-॥
द्रिकेतिसरमेंब भूषा-। निकायमं भूषणांगतरु कुडुतिक्कुं ॥८॥
आपोत्तु मणिदीपक-। ळापोद्यज्योतिगळं दिशा मंडलमं ॥
व्यापिसुत्तिरेसोगियसुवु । दीपांग ज्योतिरंग कल्पकुजंगळ् ॥९॥
अतिमृदुरवदायिगळं । ततघनसुषिरावनद वाद्यंगकनें ॥
मतमरेदोल गिपुदुदं । पाडगेंदुमवार्यवीर्यतूर्यक्साजं ॥१०॥

अर्थ—स्वर्ण की बनी हुई दीवाल से युक्त ऐसी नाट्यशाला, बड़े सुन्दर दरवाजों से युक्तमहल, इत्यादि नाना प्रकार के मकान जो कि उन भोगभूमि के मिथुन को इंद्रिय सुखदायक हो उन सबको देनेवाले गृहांग जाति के कल्प वृक्ष हैं॥ १ ॥

अत्यन्त सुख देने वाले स्वर्ण और मणियों से बने हुए नाना प्रकार के

बरतन देने वाले भाजनांग जाति के कल्प वृक्ष हैं ॥ २ ॥

स्वर्गीय अमृतमय भोजन के समान, तेज बल आयु और आरोग्य दायक ऐसे अमृतान्न को देने वाले भोजनांग जाति के कल्प वृक्ष हैं ॥ ३ ॥

पीने में स्वादिष्ट, शारीरिक बल वर्द्धक पाप को नष्ट कर मन को पवित्र करने वाला तथा प्रमाद को भी हरने वाला ऐसा समयोचित मधुर पेय पदार्थ जिनसे मिलता है, ऐसे पानांग जाति के वृक्ष हैं ॥ ४ ॥

अनेक प्रकार की मणियों से जड़े हुये, ज्यादा कीमती रेशम आदि के बने मन और इन्द्रियों को भाने वाले देवोपनीत वस्त्रों के समान मनोहर वस्त्रों को देने वाले वस्त्रांग जाति के कल्प वृक्ष हैं ॥५॥

शरीर की शोभा को बढ़ाने वाले अत्यन्त मनोहरकेयूर कुण्डल मुद्रिका कर्ण, फूल मकुट, रत्नहारादिक को अर्थात् मनवांछित नाना प्रकार के आभूषणों को देने वाले भूषणांग जाति के वृक्ष हैं ॥ ६ ॥

अति लुभावने वाली सुगंध को देने वाले जाति जूही, चंपा, चमेली, आदि नाना प्रकार के फूलों की माला को मालाकार के समान समयानुसार संपन्न कर देने वाले मालांग जाति के कल्प वृक्ष हैं ॥७॥

दशों दिशाओं में उद्योत करने वाले मणिमय नाना प्रकार के दीपकों को हर समय प्रदान करते हैं ऐसे दीपांग जाति के कल्प वृक्ष हैं ॥८॥

भोग भूमियों के मन को प्रसन्न करने वाली ज्योति को निरंतर फैलाने वाले ज्योतिरंग जाति के कल्प वृक्ष हैं ॥९॥

अति समतुल आवाज करने वाले घन शुषिर तथा वितत जाति के अनेक प्रकार के वादित्रों को देने वाले, ध्वनि से मन को उत्साह तथा वीरत्व पैदा करने वाले वाद्यांग जाति के कल्प वृक्ष हैं ॥१०॥

गाथा—अवसप्पणि उस्सप्पिणि कालच्छिय रहटघटेयणायेण ॥
होंति अणंताणंतो भरहैरावदखिदिम्मिपुडं ॥२॥

अर्थ—भरत और ऐरावत इन दोनों प्रकार के क्षेत्रों में अरहट के घट के समान उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी तथा अवसर्पिणी के वाद फिर उत्सर्पिणी इस प्रकार निरंतर अनंतानंत काल हो गये हैं और आगे होते रहेंगे।

अवसंप्पणी उस्स्प्पणीकालसलाया असखपरिवत्त ।।
हुंडावसप्पणिसापेक्काजायेदितिय चिम्मामिउं ।।३।।

इस प्रकार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल असंख्यात बीत जाने के बाद एक हुंडावसर्पिणी काल होता है। अब उसी के चिन्ह को बतलाते हैं।

तस्सपि सुषम दुस्समकालस्सदिदिम्मिदोवा ।।
अवसेसे णिवडदियासउबहुवियदिय जीव उप्पत्ति ।।४।।

अर्थ—उसमें सुषम दुःषमा काल के समय में वर्षा होकर धूप पड़ती है जिससे विकलेंद्रिय जीवों की उत्पत्ति होती है।

कप्पतरूणा विरामोवा गारोहोदि कम्मभूमिये ।।
तक्काले जायंते पढमजिणो पढमचक्कीय ।।५।।
चक्किस्सविजय भंगो णिव्वुदिगमणे थोव जीवाणं ।।
चक्कहरा उदिजाणं हवेयिवं सस्स उप्पत्ति ।।६।।

अर्थ—कल्प वृक्षों का विराम होते ही तत्काल प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती उत्पन्न होते हैं। चक्रवर्ती की विजय में भंग होता है। तथा उस चक्रवर्ती के निमित्त से ब्राह्मणों की उत्पत्ति होती है। फिर तीर्थंकर तथा वह चक्रवर्ती निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं। एवं आगे भी तीर्थंकर चक्री आदि होते रहते हैं।

दुस्सम सुसमो तिसट्ठिपमाण सलायपुरुसाय ।।
नवमादिसोलसत्तें संतसुतिव्वेसुदमवोच्छेहो ।।७।।

अर्थ–दुःसम सुषमा काल में क्रमशः (६३) शलाका पुरुष उत्पन्न होते हैं। वहां नवम तीर्थंकर के बाद सोलहवे तीर्थंकर तक धर्म की हानी होती है। इन सात तीर्थंकरों के समय में क्रम से, आधा पल्य, पल्य का चतुर्थांश, पल्य का द्विभाग पल्य का त्रिभाग, पल्य का द्विभाग फिर पल्य का चतुर्थभाग में तो धर्म के पढ़ने वाले सुनने वाले और सुनाने वाले होते हैं। इसके बाद पढ़ने वाले और सुनने तथा सुनाने वाले न होने के कारण धर्म विच्छिन्न होता है।

एक्करस होंति रुद्दाकलहपिहनारदोयणवसंखा ।।
सत्तम तेवीसन्तिमतित्थयराणंचउवसग्गो ।।८।।

अर्थ—इस कालमें एकादश रुद्र होते हैं, तथा कलह प्रिय नव नारद होते हैं, और सातवें तेईसवें तथा चौबीसवे तीर्थंकर को उपसर्ग होता है।

तय चदु पंचमे सक्कालेसु परम दुम्मणयसारा ।।
विविह कुदेव कुलिंगि सत्तकत्थ पामित्था ।।९।।
चंडाल सबर पाणा पुलिंद णाहल चिलाल पहुडिकुला ।।
दुस्समकाले कक्कि उवकक्की होंति चादाला ।। १० ।।
अतिठिठ अणाउठिठ भूवडिड वज्ज अग्गिपमुहाय ।।
यिहणाणावह दोसा बिचित्तभेवा हरतिपुहं ।। ११ ।।

अर्थ—तृतीय चतुर्थ पंचम काल में श्री जैन धर्म के नाशक कई प्रकार के कुदेव कुलिंग दुष्ट पापिष्ट ऐसे चंडाल शबर पान नाहल किरातादि कुल वाले खोटे जीव उत्पन्न होते हैं। तथा दुःखम काल में कल्कि और उप-कल्कि ऐसे ४२ जीव उत्पन्न होते हैं। तथा अति वृष्टि अनावृष्टि भुवृद्धि वज्राग्नि इत्यादि अनेक प्रकार के दोष तथा विचित्र भेद उत्पन्न होते हैं। और इस भरत क्षेत्र के हुडावसर्पिणी के तृतीय काल के अंत का आठवां भाग बाकी रहने से कल्प वृक्ष के वीर्य की हानि रूप में कर्म भूमि की उपपत्ति का चिन्ह प्रगट होने से उसकी सूचना को बतलाने वाले मनुओं के नाम बतलाते हैं।

।। चतुर्दश कुलकराः, इति ।।५।।

अर्थ—इस जंबू द्वीप के भरत क्षेत्र की अपेक्षा से प्रतिश्रुति १ सन्मति २ क्षेमंकर ३ क्षेमंधर ४ सीमंकर ५ सीमंधर ६ विमल वाहन ७ चक्षुष्मान ८ यशश्वी ९ अभिचंद्र १० चंद्राभ ११ मरुदेव १२ प्रसेनजित १३ नाभिराज ऐसे चौदह कुलंकर अथवा मनु पूर्वभव में विदेह क्षेत्र में सत्पात्र को विशेष रूप से आहार दान दिया। उसके फल से मनुष्यायु को बांधकर तत्पश्चात् क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करके वहां से आकर इस भरत क्षेत्र के क्षत्रिय कुल में जन्म लेकर कुछ लोग अवधिज्ञान से और कुछ लोग जातिस्मरण से कल्प वृक्ष की सामर्थ्य में हानि उत्पन्न होती है उसके स्वरूप को समझते हैं। वे इस प्रकार हैं:—

ये सभी कुलकर पूर्व भव में विदेह क्षेत्र में क्षत्रिय राज कुमार थे, मिथ्यात्व दशामें इन्होंने मनुष्य आयु का बंध कर लिया था। फिर इन्होंने मुनि आदिक सत्पात्रों को विधि सहित भक्ति पूर्वक दान दिया, दुःखी जीवों का दुःख करुणा भाव से दूर किया। तथा केवली श्रुत केवली के पद मूल में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया। विशिष्ट दान के प्रभाव से ये भोगभूमि में उत्पन्न हुए। इनमें से अनेक कुलकर पूर्वभव में अवधि ज्ञानी थे, इस भवमें भी अवधिज्ञानी हुए। अतः अपने समयके लोगों की कठिनाइयों का प्रतिकार अवधि ज्ञान से जानकर

उनकी समस्या सुलझाई और कुलकर अवधिज्ञानी तो नहीं थे किंतु विशेष ज्ञानी थे, जाति स्मरण के धारक हुए थे उन्होंने उस समय कल्प वृक्षों की हानि के द्वारा लोगों की कठिनाइयों को जानकर उनका प्रतीकार करके जनता का कष्ट दूर किया। कुलंकरों का दूसरा नाम मनु भी है। इसका खुलासा इस प्रकार है:--

सुषम दुःषमा नामक तीसरे कालमें पल्य का आठवां भाग प्रमाण समय जब शेष रह गया तब स्वर्ण समान कांति वाले प्रतिश्रुति कुलंकर उत्पन्न हुए। उनकी आयु पल्यके दशवें भाग १ प्रमाण थी उनका शरीर अठारासौ १८०० धनुश ऊंचा था और उनकी देवी (स्त्री) स्वयंप्रभा थी।

उस समय ज्योतिरांग कल्पवृक्षों का प्रकाश कुछ मंद पड़ गया था इसलिये सूर्य और चंद्रमा दिखाई देने लगे, शुरु में जब चन्द्र और सूर्य दिखलाई दिये वह आषाढ़ की पूर्णिमा का दिन था। यह उस समय के लिये एक अद्भुत विचित्र घटना थी, क्योंकि उससे पहले कभी ज्योतिरांग कल्पवृक्षों के महान प्रकाश के कारण सूर्य चन्द्र आकाश में दिखाई नही देते थे। इस कारण उस समय के स्त्री पुरुष सूर्य चन्द्र को देखकर भय भीत हुए कि यह क्या भयानक चीज दीख रही है, क्या कोई भयानक उत्पात होनेवाला है।

तब प्रतिश्रुति कुलंकर ने अपने विशेष ज्ञान से जानकर लोगों को समझाया कि ये आकाश में सूर्य चंद्र नामक ज्योतिषी देवों के प्रभामय विमान है, ये सदा रहते हैं। पहले ज्योतिरांग कल्पवृक्षों के तेजस्वी प्रकाश से दिखाई नहीं देते थे किंतु अब कल्प वृक्षोंका प्रकाश फीका हो जाने से ये दिखाई देने लगे हैं। तुम को इनसे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं, ये तुम्हारा कुछ बिगाड़ नहीं करेंगे।

प्रतिश्रुति के आश्वासन भरी बात सुनकर जनता निर्भय, संतुष्ट हुई।

प्रतिश्रुति का निधन हो जाने पर तृतीय काल में जब पल्य का अस्सीवां भाग शेष रह गया तब दूसरे कुलकर सन्मति उत्पन्न हुए। उनका शरीर १३०० सौ धनुष ऊंचा था और आयु पल्य के सोवें १/१०० भाग प्रमाण थी, उनका शरीर सोने के समान कांति वाला था। उनकी स्त्री का नाम यशस्वती था।

उनके समय में ज्योतिरांग [तेजांग] कल्पवृक्ष प्रायः नष्ट हो गये अतः उनका प्रकाश बहुत फीका हो जाने से ग्रह, नक्षत्र तारे भी दिखाई देने लगे। इन्हों पहले स्त्री पुरुषों ने कभी नहीं देखे थे, अतः लोग इन्हे देखकर बहुत घबराए कि यह क्या कुछ है, क्या उपद्रव होने वाला है। तब सन्मति कुलंकर ने अपने विशिष्ट ज्ञान से जानकर जनता को समझाया कि सूर्य चन्द्रमा के समान ये भी

ज्योतिषी देवों के विमान हैं, ये सदा आकाश में रहते हैं। पहले कल्प वृक्षों के तेजस्वी प्रकाश के कारण दिखाई न देते थे, अब उनकी ज्योति बहुत फीकी हो जाने से ये दिखाई देने लगे हैं। ये तारे तुमको कुछ हानि नहीं करेंगे।

सन्मति की विश्वासजनक बात सुनकर लोगों का भय दूर हुआ और उन्होंने सन्मति का बहुत आदर सत्कार किया॥ २॥

सन्मति की मृत्यु हो जाने पर पल्यके ८०० वें [१/८००] भाग बीत जाने पर तीसरे कुलकर 'क्षेमङ्कर' उत्पन्न हुए उनकी आयु [१/१०००] पल्य थी, शरीर ८०० धनुष ऊंचा था और उनका रंग सोने जैसा था। उनकी देवी [पत्नी] का नाम 'सुनन्दा' था।

उनके समय में सिंह, बाघ आदि जानवर दुष्ट प्रकृति के हो गये, उनकी भयानक आकृति देखकर उस समय स्त्री पुरुष भयभीत हुए। तब क्षेमङ्कर कुलकर ने सबको समझाया कि अब काल दोष से ये पशु सौम्य शान्त स्वभाव के नहीं रहे, इस कारण आप पहले की तरह इनका विश्वास न करें, इनके साथ क्रीडा न करें, इनसे सावधान रहें। क्षेमङ्कर की बात सुनकर स्त्री पुरुष सचेत और निर्भय हो गये। ३॥

क्षेमङ्कर कुलकर के स्वर्ग चले जाने पर पल्यके ८: हजारवें [१/८०००] भाग बीत जाने पर चौथे कुलकर 'क्षेमन्धर' नामक मनु [कुलकर] हुए। उनका शरीर ७७५ धनुष ऊंचा था और उनकी आयु पल्यके दश हजारवें [१/१००००] भाग प्रमाण थी, उनकी देवी 'विमला' नामक थी।

इनके समय में सिंह, बाघ आदि और अधिक क्रूर तथा हिंसक बन गये, इससे जनता में बहुत भारी व्याकुलता और भय फैल गया। तब क्षेमन्धर मनु ने इन हिंसक पशुओं की दुष्ट प्रकृति का लोगों को परिचय कराया और डंडा आदि से उनको दूर भगा कर अपनी सुरक्षा का उपाय बतलाया तथा दीपक-जाति के कल्पवृक्ष की हानि भी हो जाने से दीपोद्योत करने का उपाय भी बतलाया, जिससे स्त्री पुरुषों का भय दूर हुआ॥४॥

क्षेमन्धर मनु के स्वर्गवास हो जाने पर पल्यके ८० हजारवें [१/८००००] भाग व्यतीत हो जाने पर पांचवें कुलकर 'सीमङ्कर' उत्पन्न हुए। इनका शरीर ७५० धनुष ऊंचा था और आयु पल्यके एक लाखवें भाग प्रमाण थी। उनकी देवी का नाम 'मनोहरी' था। इस मनु ने उस समय के लोगों को वृक्षों की सीमा बताई॥ ५॥

सीमङ्कर कुलकर के स्वर्ग चले जाने पर 'सीमन्धर' नामक छठे कुलकर हुये। इनका शरीर ७२५ धनुष ऊंचा और आयु पल्यके दश लाखवें भाग प्रमाण थी, इनकी देवी 'यशोधरा' थी। इस मनु ने उस समय के लोगों को भिन्न-भिन्न रहने की सीमा बतलाई और निराकुल करके, आपस की कलह मिटाई ॥६॥

सीमङ्कर मनु के स्वर्गारोहण के वाद पल्यके अस्सी लाखवें भाग प्रमाण समय बीत जाने पर 'विमलवाहन' नामक सातवें कुलकर उत्पन्न हुए। इनकी आयु पल्यके एक करोड़वें हिस्से थी, और शरीर ७०० धनुष ऊंचा था। इनकी देवी का नाम 'सुमती' था।

इन्होंने स्त्री पुरुषों को दूर तक आने जाने की सुविधा के लिये हाथी घोड़े आदि वाहनों पर सवारी करने का ढंग समझाया।७

सातवें कुलकर विमलवाहन के स्वर्गारोहण के पश्चात् पल्यके आठ करोड़वें [८०००००००] भाग बीत जाने पर आठवें मनु 'चक्षुष्मान्' उत्पन्न हुए। उनकी आयु पल्यके दस करोड़वें भाग प्रमाण थी और शरीर की कद ६७५ धनुष थी। उनकी देवी का नाम था 'वसुन्धरा' ॥७॥

इनसे पहले भोगभूमि में बच्चों [लड़की लड़के का युगल] के उत्पन्न होते ही माता पिता की मृत्यु हो जाती थी, वे अपने बच्चों का मुख भी न देख पाते थे किन्तु आठवें कुलकर के समय माता पिताओं के जीवित रहते हुए बच्चे उत्पन्न होने लगे, यह एक नई घटना थी जिसको कि उस समय के स्त्री पुरुष जानते न थे, अतः वे आश्चर्यचकित और भयभीत हुए कि यह क्या मामला है।

तब 'चक्षुष्मान्' कुलकर ने स्त्री पुरुषों को समझाया कि ये तुम्हारे पुत्र पुत्री हैं, इनसे भयभीत मत होओ, इनका प्रेम से पालन करो, ये तुम्हारी कुछ हानि नहीं करेंगे। कुलकर की बात सुनकर जनता का भय तथा भ्रम दूर हुआ और उन्होंने कुलकर की स्तुति तथा पूजा की ॥ ८ ॥

युगळंगळ्पुट्टिसि तागुळिसिपितृयुगं सत्तुस्वर्गं गळोळ् पु।
ट्टुगुमिल्लिलदित्तळेंळुं कतिपयदिनदोळमक्कुळं नोडिसावे।
यदुगुमीगळ् कर्मं भूमि स्थितिमोगसिदुदिं बालकालोकदिद्र।
ब्बेगमल्लेंदित्त कालस्थितियनवर्गीति व्यक्तमप्पंतुपेळुवं ॥ २ ॥

आठवें कुलकर की मृत्यु हो जाने के बाद पल्यके अस्सी करोड़वें भाग [८००००००००]समय बीत जाने पर ९ वें कुलकर 'यशस्वी' हुए। उनका शरीर

६५० धनुष ऊंचा था और आयु पल्यके सौ करोड़वें भाग प्रमाण थी। उनकी देवी का नाम कान्तमाला था।

यशस्वी कुलकर ने यह एक विशेष कार्य किया कि उस भोगभूमिज स्त्री पुरुषों के जीवन काल में ही उनके सन्तान होने लगी थी, उन लड़के लड़कियों के नाम रखने की पद्धति चालू की ॥९॥

नौवें कुलकर के स्वर्गवास हो जाने पर पल्यके ८०० करोड़वें भाग समय बीत जाने पर दशवें अभिचन्द्र मनु हुए। उनके शरीर की ऊंचाई छःसौ पच्चीस ६२५ धनुष थी और आयु एक करोड़ से भाजित पल्यके बराबर थी। उनकी स्त्री का नाम श्रीमती था।

इन्होंने बच्चों के लालन-पालन की, उनको प्रसन्न रखने की, उनका रोना बन्द कराने की विधि स्त्री पुरुषों को सिखाई। रात्रि में बच्चों को चन्द्रमा दिखला कर क्रीडा करने का उपदेश दिया तथा बच्चों को बोलने का अभ्यास भी अनुपम कराने की प्रेरणा की।१०

दशवें कुलंकरके स्वर्ग जाने के बाद आठ हजार करोड़वें भाग [८०००, ००००००] प्रमाण पल्य बीत जाने पर चन्द्राभ नामक ग्यारहवें कुलंकर उत्पन्न हुए। उनका शरीर ६०० सौ धनुष ऊंचा था और आयु पल्यके [१००००, ०००००००] दस हजार करोड़ वें भाग समान थी। उनकी पत्नी सुन्दरी प्रभावती थी।

इस मनुके समय बच्चे कुछ अधिक काल जीने लगे सो उनके जीवन के वर्षों की सीमा बतलाई और निराकुल किया॥ ११ ॥

चन्द्राभ कुलकर के स्वर्ग जानेके पश्चात् अस्सी हजार करोड़ से भाजित [८०, ०००, ०००००००] पल्य का समय बीत जाने पर मरुदेव नामक बारहवें कुलंकर उत्पन्न हुए। उनकी आयु एक लाख करोड़ से भाजित पल्यके बराबर और शरीर (५७५) धनुष ऊंचा था। उनकी पत्नी का नाम सत्या था। इनके समय में पानी खूब बरसने लगा जिससे ४० नदियां पैदा होगई, उनको नाव आदि के द्वारा जलतर उपाय बतलायी॥ १२ ॥

मरुदेवका निधन हो जाने पर [१०, ०००००, ००००००० [दसलाख करोड़ से भाजित पल्य प्रमाण समय बीत जानेपर प्रसेनजित नामक तेरहवें कुलंकर पैदाहुए। उनकी आयु दशलाख करोड़ [१०, ०००००, ०००००-००] से भाजित पल्यके बराबर थी उनका शरीर ५५० धनुष ऊंचा था, उनकी स्त्री का नाम अमृतमती था। इन्होंने प्रसूत बच्चे के उपर की जरायु को

निकालने के उपाय का उपदेश दिया ।। १३ ।।

प्रशेनजित के स्वर्ग चले जाने पर। (८०, ००००० ०, ००००००) वे भाग पल्य बीत जाने पर चौदहवें कुलंकर नाभिराय उत्पन्न हुए। उनका शरीर ५२५ धनुष्य ऊंचा था और उनकी आयु एक करोड़ पूर्व (१, ००००००) की थी। उनकी महादेवी का नाम मरुदेवी था ।।१४।।

नाभिराय के समय उत्पन्न होने वाले बच्चों का नाभी में लगा हुआ नाल आने लगा। उस नाल को काटने की विधी बतलाई। सिवाय इनके समक्ष में भोजनाग कल्प वृक्ष नष्ट हो गये जिससे जनता भूख से व्याकुल हुई तब नाभि राय ने उनको उगे हुए पेडों के स्वादिष्ट फल खाने तथा धान्य को पकाकर खाने की एवं ईख को पेल कर उसका रस पीने की उपाय बताई। इसलिए उस समय के लोक उन्हें इक्ष्वाकुइस सार्थक नाम से भी कहने लगे। ताकी इक्ष्वाकु वंश चालु हुआ। इन्हीं के पुत्र प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभनाथ हुए। जो की १५ वे कुलंकर तथा ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती सोलहवें मनु हुए।

हादंडमय्वरोळ् हा। मादंड मनुगलय्वरोळ् हामादिग्भेद ।।
प्रदंडमय्वरोळादुदु। भरतावनीश तनुदंडं ।।१।।

अर्थ–प्रथम कुलकर से लेकर आंठवे कुलकर तक प्रजा की रक्षार्थ 'हा' यह दंड नियत हुआ, इसके बाद के पांच मनुओं में यानि दशवे कुलकर तक 'हा' और 'मा' ये दो दंड तथा इसके बाद पांच मनुवो तक यानी ऋषभ देव भगवान तक की प्रजा में हा, मा और धिक् ये तीन दंड चले फिर भरत चक्रवर्ती के समय में तनु दंड भी चालू हो गया था। इसी प्रकार १ कनक २ कनकप्रभ ३ कनकराज ४ कनकध्वज ५ कनक पुंगव ६ नलिन ७ नलिनप्रभ ८ नलिन राज ९ नलिनध्वज १० नलिनपुंगव ११ पद्म १२ पद्म प्रभ १३ पद्म राज १४ पद्मध्वेज १५ पद्मपुंगव और सोलहवे महापद्। यह सोलह कुलकर भविष्य काल में उत्सर्पिणी के दूसरे काल में जब एक हजार वर्ष बाकी रहेंगे तब पैदा होंगे ।।

अब आगे नौ सूत्रों के द्वारा तीर्थकरो की विभूति और उनकी वलीका वर्णन करेंगे।

।।षोडशभावना:।।१६।।

कर्म प्रकृतियों में सबसे अधिक पुण्य प्रकृति (तीर्थंकर) प्रकृति के बंध कराने की कारण रूप सोलह भावनायें हैं।

तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने वाले के विषय में गोमटसार कर्मकांड में बतलाया है।

पढमुवसमिये सम्मे सेसातिये अविरदादिचत्तारि
तित्थयरबंधपारंभया णरा केवलिदुगंते ॥६३॥

यानि–प्रथम उपशम सम्यक्त्व अथवा द्वितीयोपशमसम्यक्तत्व, क्षायोपशम या क्षायिक सम्यक्त्व वाला पुरुष चौथे गुण स्थान से सातवें गुणस्थान तक के किसी भी गुणस्थान में केवली या श्रुत केवली के निकट तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारम्भ करता है।

जिस व्यक्ति की ऐसी प्रबल शुभ भावना हो कि (मैं समस्त जगतवर्ती जीवों का उद्धार करूं, समस्त जीवों को संसार से छुड़ाकर मुक्त कर दूं) उस किसी एक बिरले मनुष्य के ऊपर युक्त दशा में निम्न लिखित सोलह भावनाओं के निमित्त से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है।

१ दर्शन विशुद्धि २ विनय संपन्नता ३ अतिचार रहित शीलव्रत ४ अभीक्षण ज्ञानोपयोग ५ संवेग ६ शक्ति अनुसार त्याग ७ शक्ति अनुसार तप ८ साधु समाधि ९ वैय्यावृत करण १० अरहत भक्ति ११ आचार्य भक्ति १२ बहु श्रुत भक्ति १३ प्रवचन भक्ति १४ आवश्यक का परिहारणि १५ मार्ग प्रभावना १६ प्रवचन वात्सल्य।

विषेश विवेचन– शंका, कांक्ष, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, अनूपगूहन, अस्थिति करण, अप्रभावना, अवात्सल्य, (ये आठ दोष) कुलमद जातिमद, बलमद, ज्ञान-मद, तपमद, रूपमद, धनमद, अधिकारमद (ये आठ मद), देवमूढ़ता, गुरूमूढ़ता, लोकमूढ़ता ये मूढ़ताएं हैं। तथा छः अनायतन, कुगुरू, कुगुरू भक्ति, कुदेव, कुदेव भक्ति, कुधर्म, कुधर्म, सेवक, ऐसे सम्यग्दर्शन के ये पच्चीस दोष हैं इन दोषों से रहित शुद्ध सम्यग्दर्शन का होना सो दर्शनविशुद्धि भावना है। देव शास्त्र, गुरू, तथा रत्नत्रय का हृदय से सन्मान करना विनय करना विनय संपन्नता है। व्रतों तथा व्रतों के रक्षक नियमों (शीलों) में अतीचार रहित होना शील व्रत भावना है।

सदाज्ञान अभ्यास में लगे रहना अभीक्षण ज्ञानोपयोग है।

धर्म और धर्म के फल से अनुराग होना संवेग भावना है।

अपनी शक्ति को न छिपाकर अंतरंग बहिरंग तप करना शक्तितस त्याग है।

अपनी शक्ति के अनुसार आहार, अभय, औषध और ज्ञान दान करना शक्ति तस् त्याग है।

साधुओं का उपसर्ग दूर करना, अथवा समाधि सहित वीर मरण करना साधु समाधि है।

व्रती त्यागी साधर्मी की सेवा करना, दुःखी का दुःख दूर करना वैय्यावृत

करण है। अरहंत भगवान की भक्ति करना अरहत भक्ति है।
मुनि संघ के नायक आचार्य की भक्ति करना आचार्य भक्ति है।
उपाध्याय परमेष्ठि की भक्ति करना बहुश्रुत भक्ति है।
जिनवाणी की भक्ति करना प्रवचन भक्ति है।
छै आवश्यक कर्मों को सावधानी से पालन करना आवश्यक परिहारिणी है।
जैनधर्म का प्रभाव फैलाना मार्ग प्रभावना है।
साधर्मीजन से अगाध प्रेम करना प्रवचन वात्सल्य है।

इन सोलह भावनाओं में से दर्शन विशुद्धि भावना का होना परमावश्यक है। दर्शन विशुद्धि के साथ कोई भी एक दो तीन चार आदि भावना हो या सभी भावना हों तो तीर्थंकर प्रकृती का बंध हो सकता है।

अब तीर्थंकरों के विषय में ग्रन्थकार सूत्र कहते हैं–

चतुर्विंशति स्तीर्थंकराः ॥७॥

अर्थ–भरत ऐरावत क्षेत्र में दुःषमा सुषमा काल में क्रम से चौबीस तीर्थंकर होते है।

१ श्री वृषभ नाथ २ श्री अजित नाथ ३ श्री संभव नाथ ४ श्री अभिनंदननाथ ५ सुमती नाथ ६ पद्मप्रभु ७ सुपार्श्वनाथ ८ चंद्रप्रभु ९ पुष्प दंत १० शीतल नाथ ११ श्रेयांसनाथ १२ वासु पूज्य १३ विमल नाथ १४ अनंत नाथ १५ धर्मनाथ १६ शांति नाथ १७ कुंथनाथ १८ अरहनाथ १९ मल्लि नाथ २० मुनिसुव्रत २१ नमिनाथ जी २२ नेमिनाथ २३ प्रार्श्वनाथ २४ महावीर। ये इस भरत क्षेत्र के वर्तमान युग (इस हुंडावसर्पिणी) के चौबीस तीर्थंकर हैं। अतीतकाल के चौबीस तीर्थंकरों के नाम निम्न लिखित हैं—

१ श्री निर्वाण २ सागर ३ महासाधु ४ विमल प्रभु ५ श्रीधर ६ सुदत्त ७ अमलप्रभ ८ उद्धर ९ अंगीर १० सन्मती ११ सिंधु १२ कुसमांजली १३ १३ शिवगण १४ उत्साह १५ ज्ञानेश्वर १६ परमेश्वर १७ विमलेश्वर १८ यशोधर १९ कृष्णमति २० ज्ञानमति २१ शुध्यमति २२ श्री मद्र २३ पद्मकान्त २४ अतीक्रान्त।

आगामी काले में होने वाले तीर्थंकरों के नाम निम्नलिखित हैं—
महापद्म २ सुरदेव ३ शुपार्श्व ६ स्वयंप्रभ ५ सर्वात्म भूत ६ देवपुत्र ७ कुलपुत्र ८ उदक ९ पौष्टिल १० जयकीर्ति ११ मुनि सुव्रत १२ अरनाथ १३ निःपाप १४ निःकषाय १५ विमल १६ निर्मल १७ चित्रगुप्त १८ समाधि गुप्त १९ स्वयंभू २० अनिवर्तक २१ जय २२ विमल २३ देवपाल २४ अनन्तवीर्य।

अब इस भरत क्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकरों की भवावली यथा क्रम से कहते हैं-

आदिनाथ

भगवान वृषभ देव के पूर्व १० भव यह है—जयवर्मा, २ महाबलविद्याधर ३ ललितांग देव ४ बज्रजंघराजा ५ भोग भूमिया ६ श्री धर ७ सुविध (नारायण) ८ अच्युत स्वर्गका इन्द्र ९ वज्रनाभि चक्रवर्ती इस भव में सोलह कारण भावना के बल से तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किया, वहां से चयकर भरत क्षेत्र के सुकोशल देश की अयोध्या नगरी में अन्तिम कुलकर नाभिराजा के यहां मरूदेवी माता के कोख से प्रथम तीर्थंकर के रूप में जन्म लिया। आप का शरीर ५०० धनुष ऊंचा था, आयु चौराशी लाख पूर्व थी शरीर का रंग तपे हुए सोने के समान था। शरीर में १००८ शुभ लक्षण थे। ऋषभ नाथ नाम रखा गया। वृषभनाथ तथा आदिनाथ भी आपके दूसरे नाम है। आपके दाहिने पैर में बैल का चिह्न था इस कारण आपका बैलका चिह्न प्रसिद्ध हुआ और इसलिये नाम भी वृषभनाथ पड़ा।

आपका २० लाख पूर्व समय कुमार अवस्था में व्यतीत हुआ। आपका (यशस्वती और सुनंदा) नामक दो राज पुत्रियों से विवाह हुआ। ६३ लाख पूर्व तक राज किया। आपकी राणी यशस्वती के उदर से भरतादि ९९ पुत्र तथा ब्राह्मी नामक एक कन्या हुई और सुनन्दा रानी से बाहुबली नामक एक पुत्र और सुन्दरी नामक कन्या हुई।

आपने राज्य काल में जनता को खेती बाड़ी, व्यापार अस्त्र शस्त्र चलाना, वस्त्र बनाना, लिखना पढना, अनेक प्रकार के कला कौशल आदि सिखलाए। अपने पुत्र भरत को नाट्य कला, बाहुबली को मल्ल विद्या, ब्राह्मि को अक्षर विद्या, सुन्दरी को अङ्क विद्या तथा अन्य पुत्रों को अश्व विद्या, राजनीति आदि सिखलाई।

८३,०००००लाख पूर्व आयु बीत जाने पर राज सभा में नृत्य करते हुए निलांजना नामक अप्सरा की मृत्यु देखकर आपको संसार, शरीर और विषय भोगों से वैराग्य हुआ तब भरत को राज्य देकर आपने पंच मुष्टियों से केशलोच करके सिद्धों को नमस्कार करके स्वयं मुनि दीक्षा ली। छै मास तक आत्म ध्यान में निमग्न रहे। फिर छः मास पीछे जब योग से उठे तो आप को लगातार छः मास तक विधि अनुसार आहार प्राप्त नहीं हुआ। इस तरह एक वर्ष पीछे हस्तिनापुर में राजा श्रेयांस ने पूर्वभव के स्मरण से मुनियों को आहार देने की विधि जानकर आपको ठीक विधि से ईख के रस द्वारा पारना कराई।

एक हजार वर्ष तपस्या करने के बाद आपको केवल ज्ञान हुआ। तदनंतर १,००० हजार वर्ष कम १०,०००० लाख पूर्व तक आप समस्त देशों में बिहार करके धर्म प्रचार करते रहे। आपके उपदेश के लिए समवशरण नामक विशाल सभा मंडप बनाया जाता था। अन्त में आपने कैलाश पर्वत से पर्यकासन (पलथी) से मुक्ति प्राप्त की।

विशेषार्थ--आपका ज्येष्ठ पुत्र भरत, भरत क्षेत्र का पहला चक्रवर्ती था उस ही के नाम पर इस देश का नाम भारत प्रख्यात हुआ। आपका दूसरा पुत्र बाहुबली प्रथम कामदेव था तथा चक्रवर्ती को भी युद्ध में हराने वाला महान बलवान था। उसने मुनि दीक्षा लेकर निश्चल खड़े रह कर एक वर्ष तक निराहार रहकर तपस्या की और भगवान वृषभनाथ से भी पहले मुक्त हुआ।

भगवान वृषभनाथ का पौत्र (नाति, पोता) मरीचि कुमार अनेक भव बिताकर अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर हुआ। आपकी पुत्री ब्राह्मी, सुन्दरी आर्यिकाओं की नेत्री थी। आपके वृषभ सेन आदि ८४ गणधर थे।

आप सुषमा दुषमा नामक तीसरे काल में उत्पन्न हुए और मोक्ष भी तीसरे ही काल में गए। जनता को आपने क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन तीन वर्गों में विभाजित करके सबको जीवन निर्वाह की रीति बतलाई। इस कारण आपको आदि ब्रह्मा तथा १५ वां कुलकर भी कहते है॥ १॥ 15/6/87

अजित नाथ

भगवान वृषभ नाथ के मुक्त हो जाने के अनन्तर जब ५० लाख करोड़-सागर का समय बीत चुका, साकेतपुर अयोध्या के राजा जितशत्रु की महारानी इंद्रसेना के उदर से द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ का जन्म हुआ। पूर्ववर्ती तीसरे भव में ये राजा विमलवाहन थे। राजा विमलवाहन ने मुनि अवस्था में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया था। वहां से विजय नामक अनुत्तर विमान का अहमीन्द्र हुआ। और अहमीन्द्र आयु समाप्त कर अजितनाथ तीर्थंकर हुआ, इनका शरीर ४५० धनुष ऊंचा था, स्वर्ण जैसा रंग था। ७२,००००० लाख पूर्व की आयु थी, पैर में हाथी का चिन्ह था। आपने अपने यौवन काल में राज्य किया, फिर विरक्त होकर केले के वृक्ष के नीचे मुनि दीक्षा ली और तपश्चरण करके केवल ज्ञान प्राप्त किया। आपके सिंहसेनादि ५२ गणधर थे और प्रकुब्जादि आर्यिकाएं थीं महायक्ष रोहिनी यक्षिणी थी। आपने सम्मेद शिखर से मुक्ति प्राप्त की। भगवान अजितनाथ के समय में सगर नामक दूसरे चक्रवर्ती हुए। जो कि तपश्चरण करके मुक्त हुए। जित शत्रु नामक दूसरा रुद्र भी आपके समय में हुआ॥२॥

संभवनाथ

क्षेमपुर के राजा विमल ने संसार से विरक्त होकर मुनि दीक्षा ली। कठोर तप किया तथा सोलह कारण भावनाओं द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। फिर प्रथम ग्रैवक बिमान में सुदर्शन नामक अहमिन्द्र देव हुआ। वहां से आयु समाप्त करके भगवान अजितनाथ की मुक्ति से ३०,००००० लाख करोड़ सागर बीत जाने पर श्रावस्ति के इक्ष्वाकु शी राजा विजितारी की राणी सुशेना के गर्भ में आया और तीसरे तीर्थंकर संभव नाथ के रूप में जन्म लिया। आपका रंग स्वर्ण सरीखा था। आपका शरीर ४०० धनुष्य ऊंचा और आयु ६०,००००० लाख पूर्व की थी। आपके पग में घोड़े का चिन्ह था बहुत समय तक राज्य करके विरक्त होकर शाल्मली वृक्ष के नीचे मुनिपद ग्रहण किया। तपस्या करके केवल ज्ञान प्राप्त किया। आपके चारु दत्त आदि १०५ गणधर थे, धर्म श्री आदि आर्यिकाएं थी। श्री मुख यक्ष और प्रज्ञप्ति यक्षणी थी। सम्मेद शिखर से आपने मुक्ति प्राप्त की ॥ ३ ॥

अभिनन्दन नाथ

जब संभवनाथ तीर्थंकर का काल १,००,००,००,००००००१० करोड़ पूर्व परिवर्तन कर रहा था उस समय महा लचर नामक अनुत्तर विमान का अहमिन्द्र आकर साकेत नगर के संवर नामके राजा तथा उनकी सिद्धार्था रानी के गर्भ से अभिनन्दन नाम के तीर्थकर का जन्म हुआ।

उन अभिनन्दन तीर्थंकर की आयु ५०,००००० लाख पूर्व की थी। तथा उनके शरीर की ऊंचाई ३५० धनुष थी और उनके शरीर का रंग सोने के समान था। शाल्मली के वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग अर्थात् ध्यान में स्थित होकर अन्त में घातिया कर्म को नष्ट करके केवल ज्ञान प्राप्त किया और मोक्ष पाया। इन तीर्थकर के साथ वज्रचव आदि १०३ गणधर तथा मेरुषेणा आदि अर्यिकाऐं हुई। यक्षेश्वर यक्ष, और बज्रसृंखला नाम की यक्षणी बन्दर लालञ्छन सहित अभिनन्दन तीर्थकर अपने समवसरण द्वारा देश विदेश विहार करते हुए सम्मेद पर्वत पर आकर मोक्ष पद को प्राप्त हुए ॥ ४ ॥

सुमतिनाथ

उन अभिनन्दन तीर्थंकर का काल नव करोड़ लक्ष्य (९०००००,०००) लाख सागरोपम व्यतीत होते समय में पंचानुत्तोरो में से वैजयन्त विमान का रतिषेण अहमेन्द्र आकर साकेत राजधानी के राजा मेघ रत्न तथा उनकी रानी मंगला देवी से सुमति नाथ नामक तीर्थंकर उत्पन्न हुआ। उनकी आयु चालीस लाख

(४०,०००००) पूर्व थी और उनके शरीर का उत्सेध ३०० धनुष का था, रंग स्वर्ण मय था। प्रियंगु वृक्ष के नीचे इन तीर्थंकर ने केवल ज्ञान प्राप्त किया था। इनके समवशरण में वज्रनाम इत्यादि ११६ गणधर थे, अनन्त मती आदि अर्यिकाऐं थी, तुंवरयक्ष पुरुषदत्ता यक्षणी थी। चक्रवाक नाम के पक्षी के चिन्ह सहित भगवान् सुमति नाथ तीर्थंकर अपने समवशरण सहित अनेक देश विहार करते हुये अन्त में सम्मेद शिखर पर आकर मोक्ष पद को प्राप्त हुए ॥५॥

पद्मप्रभु

उस सुमति नाथ तीर्थंकर का काल जब ६० सहस्त्र कोटि (६०००,००-००००००) प्रवंतन कर रहा था। उस काल में उपरिम ग्रेवेयक से अपराजित चरनाम अहमिन्द्र ने आकर कौशाम्बिपुर के राजा वरुण तथा उनकी रानी सुशीमा के गर्भ से पद्मप्रभु तीर्थंकर के रूप में जन्म लिया। इनकी आयु ३० लाख (३०,०००००) पूर्व थी। तथा २५० धनुष ऊंचे शरीर वाले थे। इनका शरीर हरित वर्ण का था। इन्होंने सिरीश नाम के वृक्ष के नीचे घातिया कर्म को नष्ट करके केवलज्ञान पाया।

उस केवल ज्ञान प्राप्ति के समय इनके साथ १११ गणधर तथा रति षेणाआदि मुख्य आर्यिकाएं थी और कुसुमयक्ष मनोवेगा यक्षणी, कमल लांछन-तथा भगवान् अपने समवशरण सहित विहार करते हुए सम्मेद शिखर पर अपने सम्पूर्ण कर्म की निर्जरा करके मोक्ष पद को प्राप्त हुए.॥ ६ ॥

सुपार्श्वनाथ

उन पद्म प्रभु तीर्थङ्कर का काल ६ करोड सागर प्रमाण [६०००,०००००००] प्रर्वतते समय मध्यम ग्रेवेयक से नन्दि शेरा चर नामक भद्रविमान के अहिमिन्द्र ने आकर वाराणसी नगर के राजा सुप्रतिष्ठ तथा उनकी रानी पृथ्वी देवी की कुक्षी से सुपार्श्व नाथ नाम के तीर्थङ्कर उत्पन्न हुए। उन सुपार्श्व नाथ तीर्थङ्कर की आयु २० लक्ष [२०,०००००] पूर्व थी, और उनके शरीर की ऊंचाई २०० धनुष थी। शरीर का रंग हरित वर्ण का था और उन्होंने नागपाद वृक्ष के नीचे तप करके केवल ज्ञान प्राप्त किया तथा पंचानवें गणधर वल आदि तथा मीन श्री आदिक अर्यिकाऐं, परनन्दी यक्ष कालियज्ञणी तथा स्वस्तिक लांछन सहित अपने समवशरण से देश में विहार करते हुए सम्मेदपर्वत पर आकर सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष गये ॥ ७ ॥

चन्द्रप्रभु

जब सुपार्श्व तीर्थङ्कर का काल नौ सौ करोड़ सागर [६००,०००००००

चल रहा था उस समय श्री वर्म, श्रीधर देव, अजितषेण चक्रवर्ती, अच्युतेन्द्र पद्मनाभराजा होकर पंचानुत्तर के वैजयन्त विमान में उत्पन्न हुए अहमिन्द्र देव ने आकर चन्द्रपुर नामक नगर के महाषेण राजा की रानी लक्ष्मणा देवी की कोख से चन्द्रप्रभु नामक तीर्थङ्कर के रूप में जन्म लिया।

उन तीर्थङ्कर की आयु दस लाख [१०,०००००] पूर्व थी और शरीर की ऊंचाई १५० धनुष तथा रंग धवल वर्ण था। नाग कुंज वृक्ष के नीचे महान तप के द्वारा घातिया कर्म की निर्जरा करके केवलज्ञान प्राप्त किया। उनके साथ उदात्त आदिक तिरानवें गणधर थे। वरुण श्री आदि अनेक अर्यिकाऐं थीं। विजय यक्ष और ज्वालामालिनी यक्षिणी थी। भगवान् का लांछन चन्द्र था। इन चन्द्रप्रभ भगवान् ने अपने समवशरण सहित सम्मेद पर्वत पर आकर सम्पूर्ण कर्म नष्ट करके सिद्ध पद पाया ॥ ८ ॥

पुष्पदत्त

जिस समय चन्द्र प्रभ तीर्थङ्कर का काल नौ करोड़ सागरोमम चल रहा था उस समय महापद्मचर नाम का प्राणतेन्द्र आकर काकन्द्रीपुर के राजा सुग्रीव की रानी जयरामा की कोख से पुष्पदन्त तीर्थङ्कर हुए। उनकी आयु दो लाख की पूर्व थी। शरीर की ऊंचाई सौ धनुष ऊंची थी। शरीर का वर्ण श्वेत था। नागफणी वृक्ष के मूल में तपश्चरण कर चारों घातिया नष्ट कर केवल ज्ञान की प्राप्ति की। उस समय उनके समवशरण में विदर्भ आदि ८८ गणधर तथा घोषिति, विनयती आदिक अर्जिकाएं थी। और अजितयक्ष महाकाली यक्षिणी मगरलांछन सहित अपने समवशरण के साथ विहार करते हुए सम्मेद शिखर पर जाकर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय किया। इन्हीं के समय में रुद्र नाम का तीसरा रुद्र हुआ ॥ ९ ॥

शीतलनाथ

उन सुविधि नाथ पुष्पदत्त तीर्थङ्कर का काल जब नौ करोड़ सागरोपम चल रहा था उस समय इस काल के अन्त में पल्योपम का चतुर्थ भाग काल बाकी रहते हुए धर्म की हानि होने लगी। उसी समय में पद्मगुल्म चर का देव आरणेन्द्र विमान से आकर भद्रलापुर के राजा दृढ़रथ तथा उनकी रानी सुनन्दा देवी की कोख से शीतलनाथ तीर्थङ्कर के रूप में उत्पन्न हुआ। उनकी आयु एक लक्ष पूर्व थी।

यहां कोई प्रश्न करेगा कि पूर्व का प्रमाण क्या है? तो इसके विषय में कहा है कि 'सुरसरिणगण घनन। भरदंबुद मेघ पवन जलद पथंपु।

Note
Imt

स्कर शरखरम गिरियुं, परमार्थं पूर्वशंखयतिपति मतदौल ॥

सत्तर लाख ५६ हजार करोड़ वर्ष का एक पूर्व वर्ष होता है। उनकी ऊंचाई नब्बे धनुष की थी। उनके शरीर का रंग हरा था। बेलपत्र झाड़ के नीचे तपश्चर्या करके केवल ज्ञान प्राप्त किया और उनके साथ सतासी गणधर धरणी श्री नाम की मुख्य अर्जिका भी थीं। ब्रह्मयक्ष, माणवी यक्षिणी और भगवान् का श्री वृक्ष लांछन [चिन्ह] था। आपने समवशरण सहित अनेक देशों में भ्रमण करते हुए सम्मेद शिखर से मोक्ष प्राप्त किया उसकाल में विश्वाक्ष नाम का चौथा रुद्र हुआ ॥ १० ॥

श्रेयांसनाथ

जब शीतल नाथ तीर्थङ्कर का छत्तीस लाख छब्बीस हजार वर्ष से मिला हुआ एक करोड़ सागरोपम के अन्त में बचा हुआ अर्ध पल्योपम काल में जब धर्म की हानि होने की सम्भावना होने लगी उस समय में नलिन प्रभ नाम का देव अच्युत कल्प के पुष्पोत्तर विमान से आकर सिंहपुर के विष्णु देव राजा उनकी राणी वेणदेवी की कोख से श्रेशांसनाथ तीर्थङ्कर हुए। उनकी आयु चौरासी लाख वर्ष थी और अस्सी धनुष ऊंचाई थी। सुवर्णमयी शरीर था। तुम्पूर्ण [शिरीश[नाम के वृक्ष के नीचे तपश्चर्या करके मोक्ष फल प्राप्त किया। उस समय उनके साथ मुख्य कुन्थु आदि [७७] गणधर थे और धारणा नाम की मुख्य अर्जिका थी। यक्षेश्वर यक्ष थे और गौरी यक्षिणी गेंडा का चिन्ह था। ऐसे श्रेयांस नाथ तीर्थङ्कर ने अनेक देशों में समवशरण सहित विहार कर सम्मेद शिखर पर जाकर मोक्ष फल प्राप्त किया ॥ ११ ॥

उस श्रेयांसनाथ तीर्थङ्कर के काल में विजय नृप नाम के प्रथम राम और त्रिपृष्ट केशव, महाशुक्र कल्प से आकर पोदनपुर के अधिपति प्रजा--पाल महाराजा के पुत्र उत्पन्न हुआ। और पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान वृद्धि को प्राप्त होते समय उनकी वृद्धि दूसरे अश्वग्रीव नाम के विद्याधर को सहन न होने के कारण उनके ऊपर आक्रमण कर अपने चक्र के द्वारा मारना चाहा। सो उस चक्र से ही राम केशव ने अश्वग्रीव को मार कर भरत के तीन खंड को अधीन करके उसको भोगते हुए शंख चक्र गदा शक्ति धनु दंड असि [तलवार] इत्यादि सात रत्नों के अधिपति केशव हुए, हल मूसल गदारत्न माला विधान इत्यादि चार रत्नों के अधिपति राम हुये। सुख से राज भोग करते हुये आनन्द के साथ साथ समय व्यतीत करने लगे। तो कुछ दिन पश्चात् केशव कृष्ण लेश्या के

परिणाम की उत्कृष्टता से मरणकर सातवें नरक को प्राप्त हो गया। त्रिपृष्ठ के बाद विजय नामक राम ने घोर तपश्चरण द्वारा मोक्ष पद प्राप्त किया।

वासुपूज्य

पुष्करार्द्ध दीप के वत्सकावती देश के अन्तर्गत रत्नपुर का शासन करने वाला धर्म-प्रिय न्यायी राजा पद्मोत्तर था, वह वहां के तीर्थंकर युगन्धर का उपदेश सुन कर संसार से विरक्त हुआ और राजपाट पुत्र को देकर मुनि हो गया। उसने अच्छा तप किया तथा सोलह कारण भावनाओं को भा कर तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया और आयु के अन्त में समाधि से मरण किया। तदनन्तर महाशुक्र स्वर्ग का इन्द्र हुआ। स्वर्ग की आयु जब समाप्त हुई तब चम्पापुर के राजा वासुपूज्य की रानी जयावती की कोख में आकर उसने १२ वें तीर्थंकर वासुपूज्य के रूप में जन्म लिया। भगवान् श्रेयांसनाथ की मुक्ति से चउअन ५४ सागर समय पीछे भगवान वासुपूज्य का जन्म हुआ। इनका शरीर कमल के समान लाल रंग का था। इनकी आयु ७२ लाख वर्ष की थी, शरीर ७० धनुष ऊंचा था। पैर में भैंसे का चिन्ह था। इन्होंने अपना विवाह नहीं किया। बाल ब्रह्मचारी रहे और कुमार अवस्था में मुनि पद धारण किया। तपश्चरण करके जब अरहंत पद पाया तब समवशरण द्वारा सर्वत्र विहार करके धर्म का पुनरूद्धार किया। उनके धर्म आदि ६६ गणधर थे तथा सेना आदि आर्यिकायें थीं। कुमार यक्ष, गांधारी यक्षिणी, महिष का चिन्ह था। अन्त में आपने चम्पापुरी से मुक्ति प्राप्त की।

भगवान वासुपूज्य के समय में अचल नामक बलभद्र, द्विपृष्ठ नामक नारायण और तारक नाम प्रतिनारायण हुए।१२।

विमलनाथ

धातकी खण्ड में रम्यकावती देश के अन्तर्गत महानगर का राज्य करने वाला राजा पद्मसेन बहुत प्रतापी था। वहुत दिन राज्य करके वह स्वर्गगुप्त नामक केवल ज्ञानी का उपदेश सुनकर राज पाट छोड़ मुनि बन गया और दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं के द्वारा उसने तीर्थंकर कर्म का बन्ध किया। फिर वह मानव शरीर छोड़कर सहस्रार स्वर्ग का इन्द्र हुआ। वहां की १८ सागर की आयु बिता कर कम्पिला नगरी के राजा कृतवर्मा की रानी जयश्यामा के उदर से विमलनाथ नामक १३ वां तीर्थंकर हुआ। भ० विमलनाथ का जन्म भगवान् वासुपूज्य से ३० सागर पीछे हुआ इसी समय के अन्तर्गत उनकी ६० लाख वर्ष की आयु भी है। उनका शरीर का रंग स्वर्ण के समान था। उनके पैर में शूकर का चिन्ह था।

भगवान विमलनाथ ने यौवन अवस्था में बहुत दिन तक राज्य किया फिर संसार से विरक्त होकर मुनिव्रत धारण किया। तीन वर्ष तक तपस्या करने के अनंतर उन्हें केवल ज्ञान हुआ तब समवशरण द्वारा सर्वत्र धर्म प्रचार किया। उनके मन्दर आदि ५५ गणधर थे और पद्मा आदि एक लाख ३ हजार आर्यिकायें थीं। वैरोटनी यक्षिणी, सन्मुख यक्ष था।

भगवान विमलनाथ के समय में धर्म नामक बलभद्र और स्वयम्भू नामक तीसरा नारायण तथा मधु नामक प्रतिनारायण हुआ है।१३।

अनन्तनाथ (अनन्तजित्)

धातकी खंड में अरिष्ट नगर के स्वामी राजा पद्मरथ बड़े सुख से राज्य कर रहे थे। एक बार उनको भगवान स्वयंप्रभु के दर्शन करने का अवसर मिला। भगवान का दर्शन करते ही उनका मन संसार से विरक्त हो गया, अतः वे अपने पुत्र धनरथ को राज्य भार देकर मुनि बन गये। बहुत काल तक तप करते रहे। १६ भावनाओं के कारण तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। अन्त में समाधि-मरण करके सोलहवें स्वर्ग का इन्द्र पद प्राप्त किया। स्वर्ग से बाईस सागर की आयु समाप्त करके अयोध्या के अधिपति महाराज सिंहसेन की महारानी जयश्यामा के उदर से जन्म लिया।

आपका नाम अनन्तजित या अनन्तनाथ रक्खा गया। भगवान विमलनाथ को मुक्ति के समय से अब तक ६ सागर तथा पौन पल्य समय बीत चुका था आप की आयु के बीस लाख वर्ष भी इसमें सम्मिलित हैं। आपका शरीर सुवर्ण वर्ण था। ऊंचाई ५० धनुष थी। पैर में सेही का चिन्ह था। आपके यौवन काल में आपका राज्याभिषेक हुआ। बहुत समय तक निष्कंटक राज्य किया। एक दिन आकाश से बिजली गिरते देखकर आप को वैराग्य हो गया, अतः सिद्धों को नमस्कार करके आप मुनि बन गये। तत्काल आप को मनःपर्यय ज्ञान हो गया और दो वर्ष तपश्चरण करने के अनन्तर आप को विश्व ज्ञायक केवलज्ञान हुआ। आपके जय आदि ५० गणधर हुए सर्वश्री आदि एक लाख ८ हजार आर्यिकायें थीं, पाताल यक्ष अनन्तमति यक्षिणी थी। समवशरण द्वारा समस्त देशों में धर्म प्रचार करके आयु के अन्त में सम्मेद शिखर पर्वत से मुक्त हुए।१४।

अनन्त चतुर्दशी व्रत

अचिन्त्य फल दायक अनन्त चतुर्दशी व्रत की विधि निम्नलिखित है—

भाद्रपद सुदी चतुर्दशी को उपवास करे तथा एकान्त स्थान में अष्ट

प्रातिहार्य सहित अनन्तनाथ भगवान को प्रतिमा सुन्दर मंडप में विराजमान करे उसका अभिषेक करे। तथा 'ॐ नमःअर्हते भगवते त्रैलोक्यनाथाय परीक्षण रोषक-ल्मषाय दिव्यतेजोमूर्तये अनन्त तीर्थंकराय अनन्त सुखप्रदाय नमः।' इस मन्त्र को पढ़कर अष्ट द्रव्य से भगवान का पूजन करे। चौदह प्रकार के धान्यों के पुञ्ज रखकर चौदह प्रकार के पुष्पों और चौदह प्रकार के फलों से पूजा करे। चौदह प्रकार के सूत से बना हुआ चौदह गांठों वाले जनेऊ (यज्ञोपवीत) को चन्दन केसर कपूर मिलाकर रंगे और उस यज्ञोपवीत को 'ॐ० नमः अर्हते भगवते त्रैलोक्यनाथाय अनन्तज्ञान दर्शनवीर्य सुखात्मकाय स्वाहा' मंत्र के द्वारा पूजा करे।

चौदह जल धारा, चौदह तिलक, चौदह मुट्ठी चावल, चौदह पुष्प, चौदह सुपारी, धूप, १४ पान द्वारा पूजन करे तथा "ॐ० ह्रीं अनन्ततीर्थंकराय ॐ० ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः असिआउसा मम सर्वशान्ति क्रांति तुष्टि पुष्टि सौभाग्य मायुरारोग्यमिष्ट सिद्धि कुरु कुरु सर्वविघ्न परिहरं कुरु कुरु नमः वषट् स्वाहा" मंत्र पढ़कर अर्घ चढ़ाना चाहिए। तत्पश्चात् ॐ ऐं ह्रीं ह्रा क्लीं अर्हं मम सर्वशान्ति कुरु कुरु वषट् स्वाहा।" मन्त्र पढ़कर जनेऊ गले में पहन लेना चाहिए तथा राखी अपने हाथ में या कान में बांध लेनी चाहिये। 'ॐ० ह्रीं अर्हं नमः सर्व कर्म बन्धन विनिर्मुक्ताय अनन्ततीर्थंकराय अनन्त सुखप्रदाय स्वाहा' मंत्र पढ़कर पुराना जनेऊ उतार देना चाहिए।

तदनन्तर देव शास्त्र गुरु की पूजन करे चौदह सौभाग्यवती स्त्रियों को चौदह प्रकार के फल भेंट करे रात्रि जागरण करे। दूसरे दिन नित्यनियम क्रिया करके पारणा करे। इस प्रकार १४ वर्ष तक करके उद्यापन करे। उद्यापन में यथा शक्ति अन्न वस्त्र आदि का दान करना चाहिए। चौदह दम्पतियों (पति पत्नियों) को घर में भोजन कराना चाहिये, वे गरीब हों तो उन्हें वस्त्र भी देने चाहिये। १४ शास्त्रों की पूजा करके मंदिर में देना चाहिए, चौदह आ-चार्यों की पूजा करनी चाहिए, १४ आर्यिकाओं को वस्त्र देना चाहिये। मंदिर में चौदह प्रकार की सामग्री भेंट करनी चाहिये। चार प्रकार के संघ को आहार देना चाहिये। चौदह मुट्ठी चावल भगवान के समाने चढ़ाने चाहिये।

इस प्रकार अनन्त चतुर्दशी व्रत के करने तथा उद्यापन करने की विधि है।

भगवान अनन्तनाथ के समय में चौथे बलभद्र (नारायण के बड़े भाई) सुप्रभ और पुरुषोत्तम नारायण तथा मधुसूदन नामक प्रतिनारायण हुए।

धर्मनाथ

धातकी खण्ड के वत्स देश में सुसीमा महानगर का स्वामी राजा दशरथ बहुत पराक्रम के साथ राज्य करता था। एक दिन वैशाख सुदी पूर्णमाणी को चन्द्रग्रहण देखकर संसार की अस्थिरता का उसे बोध हुआ, अतः अपने पुत्र महारथ को राज्य भार सौंप कर आप महाव्रती साधु बन गया। संयम धारण कर लेने पर १६ कारण भावनाओं का चिन्तवन करके तीर्थंकर प्रकृति बांधी। समाधि के साथ वीर मरण करके वह सवार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ। वहां ३३ सागर का दीर्घ काल बिता कर रत्नपुर के शासक राजा भानु की रानी सुप्रभा के गर्भ में आया। ६ मास पीछे १५ वें तीर्थंकर धर्मनाथ के रूप में जन्म लिया। भगवान अनन्तनाथ के मुक्त होने से १० लाख वर्ष कम चार सागर का समय अब तक बीत चुका था।

भगवान धर्मनाथ की आयु १० लाख वर्ष थी। शरीर ४५ धनुष ऊंचा था। शरीर का वर्ण सुवर्ण-जैसा था, पैर में बज्रदण्ड का चिन्ह था। यौवन-काल में बहुत समय तक राजसुख भोगा। एक दिन उल्कापात (बिजली गिरना) देखकर उन्हें वैराग्य हो गया, अतः राज सम्पदा छोड़ कर साधु-दीक्षा स्वीकार की। उसी समय उन्हें मनःपर्यय ज्ञान प्रकट हो गया। तदनन्तर एक वर्ष पीछे उन्हें केवलज्ञान हो गया। तब समवशरण द्वारा अनेक देशों में महान धर्म प्रचार किया। आपके अरिष्टसेन आदि ४७ गणधर थे और सुव्रता आदि ६२४०० अर्यिकायें, हजारों विविध ऋद्धिधारी साधु थे। किन्नर यक्ष, परभृती यक्षिणी थी। अन्त में आप सम्मेद शिखर पर्वत से मुक्त हुए।

इनके समय में पांचवें बलभद्र सुदर्शन तथा पुरुषसिंह नामक नारायण और निशुम्भ नामक प्रतिनारायण हुए हैं। इन ही धर्मनाथ तीर्थंकर के तीर्थ काल में तीसरे चक्रवर्ती मघवा हुए हैं।१५।

शान्तिनाथ

इस जम्बूद्वीपवर्ती विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश है उस देश में पुण्ड-रीकिणी नामका एक सुन्दर विशाल नगर है। वहां पर घनरथ नामक राजा राज्य करता था। उसके ग्रैवेयक से च्युत होकर मेघराज नामक पुत्र हुआ वह बड़ा प्रभावशाली, पराक्रमी, दानी, सौभाग्यशाली और गुणी था। उसने अपने पिता से प्राप्त राज्य का शासन बहुत दिन तक किया। उसने जब तीर्थंकर का उपदेश सुना तो उसको आत्मसाधना के लिये उत्साह हुआ, इस कारण घर बार राजपाट छोड़कर मुनि बन गया। मुनि अवस्था में उसने षोडशकारण भाव-

नाओं का चिन्तवन किया जिससे उसने तीर्थङ्कर प्रकृति का उपार्जन किया। आयु के अन्तिम समय प्रायोपगमन संयास धारण कर अनुत्तर विमान में अहमिंद्र हुआ।

वहां पर ३३ सागर की सुखमयी आयु समाप्त करके हस्तिनापुर में राजा विश्वसेन की रानी ऐरादेवी के उदर से सोलहवें तीर्थङ्कर शांतिनाथ के रूप में जन्म धारण किया। भगवान धर्मनाथ से एक लाख वर्ष तथा पौन पल्य कम तीन सागर का समय बीत जाने पर भगवान शान्तिनाथ का जन्म हुआ था। उनकी आयु एक लाख वर्ष की थी, शरीर सुवर्ण के से रंग का था, पैर में हिरण का चिन्ह था और शरीर की ऊंचाई ४० धनुष थी।

पच्चीस हजार वर्ष का कुमार काल बीत जाने पर उनके पिता ने भगवान शान्तिनाथ का राज्य अभिषेक किया। २५ हजार वर्ष राज्य कर लेने के बाद वे दिग्विजय करने निकले। दिग्विजय करके भरत क्षेत्र के पांचवें चक्रवर्ती सम्राट बन गये। २५ हजार वर्ष तक चक्रवर्ती साम्राज्य का सुख भोग करते हुए एक दिन उन्होंने दर्पण में अपने शरीर के दो आकार देखे, इससे उनकी रुचि संसार की ओर से हट गई और राज्य त्याग कर महाव्रती साधु हो गये। सोलह वर्ष तक तपश्चरण करने के पश्चात् उनको केवल ज्ञान हुआ। तब समवशरण द्वारा महान धर्म प्रचार किया। चक्रायुध आदि उनके ३२ गण-धर थे। ६२ हजार अनेक प्रकार की ऋद्धियों के धारक मुनि तथा हरिषेण आदि साठ हजार तीन सौ आर्यिकायें उनके संघ में थीं अन्त में सम्मेद शिखर से सर्व कर्म नष्ट करके मुक्त हुए। इनका गरुड यक्ष और महामानसी यक्षी थी।१६।

कुन्थुनाथ

जम्बूद्वीपवर्ती पूर्व विदेह क्षेत्र में वत्स, नामक एक देश है। उस देश के सुसीमा नगर में एक महान बलवान सिंहरथ नाम का राजा राज्य करता था एक दिन उसने आकाश से गिरती हुई बिजली देखी, इससे उसको वैराग्य हो गया। विरक्त होकर उसने साधु अवस्था में १६ कारण भावनाओं का चिन्तवन किया जिससे तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध किया। अन्त में वीर मरण करके सर्वार्थ सिद्ध का देव हुआ।

वहां ३३ सागर की आयु बिताकर हस्तिनापुर में महाराजा शूरसेन की महारानी श्रीकान्ता के उदरसे १७वें तीर्थङ्कर कुन्थुनाथ नामक तेजस्वी पुत्र हुआ। भगवान शान्तिनाथ के मोक्षगमन से ९५ हजार वर्ष कम आधा पल्य समय बीत जाने पर भगवान कुन्थुनाथ का जन्म हुआ था इनकी आयु ९५ हजार

Page 49

वर्ष की थी, ३५ धनुष ऊंचा शरीर सुवर्ण वर्ण था। बकरे का चिन्ह पैर में था।

भगवान कुन्थुनाथ ने २३७५० वर्ष कुमार अवस्था में बिताए फिर इतने समय तक ही राज्य किया तदनन्तर दिग्विजय करने निकले और छः खंड जीतकर भरत क्षेत्र के चक्रवर्ती सम्राट बने। बहुत समय तक चक्रवर्ती सम्राट बने रहकर पूर्व भव के स्मरण से इनको वैराग्य हुआ। १६ वर्ष तपस्या करके अर्हन्त पद प्राप्त किया। तब समवशरण में अपनी दिव्यध्वनि से मुक्ति मार्ग का प्रचार किया। आपके स्वयम्भू आदि ३५ गणधर थे, ६० हजार सब तरह के मुनि थे, भाविता आदि ६० हजार ३०० अर्यिकायें थीं। गंधर्व यक्ष, जया यक्षी थी। अन्त में आपने सम्मेद शिखर से मोक्ष प्राप्त की।१७।

अरनाथ

जम्बूद्वीप में बहने वाली सीता नदी के उत्तरी तट पर कच्छ नामक एक देश है उसका शासन राजा धनपति करता था। उसने एक दिन तीर्थङ्कर के समवशरण में उनकी दिव्य वाणी सुनी। दिव्य उपदेश सुनते ही वह संसार से विरक्त होकर मुनि हो गया। तब उसने अच्छी तपस्या की और सोलह भावनाओं का चिन्तवन करके तीर्थङ्कर पद का उपार्जन किया। आयु के अन्त में समाधिमरण करके जयन्त विमान में अहमिन्द्र हुआ। तैंतीस सागर अहमिन्द्र पद के सुख भोग कर उसने हस्तिनापुर के सोमवंशी राजा सुदर्शन की महिमामयी रानी मित्रसेना के गर्भ में आकर श्री अरनाथ तीर्थङ्कर के रूप में जन्म ग्रहण किया।

भगवान अरनाथ के शरीर का वर्ण सुवर्ण समान था। जब एक हजार करोड़ चौरासी हजार वर्ष कम पल्य का चौथाई भाग समय भगवान कुन्थुनाथ को मोक्ष होने के बाद से बीत चुका था तब श्री अरनाथ का जन्म हुआ था। उनका शरीर ३० धनुष ऊंचा था, पैर में मछली का चिन्ह था। उनकी आयु चौरासी हजार वर्ष की थी। २१ हजार वर्ष कुमार अवस्था में व्यतीत हुए। २१ हजार वर्ष तक मंडलेश्वर राजा रहे फिर ६ खंडों की विजय करके २१ हजार वर्ष तक चक्रवर्ती पद में शासन किया। तदनन्तर शरद कालीन बादलों को विघटता देखकर वैराग्य हुआ। अतः राज्य त्याग कर मुनि हो गये। १६ वर्ष तक तपश्चरण करते हुए जब बीत गये तब उनको केवल ज्ञान हुआ। फिर समवशरण में विराजमान होकर भव्य जनता को मुक्त पथ का उपदेश दिया। इनके कुम्भार्य आदि तीस गणधर तथा सब प्रकार के ६० हजार मुनि और यक्षि आदि एक हजार आर्यिकायें भगवान के संघ में थीं। महेन्द्र

यक्ष विजया यक्षी थी। सर्वत्र विहार करते हुए महान धर्म प्रचार किया और अन्त में सम्मेद शिखर पर्वत से मोक्ष प्राप्त की।

भगवान् अरनाथ के पीछे किन्तु उनके तीर्थ समय में ही परशुराम का घातक किन्तु स्वयं लोभ-वश समुद्र में अपने पूर्व जन्म के शत्रु (रसोइया) देव द्वारा मरने वाला सुभौम चक्रवर्ती हुआ है। तथा उनके ही तीर्थ काल में नन्दिषेण नामक छठा बलभद्र, पुण्डरीक नारायण और निशुम्भ नामक प्रति नारायण हुआ है।१८।

श्री मल्लिनाथ

जम्बू द्वीप-वर्ती सुमेरु पर्वत के पूर्व में कच्छकावती देशान्तर्गत वीतशोक नामक सुन्दर नगर है उसका शासक श्रवण नामक राजा राज्य करता था। एक दिन उसने वनविहार के समय बिजली से एक वट वृक्ष को गिरते देखा इससे उसे वैराग्य हो गया और वह अपने पुत्र को राज्य देकर मुनि हो गया। मुनि अवस्था में उसने तीर्थङ्कर नाम कर्म का बन्ध किया। तपश्चरण करते हुए समाधि के साथ प्राण त्याग किया और अपराजित नामक अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुआ, तेंतीस सागर की आयु जब वहां समाप्त हो गई तब बंग देश की मिथिला नगरी में इक्ष्वाकुवंशी राजा कुम्भ की रानी प्रजावती के गर्भ में आया और ६ मास पश्चात् श्री मल्लिनाथ तीर्थंकर के रूप में जन्म लिया। भगवान अरनाथ की मुक्ति के ५५ हजार वर्ष कम एक हजार करोड़ वर्ष व्यतीत हो जाने पर श्री मल्लिनाथ भगवान का जन्म हुआ।

आप सुवर्ण वर्ण के थे, २५ धनुष ऊंचा शरीर था, पचपन हजार वर्ष की आयु थी दाहिने पैर में कलश का चिन्ह था। जब उन्होंने यौवन अवस्था में पैर रक्खा तो उनके विवाह की तैयारी हुई। अपने नगर को सजा हुआ देखकर उन्हें पूर्व भव के अपराजित विमान का स्मरण हो आया, अतः संसार की विभूति अस्थिर जानकर विरक्त हो गये और अपना विवाह न कराकर कुमार काल में उसी समय उन्होंने मुनि दीक्षा ले ली। छः दिन तक तपश्चरण करने के अनन्तर ही उनको केवल ज्ञान हो गया। फिर अच्छा धर्म प्रचार किया। उनके विशाख आदि १२८ गणधर थे। केवल ज्ञानी आदि विविध ऋद्धिधारक ४० हजार मुनि और बन्धुषेणा आदि आर्यिकायें उनके संघ में थीं। कुबेर यक्ष अपराजिता यक्षी थी कलश चिन्ह था अन्त में वे सम्मेदशिखर से मुक्त हुए।

इनके तीर्थ काल से पद्म नामक चक्रवर्ती हुआ है तथा इनके ही तीर्थ

काल में सातवें बलभद्र नन्दिमित्र, नारायण दत्त और बलि नामक प्रतिनारायण हुआ है ।१९।

श्री मुनिसुव्रतनाथ

अंग देश के चम्पापुर का प्रतापी राजा हरिवर्मा राज्य करता था। एक बार उसने अपने उद्यान में पधारे हुए अनन्त वीर्य से संसार की असारता-सूचक धर्म-उपदेश सुना। उसके प्रभाव से उसे आत्म-रुचि हुई और वह सब परिग्रह त्याग कर मुनि बन गया। मुनि चर्या का निर्दोष पालन करते हुए उसने सोलह भावनाओं का चिन्तवन करके सर्वोत्तम तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। अन्त में वीरमरण करके वह प्राणत स्वर्ग का इन्द्र हुआ। वहां पर २० सागर की दिव्य सम्पदाओं का उपभोग किया तदनन्तर मगध देश के राजग्रह नगर के शासक हरिवंशी राजा सुमित्र की महारानी सोमा के गर्भ से बीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रतनाथ के रूप में जन्म लिया। भगवान मल्लिनाथ के मुक्ति समय से ५३ लाख ७० हजार वर्ष का समय बीत जाने पर श्री मुनि सुव्रतनाथ का जन्म हुआ था। शरीर का वर्ण नीला था, ऊंचाई २० धनुष थी और आयु ३० हजार वर्ष की थी। दाहिने पैर में कछुए का चिन्ह था।

भगवान मुनिसुव्रतनाथ के साढ़े सात हजार वर्ष कुमार काल में व्यतीत हुए और साढ़े सात हजार वर्ष तक राज्य किया। फिर उनको संसार से वैराग्य हुआ, उनके साथ एक हजार राजाओं ने भी मुनि दीक्षा ग्रहण की। ११ मास तक तपश्चरण करने के पश्चात उनको केवल ज्ञान हुआ। तब वे लगभग ३० हजार वर्ष तक समवशरण द्वारा विभिन्न देशों में विहार करके धर्म प्रचार करते रहे। इनके मल्लि आदि १८ गणधर थे। केवल-ज्ञानी, अवधिज्ञानी आदि सब तरह के ३० हजार मुनि और पुष्पदन्ता आदि ५० हजार आर्यिकायें उनके साथ थीं। वरुण यक्ष वह, रूपिणी यक्षी, कच्छप चिन्ह था अन्त में सम्मेद शिखर से उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

भगवान मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ काल में हरिषेण चक्रवर्ती हुआ है तथा आठवें बलभद्र राम, नारायण लक्ष्मण और प्रति नारायण रावण हुआ है ।२०।

भगवान नमिनाथ

वत्स देव के कौशाम्बी नगर में सिद्धार्थ नामक इक्ष्वाकुवंशी राजा राज्य करता था। एक दिन उसने महाबल केवली से धर्म-उपदेश सुना जिससे

उसको वैराग्य हो गया। वह मुनि दीक्षा लेकर तपस्या करने लगा। दर्शन-विशुद्धि आदि १६ भावनाओं द्वारा उसने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। आयु के अन्त में समाधिमरण किया और अपराजित नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र उत्पन्न हुआ। वहाँ उसने ३३ सागर की आयु व्यतीत की। तदनन्तर मिथिला नगरी में इक्ष्वाकुवंशी काश्यप गोत्रीय महाराजा विजय की महारानी वप्पिला के उदर से २१वें तीर्थंकर श्री नमिनाथ के रूप में जन्म लिया। भगवान् मुनिसुव्रत-नाथ के बाद ६० लाख वर्ष तीर्थकाल बीत जाने पर भगवान् नमिनाथ का जन्म हुआ था। उनकी आयु दस हज़ार वर्ष थी, शरीर १५ धनुष ऊंचा था, वर्ण सुवर्ण के समान था, चिन्ह नीलकमल का था। भगवान् नमिनाथ का ढाई हज़ार वर्ष समय कुमार काल में और ढाई हज़ार वर्ष राज्य शासन में व्यतीत हुआ, तदनन्तर पूर्व भवका स्मरण आकर उन्हें वैराग्य हो गया तब मुनि दीक्षा लेकर ६ वर्ष तक तपस्या की तदनन्तर उनको केवल ज्ञान हुआ। उस समय देश देशान्तरों में विहार करके धर्म प्रचार करते रहे। उनके संघ में सुप्रभार्य आदि १७ गणधर, २० हज़ार सब तरह के मुनि और मङ्गिनी आदि ४५ हज़ार अर्यिकाएं थीं। भ्रकुटि यक्ष चामुंडी यक्षी, नीलोत्पल चिन्ह था अन्त में भगवान् नमिनाथ ने सम्मेद शिखर से मुक्ति प्राप्त की॥ २१ ॥

भगवान् नेमिनाथ

जम्बू द्वीप-वर्ती पश्चिम विदेह क्षेत्र में सीतोदा नदी के उत्तर तट पर सुगन्धिला देश है। उसमे सिंहपुर नगर का यशस्वी, प्रतापी और सौभाग्यशाली राजा अपराजित शासन करता था उसको एक दिन पूर्वभव के मित्र दो विद्याधर मुनियों ने आकर प्रबुद्ध किया कि अब तेरी आयु केवल एक मास रह गई है, कुछ आत्म-कल्याण करले। अपराजित अपनी आयु निकट जानकर मुनि होगया। मुनि होकर उसने खूब तपश्चर्या की। आयु के अन्त में समाधि-मरण कर सोलहवें स्वर्ग का इन्द्र हुआ। वहाँ से च्युत होकर हस्तिनापुर के राजा श्रीचन्द्र का पुत्र सुप्रतिष्ठ हुआ। राज्य करते हुए सुप्रतिष्ठ ने एक दिन बिजली गिरती हुई देखी, इससे संसार को क्षणभंगुर जानकर मुनि हो गया। मुनि अवस्था में उसने तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध किया और आयु के अन्त में एक मास का संन्यास धारण करके जयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ। वहाँ पर तेंतीस सागर की आयु बिताकर द्वारावती के यदुवंशी राजा समुद्रविजय की रानी शिवादेवी की कोख से २२वें तीर्थङ्कर श्री नेमिनाथ के रूप में उत्पन्न हुआ।

भगवान नेमिनाथ का शरीर नील कमल के समान नीले वर्ण का था, एक

हजार वर्ष की आयु थी और शरीर की ऊंचाई दश धनुष थी, उनके पैर में शंख का चिन्ह था। वे भगवान नमिनाथ के मुक्त होने के चार लाख ६६ हजार वर्ष पीछे उत्पन्न हुए थे। युवा हो जाने पर उनका विवाह सम्बन्ध जूनागढ़ के राजा उग्रसैन (ये कंस के पिता उग्रसेन से भिन्न थे) की गुणवती युवती परम-सुन्दरी सुपुत्री राजमती के साथ निश्चित हुआ। बड़ी धूमधाम से आपकी बरात जूनागढ़ पहुंची। वहां पर कृष्ण ने भगवान नेमिनाथ को वैराग्य उत्पन्न कराने के अभिप्राय से बहुत से पशु एक बाड़े में एकत्र करा दिये थे। ये पशु करुण-चीत्कार कर रहे थे। भगवान नेमिनाथ को अपने रथवाहक से ज्ञात हुआ कि इन पशुओं को मार कर मेरी बरात में आये हुए कुछ मांसभक्षी लोगों की लोलुपता पूर्ण की जायगी। यह बात विचार कर उनको तत्काल वैराग्य हो गया और वे तोरण द्वार से लौट गये। उन्होंने जूनागढ़ के समीपवर्ती गिरनार पर्वत पर संयम धारण कर लिया। राजमती भी आर्यिका हो गई। ५६ दिन तपश्चर्या करने के बाद भगवान नेमिनाथ को केवल ज्ञान हो गया। तदन्तर सर्वत्र विहार करके धर्म प्रचार करते रहे। उनके संघ में वरदत्त आदि ११ गणधर, १८ हजार सब तरह के मुनि और राजमती आदि ४० हजार आर्यिकायें थीं। सर्वाह्निक यक्ष आम्रकुस्मांडिनी यक्षीणी व शंख का चिह्न था। वे अन्त में गिरनार से मुक्त हुए।

उनके समय में उनके चचेरे भाई ९वें बलभद्र बलदेव तथा नारायण कृष्ण और प्रतिनारायण जरासन्ध हुए है॥ २२ ॥

भगवान् पार्श्वनाथ

इसी भरत क्षेत्र में पोदनपुर के शासक राजा अरविन्द थे। उनका सदाचारी विद्वान् मंत्री मरुभूति था। उसकी स्त्री वसुन्धरी बड़ी सुन्दर थी। मरुभूति का बड़ा भाई कमठ बहुत दुराचारी था। वह वसुन्धरी पर आसक्त था। एक दिन मरुभूति पोदनपुर से बाहर गया हुआ था। उस समय प्रपंच बनाकर कमठ ने मरुभूति की स्त्री का शीलभंग कर दिया। राजा अरविन्द को जब कमठ का दुराचार मालूम हुआ तो उन्होंने कमठ का मुख काला करके गधे पर बिठाकर राज्य से बाहर निकाल दिया। कमठ एक तपस्वियों के आश्रम में चला गया वहाँ एक पत्थर को दोनों हाथों से उठाकर खड़े होकर वह तप करने लगा। मरुभूति प्रेमवश उससे मिलने आया तो कमठ ने उसके ऊपर वह पत्थर पटक दिया। जिससे कुचल कर मरुभूति मर गया।

मरुभूति मर कर दूसरे भव में हाथी हुआ और कमठ मर कर सर्प हुआ।

उस सर्प ने पूर्व भव का वैर विचारकर उस हाथी की सूड़ में काट लिया हाथी ने शान्ति, से शरीर त्याग कर सहस्रार स्वर्ग में देव पर्याय पाई। सर्प मरकर पांचवें नरक में गया मरुभूति का जीव १६ सागर स्वर्ग में रहकर विदेह क्षेत्र में विद्याधर राजा का पुत्र रश्मिवेग हुआ। कमठ का जीव नरक से निकल कर विदेह क्षेत्र में अजगर हुआ। रश्मि वेग ने यौवन अवस्था में मुनि दीक्षा लेली। संयोग से कमठ का जीव अजगर उन ध्यानमग्न मुनि के पास आया तो पूर्वभव का वैर विचार कर उनको खा गया। रश्मिवेग मुनि मर कर सोलहवें स्वर्ग में देव हुए। कमठ का जीव अजगर मर कर छटे नरक में गया। मरुभूति का जीव स्वर्ग की आयु समाप्त करके विदेह क्षेत्र में राजा वज्रवीर्य का पुत्र वज्रनाभि हुआ वज्रनाभि ने चक्र रत्न से दिग्विजय करके चक्रवर्ती सम्राट का पद पाया। बहुत समय तक राज्य करने के बाद वह फिर संसार से विरक्त होकर मुनि बन गया कमठ का जीव नरक से निकल कर इसी विदेह क्षेत्र में भील हुआ। एक दिन उसने ध्यान में मग्न वज्रनाभि मुनि को देखा तो पूर्व भव का वैर विचारकर उनको मार डाला। मुनि मरकर मध्यम ग्रैवेयक के देव हुए। कमठ का जीव भील मरकर नरक में गया। मरुभूति का जीव अहमिन्द्र की आयु समाप्त करके अयोध्या के राजा वज्रबाहु का आनन्द नामक पुत्र हुआ। आनन्द ने राज पद पाकर बहुत दिन तक राज्य किया। फिर अपने सिर का सफेद बाल देख कर मुनि दीक्षा लेली। मुनि दशा में अच्छी तपस्या की और तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। कमठ का जीव नरक से आकर सिंह हुआ था। उसने इस भव में पूर्व वैर विचार कर आनन्द मुनि का भक्षण किया। मुनि संन्यास से शरीर त्याग कर प्राणत स्वर्ग के इन्द्र हुए। सिंह मरकर शम्बर नामक असुर देव हुआ।

मरुभूति के जीव ने प्राणत स्वर्ग की आयु समाप्त करके बनारस के इक्ष्वाकुवंशी राजा अश्वसेन की रानी ब्राह्मी (वामादेवी) के उदर से २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के रूप में जन्म लिया। भगवान नेमिनाथ के ८३ हजार सात सौ पचास वर्ष बीत जाने पर भगवान पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था। भगवान पार्श्वनाथ की आयु १०० वर्ष की थी। उनका शरीर हरित रंग का था। नौ हाथ की ऊंचाई थी, पैर में सर्प का चिन्ह था। जब वे १६ वर्ष के हुए तब हाथी पर सवार होकर गंगा के किनारे सैर कर रहे थे। उस समय उन्होंने एक तापसी को अग्नि जलाकर तपस्या करते हुये देखा। भगवान पार्श्वनाथ को अवधि ज्ञान से ज्ञात हुआ कि एक जलती हुई लकड़ी के भीतर सर्प सर्पिणी भी जल रहे हैं। उन्होंने तापसी से यह बात कही।

तापसी ने क्रोध में आकर जब कुल्हाड़ी से वह लकड़ी फाड़ी तो सचमुच मरणोन्मुख नाग नागिनी उसमें से निकले। भगवान पार्श्वनाथ ने उनको णमोकार मंत्र सुनाया। नाग नागिनी ने शान्ति से णमोकार मंत्र सुनते हुए प्राण त्यागे और दोनों मर कर भवनवासी देव देवी धरणीन्द्र पद्मावती हुए।

राजकुमार पार्श्वनाथ ने अपना विवाह नहीं किया और यौवन अवस्था में ही संसार से विरक्त होकर मुनि दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान हो गया। चार मास पीछे एक दिन जब वे ध्यान में बैठे हुए थे तब कमठ का जीव असुर देव उधर होकर आकाश में जा रहा था। भगवान पार्श्वनाथ को देखकर उसने फिर पूर्व भवों का वैर विचार कर भगवान के ऊपर बहुत उपद्रव (उपसर्ग) किया। उस समय धरणीन्द्र पद्मावती ने आकर उस असुर को भगा कर उपसर्ग दूर किया, उसी समय भगवान को केवल ज्ञान हुआ। तब समवशरण द्वारा समस्त देशों में धर्मप्रचार करते रहे। उनके स्वयम्भू आदि १० गणधर थे, सब तरह के १६ हजार मुनि और सुलोचना आदि १६ हजार आर्यिकाएं उनके संघ में थीं। धरणेन्द्र यक्ष पद्मावती यक्षी, सर्प का चिन्ह था। अन्त में आपने सम्मेद शिखर से मुक्ति प्राप्त की ॥ २३ ॥

भगवान वर्द्धमान (महावीर)

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में बहने वाली सीता नदी के उत्तरी तट पर पुष्कलावती देश है। उस देश में पुण्डरीकिणी नगरी है। उस नगरी के निकट मधु नामक एक बन है। उस बन में 'पुरूरवा' नामक एक भील रहता था। उसकी स्त्री का नाम 'कालिका' था। जंगली जानवरों को मार कर उनका मांस खाना पुरूरवा भील का मुख्य काम था। एक बार उस वन में 'सागरसेन' मुनि आ निकले, पुरूरवा ने दूर से उन्हें देखकर हिरण समझा और उनको मारने के लिए धनुष पर बाण चढ़ाया। उसी समय उसकी स्त्री ने उसे रोक दिया और कहा कि वे तो एक तपस्वी मुनि है। पुरूरवा अपने अपराध को क्षमा कराने के लिए मुनि महाराज के पास पहुंचा। मुनि महाराज ने आत्मा को उन्नत करने वाला धर्म का उपदेश दिया। उपदेश सुनकर पुरूरवा ने शराब, मांस, शहद खाना छोड़ दिया। आचरण सुधार लेने के कारण वह मरकर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। देव की आयु समाप्त करके वह भील का जीव भगवान ऋषभनाथ के ज्येष्ठ पु चक्रवर्ती भरत का 'मरीचि' नामका पुत्र हुआ।

जब भगवान ऋषभनाथ ने साधु दीक्षा ली थी तब मरीचि भी उनके साथ मुनि बन गया था, परन्तु कुछ समय पीछे वह तपश्चरण में भ्रष्ट होकर

संन्यासी बन गया और उसने मिथ्यामत चलाया। कठोर तप करने से चौथे स्वर्ग का देव हुआ। फिर उसने क्रम से 'जटिल' नामक ब्राह्मण, सौधर्म स्वर्ग का देव, अग्निसह्यमित्र, सनत्कुमार स्वर्ग का देव, कौशिक, महेन्द्र स्वर्ग का देव, भारद्वाज ब्राह्मण हुआ फिर महेन्द्र स्वर्ग का देव हुआ। तदनन्तर त्रस स्थावर जीवों में जन्म-मरण करता हुआ वही पुरूरवा भील का जीव संसार में भ्रमण करता रहा। फिर शुभ कर्म के उदय से वेदपाठी ब्राह्मण हुआ। फिर क्रम से महेन्द्र स्वर्ग का देव, विश्वनन्दि राजा, महाशुक्र का देव, त्रिपृष्ट नारायण होकर सातवें नरक गया। वहां से निकल कर सिंह हुआ।

सिंह की पर्याय में उसे अरिञ्जय नामक मुनि से उपदेश प्राप्त हुआ। वहां समाधि-मरण करके सिंहध्वज देव हुआ। फिर क्रम से कनकध्वज विद्याधर कापिष्ठ स्वर्ग का देव, हरिषेण राजा, महाशुक्र का देव, प्रियमित्र राजा, सहस्त्रार स्वर्ग का देव हुआ। देव पर्याय समाप्त करके नन्दन नाम का राजा हुआ। उस भव में उसने दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का आराधन किया जिनसे तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध किया। फिर समाधि-मरण करके सोलहवें स्वर्ग का इन्द्र हुआ।

तदनन्तर देव आयु समाप्त करके कुण्डलपुर के ज्ञातवंशीय राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला (वैशाली के गणतंत्र शासक राजा चेटक की पुत्री) की कोख से चौबीसवें तीर्थंकर 'वर्द्धमान' के रूप में जन्म लिया। यह समय भगवान् पार्श्वनाथ से २५० वर्ष पीछे का था। भगवान वर्द्धमान के वीर, महावीर, सन्मति, अतिवीर ये चार नाम प्रसिद्ध हुए। इनकी आयु ७२ वर्ष की थी ७ हाथ ऊंचा शरीर था, सोने का-सा रंग था। पैर में सिंह का चिन्ह था। यौवन अवस्था आने पर कलिंग के राजा जितशत्रु की सर्वाङ्ग सुन्दरी कन्या यशोदा के साथ विवाह करने की तैयारी जब राजा सिद्धार्थ करने लगे, तो भगवान् महावीर ने विवाह करना स्वीकार न किया, बाल-ब्रह्मचारी रहे। ३० वर्ष की आयु में महाव्रती दीक्षा ली। १२ वर्ष तक तपश्चरण करने के बाद आप को केवल ज्ञान हुआ। फिर ३० वर्ष तक सब देशों में विहार करके अहिंसा धर्म का प्रचार किया। जिससे पशु यज्ञ होने बन्द हो गये। आपके इन्द्रभूति गौतम, वायुभूति, अग्निभूति, सुधर्म, मौर्य, मंडिपुत्र, मैत्रेय, अकम्प्य, आनन्द, अचल और प्रभाव ये ११ गणधर थे, चन्दना आदि आर्यिकाएं थीं। मातंग यक्ष और सिद्धायनी यक्षिणी थी। सिंह का चिन्ह था। अन्त में आपने पावापुरी से मुक्ति प्राप्त की। आपके समय में सात्यकि नामक ११वां रुद्र हुआ॥ २४॥

कतिपय विशेष बातें

वीरमथ वर्द्धमानं सन्मतिनाथ चहुति महावीरम् ।
हरिपितरर्थं संगम चारण धरिए कृताभि दानमभिवन्दे ॥

अर्थ—शिशु समय में भी १००८ कलशों के जल का अभिषेक सहन कर लेने के कारण इन्द्र ने अन्तिम तीर्थंकर का वीर नाम रखा। उत्पन्न होते ही माता-पिता का वैभव, पराक्रम बढ़ता गया इस कारण वीर प्रभु का दूसरा नाम 'वर्द्धमान' प्रसिद्ध हुआ। सञ्जय, विजय, नामक चारणऋद्धि धारी मुनियों का संशय बालक वीर प्रभु के दर्शन करते ही दूर हो गया। इस कारण उनका नाम 'सन्मति' प्रख्यात हुआ। भयानक सर्प से भयभीत न होने के कारण उनका नाम अतिवीर या महावीर प्रसिद्ध हुआ।

श्यामौ पार्श्व सुपार्श्वौ द्वौ नीलाभौ नेमिसुव्रतौ ।
चन्द्र दन्तौ सितौ शोणौ पद्मपूज्यौ पदे-पदे ॥

अर्थ—सुपार्श्वनाथ तथा पार्श्वनाथ तीर्थंकर हरित थे, मुनिसुव्रतनाथ और नेमिनाथ नीलवर्ण थे। चन्द्रप्रभु और पुष्पदन्त का शरीर सफेद था। पद्मप्रभु और वासुपूज्य का रंग लाल था।

शेषा षोडश हेमाभा कुमाराः पञ्च दीक्षका ।
वासु पूज्यजिनो मल्लिर्नेमिः पार्श्वोऽथ सन्मतिः ॥

शेष १६ तीर्थंकरों के शरीर का वर्ण सुवर्ण का सा था। वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर ये पांच तीर्थंकर बाल ब्रह्मचारी थे कुमार अवस्था में ही इन्होंने मुनि दीक्षा ली थी। (१)

---

(१) श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में भी पाँच तीर्थङ्कर बाल ब्रह्मचारी माने हुये हैं। आवश्यकनिर्युक्ति में लिखा है—

वीरं अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वास पुज्जंच ।
एए मुत्तूण जिणे अवसंसा आसि राजाणो ॥ २२१ ॥
रायकुलेसुवि जाता विसुद्धवंसेसु खत्तिय कुलेसु ।
णयइत्थि आभिसेया कुमार कालम्मि पव्वइया ॥ २२२ ॥

अर्थ—महावीर, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, मल्लिनाथ और वासुपूज्य ये पांच तीर्थङ्कर विशुद्ध क्षत्रिय राजकुल में उत्पन्न हुए और कुमार अवस्था में ही मुनि दीक्षित हुए। इन्होंने न तो विवाह किया, न इनका राज्य-अभिषेक हुआ। शेष सभी तीर्थङ्करों का विवाह तथा राज्य अभिषेक हुआ पीछे उन्होंने प्रव्रज्या, अर्थात मुनि दीक्षा ली।

'ण य इत्थि आभिसेया' का अर्थ टिप्पणी में लिखा है 'स्त्री पाणिग्रहण राज्याभि

वीरोनाथ कुलोद्भूत: पार्श्वस्तूग्रवंशत: ।
हरिवंशाम्बरार्कौ द्वौ नेमीशमुनिसुव्रतो ॥
धर्म कुन्थ्वरतीर्थेशा: कुरुवंशोद भवास्त्रय: ।
इक्ष्वाकु कुलसंभूता: शेषा: सप्तेतेशजिना: ॥

भगवान महावीर नाथ-वंश में उत्पन्न हुए । उग्र वंश में भगवान पार्श्वनाथ का जन्म हुआ । मुनिसुव्रतनाथ तथा नेमिनाथ हरिवंश रूपी आकाश में सूर्य के समान हुए । धर्मनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ तीर्थंकर कुरुवंश में हुए । शेष १७ तीर्थंकर इक्ष्वाकु वंश में हुए ।

वृषभस्य वासु पूज्यस्य नेमे: पर्यङ्कबन्धत: ।
कायोत्सर्ग स्थितानां तु सिद्धि: शेषजिनेशिनाम् ॥

अर्थ—भगवान ऋषभनाथ, वासु पूज्य और नेमिनाथ की मुक्ति पर्यङ्क आसन (पद्मासन) से हुई । शेष समस्त तीर्थंकरों को मुक्ति खड्गासन (खड़े आसन) से प्राप्त हुई ।

तीर्थंकरों की अवगाहना

धण तण तंगो तित्थे पंचसयं पण्णदपणूणममं ।
अट्ठसु पंचसु अट्ठसु पासदुगं णवयसत्तकरा ॥८०४॥ त्रिलोक सार

अर्थ—श्री ऋषभनाथ आदि तीर्थङ्करों के शरीर की अवगाहना (ऊंचाई) क्रम से ५००, ४५०, ४००, ३५०, २५०, २००, १५०, १००, ९०, ८०, ७०, ६०, ५०, ४५, ४०, ३५, ३०, २५, २०, १५, १०, धनुष, ९ हाथ, ७ हाथ है ।

आयु-प्रमाण

तित्थाऊ चुलसीदी विहत्तरीसट्ठि नणसु दसहीणं ।
विगि पुव्वलक्खयंत्तो चुलसीदि निसत्तरी सट्ठी ॥ ८०५ ॥
तीसदसएक्कलक्खा पणणवदी चदुरसीदिपणवण्णं ।
तीसं दसिगिसहस्सं सयबावत्तरि सया कमसो ॥८०६॥

त्रिलोक सार

रहिता इत्यर्थ: ।' यानी—स्त्री परिणयना और राज्य अभिषेक से रहित उक्त ५ तीर्थङ्कर थे ।

इससे यह भी सिद्ध होता है भगवान मल्लिनाथ पुरुष थे अन्यथा उनके लिये 'पुरुष पाणिग्रहण रहिता' वाक्य का प्रयोग होता । अन्य श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थों में भी ५ तीर्थङ्कर बाल ब्रह्मचारी माने गये हैं ।

अर्थ—८४ लाख, ७२ लाख, ६० लाख, ५० लाख, ४० लाख, ३० लाख, १० लाख, वर्ष, ६५ हजार, ८४ हजार, ५५ हजार, ३० हजार, १० हजार, १ हजार, १०० और ७२ वर्ष की आयु क्रम से श्री ऋषभनाथ आदि तीर्थङ्करों की है।

तदिये तुरिसे काले तिवास अडमास पक्खपरिसेसे।
वसहां वीरो सिद्धो कक्किमरोछट्ट काल पारंभो॥

यानी—तीसरे [सुषमा दुःषमा] में ३ वर्ष ८ मास १५ दिन शेष रहने पर श्री ऋषभनाथ मुक्त हुए। चौथे काल [दुःषमा सुषमा] में तीन वर्ष ८ मास १५ दिन शेष रहने पर भगवान महावीर मुक्त हुए। पंचम काल दुःषमा में ३ वर्ष ८ मास १५ दिन बाकी रहने पर अंतिम कल्की का मरण होवेगा फिर छठा काल प्रारम्भ होवेगा।

भगवान महावीर के पश्चात्

अंतिम तीर्थंकर श्री वीर प्रभु जिस दिन मुक्त हुए उसी दिन श्री गौतम गणधर को केवल ज्ञान हुआ। जब गौतम गणधर सिद्ध हुए तब सुधर्मा गणधर को केवल ज्ञान हुआ। जब सुधर्मा स्वामी मुक्त हुए तब श्री जम्बूस्वामी को केवल ज्ञान हुआ। जम्बूस्वामी के मुक्त हो जाने पर अनुबद्ध (क्रमसे, लगातार) केवल ज्ञानी और कोई नहीं हुआ। गौतमादिक केवलियों के धर्म प्रवर्तन का काल पिण्ड रूप से ६२ वर्ष है।

अननुबद्ध अंतिम केवली श्रीधर कुण्डलगिरि से मुक्त हुए है। चारण ऋद्धिधारक मुनियों में अंतिम ऋषि सुपार्श्वचन्द्र हुए हे। प्रज्ञाश्रमणों में अंतिम वज्रयश और अवधिज्ञानियों में अंतिम ऋषि श्री नामक हुए हैं। मुकुटबद्ध राजाओं में जिन दीक्षा लेने वाला अन्तिम राजा चन्द्रगुप्त मौर्य हुआ है।

भगवान महावीर के मुक्त हो जाने पर श्री नंदी, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन तथा भद्रबाहु ये पांच द्वादशांग (११ अंग १४ पूर्वों के) वेत्ता श्रुत केवली हुए हैं। इनका समुदित काल १०० वर्ष है। भद्रबाहु आचार्य के बाद श्रुतकेवली कोई नहीं हुआ।

श्री विशाख, प्रोष्ठित क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और सुधर्म ये ११ मुनि ११ अंग, ९ पूर्वधारी हुए हैं। इनका समुदित समय १८३ वर्ष है।

तदनन्तर नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस ये ५ आचार्य ग्यारह अंगधारक हुए। इनका समुदित काल २२० वर्ष है।

तत्पश्चात् सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु, लोहार्य ये चार आचार्य आचारांग के पूर्णवेत्ता तथा शेष ११ अंग १४ पूर्वों के एकदेश (अपूर्ण) वेत्ता (जानकार) थे। इन सबका समुदित काल ११८ वर्ष है। इस प्रकार ६२+१००+१८३+२२०+११८=६८३ वर्ष हुए। इसके १०८२ वर्ष पीछे इस 'शास्त्रसार समुच्चय' ग्रन्थ की रचना हुई।

धार्मिक प्रवृत्ति के कारणभूत भगवान महावीर का श्रुततीर्थ (सिद्धांत ज्ञान) २०३१७ (बीस हजार तीन सौ सत्रह) वर्ष तक चलता रहेगा फिर व्युच्छिन्न (लुप्त) हो जायगा। इस समय में मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चातुर्वर्ण्य संघ जन्म लेता रहेगा परन्तु जनता क्रोधी, अभिमानी, पापी, अविनीत, दुर्बुद्धि, भयातुर, ईर्ष्यालु होती जायगी।

शक राजा

पणछस्सय वस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो।
सगराजो तो कक्की चदुणवतियमहिय सगमास ॥८५०॥ त्रिलोकसार

अर्थ—भगवान महावीर के निर्वाण होने के पश्चात् ६०५ वर्ष ५ मास बीत जाने पर शक राजा हुआ। उस शक राजा से ३९४ वर्ष ७ मास पीछे कल्की राजा हुआ।

अथवा तिलोयपण्णत्ती के मतानुसार—

वीरजिणे सिद्धिगदे चउसदइगिसट्ठि वास परियाणे।
कालम्मि अदिक्कंते उप्पण्णो एत्थ सकराओ ॥१४९६॥

अर्थ—श्री वीर जिनेश्वर के मुक्त हो जाने पर ४६१ वर्ष पीछे शक राजा हुआ।

शक राजा की उत्पत्ति के समय के विषय में काष्ठासंघ, द्रविड संघ तथा श्वेताम्बरीय ग्रन्थकारों का विभिन्न मत है।

वीसुत्तरवाससदे विसओ वासाणि सोहिऊण तदो।
इगिवीस सहस्सहि भजिदे आऊण खयवड्ढी ॥१५००॥
सकणिवास जुदाणं चउसदइगिसट्ठि वास पहुदीणं।
दसजुदवोसमहरिदे लद्धं सोहेज्ज विउणसट्ठी ॥१५०१॥
तिलोय पण्णत्ती।

अर्थ—पंचम काल दुःखमा २१ हजार वर्ष का है। उसमें मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु १२० वर्ष की तथा जघन्य आयु २० वर्ष की है। अतः उत्कृष्ट आयु १२० वर्ष में से जघन्य आयु २० वर्ष घटाकर २१ हजार में भाग

देने पर (१२० – २०÷२१००० = $\frac{१}{२१०}$) आयु की हानि वृद्धि का प्रमाण होता है।

शक राजा के वर्षों से सहित ५६१ वर्ष आदि को २१० से भाग देने पर जो लब्धि आवे उसको १२० में से कम करने पर जो शेष रहे इतना उस राजा के समय में प्रवर्तमान उत्कृष्ट आयु का प्रमाण है। यह युक्ति अन्य सब राजाओं में से प्रत्येक के समय में भी जाननी चाहिये।

× हुण्डावसर्पिणी के कारण कुछ हेर फेर हो जाता है।

६०+१५५+४०+३०+६०+१००+४०+२४२+२३१+४२ = १००० वर्ष।

आचारांगधरों के पश्चात् दो सौ पचहत्तर वर्षों के व्यतीत होने पर कल्की नरपति को पट्ट बांधा गया था।

६८३+२७५+४२ = १००० वर्ष।

तदनन्तर वह कल्की प्रयत्न पूर्वक अपने योग्य जनपदों को सिद्ध करके लोभ को प्राप्त होता हुआ मुनियों के आहार में से भी अग्रपिण्ड को शुल्क रूप में मांगने लगा।

तब श्रमण (मुनि) अग्रपिण्ड को देकर और 'यह अन्तरायों का काल है', ऐसा समझकर (निराहार) चले गये। उस समय उनमें से किसी एक को अवधि ज्ञान उत्पन्न हो गया।

इसके पश्चात् किसी असुरदेव ने अवधि ज्ञान से मुनिगणों के उपसर्ग को जानकर और धर्म का द्रोही मानकर उस कल्की को मार दिया।

तब अजितंजय नामक उस कल्की का पुत्र 'रक्षा करो' इस प्रकार कह कर उस देव के चरणों में गिर पड़ा। तब वह देव 'धर्म पूर्वक राज्य करो' इस प्रकार कह कर उसकी रक्षा में प्रवृत्त हुआ।

इसके पश्चात् दो वर्ष तक लोगों में समीचीन 'धर्म की प्रवृत्ति रही। फिर क्रमशः काल के माहात्म्य से वह प्रतिदिन हीन होती चली गई।

इसी प्रकार पंचमकाल में एक १०००, एक १००० वर्ष बीतने पर एक कल्की तथा पांच सौ ५०० पांच सौ ५०० वर्ष बीतने पर एक-एक उपकल्की होता रहता है।

प्रत्येक कल्की के प्रति एक एक दुःषमाकालवर्ती साधु को अवधिज्ञान प्राप्त होता है और उसके समय में चातुर्वर्ण्य संघ भी अल्प हो जाते हैं।

उस समय पूर्व में बांधे हुए पापों के उदय से चाण्डाल, शबर, श्वपच,

पुलिन्न, नाहल (म्लेच्छविशेष) और किरात प्रभृति, तथा दीन, अनाथ, क्रूर और जो नाना प्रकार की व्याधि एवं वेदना से युक्त हैं, हाथों में खप्पर तथा भिक्षा पात्र को लिए हुए हैं, और देशान्तर गमन से संतप्त हैं, ऐसे बहुत से मनुष्य दीखते हैं।

इस प्रकार दुःषमाकाल में धर्म, आयु और ऊंचाई आदि कम होती जाती है। फिर अन्त में विषम स्वभाव वाला इक्कीसवां कल्की उत्पन्न होता है।

उसके समय में वीरांगज नामक एक मुनि, सर्वश्री नामक आर्यिका तथा अग्निदत्त (अग्निल) और पंगुश्री नामक श्रावक-युगल (श्रावक-श्राविका) होते हैं।

वह कल्की आज्ञा से अपने योग्य जनपदों को सिद्ध करके मंत्रिवरों से कहता है कि ऐसा कोई पुरुष तो नहीं है जो मेरे वश में न हो ?

तब मंत्री निवेदन करते हैं कि हे स्वामिन् ! एक मुनि आप के वश में नहीं है। तब कल्की कहता है कि कहो वह अविनीत मुनि कौन है ? इसके उत्तर में मंत्री कहते हैं कि हे स्वामिन् ! सकल अहिंसाव्रत का आधारभूत वह मुनि शरीर की स्थिति के निमित्त दूसरों के घर द्वारों पर काय दिखलाकर मध्याह्नकाल में अपने हाथों में विघ्नरहित शुद्ध भोजन ग्रहण करता है।

इस प्रकार मंत्री के वचन सुनकर वह कल्की कहता है कि वह अहिंसा-व्रत का धारी पापी कहां जाता है, यह तुम स्वयं सर्वप्रकार से पता लगाओ। उस आत्मघाती मुनि के प्रथम पिण्ड को शुल्क के रूप में ग्रहण करो। तत्पश्चात् (कल्की की आज्ञानुसार) प्रथम पिण्ड के मांगे जाने पर मुनीन्द्र तुरन्त उसे देकर और अन्तराय जान कर वापिस चले जाते हैं तथा अवधि ज्ञान को प्राप्त करते हैं। प्रसन्नचित्त होते हुए अपने संघ को कहते हैं कि अब दुःषमाकाल का अन्त आ चुका है, तुम्हारी और हमारी तीन दिन की आयु शेष है और यह अन्तिम कल्की है।

तब वे चारों जन चार प्रकार के आहार और परिग्रहादिक को जन्म-पर्यन्त छोड़कर संन्यास को ग्रहण करेंगे।

वे सब कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष के अन्त में अर्थात् अमावस्या के दिन सूर्य के स्वाती नक्षत्र के ऊपर उदित रहने पर सन्यास ले करके, समाधिमरण को प्राप्त करेंगे।

सोहम्मे जायंते कत्तिय अमवास सादि पुब्बण्हे।
इगिजलहिठिदी मुणिणो सेसतिए साहियं पल्लं ॥८६०॥

अर्थ—कार्तिककी अमावस्या के पूर्वाण्हमें वीर मरण करके वे मुनि, आर्यिका, श्रावक श्राविका, सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न होंगे। वहां मुनि की एक सागर और शेष तीनों की आयु कुछ अधिक पल्य प्रमाण होगी।

तव्वासरस्स आदीमज्भंते धम्मराय अग्गीणं।
णासो तत्तो मण्डसा णागा मच्छादि आहारा ॥८६१॥

यानी—उस दिन प्रातः धर्म का, दोपहर को राजा का तथा सायं (शाम को) अग्नि का नाश हो जावेगा। मनुष्य नंगे फिरने लगेंगे और मछली आदि खाकर भूख मिटावेंगे।

योग्गल अइसक्खादो जलणो धम्मे णिरासरण हुदे।
असुरवइणा णरिंदे सयलो लोओ हवे अन्धो ॥८६२॥

अर्थ—उस समय लकडी आदि ज्वलनशील पदार्थ अत्यन्त रूखे होने के कारण अग्नि नहीं जलेगी। धार्मिक जन न रहने से धर्म निराश्रित हो जाने से नष्ट हो जावेगा और असुर इन्द्र द्वारा अन्यायी राजा का मरण हो जाने पर समस्त जनता पथभ्रष्ट (अंधी) हो जावेगी।

एत्थ मुदाणिरयदुगं णिरयतिरक्खादु जणाणमेत्थ हवे।
थोवजलदाइमेहा भू णिस्सारा णरा तिव्वा ॥८६३॥ त्रिलोकसार।

अर्थ—उस समय मरकर जीव पहले दूसरे नरक में जावेंगे और नरक पशु से निकले हुए जीव ही यहां उत्पन्न होवेंगे। बादल थोडा जल बरसावेंगे, पृथ्वी निस्सार हो जावेगी और मनुष्य तीव्र कषायी हो जावेंगे। अस्तु

येवमिणिवीस कक्की उवकक्की तेत्तिया य धम्माण।
सम्मंति धम्मदोहा जलणिहि उवमाण आउजुदा ॥१५३४॥

—तिलोय पण्णत्ती।

इस प्रकार धर्म द्रोही २१ कल्की और २१ उपकल्की मर कर पहले नरक में पैदा होते हैं वहां एक सागर की उनकी आयु होती है।

चतुस्त्रिंशदतिशयाः ॥६॥

अर्थ—तीर्थंकरों के ३४ अतिशय होते हैं।

असाधारण व्यक्तियों से जो विलक्षण अद्भुत बातें होती हैं उन्हें अतिशय कहते हैं। ऐसे अतिशय तीर्थंकरों के जन्म के समय १० होते हैं और केवल ज्ञान हो जाने के अनन्तर १० अतिशय स्वयं होते हैं तथा १४ अतिशय देवों द्वारा सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार समस्त ३४ अतिशय होते हैं।

जन्म के १० अतिशय

१ तीर्थंकर के शरीर में पसीना न आना, २ मलमूत्र न होना, ३ दूध के समान सफेद खून होना, ४ समचतुरस्र संस्थान (शरीर के समस्त अंग उपांग ठीक होना, कोई भी अंग उपांग छोटा या बड़ा न होना), ५ वज्रऋषभनाराच संहनन (शरीर की हड्डी, उनके जोड़ और उनकी कीलें वज्र के समान दृढ़ होना), ६ अत्यन्त सुन्दरता, ७ मिष्ट परमप्रिय भाषा, ८ शरीर में सुगन्धि, ९ अतुल्य बल और १० शरीर में १००८ शुभ लक्षण। ये १० अतिशय तीर्थंकर में जन्म से ही होते हैं।

केवल ज्ञान के समय के १० अतिशय

१ तीर्थंकर को केवल ज्ञान हो जाने पर उनके चारों ओर १००-१०० योजन (४००-४०० कोस) तक सुकाल होता है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकाल नहीं होता, २ आकाश में (पृथ्वी से ऊपर अधर) चलना, ३ एक मुख होते हुए भी उसका चारों ओर दिखाई देना, ४ उनके शरीर में स्वेद नहीं रहता, न उनके शरीर से किसी जीव का घात होता है, ५ उन पर किसी भी देव, मनुष्य, पशु तथा अचेतन पदार्थ द्वारा उपसर्ग नहीं होता, ६ भूख नहीं लगती, अतः भोजन नहीं करते, ७ समस्त ज्ञान विद्याओं का प्राप्त होना, ८ नाखून और बालों का न बढ़ना, ९ नेत्र आधे खुले रहना, पलकें न झपकना, १० शरीर की छाया न पड़ना।

देवकृत १४ अतिशय

१ अर्द्धमागधी भाषा (तीर्थंकर की निरक्षरी ध्वनि को मगध देवो द्वारा समस्त श्रोताजनों की भाषा रूप कर देना), २ आस पास के जाति-विरोधी जीवों का भी मित्र भाव से रहना, ३ समस्त दिशाओं का धुंआ, धुन्ध, धूल से रहित होकर निर्मल होना, ४ आकाश का साफ होना, ५ तीर्थंकर के निकटवर्ती वृक्षों पर सब ऋतुओं के फल फूल आ जाना, ६ पृथ्वी का दर्पण की तरह साफ होना, ७ सुगन्धित वायु चलना, ८ सुगन्धित जल वर्षा, ९ चलते समय भगवान् के चरणों के नीचे आगे पीछे तथा चारों ओर ७-७ स्वर्ण कमलों (४९) का बनते जाना, १० आकाश में जय जयकार शब्द होना, ११ समस्त जीवों का आनन्दित होना, १२ भगवान के आगे १००० आरों का धर्म चक्र चलाना, १३ कलश, दर्पण, छत्र, चमर, ध्वजा, पंखा, स्वास्तिक, झारी इन आठ मंगल द्रव्यों का साथ रहना। १४ पृथ्वी पर कांटे, कंकड़ी आदि पैर में चुभने वाले पदार्थ न रहना। ये १४ अतिशय केवल ज्ञान होने के बाद देवों द्वारा होते हैं।

पंच महाकल्याणानि ॥ १६ ॥

तीर्थंकरों के ५ महाकल्याणक होते हैं (१) गर्भावतरण, (२) जन्माभिषेक, (३) निष्क्रमण (दीक्षा ग्रहण), (४) केवलज्ञान और (५) निर्वाण।

सव्वट्ठसिद्धिठाणा अवइण्णा उसहधम्मपहुदितिया।
विजयाणंदणअजिया चंदप्पहवइजयंता दु ॥५२२॥
अपराजिताभिधाणा अरणमिमल्लीओ नेमिणाहोह।
सुमई जयंतठाणा आरणजुगलाय सुविहिसीलसया ॥५२३॥
पुप्फोत्तराभिधाणा अणंतसेयंसवड्ढमाणजिणा।
विमला य सहाराणकाए कप्पा य सुव्वदावासा ॥५२४॥
हेट्ठियमज्झिमउवरिम गेवज्जादागदा महासत्ता।
संभवसुपासपउमा महसुक्का वासपुज्जजिणो ॥५२५॥

(चौ० अ०)तिलोयपण्णत्ति

समस्त देव इन्द्र जो देखने वाली जनता को तथा अपने आपको भी कल्याण कारक (पुण्य बन्ध करने वाला) महान उत्सव करते हैं वह 'कल्याणक' कहलाता है। ऐसे महान उत्सव तीर्थंकरों के जीवन में ५ बार होते हैं [१] गर्भ में आते समय, [२] जन्म के समय, [६] महाव्रती दीक्षा लेते समय, [४] केवल ज्ञान हो जाने पर तथा [५] मोक्ष हो जाने के समय।

तीर्थंकर के अपनी माता के गर्भ में आने से ६ मास पहले सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र का आसन कम्पायमान होता है। तब वह अवधिज्ञान से ६ मास पश्चात् होने वाले तीर्थंकर के गर्भावतरण को जानकर श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी आदि ५६ कुमारिका [आजन्म कुमारी रहने वाली] देवियों को तीर्थंकर की माता का गर्भशोधन करने के लिए भेजता है तथा कुबेर को तीर्थंकर के माता पिता के घर पर प्रतिदिन तीन समय साढे तीन करोड रत्न बरसा की आज्ञा देता है जोकि जन्म होने तक [१५ मास] बरसते रहते हैं। छः मास पीछे जब तीर्थंकर माता के गर्भ में आते हैं तब माता को रात्रि के अन्तिम पहर में निम्नलिखित १६ स्वप्न दिखाई देते हैं—

१ हाथी, २ बैल, ३ सिंह, ४ लक्ष्मी, ५ दो माला, ६ चन्द्र, ७ सूर्य, ८ दो मछलियां, ९ जल से भरे हुए दो सुवर्ण कलश, १० कमलों से भरा हुआ तालाब ११ समुद्र १२ सिंहासन १३ देव विमान १४ धरणीन्द्र का भवन, १५ रत्नों का ढेर, १६ अग्नि।

किस किस तीर्थंकर का गर्भावतरण किस किस स्थान से हुआ अब उसे बतलाते हैं—

अर्थ—ऋषभनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ सर्वार्थसिद्धि से चयकर माता के गर्भ में आये। अभिनन्दननाथ, अजितनाथ विजय विमान से, चन्द्रप्रभ वैजयन्त से, अरनाथ, मल्लिनाथ, नमिनाथ, और नेमिनाथ अपराजित विमान से सुमतिनाथ, जयन्त विमान से, पुष्पदन्त और शीलतनाथ क्रमश आरणयुगल से, अनन्तनाथ, श्रेयांसनाथ, वर्द्धमान पुष्पोत्तर विमान से, विमलनाथ सतार स्वर्ग से, मुनिसुव्रतनाथ आनत स्वर्ग से, पार्श्वनाथ प्राणत स्वर्ग से, संभवनाथ अधो ग्रैवेयक से, सुपार्श्वनाथ मध्यम ग्रैवेयक से, पद्मप्रभ ऊर्ध्व ग्रैवेयक से तथा वासुपूज्य भगवान महा शुक्र विमान से अवतीर्ण हुए।

गर्भावतरण की तिथि

ऋषभनाथ तीर्थङ्कर अयोध्या नगरी में मरुदेवी माता के गर्भ में आषाढ़ कृष्णा द्वितीया उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में आये।

२ ज्येष्ठ मास अमावस्या को रोहिणी नक्षत्र में अजितनाथ तीर्थङ्कर गर्भ में आये।

३ फाल्गुन शुक्ला अष्टमी को मगसिर नक्षत्र में सम्भवनाथ तीर्थङ्कर का गर्भावतरण हुआ।

४ बैसाख सुदी षष्ठी विशाखा नक्षत्र में अभिनन्दन तीर्थङ्कर का गर्भ कल्याण हुआ।

५ श्रावण सुदी द्वितीया मघा नक्षत्र में सुमतिनाथ भगवान् गर्भ में आये।

६ माघ सुदी एकादशी चित्रा नक्षत्र में पद्मनाथ तीर्थङ्कर का गर्भ कल्याणक हुआ।

७ भाद्र पद शुक्ल अष्टमी विशाखा नक्षत्र में सुपार्श्वनाथ तीर्थङ्कर का गर्भ कल्याणक हुआ।

८ चैत्र सुदी पंचमी ज्येष्ठा नक्षत्र में चन्द्रप्रभु भगवान का गर्भ कल्याणक हुआ।

९ फाल्गुन सुदी नवमी मूल नक्षत्र में पुष्पदन्त भगवान गर्भ में आये।

१० चैत्र कृष्णा अष्टमी पूर्वाषाढ़ नक्षत्र में शीतलनाथ तीर्थङ्कर का गर्भ कल्याणक हुआ।

११ ज्येष्ठ कृष्णा षष्ठी श्रवण नक्षत्र में श्रेयांसनाथ तीर्थङ्कर का गर्भ कल्याणक हुआ।

१२ आषाढ़ कृष्णा षष्ठी शतभिषा नक्षत्र में वासुपूज्य भगवान का गर्भ कल्याणक हुआ।

१३ ज्येष्ठ सुदी दशमी उत्तरा भाद्रपद में विमलनाथ भगवान का गर्भावतरण हुआ।

१४ कार्तिक सुदी प्रतिपदा में अनन्तनाथ भगवान का गर्भावतरण हुआ।

१५ बैशाख कृष्णा त्रयोदशी के दिन रेवती नक्षत्र में धर्मनाथ भगवान का गर्भावतरण हुआ।

१६ भाद्रपद सुदी सप्तमी भरणी नक्षत्र में शान्तिनाथ भगवान का गर्भ कल्याणक हुआ।

१७ श्रावण सुदी दशमी कृतिका नक्षत्र में श्री कुन्थुनाथ भगवान का गर्भावतरण हुआ।

१८ फाल्गुन शुक्ला तृतीया रेवती नक्षत्र में अरनाथ भगवान गर्भ में आये।

१९ चैत्र शुक्ला प्रतिपदा अश्विनी नक्षत्र में मल्लिनाथ भगवान् गर्भ में आये।

२० श्रावण सुदी द्वितीया को श्रवण नक्षत्र में मुनिसुव्रत तीर्थङ्कर का गर्भावतरण हुआ।

२१ आसोज वदी द्वितीया अश्विनी नक्षत्र में नमिनाथ तीर्थङ्कर का गर्भावतरण हुआ।

२२ कार्तिक सुदी षष्ठी उत्तराषाढ़ नक्षत्र में नेमिनाथ तीर्थङ्कर का गर्भावतरण हुआ।

२३ बैशाख कृष्णा द्वितीया, विशाखा नक्षत्रमें श्री पार्श्वनाथ भगवान का गर्भावतरण हुआ।

२४ आषाढ़ सुदी षष्ठी उत्तरा नक्षत्र में महावीर भगवान का गर्भावतरण हुआ।

जन्मतिथि

ऋषभनाथ तीर्थंकर अयोध्या नगरी में, मरुदेवी माता, एवं नाभिराय पिता से, चैत्र कृष्णा नवमी के दिन, उत्तराषाढा नक्षत्र में उत्पन्न हुए।

अजित जिनेन्द्र साकेत नगरी में पिता जितशत्रु एवं माता विजया से माघ के शुक्लपक्ष में दशमी के दिन रोहिणी नक्षत्र में उत्पन्न हुए।

संभवनाथ श्रावस्ती नगरी में पिता जितगिरी और माता सुसेना से मगसिर मास की पूर्णमासी के दिन ज्येष्ठा नक्षत्र में उत्पन्न हुए।

अभिनन्दन स्वामी साकेतपुरी में पिता संवर और माता सिद्धार्थ से माघशुक्ला द्वादशी के दिन पुनर्वसु नक्षत्र में उत्पन्न हुए।

सुमतिनाथ तीर्थंकर साकेतपुरी में पिता मेघप्रभु और माता मंगला से श्रावणशुक्ला एकादशी को मघा नक्षत्र में उत्पन्न हुए।

पद्मप्रभु तीर्थंकर ने कौशाम्वी पुरी में पिता धरण और माता सुसीमा से आसोज कृष्णा त्रयोदशी के दिन चित्रा नक्षत्र में अवतार लिया।

सुपार्श्वदेव वाराणसी (बनारस) नगरी में माता पृथ्वी और पिता सुप्रतिष्ठ से ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के दिन विशाखा नक्षत्र में उत्पन्न हुये।

चन्द्रप्रभु जिनेन्द्र चन्द्रपुरी में पिता महासेन और माता लक्ष्मीमती (लक्ष्मणा) से पौषकृष्णा एकादशी को अनुराधा नक्षत्र में अवतीर्ण हुए।

भगवान् पुष्पदन्त काकन्दी नगरी में माता रामा और पिता सुग्रीव से मगसिर शुक्ला प्रतिपद् के दिन मूल नक्षत्र में उत्पन्न हुये।

शीतलनाथ स्वामी भद्दलपुर में [भद्रिकापुरी में] पिता दृढ़रथ और माता नन्दा से माघ के कृष्ण पक्ष की द्वादशी के दिन पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में उत्पन्न हुए।

भगवान् श्रेयांस सिंहपुरी में पिता विष्णु नरेन्द्र और माता वेणुदेवी से फाल्गुन शुक्ला एकादशी के दिन श्रवण नक्षत्र में अवतीर्ण हुए।

वासुपूज्य भगवान् चम्पा नगरी में पिता वसुपूज्य राजा और माता विजया से फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी के दिन विशाखा नक्षत्र में उत्पन्न हुए।

भगवान् विमलनाथ कपिलापुरी में पिता कृतवर्मा और माता जयश्यामा से माघ शुक्ला चतुर्दशी के दिन पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र में उत्पन्न हुए।

भगवान् अनन्तनाथ अयोध्यापुरी में माता सर्वयशा और पिता सिंहसेन से ज्येष्ठकृष्णा द्वादशी को रेवती नक्षत्र में अवतीर्ण हुए।

धर्मनाथ तीर्थंकर रत्नपुर में पिता भानु नरेन्द्र और माता सुव्रता से माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन पुष्य नक्षत्र में उत्पन्न हुए।

भगवान् शान्तिनाथ हस्तिनापुर में माता ऐरा और पिता विश्वसेन से ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के दिन भरणी नक्षत्र में उत्पन्न हुए।

कुन्थुनाथ जिनेन्द्र हस्तिनापुर में माता श्रीमती और पिता सूर्यसेन से बैशाख शुक्ला प्रतिपदा को कृतिका नक्षत्र में अवतीर्ण हुए।

भगवान् अरनाथ हस्तिनापुर में माता मित्रा और पिता सुदर्शन राजा से मगसिर शुक्ला चतुर्दशी के दिन रोहिणी नक्षत्र में अवतीर्ण हुए।

मल्लिनाथ जिनेन्द्र मिथिलापुरी में माता प्रभावती और पिता कुम्भ से मगसिर शुक्ला एकादशी को अश्विनी नक्षत्र में उत्पन्न हुए।

भगवान मुनिसुव्रत राजगृह नगर में माता पद्म और पिता सुमित्र राजा से आसोज शुक्ला द्वादशी के दिन श्रवण नक्षत्र में उत्पन्न हुए।

नमिनाथ स्वामी मिथिलापुरी में पिता विजयनरेन्द्र और माता वप्रिला से आषाढ़ शुक्ला दशमी के दिन अश्विनी नक्षत्र में अवतीर्ण हुए।

नेमि जिनेन्द्र शौरीपुर में माता शिवदेवी और पिता समुद्र विजय से बैशाख शुक्ला त्रयोदशी को चित्रा नक्षत्र में अवतीर्ण हुए।

भगवान पार्श्वनाथ बाराणसी नगरी में पिता अश्वसेन और माता वर्मिला [वामा] से पौष कृष्णा एकादशी के दिन विशाखा नक्षत्र में उत्पन्न हुए।

भगवान महावीर कुण्डलपुर में पिता सिद्धार्थ और माता प्रियकारिणी से चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में उत्पन्न हुए।

तीर्थंकरों का वंश वर्णन

धर्मनाथ, अरनाथ और कुंथुनाथ ये तीन तीर्थंकर कुरुवंश में उत्पन्न हुये। महावीर और पार्श्वनाथ क्रम से नाथ और उग्र वंश में मुनिसुव्रत और नेमिनाथ यादव वंश [हरिवंश] में तथा अवशिष्ट तीर्थंकर इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न हुए।

भव्य जीवों के पुण्योदय से भरतक्षेत्र में अवतीर्ण हुये इन चौबीस तीर्थंकरों को जो भव्य जीव मन, वचन तथा कार्य से नमस्कार करते हैं, वे मोक्ष सुख को पाते हैं।

केवल ज्ञानरूप वनस्पति के कंद और तीर्थ के प्रवर्तक चौबीस जिनेन्द्रों का जो भक्ति भाव से प्रवृत्त होकर अभिनन्दन करता है, उसको इन्द्र का पट्ट बांधा जाता है। Contd 57

तीर्थंकरों के जन्म काल का वर्णन

सुषमदुःषमा नामक काल में चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष आठ मास और एक पक्ष शेष रहने पर भगवान ऋषभदेव का जन्म हुआ भगवान ऋषभदेव की उत्पत्ति के पश्चात् पचास करोड़ सागरोपम और बारह लाख वर्ष पूर्व के बीत जाने पर अजितनाथ तीर्थंकर का अवतार हुआ।

अजितनाथ की उत्पत्ति के पश्चात् बारह लाख वर्ष पूर्व सहित तीस करोड़ सागरोपमों के बीत जाने पर भगवान संभवनाथ की उत्पत्ति हुई।

संभव जिनेन्द्र की उत्पत्ति के पश्चात् दस लाख पूर्व सहित दस लाख करोड़ सागरोपमों के बीत जाने पर अभिनन्दन भगवान ने अवतार लिया।

अभिनन्दन स्वामी की उत्पत्ति के पश्चात् दस लाख पूर्व सहित नौ लाख करोड़ सागरोपम के बीत जाने पर सुमति जिनेन्द्र की उत्पत्ति हुई।

सुमतिनाथ तीर्थंकर के जन्म के पश्चात् दस लाख पूर्व सहित नब्बे हज़ार करोड़ सागरोपमों के बीत जाने पर पद्मप्रभु का जन्म हुआ।

पद्मप्रभु के जन्म के पश्चात् दस लाख पूर्व सहित नौ हज़ार करोड़ सागरोपमों का समय अतिक्रमण होने पर भगवान सुपार्श्वनाथ का जन्म हुआ।

सुपार्श्वनाथ की उत्पत्ति के पश्चात् दस लाख पूर्व सहित सौ सागरोपमों के बीत जाने पर चन्द्रप्रभु जिनेन्द्र की उत्पत्ति हुई।

चन्द्रप्रभु की उत्पत्ति से आठ लाख पूर्व सहित नब्बे करोड़ सागरोपमों का विच्छेद होने पर भगवान पुष्पदन्त की उत्पत्ति हुई।

पुष्पदन्त की उत्पत्ति के अनन्तर एक लाख पूर्व सहित नौ करोड़ सागरोपमों के बीतने पर शीतलनाथ तीर्थंकर ने जन्म लिया।

शीतलनाथ की उत्पत्ति के पश्चात् सौ सागरोपम और एक करोड़ पचास लाख छब्बीस हज़ार वर्ष कम एक लाख पूर्व सहित करोड़ सागरोपमों के अतिक्रान्त होने पर श्रेयांस जिनेन्द्र उत्पन्न हुए।

भगवान श्रेयांस की उत्पत्ति के पश्चात् बारह लाख वर्ष सहित चौवन सागरोपमों के व्यतीत हो जाने पर वासुपूज्य तीर्थंकर ने अवतार लिया।

वासुपूज्य भगवान की उत्पत्ति के अनन्तर बारह लाख वर्ष अधिक तीस सागरोपमों के व्ययीत हो जाने पर भगवान अनन्तनाथ उत्पन्न हुए।

अनन्त स्वामी के जन्म के पश्चात् बीस लाख वर्ष अधिक चार सागरोपमों के बीतने पर धर्मनाथ प्रभु ने जन्म लिया।

धर्मनाथ की उत्पत्ति के पश्चात् पौन पल्य कम और नौ लाख वर्ष सहित तीन सागरोपमों के बीत जाने पर शान्तिनाथ भगवान ने जन्म लिया।

भगवान शान्तिनाथ के जन्म के पश्चात् पाँच हज़ार वर्ष अधिक आधे पल्य बाद कुन्थुनाथ जिनेन्द्र उत्पन्न हुए।

कुन्थुनाथ की उत्पत्ति के पश्चात् ग्यारह हज़ार कम एक हज़ार करोड़ वर्ष से रहित पाव पल्य के बीतने पर अर जिनेन्द्र उत्पन्न हुए।

अर जिनेन्द्र की उत्पत्ति के पश्चात् उनतीस हज़ार अधिक एक हज़ार करोड़ वर्षों के बीतने पर मल्लिनाथ भगवान का जन्म हुआ।

भगवान् मल्लिनाथ की उत्पत्ति के पश्चात् पच्चीस हजार अधिक अर्थात् चौवन लाख वर्षों के बीत जाने पर भगवान सुव्रत जिनेन्द्र की उत्पत्ति हुई।

भगवान् सुव्रत की उत्पत्ति के पश्चात् बीस हजार अधिक छः लाख वर्ष प्रमाण काल के व्यतीत होने पर नमिनाथ जिनेन्द्र का जन्म हुआ।

नमिनाथ की उत्पत्ति के पश्चात् नौ हजार अधिक पांच लाख वर्षों के व्यतीत होने पर भगवान् नेमिनाथ की उत्पत्ति हुई।

नेमिनाथ तीर्थङ्कर की उत्पत्ति के पश्चात् चौरासी हजार छः सौ पचास वर्षों के व्यतीत होने पर भगवान् पार्श्वनाथ की उत्पत्ति हुई।

भगवान् पार्श्वनाथ की उत्पत्ति के पश्चात् दो सौ अठत्तर वर्षों के बीत जाने पर वर्द्धमान तीर्थङ्कर का जन्म हुआ।

लोगों को आनन्दित करने वाला यह तीर्थंकरों के अन्तराल काल का प्रमाण उनकी कर्मरूपी अर्गला को नष्ट करके मोक्षपुरी के कपाट को उद्घाटित करता है।

जिस समय तीर्थंकर का जन्म होता है उस समय विना बजाये स्वयं शंख भेरियों से भवन वासी देव और व्यंतर देव नगाड़ों की ध्वनि से, ज्योतिष देव सिंह नाद की ध्वनि से तथा कल्पवासी देव घण्टा नादों से भगवान का जन्म समय समझ कर अपने-अपने यहाँ और भी अनेक बाजे बजाते हैं। कल्पवासी आदि देव तीर्थंकर का जन्म समझ कर उसी समय अपने सिंहासन से उतर कर आगे सात कदम चल कर सम्पूर्ण अंगोपांग झुकाकर नमस्कार करते है। इसके बाद सभी देव अपने स्थान से चलकर तीर्थंकर की जन्म भूमि में आते है। और बालक रूप तीर्थंकर को ऐरावत हाथी पर बैठा कर महामेरु पर्वत पर ले जाते हैं वहाँ पर पान्डुक शिला में विराजमान करके देवों द्वारा हाथों-हाथ क्षीर समुद्र से लाये गये जल से अभिषेक करते है। इस प्रकार देवेन्द्र ने जन्माभिषेक किया और कृत्य कृत्य हुआ। भगवान के शरीर में निःस्वेद (पसीना न आना) आदि १० अतिशय होते हैं।

गाथा—

धम्मार कुन्थु कुदवस्त जाता। माहोग्गवासा सुबवरि पासो।
सुसुम्भ दोजादव वंश जम्मा। नेमीय इक्खाकुल विशेषो॥

अर्थ—धर्मनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ ये तीन कुरु वंश में उत्पन्न हुए सुपार्श्व और पार्श्व नाथ जी नाथ वंश में उत्पन्न हुए। नमि और नेमि नाथ यादव वंश में उत्पन्न हुए। शेष इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए।

दीक्षा कल्याणक

तीर्थंकरों को किसी भी प्रकार की व्याधि, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग तथा विष, शस्त्र, आदि जनित दुःख नहीं होता है, न उनको और किसी तरह का कष्ट होता है। वे अपना कुमार काल बिता कर जब यौवन अवस्था में आते हैं तब उनका विवाह होता है। तत्पश्चात् युवराज पद पा लेने के बाद उनका राज्याभिषेक होता है और निष्कण्टक राज शासन करते हैं। राजसुख भोगते हुए उनको किसी कारण संसार, शरीर तथा विषय भोगों से वैराग्य होता है तब उनकी भावना होती है कि—

चडिहूणचउ गतियो दारणदुम्मार दुःख खाणीओ।
परमारणम तनयानं णिव्वाहणं अणुवच्छामो॥

अर्थ—संसार चतुर्गति भ्रमण रूप है। इन चारों गतियों में जीव को अत्यन्त दारुण दुःख प्राप्त होता है। ऐसा सोचकर संसार से उदासीन होते हुए भगवान जब वैराग्य को प्राप्त होते हैं। तब वे लौकान्तिक देव आकर कहते हैं कि हे देवाधिदेव! इस समय आपने संसार को असार समझ कर अपनी इष्ट सिद्धि प्राप्त करने का निश्चय किया, सो श्लाघनीय है, आप धन्य हैं। इस प्रकार उनको अनेक प्रकार से सम्बोधन करते हुए देव कहते हैं कि—हे भगवान! आज हमारा सौभाग्य का दिन है कि हम आपके दर्शन कर इस जन्म को सफल करते हुए आपके महाप्रसाद को प्राप्त हुए। इस प्रकार वे लौकान्तिक देव भगवान के ऊपर कल्प वृक्ष के पुष्पों की वृष्टि करके चले जाते हैं।

गाथा—

धारवननेमि सेसाते विशतेषु तित्तयरां।
वियणिय चोदपुरेसुंणे हति जिणंदा दिक्खावा॥

उसी समय समस्त देव, इन्द्र, विद्याधर, भूचर राजा आदि एकत्र होकर दीक्षा का उत्सव करते हैं। एक सुन्दर दिव्य पालकी में तीर्थंकर विराजमान होते हैं। उस पालकी को पहले भूचर राजा उठाकर कुछ दूर चलते हैं। तत्पश्चात् विद्याधर लेकर चलते हैं। फिर देव अपने कंधों पर लेकर बड़े हर्ष उत्सव के साथ आकाश में चलते हैं। नगर से बाहर किसी उद्यान या वन में किसी वृक्ष के नीचे भगवान स्वच्छ शिला पर बैठते हैं और अपने शरीर के समस्त वस्त्र आभूषण उतार देते हैं। अपने शिर के बालों का पाँच मुट्ठियों से लोंच करके सिद्धों को नमस्कार करते हैं और स्वयं महाव्रत धारण करके मुनि दीक्षा लेकर ध्यान में निमग्न हो जाते हैं।

दीक्षा नगर

बारवईए णेमी सेसा तेवीस तेसु तित्थयरा ।
णियणियजाद पुरेसुं गिण्हंति जिणिंददिक्खाइं ।।
।६४३। ति० प० च० प०

चौबीस तीर्थंकरों में से भगवान नेमिनाथ ने द्वारावती से दीक्षा ली और शेष तीर्थंकरों ने अपने अपने जन्म वाले नगर से मुनि दीक्षा ली।

दीक्षा-तिथि

१ चैत्र सुदी नवमी उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में ऋषभदेव को मध्याह्न काल में दीक्षा हुई।

२ माघ शुक्ला नवमी को रोहिणी नक्षत्र में अपराह्न काल में भगवान अजित नाथ की दीक्षा हुई।

३ मगसिर सुदी पन्द्रह ज्येष्ठा नक्षत्र में अपराह्न काल में श्री सम्भवनाथ का दीक्षा कल्याणक हुआ।

४ माघसुदी द्वादसी को पुनर्वसु नक्षत्र में पूर्वाह्न काल में अभिनन्दन नाथ की दीक्षा हुई।

५ वैशाख सुदी नवमी को मघा नक्षत्र में पूर्वान्ह काल में सुमति नाथ तीर्थंकर की दीक्षा हुई।

६ कार्तिक सुदी तेरह चित्रा नक्षत्र अपराह्न काल में पद्म प्रभु की दीक्षा हुई।

७ ज्येष्ठ सुदी द्वादसी पूर्वाह्न काल विशाखा नक्षत्र में सुपार्श्व नाथ की दीक्षा हुई।

८ पौष कृष्णा एकादशी अपराह्न काल अनुराधा नक्षत्र में चन्द्र प्रभु की दीक्षा हुई।

९ मगसिर सुदी एकम अपराह्न काल अनुराधा नक्षत्र में पुष्पदन्त भगवान की दीक्षा हुई।

१० माघ सुदी द्वादशी को अपराह्न काल के समय पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में शीतल नाथ की दीक्षा हुई।

११ फाल्गुन वदी एकादशी पूर्वाह्न काल श्रवण नक्षत्र में श्रेयांस नाथ की दीक्षा हुई।

१२ फाल्गुन सुदी चौदस अपराह्न काल में विशाखा नक्षत्र में एक उपवास पूर्वक वासुपूज्य भगवान की दीक्षा हुई।

१३ माघ सुदी चौथ अपराह्न काल उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में विमलनाथ की दीक्षा हुई।

१४ ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी अपराह्न काल में रेवती नक्षत्र में अनन्त नाथ की दीक्षा हुई।

१५ भाद्र पद सुदी तेरह पुष्य नक्षत्र में अपराह्न काल में धर्म नाथ की दीक्षा हुई।

१६ ज्येष्ठ कृष्णा चौदस के दिन अपराह्न काल में भरणी नक्षत्र में शान्तिनाथ की दीक्षा हुई।

१७ बैसाख सुदी एकम् कृतिका नक्षत्र अपराह्न काल में कुन्थु नाथ भगवान की दीक्षा हुई।

१८ मगसिर सुदी दशमी अपराह्न काल में रेवती नक्षत्र में अरनाथ भगवान की दीक्षा हुई।

१९ मगसिर सुदी एकादशी अपरान्ह काल में अश्विनी नक्षत्र में मल्लि-नाथ की दीक्षा हुई।

२० बैशाख सुदी दशमी अपरान्ह काल श्रवण नक्षत्र में मुनिसुव्रत भगवान की दीक्षा हुई।

२१ आषाढ़ सुदी दशमी अपरान्ह काल अश्विनी नक्षत्र में नमिनाथ तीर्थंकर की दीक्षा हुई।

२२ चैत्र सुदी षष्ठी अपरान्ह काल श्रवण नक्षत्र में नेमिनाथ तीर्थंकर की दीक्षा हुई।

२३ पौष कृष्ण एकादशी पूर्वान्ह काल विशाखा नक्षत्र में पार्श्व नाथ तीर्थंकर की दीक्षा हुई।

२४ मगसिर सुदी दशमी अपरान्ह काल उत्तरा नक्षत्र में श्री वर्द्धमान की दीक्षा हुई।

इस प्रकार चौबीस तीर्थंकरों के दीक्षा का समय वर्णन किया। अब आगे जिस तीर्थंकर के साथ में जितने राजकुमारों ने दीक्षा ली वह भी बतलाते हैं। Conts 5)

दीक्षा समय के साथी

वासु पूज्य भगवान के साथ ६७६ राजकुमारों ने दीक्षा ली थी।

मल्लिनाथ और पार्श्वनाथ तीर्थंकरों के साथ ३-३ सौ राजकुमारों ने दीक्षा ली थी।

भगवान् महावीर स्वामी ने अकेले ही दीक्षा ली थी।

बाकी १६ तीर्थंकरों के दीक्षा लेते समय प्रत्येक के साथ एक-एक हजार राजाओं ने दीक्षा ली थी।

जिस समय तीर्थंकर दीक्षा लेते हैं उस समय संसार में अपने से बड़ा अन्य व्यक्ति न होने के कारण स्वयं ही 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' कह कर दीक्षा लेते हैं। उन्हें तत्काल मनः पर्यय ज्ञान प्राप्त हो जाता है। दीक्षा कल्याणक के एक वर्ष बाद इक्षुरस से भगवान् ऋषभदेव ने पारणा की। बाकी तीर्थंकरों ने दूध से चौथे दिन में पारणा की। समस्त तीर्थंकरों की पारणा के समय उत्कृष्ट १२ करोड़ ५० लाख तथा [कम से कम] ५ लाख २५ हजार रत्नों की वृष्टि हुई। दाता के परिणाम के अनुसार ही रत्नों की वृष्टि कम अधिक होती है। इसके सिवाय सुगन्ध जल वृष्टि, पुष्प वृष्टि आदि पांच आश्चर्य तीर्थंकर के भोजन करते समय होते हैं। तत्पश्चात् वे तपस्या करने वन पर्वत आदि एकान्त स्थान में चले जाते हैं अथवा मौनपूर्वक देश देशान्तरों में विहार करते रहते हैं।

छद्मस्थकाल

उसहादीसु वासा सहस्स वारस चउद्दसट्ठरसा।
वीस छदुमत्थकालो छच्चिय पउमप्पहे मासा ॥६७५
वासाणि णव सुपासे मासा चन्दप्पहम्मितिण्णि तदो।
चदुतिदुवक्का तिदुइगि सोलस चउवगाचउकदी वासा।६७६।
मल्लिजिणे छद्दिवासा एक्कारस सुव्वदे जिणे मासा।
णमिणाहे णव मासा दिणाणि छप्पण्ण णेमिजिणे।६७७।
पासजिणे चउमासा वारस वासाणि वड्ढमाणजिणे।
एत्तिय मेत्ते समये केवलणाणं उप्पण्णं।६७८।

तिलोयपण्णत्ति (च. अ.)

मुनि दीक्षा लेने के अनन्तर भगवान ऋषभनाथ आदि २४ तीर्थंकर छद्मस्थ अवस्था [केवल ज्ञान होने से पूर्व दशा] में निम्नलिखित समय तक रहे—

अर्थ—भगवान ऋषभनाथ को मुनि दीक्षा लेने के अनन्तर १००० वर्ष तक केवल ज्ञान नहीं हुआ यानी तब तक वे छद्मस्थ रहे। अजितनाथ १२ वर्ष, संभवनाथ १४ वर्ष, अभिनन्दन नाथ १८ वर्ष, सुमतिनाथ २० वर्ष, पद्मप्रभ ६ मास, सुपार्श्वनाथ ९ वर्ष, चन्द्रप्रभ ३ मास, पुष्पदन्त ४ वर्ष, शीतलनाथ

३ वर्ष, श्रेयांसनाथ दो वर्ष, वासुपूज्य १ वर्ष, विमलनाथ ३ वर्ष, अनन्तनाथ २ वर्ष, धर्मनाथ १ वर्ष, शान्तिनाथ १३ वर्ष, कुन्थुनाथ १६ वर्ष, अरनाथ १६ वर्ष, मल्लिनाथ ६ दिन, मुनि सुव्रतनाथ ११ मास, नमिनाथ ६ मास, नेमिनाथ ५६ दिन, पार्श्वनाथ ४ मास और महावीर १२ वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रहे। इतने समय तक उनको केवल ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ।

तीर्थंकरों को केवल ज्ञान होने की तिथि

[१] फागुन सुदी एकादशी उत्तराषाढा नक्षत्र में आदिनाथ भगवान को केवल ज्ञान हुआ।

[२] पौष सुदी एकादशी रोहिणी नक्षत्र में अजितनाथ भगवान को केवल ज्ञान हुआ।

[३] कार्तिक वदी पंचमी मृगसिरा नक्षत्र में संभवनाथ भगवान को केवल ज्ञान हुआ।

[४] पौष सुदी १४ पुनर्वसु नक्षत्र में अभिनन्दन भगवान को केवल ज्ञान हुआ।

[५] वैशाख सुदी १० मघा नक्षत्र में सुमतिनाथ को केवल ज्ञान हुआ।

[६] वैशाख सुदी १० चित्रा नक्षत्र में पद्मप्रभु भगवान को केवल ज्ञान हुआ।

[७] फागुन सुदी सप्तमी विशाखा नक्षत्र में सुपार्श्वनाथ को ज्ञान हुआ।

[८] फागुन कृष्णा सप्तमी अनुराधा नक्षत्र में चन्द्र प्रभु भगवान को केवल ज्ञान हुआ।

[९] कार्तिक सुदी तृतीया मूल नक्षत्र में सुविधनाथ [पुष्पदन्त] भगवान को केवल ज्ञान हुआ।

[१०] पौष सुदी १४ पूर्वा षाढ़ा नक्षत्र में शीतलनाथ भगवान को केवल ज्ञान हुआ।

[११] माघ वदी अमावस्या श्रवण नक्षत्र में श्रेयांस नाथ भगवान को केवल ज्ञान की उत्पत्ति हुई।

[१२] माघ सुदी द्वितीया को विशाखा नक्षत्र में वासु पूज्य भगवान को केवल ज्ञान हुआ।

[१३] माघ सुदी छठ उत्तरा भाद्रपद में विमलनाथ भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ।

[१४] चैत्र वदी अमावस्या के दिन रेवती नक्षत्र में अनन्त नाथ भगवान को केवल ज्ञान हुआ।

[१५] पौष सुदी पूर्णिमा के दिन पुष्य नक्षत्र में धर्मनाथ भगवान को केवल ज्ञान हुआ।

[१६] पौष शुक्ला दशमी के दिन भरणी नक्षत्र में शान्तिनाथ भगवान को केवल ज्ञान हुआ।

[१६] चैत्र मास शुक्ल तृतीया को कृतिका नक्षत्र में कुंथुनाथ भगवान को केवल ज्ञान हुआ।

[१८] कार्तिक सुदी द्वादशी को रेवती नक्षत्र में अरनाथ भगवान को केवल ज्ञान हुआ।

[१९] पौष मास कृष्णा द्वितीया को पुनर्बसु नक्षत्र में मल्लिनाथ भगवान को केवल ज्ञान हुआ।

[२०] वैशाख कृष्ण नवमी को श्रवण नक्षत्र में मुनि सुव्रत भगवान को केवल ज्ञान हुआ।

[२१] मगसिर सुदी एकादशी अश्विनी नक्षत्र में नमिनाथ भगवान को केवल ज्ञान हुआ।

[२२] आसौज सुदी प्रतिपदा चित्रा नक्षत्र में नेमिनाथ को केवल ज्ञान हुआ।

[२३] चैत्र कृष्णा चतुर्थी विशाखा नक्षत्र में पार्श्वनाथ भगवान को केवल ज्ञान हुआ।

[२४] वैशाख सुदी दशमी को हस्त नक्षत्र में भगवान महावीर को केवल ज्ञान हुआ। Contd 60

आदिनाथ, श्रेयांसनाथ, मुनिसुव्रत, नेमिनाथ, और पार्श्वनाथ भगवान को पूर्वान्हकाल [दोपहर से पहले] में केवलज्ञान हुआ। शेष १९ तीर्थंकरों को अपरान्हकाल (दोपहर पीछे) में चतुर्थ कल्याणक हुआ।

नव लब्धि

केवल ज्ञान के उदय होते ही अर्हन्त भगवान को ९ लब्धियां प्राप्त होती हैं—१ ज्ञानावरण कर्म के क्षय होने से, क्षायिकज्ञान, दर्शनावरण के क्षय होने से क्षायिक दर्शन, मोहनीय के क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व, चारित्रमोहनीय के क्षय होने से क्षायिक चारित्र, दानान्तराय कर्म के क्षय होने से अगणित जीवों को निर्मल तत्वोपदेश रूप ज्ञानदान तथा अभयदान करने रूप क्षायिकदान, लाभान्तराय के क्षय से बिना कवलाहार

[भोजन] किये भी शरीर को स्वस्थ रखने वाली अनुपम पुद्गलवर्गणाओं के प्राप्त होने रूप क्षायिक लाभ, भोगान्तराय के नष्ट हो जाने से देवों द्वारा पुष्प वृष्टि आदि क्षायिक भोग, उपभोगान्तराय के क्षय होने से दिव्य सिंहासन, छत्र, चंवर, समवशरण आदि के होने रूप क्षायिक उपभोग और वीर्यान्तराय के क्षय हो जाने से लोकालोक-प्रकाशक अनन्त ज्ञान को सहायक अनन्त बल प्रगट होता है। इस प्रकार क्षायिक ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य [बल] ये ६ लब्धियां केवल ज्ञानी अवस्था में होती हैं।

आविर्भूत अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्य सम्यक्त्व चारित्र दान लाभ भोग उपभोग आदि अनन्त गुणमय, स्फटिक मणिसम निर्मल, सूर्य बिम्ब सम देदीप्यमान परमौदारिक शरीर धारी, निरामय, निरञ्जन, निर्विकार, शुद्धस्वरूप, दोषकालातीत, निष्कलंक अर्हन्त देव को नमस्कार है।

भोगान्तराय के क्षय से अनंत भोग यानी पुष्प वृष्टि इत्यादि अनन्त भोग की प्राप्ति होती है। उपभोगान्तराय के क्षय से अनन्त भोग की प्राप्ति, सिंहासन, छत्रत्रय, चौसठचमर अष्ट प्रातिहार्य, परिकर समन्वित समवशरण-विभूति और वीर्यान्तराय कर्म के नाश से अनन्त वीर्य, अनन्त सुख, अनंत अवगाहक, अनंत अवकाश, अव्या-बाधत्व इत्यादि गुण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार भगवान् के परम आर्हन्त नाम का चौथा कल्याणक हुआ।

आविर्भूतानन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, विरत्ति क्षायिकसम्यक्त्व, दान, लाभ, भोगोपभोग आदि अनंत गुणात्वादि, हात्म सवात्कृत सिद्ध-स्वरूप:, स्फटिक मणि के और सूर्य बिम्ब के समान देदीप्यमान जो शरीर परि-माण होकर भी ज्ञान से व्याप्त शुद्ध रूप स्वस्तिता शेष, प्रमेयत्व; प्राप्त विश्वरूप, निर्गताशेष, मयत्वतो, निरामय:, विगताशेष, पापांजन पुंजत्व रूप निरंजन दोषकलातीतत्वतो निष्कलंक: स्तेभ्योऽर्हं नम:। इस प्रकार सयोग केवली गुण स्थान का सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती नामक तृतीय शुक्ल ध्यान के बाद अयोग केवली गुणस्थान में पंच ह्रस्वस्वरोच्चारण प्रमाण काल में निराश्रव द्वार वाले समस्त शीलगुण मणिभूषण वाले होकर मूलोत्तर, कर्मप्रकृति स्थित्यनुभाग प्रदेश बंधोदयोदीरणा सत्व को व्युपरत क्रिया निवर्तिनाम का चतुर्थ शुक्ल ध्यान से सम्पूर्ण कर्म को नाश करके सिद्धत्व को प्राप्त किया है। अब जिस दिन मोक्ष गये उस दिन को बताते हैं।

मोक्ष कल्याणक

केवल ज्ञान हो जाने पर भाव मन नहीं रहता अतः चित्त का एकाग्र रहने रूप ध्यान यद्यपि नहीं रहता किन्तु फिर भी कर्म निर्जरा की कारणभूत सूक्ष्म क्रिया केवल ज्ञानी के होती रहती है। वही सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती नामक तीसरा शुक्लध्यान है। केवल ज्ञानी की आयु जब अ, इ, उ, ऋ, लृ, इन पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण काल के बराबर रह जाती है। तब उनकी शरीर वचन योग की क्रिया बन्द हो जाती है। यही चौदहवाँ अयोग केवली गुणस्थान है और इस तरह योगनिरोध से होने वाला शेष चार अघाती कर्मों [वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र] का नाश कराने वाला व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक चौथा शुक्ल ध्यान होता है। पाँच ह्रस्व [एक मात्रा वाले] अक्षरों के उच्चारण योग्य स्वल्प काल तक चौदहवें गुणस्थान में रहने के पश्चात् समस्त शेष कर्म नष्ट होने से पूर्ण मुक्ति हो जाती है। तदनन्तर वह लोक के सबसे ऊंचे स्थान पर सदा के लिये विराजमान हो जाते हैं। उस समय उनका नाम सिद्ध हो जाता है। मोक्ष हो जाने पर देवगण आकर महान उत्सव करते हैं वह मोक्ष कल्याणक है।

अब तीर्थंकरों के मोक्ष कल्याणक की तिथियाँ बतलाते हैं —

१ माघ कृष्णा चौदश के दिन पूर्वाण्ह समय उत्तराषाढ नक्षत्र में आदिनाथ भगवान १००० मुनियों के साथ मोक्ष गये।

२ चैत्र सुदी पंचमी को पूर्वाण्ह काल में भरणी नक्षत्र में अजितनाथ तीर्थंकर मोक्ष गये।

३ चैत्र सुदी छठ को अपराण्ह काल में मृगशिरा नक्षत्र में संभवनाथ तीर्थंकर मोक्ष गये।

४ वैशाख सुदी सप्तमी को पूर्वाण्ह कालमें पुनर्वसु नक्षत्र में अभिनंदन नाथ का मोक्ष हुई।

५ चैत्र शुक्ला दशमी को अपराण्हकाल में मघा नक्षत्र में सुमतिनाथ को मोक्ष हुई।

६ फागुन कृष्णा चौथ को अपराण्ह काल में चित्रा नक्षत्र में पद्म प्रभु को मोक्ष हुई।

७ फागुन वदी षष्ठी को पूर्वाण्हकाल में अनुराधा नक्षत्र में ५०० मुनियों के साथ सुपार्श्वनाथ भगवान को मोक्ष हुई।

८ भाद्रपद सुदी सप्तमी को पूर्वाण्हकाल में ज्येष्ठा नक्षत्र में चन्द्रप्रभु भगवान को मोक्ष हुई।

९ आसोज सुदी अष्टमी को अपराण्ह काल में मूल नक्षत्र में सुविधि नाथ भगवान को मोक्ष हुई।

१० कार्तिक सुदी पंचमी पूर्वाण्ह समय में पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में शीतलनाथ भगवान मोक्ष गये।

११ श्रावण सुदी पूर्णिमा को पूर्वाण्ह काल धनिष्ठा नक्षत्र में श्री श्रेयांसनाथ भगवान को मोक्ष हुई।

१२ फाल्गुन वदी पंचमी को अपराण्हकाल अश्विनी नक्षत्र में ६०१ मुनियों के साथ वासुपूज्य भगवान को मोक्ष पद प्राप्त हुआ।

१३ आषाढ़ सुदी अष्टमी को अपराण्ह काल उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र में ६०० मुनियों के साथ विमलनाथ मोक्ष पद को प्राप्त हुये।

१४ चैत्रकृष्णा अमावस्या को अपराह्न काल रेवती नक्षत्र में अनन्त-नाथ भगवान ७०० मुनियों के साथ मोक्ष गये।

१५ ज्येष्ठ वदी चतुर्दशी को पुष्य नक्षत्र पूर्वाण्ह काल में ८०२ मुनियों के साथ धर्मनाथ भगवान् मोक्ष गये।

१६ ज्येष्ठ वदी चौदश को अपराण्ह काल और भरणी नक्षत्र में शांतिनाथ तीर्थङ्कर ९०० मुनियों के साथ मोक्ष गये।

१७ वैशाख सुदी प्रतिपदा को कृतिका नक्षत्र और अपराण्हकाल में १००० मुनियों के साथ कुन्थुनाथ भगवान् मोक्ष गये

१८ चैत्रकृष्णा अमावस्या अपराह्न कालरेवती नक्षत्र में अरनाथ भगवान मोक्ष गये।

१९ फाल्गुन वदी पंचमी को अपराण्हकाल में भरणी नक्षत्र में ५०० मुनियों के साथ मल्लिनाथ भगवान मोक्ष गये।

२० फाल्गुन वदी द्वादशी को अपराह्न काल में श्रवण नक्षत्र में मुनिसुव्रत तीर्थङ्कर ने मोक्षपद पाया।

२१ वैशाख कृष्णा चौदस को पूर्वाह्नकाल और अश्विनी नक्षत्र में नमिनाथ तीर्थङ्कर ने मोक्ष पाई।

२२ आषाढ़ वदी अष्टमी को अपराह्न काल चित्रा नक्षत्र में नेमिनाथ भगवान् ६३६ मुनियों के साथ मोक्ष गये। ?

२३ श्रावण सुदी सप्तमी को अपराह्न काल विशाखा नक्षत्र में पार्श्व-नाथ भगवान ३६ मुनियों के साथ मोक्ष गये।

२४ कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी प्रातः समय के स्वाति नक्षत्र में भगवान महावीर ने मोक्ष पद प्राप्त किया।

जिन तीर्थङ्करों के साथ मोक्ष जाने वाले मुनियों की संख्या नहीं लिखी उन सब के साथ एक एक हजार मुनि मोक्ष गये हैं। ? ASK

गाथा—

कालवसादोजोर्यखिवावण्ण य दुस्समय काले ।
अविनदुनेदाविय असुय कोतसयपायेण ।।
सत्तचयणाहमदहं संजुत्तोसंअगार उसयेहिं ।
कलहपियारागितो कूरो कोहाणु ओलोहिं ।।

सूत्र:—

घातिचतुष्टयाष्टादशदोषरहिताः ।।१०।।

अर्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिया कर्म हैं। क्षुधा, तृष्णा, भय, द्वेष, राग, मोह, चिन्ता, वृद्धावस्था, रोग, मरण, स्वेद, खेद, मद, रति, विस्मय, जन्म, निद्रा और विषाद ऐसे १८ दोष हैं।

इस प्रकार १८ दोष और ४ घातिया कर्मों से रहित केवली अर्हन्त होते हैं।

गाथा...

नारयति रयदुथावरछावदुभउजोए घातिअउतियं ।
साहरणं चतिसट्ठिपयडिणिमुक्कोजिणो जयऊ ।।
क्षुहतणपाभिरु रोसोरागो चिंताजरारुजामच्च ।
खेदंसेदं मदोरइ मोह जणुब्भेगरित्पाओणिद्दा ।।

सूत्र—

समवशरणैकादश भूमयः ।।११।।

अब आगे समवशरण में होने वाली ग्यारह भूमियां बताई जाती हैं।

घणनिविडं द्वादश यो, जन विस्तृत मिन्द्रनीलमणिमय मतिरुत्तं ।
धनवकृतं नेलसिर्दुडु, घणपथ दोळ समवशरण भूमिविभागं ।।१२।।

वह समवशरण इस भूमंडल से ५००० धनुष ऊपर जाकर आकाश में सूर्य और तारागण के समान प्रतीत होता है। उसकी चारों दिशाओं में पादलेप औषधि के समान मणिमय २० हजार सीढ़ियों की रचना रहती है। वह समवशरण १२ योजन के विस्तार में होता है। जिसकी आंगन भूमि इन्द्र नीलमणि निर्मित होती है। वह समवशरण अनुपम शोभा सहित होता है। जिसके आंगन में प्रासाद चैत्य भूमि १, जलखातिका २, वल्लीवन ३, उपवन ४, ध्वजा माला कुवलय भूमि ५, कल्प वृक्ष भूमि ६, भवन सन्दोह (समूह) भूमि ७,

द्वादशगण परिष्कृत पवित्रतर क्षेत्र ८, प्रथम पीठ ९, द्वितीय पीठ १०, तथा सिंह विष्टरवाली तृतीय पीठ भूमि ११, इस प्रकार कुल ११ भूमियां उस समवशरण में होती हैं।

उसमें सबसे पहले धूलिशाल कोट बना रहता है। जो कि पंचवर्ण रत्नों के चूर्ण से बना हुआ होता है। जिसके चारों ओर चार दरवाजे होते हैं। उन दरवाजों में से होकर जब भीतर आगे बढ़ें तो वहां मार्ग में सबसे पहले मानस्तम्भ आते हैं जो कि चारों दिशाओं में चार होते हैं। हरेक मानस्तम्भ चारों ओर चार दरवाजों वाले ३ परकोटों से घिरा हुआ होता है। वह वहां ३ पीठिकामय समुन्नत वेदी पर बना रहता है। उसके चारों ओर चार सरोवर बने रहते हैं। उन एक-एक सरोवर के प्रति ४२ कुण्ड होते हैं। उन मानस्तम्भों में मस्तक के ऊपर चारों दिशाओं में चार बिम्ब होते हैं, जिनका इन्द्रादिक देव निरन्तर अभिषेक किया करते हैं। उन मानस्तम्भों को देखकर दुरभिमानी मिथ्यादृष्टी लोगों का मान गलित हो जाता है। इसीलिये उनको मानस्तम्भ कहते हैं। उसके बाद प्रासाद चैत्यभूमि आती है। वहां पर एक चैत्यालय होता है, जो कि वापी, कूप, तड़ाग तथा वन खण्ड से मंडित पांच-पांच प्रासादों से युक्त होता है। यह सब रचना दो गव्यूति के विस्तार में होती है ॥१॥

उसके आगे वेदी आती है, जो कि चांदी की बनी हुई होती है। और मणियों से बने हुये सोपानों की पंक्ती से युक्त होती है। जिसके चारों ओर चार द्वार सुवर्ण के बने हुये रहते हैं। उन गोपुरों के ऊपर ज्योतिष्क देव द्वारपाल का काम करते हैं। उस वेदी के भीतर की ओर जब कुछ आगे चलें तो जल की भरी हुई खातिका आती है। वह खातिका नाना प्रकार की सुवर्णमय सीढ़ियों से युक्त होती है। उस खाई में कमल खिले हुये होते हैं और हंस चक्रवाकादिक जलचर जीव मधुर शब्द करते हुये किलोल करते रहते हैं। उसी में सुर, विद्याधर वगैरह भी जलक्रीड़ा करते रहते हैं। उस खाई के दोनों तटों पर नाना प्रकार के लता मंडप बने रहते हैं। वह खाई १ योजन के विस्तार में होती है।

इसके आगे रजत की बनी हुई और मणियों से जड़ित ऐसी सोपान पंक्ति से युक्त १ सुवर्णमय वेदी आती है। जिसके चारों ओर चार दरवाजे होते हैं, जिनके ऊपर ज्योतिष्क देव द्वारपाल का काम करते हैं।

इसके आगे १ योजन विस्तार में वल्ली-वन आता है। जिसमें पुन्नाग, तिलक, बकुल, माधवी कमल इत्यादि नाना प्रकार की लतायें सुशोभित होती हैं। उन लताओं के ऊपर गन्ध-लुब्ध भौंरे मंडराते रहते हैं। उसी वल्ली-वन में

सुगन्धयुक्त फूल वाले लता मण्डप बने हुये होते हैं। जिन में सुर-मिथुन क्रीडा करते रहते हैं। इसके आगे सुवर्णमय परकोटा आता है जो कि रजत और मणियों से बने हुये सोपानों से युक्त होता है। उसके चारों ओर चारों द्वारों पर यक्षकुमार द्वारपाल का काम करते हैं। कनाड़ी श्लोकः—

त्रिदश मिथुन प्रसंगदि ।
उदित महाराग विहंगकुल निस्वर्नदि पु-॥
रिदे से वशोक सप्त-।
च्छद चंपक चूतवनचतुष्टय मक्कुं ॥१३॥

अशोक, सप्तच्छद, ्पक तथा आम ये वन होते हैं। इन वनों में इसी नाम वाला एक-एक चैत्य-वृक्ष भी होता है। जोकि चार दरवाजों वाले तीन-तीन परकोटों से युक्त और ३ पीठ के ऊपर प्रतिष्ठापित होता है। जिसके मूल भाग में चारों दिशाओं में अर्हन्त भगवान के बिम्ब विराजमान होते हैं, जोकि आठ प्रकार के प्रातिहार्यों से सुशोभित हुआ करते हैं। इन चैत्यवृक्षों के परिकर स्वरूप मन्दार, मेरु, पारिजात, ताल, हिन्ताल, तमाल, जम्बू, जम्बीर आदि नाना प्रकार के वृक्ष तथा कृत्रिम नदी क्रीड़ागिरि, लताभवन आदि आदि की रचना होती है। इन कृतगिरियों के ऊपर मन्द मन्द पवन से हिलती हुई ध्वजायें भी हैं। इसके आगे चलने पर दोनों भागों में ६२ नाट्यशालायें होती हैं, जोकि चन्द्रमा के समान सफेद वर्ण तथा तीन तीन खंड वाली होती हैं। एक एक नाट्यशाला में बत्तीस बत्तीस नाटक स्थल होते हैं जिसके प्रत्येक स्थल में बत्तीस बत्तीस नर्तकियां नृत्य करती हुई भगवान का यश गान करती हैं। इन नाट्यशालाओं के समीप धूप-घट होते है। जिनमे से कालागरु वगैरह धूप का धुआँ निकलकर दो कोस तक फैलता रहता है। यह उपवन भूमि एक योजन विस्तार में होती है। इसके आगे एक स्वर्ण वेदिका आती है, जिसके चारों तरफ चार दरवाजे होते हैं। जोकि सुवर्ण और मणिमय सोपानों से युक्त तथा यक्ष नामक द्वारपालों से संरक्षित होते हैं। इसके तीसरे भाग में आगे जाकर ध्वजस्थल आता है।

गजसिंह वृषभ गरुड़ा। म्बुजमाला हंसचक्रशिखि वस्त्र व्रीह।
ध्वजकुं तत्परिवार। ध्वजवुं ध्वजभूमियोळ् विराजिसुत्तिकुं म ॥१४॥

गज, सिंह, वृषभ, गरुड़, अम्बुजमाला, हंस, चक्र, शिखि (मयूर), वस्त्र तथा व्रीहि इन दस प्रकार के चिन्हों से चिन्हित

ध्वजायें होती हैं। चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में इन दस प्रकार की ध्वजाओं में से एक-एक प्रकार की ध्वजा एकसौ आठ २ होती हैं। जो सुवर्ण के स्तम्भों में लगी हुई होती हैं और मन्द मन्द वायु से हिलती रहती हैं। उन ध्वज दंडों की ऊंचाई २५ धनुष और मोटाई ८८ अंगुल की होती है। इन महाध्वजाओं के परिवार स्वरूप एक-एक महाध्वजा के प्रति एकसौ आठ २ क्षुद्र ध्वजायें हुआ करती हैं। ये महाध्वजायें चारों दिशाओं की मिलकर कुल ४३२० होती हैं। और इनकी क्षुद्र ध्वजायें ४६६५६० होती हैं। सब ध्वजायें मिलाकर ४७०८८० हो जाती हैं।

इसके आगे एक स्वर्णमय परकोटा आता है। जिसके चारों ओर ४ दरवाजे होते हैं। जिनमें स्वर्ण और मणियों से बनी हुई सीढ़ियां लगी रहती हैं। वहाँ पर नागेन्द्र नामक देव द्वारपाल का कार्य करते हैं।

कानड़ी श्लोक:—

देवोत्तर कुरुगळकल्पावनिजातंगळे ल्लमिदलन्तदक।
ल्पावनिजवकेणे इल्लेने, देवरकल्पावनीतलंसोगयिसुगुम् ॥१५॥

उसके आगे कल्प-वृक्षों का वन आता है। उन वनों में कल्पनातीत शोभा वाले दस प्रकार के कल्प वृक्ष होते हैं जोकि नाना प्रकार की लता वल्लियों से वेष्टित रहते हैं। उसमें कहीं कमल होते हैं, कहीं कुमुद खिले हुये होते हैं, जहाँ देव विद्याधर मनुष्य क्रीड़ा किया करते है, ऐसी क्रीड़ा-शालायें होती हैं।

कहीं पर उत्तम जल से भरी हुई वापिकाय होती हैं। इस कल्प-वृक्षों के वन में पूर्वादिक चारों दिशाओं में क्रम से नमेरु, मन्दार, संतानक, और पारिजात नामक चार सिद्धार्थ वृक्ष होते हैं। ये वृक्ष भी तीन कोटों से युक्त और तीन मेखलाओं से युक्त होते हैं। जिनके मूल भाग में चारों दिशाओं में चार प्रतिमायें होती हैं। जोकि वन्दना करने मात्र से भव्यों के पापों को नष्ट कर देती हैं। इन सिद्धार्थ वृक्षों के समीप में ही नाट्यशाला, धूप कुंभादि सर्व महिमा पूर्वोक्त कथनानुसार होती है। यह कल्पवन एक योजन विस्तार में होता है। अब इसके आगे एक स्वर्णमय वेदी बनी हुई होती है। यह भी पूर्वोक्त प्रकार चारों ओर चार दरवाजों से युक्त होती है। इसके आगे भीतर की ओर भवन भूमि आती है। जहाँ पर सुरमिथुन गीत नृत्य जिनाभिषेक, जिन स्तवन वगैरह करते हुए प्रसन्नता पूर्वक रहते हैं।

सूत्र:—

द्वादश गणाः ॥१२॥

इसके आगे इन्द्र नील मणिमय सोपानों से युक्त एक स्फटिकमय कोट आता है उसके भी चारों ओर चार दरवाजे होते हैं। वहाँ कल्पवासी देव द्वारपाल का काम करते हैं, जिसके अन्दर की ओर जाकर स्फटिक मणिमय सोलह भित्तियों से विभाजित चारों दिशाओं में १२ कोठे होते हैं। जिनमें ये बारह गण होते हैं। सबसे पहले सर्वज्ञ वीतराग भगवान के दायीं ओर अपने कर कमलों को जोड़कर गणधर देव, पूर्वधारी, विक्रिया ऋद्धिधारी, अवधिज्ञानी मनः पर्ययज्ञानी, वादी मुनि, शिष्य मुनि ऐसे सात प्रकार के ऋषियों का समूह होता है। वहाँ से आगे कल्पवासिनी देवियाँ रहती हैं।

उसके आगे आर्यिका व श्राविका समूह होता है। इसके आगे वीथी है। उसके आगे ज्योतिषी देवियाँ होती हैं। उसके आगे व्यन्तरी देवियाँ होती हैं। उसके आगे भवन वासिनी देवियाँ होती हैं। तत्पश्चात् दूसरी वीथी आ जाती है। उसके आगे व्यन्तरदेव, ज्योतिष्क देव, भवन वासी देव होते हैं। तदनन्तर तीसरी वीथी आ जाती है। इसके बाद कल्पवासी देव होते हैं। इसके बाद चक्रवर्ती, मुकुट-बद्ध मंडलेश्वर, महामंडलेश्वर, भूचर, खेचर इत्यादि सभी तरह के मनुष्य होते हैं। उसके आगे सिंह, व्याघ्र, सर्प सरिसृप, हाथी, घोड़े, महिष मेष, मूसा, बिलाव, विविध भाँति के पक्षी ऐसे तिर्यञ्च योनि के जीव परस्पर विरोध से रहित उपशान्त भाव से मिलकर एक ही स्थान में रहते हैं। इसके बाद चौथी वीथी आ जाती है। यह एक कोश के विस्तार में प्रदक्षिणारूप गण भूमि होती है।

श्लोक—

ऋषिकल्पजवनितार्या, ज्योतिर्वन भवनयुवति भुववनजा।
ज्योतिष्क कल्पदेवा नरतिर्यञ्चो वसन्ति वेष्टनुपूर्वम् ॥२॥

इसका अर्थ ऊपर दिया है।

उसके आगे इन्द्र नील मणिमय सोपान से सुशोभित वैमानिक देव, द्वारपाल के द्वारा विराजित चार प्रकार के गोपुर सहित स्फटिकमय वेदिका शोभायमान है। वह इस प्रकार है।

श्लोक कानड़ी में:—

अनुपमवैडूर्य, कनककलशत्सर्वरत्न मप्पें।
धनुगळुनाल्कु क्रमदिं, दनाल्कुमुत्सेधमप्प पीठ मयबोळ्॥१७॥

वहां से आगे चारों दिशाओं में धर्मचक्र को धारण किये हुये यक्षेन्द्र के द्वारा अनेक प्रकार के अष्ट द्रव्यों से पूजनीय तथा अत्यंत मनोहर देवों के साथ पूजनीय ७५० धनुष विस्तार वाला अर्थात् विष्कम्भ वाला भगवान का प्रथम पाठ है।

उसके ऊपर अनेक प्रकार की ध्वजाओं तथा अर्चनाओं से अलंकृत पूर्व सिंहासन के समान अर्थात् पूर्व पीठ के समान अत्यन्त विस्तार वाला द्वितीय पीठ है।

उसके ऊपर १००० धनुष विस्तार वाला सूर्य बिम्ब के किरण के समान मूल से लेकर ६०० दंड चौड़ाई और ९०० धनुष ऊंचाई वाली गंध कुटी है। परमात्मा के चरम शरीर के अंतरंग युक्त सुगंध परम सुशोभित त्रिभुवन-नाथ भगवान का पीठ है।

आगे भगवान के आठ महा प्रातिहार्य का वर्णन करते हैं—

सूत्रः—

अष्ट महाप्रातिहार्याणि ॥१३॥

श्लोक कनाडी

श्रीमदशोकं मुक्कोडे, पूमळेवर भाषे विष्टिरं चमरीज।
भामंडलंत्रिलोक, स्वामित्वद लांछनं गणानकसहितं ॥१७॥

अर्थात् भगवान के पीछे अशोक वृक्ष, ऊपर तीन छत्र, पुष्प वृष्टि, सात सौ अठारह भाषा, चमर, भामंडल, सिंहासन दुन्दुभि आठ प्रातिहार्य हैं।

अठारह महाभाषायें

गाथा—

अट्ठरसमहाभासा खुल्लयभासाय सयाइं सत्त तहा।
अक्खरअणक्खरप्पय सण्णीजीवाण सयलभासाओ ॥३८॥
एदासुं भासासुं तालुवदंतोठ्ठकंठवावारे।
परिहरिय एक्ककालं भव्वजणे दिव्वभासित्तं ॥३९॥
पगदोए अक्खलिओ संझत्तिदयम्मि णवमुहुत्ताणि।
णिस्सरदि णिरुवमाणो दिव्वझुणी जाव जोयणमं ॥४०॥
अवसेसकालसमये गणहरदेविंदचक्कवट्टीणं।
पण्हाणरूवमत्थं दिव्वझुणी अ सत्तभंगीहिं ॥४१॥
सिय अत्थि णत्थि उभयं अव्वतव्वं पुणोवि तत्तिदियं।
दव्वम्हि सत्तभंगी आदेसवसेण संभवदि ॥४२॥

छद्दव्व पंच अत्थी सत्तवि तच्चाय णवपयत्थाय ।
णयणिक्खेवपमाणं दिव्वझुणी भणइ भव्वाणं ॥४३॥
जिणवंदणा पयट्ठा पल्लासंखेज्ज भागपरिमाणं ।
चित तिविविह जीवा इक्केक्के समवसरणेसु ॥४४॥

अर्थ—अठारह महाभाषा, सात सौ छोटी भाषा तथा संज्ञी जीवों की और भी अक्षरात्मक (अक्षरों से लिखने योग्य), अनक्षरात्मक भाषाएं हैं। उन सभी भाषाओं में तालु, दांत, ओठ, कण्ठ को बिना हिलाये चलाये भगवान की वाणी भव्य जीवों के लिये प्रगट होती है। भगवान की वह दिव्य ध्वनि स्वभाव से (तीर्थंकर प्रकृति के उदय से बचन योग से, बिना इच्छा के) अस्खलित (स्पष्ट) अनुपम तीनों सन्ध्या कालों में ६ मुहूर्त तक निकलती है और १ योजन तक जाती है।

शेष समय में गणधर, इन्द्र तथा चक्रवर्ती के प्रश्न करने पर भी दिव्य ध्वनि सात भंगमय खिरती है।

स्यात्, अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य और स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य ये सात भंगी पदार्थों में आदेश (जिज्ञासा) के वश से होती हैं।

छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्व, नौ पदार्थ, प्रमाण, नय, निक्षेप्प आदि भविष्य भगवान की दिव्य ध्वनि भव्य जीवों को प्रतिपादन करती है।

जिनेन्द्र भगवान की वन्दना के लिये समवशरण में आये हुए अनेक प्रकार के जीव पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं। समवशरण के प्राकार वेदिका और तोरण की ऊंचाई भगवान के शरीर से चार गुणी होती है।

(कनड़ी छंद)

मिलिर्व पताके इनेसेथव, टूले इन्देशमानमप्प विस्तृत वेदी ।
कुल मसमानं विस्तृत, विलसत् प्राकारमुं निरंतर मेसेगुं ॥१८॥

अर्थात् मानस्तंभ, प्रासाद, चैत्यालय, चैत्यवृक्ष, ध्वज दंड, गोपुरद्वार, कृतगिरि, नवस्तूप और लक्ष्मी मंडप ये सभी १२ गण देह के प्रमाण हैं। और भीतर तथा बाहर के सम्पूर्ण, गोपुरों में नव निधि से शोभित उचित अष्ट, मंगल द्रव्य वगैरह प्रत्येक १०८ होते हैं। नैसर्प, पिंगल, भाजुर, माणवक, संद, पांडुक, कालश्री, वरतत्व, तथा तेजोद्भासि महाकाल ये नव निधियां हैं।

अष्ट मंगल द्रव्य

गाथा—

अर्थ—तीन छत्र, चमर, दर्पण, भृंगार, पंखा, पुष्पमाला व्रतकलश,

स्वस्तिक (साथिया) झारी ये आठ मंगल द्रव्य हैं। और धूलि प्राकार के बाहरी तरफ १०० मरकत मणि के वंदन वार (तोरण) लाइन से आगे सौ सौ होती हैं। और उनका विस्तार गव्यूति प्रमाण होता है। वीथी (गली) में धूलि प्राकाररों से गंधर्व व्यंतर देवों की वेदिका तथा स्फटिकमय दीवाल है। इस प्रकार विविध भाँति के अतिशयों से युक्त समवशरण में—

श्लोक—

तत्रच मृजंत्युन्म च विद्वेषो नैव मन्मथोन्मादः।
रोगान्तक बुभुक्षा पीडाच न विद्यते कंचित् ॥

अर्थ—जन्म, मरण, कोप, कामोद्रक, रोग, व्यसन, निद्रा, भूख, प्यास इत्यादि पीड़ा जीवों को नहीं होती। और अभव्य तथा असैनी जीव समवशरण में कभी नहीं जाते। मिथ्या-दृष्टि जीवों को समवशरण में प्रवेश करते ही सम्यग्दर्शन हो जाता है। गूंगा समवशरण में जाते ही बोलने लगता है, अंधा देखने लगता है, बहरा समवशरण में आकर सुनने लगता है। लूले लंगड़े समवशरण में जाते ही ठीक तरह से चलने लगते हैं। पागलों का पागलपन वहाँ जाकर दूर हो जाता है, कोढ़ी जैसे महारोगी का शरीर समवशरण में प्रवेश करते ही निरोग होकर सुन्दर बन जाता है। विष वाले प्राणी समवशरण में जाते ही निर्विष हो जाते हैं व्याधि-पीड़ित जन समवशरण में जाते ही सर्व व्याधियों से मुक्त हो जाते हैं। व्रण (घाव-जख्म) वाले लोग वहाँ आकर व्रण से रहित हो जाते हैं। आपस के विरोधी जीव समवशरण में जाते ही मित्र के समान हो जाते हैं, जिन जीवों का आपस में विरोध होता है और सदा लड़ते झगड़ते हैं वे यदि समवशरण में पहुंच जायं तो उसी समय विरोध छोड़ कर मित्र बन जाते हैं। सिंह, और हाथी, बिल्ली और चूहा, मेंढक, और सर्प इत्यादि जाति-विरोधी जीव भी अपने अपने वैर को छोड़ कर आपस में बन्धों के समान प्रेम करने लगते हैं। और पुनः—

श्लोक कानड़ी में।

नुत धर्म कथन मल्लदे हितकर संकर्म कार्यमल्लदे विपुलो।
न्नत धर्म विन्तेयल्लदे शतविनुतवपन सभेयोमिल्लुळ धेनु ॥

अर्थ—भगवान के समवशरण में जितने भी जीव बैठे होते हैं वे अपने सम्पूर्ण विकारों से रहित होकर सद्धर्म कथाओं को सदा चिन्तवन करते रहते हैं। सौ इन्द्रों से वन्दनीय त्रिभुवन नाथ भगवान के समवशरण में धर्म कथा या उत्तम धर्म कार्य के सिवाय अन्य कोई कार्य नहीं होता।

श्लोक कानड़ी में—

चित्रातपत्रदि पत्रवनस्थाळियनिलिसे गगन वेसेयं ।

चित्रसे तिरीट किरणं, द्वात्रिशत् त्रिदशपतिगळंतेळतंदर ॥२०॥

वरगन्धाक्षतकुसुमदि गनुपमचरुदीपधपफलसंकुलर्दि ॥२१॥

जिनपतिपूजोत्सवकर मर्णादि द्वात्रिंशतंदिन्द्र रन्तकद्दर ॥२२॥

उपर्युक्त समवशरण की विभूति भगवान के उपभोगान्तराय कर्म के क्षय से होती है। ऐसे जिनदेव की आराधना भव्य जीवों को सदा करते रहना चाहिए।

सूत्र—

अनंत चतुष्टयमिति ॥१४॥

अर्थ—अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख, अनंत वीर्य ये अनंत चतुष्टय हैं।

१ जिस ज्ञान का अन्त नहीं है उसे अनंत ज्ञान कहते हैं। अतीन्द्रिय ज्ञान व्यवहार नय से लोकालोक को प्रत्यक्ष रूप से जानता है और निश्चय नय से अपने शुद्धात्म स्वरूप को जानता है।

२ जिस दर्शन का अंत नही है या विनाश नहीं है और जो व्यवहार नय से लोकालोक को प्रत्यक्ष रूप से देखता है तथा जो निश्चय नय से शुद्ध स्वरूप को देखता है वह अनंत दर्शन है।

३ जिस सुख का अंत नही है वह अनंत सुख या अतीन्द्रिय सुख है।

४ जिस वीर्य का नाश नहीं है वह अनंत वीर्य है। वही अनंत सबल और वही अनंत शक्ति है। उपर्युक्त अनन्त चतुष्टयों के धारक चौबीस तीर्थंकर परम देवों ने अपने शेष सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट करके अनंत गुण परिपूर्ण शुद्धात्म भावना के फल को प्राप्त किया तथा ऐसे सिद्ध-साध्य, बुद्ध बोध, कृत कृत्य, इत्यादि विशेषणों से युक्त उन सिद्ध परमेष्ठियों को मैं नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार कहा हुआ भी है कि—

शुद्ध चैतन्यपिंडाय सिद्धाय सुखसंपदे ।

विमलागमासाध्याय नमोस्तु परमेष्ठिने ॥

इस प्रकार नव सूत्रों के द्वारा तीर्थंकर की विभूति का वर्णन किया गया। अब आगे पाँच सूत्रों के द्वारा चक्रवर्ती की विभूति का वर्णन करते हैं।

सूत्र—

द्वादश चक्रवर्तिन :— ॥१५॥

१ श्रीसेन, २ पुंडरीक, ३ वज्रनाभि, ४ वज्रदत्त, ५ वज्रघोष,

६ चारुदत्त, ७ श्रीदत्त, ८ सुवर्णभद्र, ९ भूवल्लभ, १० गुणपाल, ११ धर्मसेन, १२, कीर्तिघोष, ये अतीत काल के १२ चक्रवर्ती हैं।

१ भरत, २ सगर, ३ मघवा, ४ सनत्कुमार, ५ शांति, ३ कुंथु, ७ अरह, ८ सुभौम, ९ महापद्म, १० हरिसेन, ११ जय सेन, १२ ब्रह्मदत्त, ये बारह चक्रवर्ती वर्तमान काल के हैं।

१ भरत, २ दीर्घदन्त, ३ मुक्तदन्त, ४ गूढदन्त, ५ श्री सेन, ६ श्री भूति, ७ श्री कान्त, ८ पद्म, ९ महापद्म १० चित्र वाहन ११ विमल वाहन, और १२ अरिष्टसेन ये भावी काल के चक्रवर्ती हैं।

१ वर्तमान काल के चक्रवर्तियों में भरत ५०० धनुष ऊंचे शरीर वाले और ८४०००००० पूर्व वर्ष आयु वाले थे।

२ सगर चक्रवर्ती का शरीर ४५० धनुष प्रमाण और ७२०००००० पूर्व वर्ष आयु थी।

३ मघवा चक्रवर्ती का शरीर साढ़े बयालिस धनुष प्रमाण और ५००००० वर्ष आयु थी।

४ सनतकुमार चक्रवर्ती का शरीर ४२ धनुष प्रमाण और ३००००० वर्ष आयु थी।

५ शान्तिनाथ चक्रवर्ती का शरीर ४० धनुष प्रमाण और १००००० वर्ष आयु थी।

६ कुंथुनाथ चक्रवर्ती का शरीर ३५ धनुष प्रमाण और ९५००० वर्ष प्रमाण आयु थी।

७ अरह चक्रवर्ती का शरीर ३० धनुष और ८४००० वर्ष प्रमाण आयु थी।

८ सुभौम चक्रवर्ती का शरीर २८ धनुष प्रमाण और ६०००० वर्ष प्रमाण आयु थी।

९ महापद्म चक्रवर्ती का शरीर २२ धनुष और ३०००० वर्ष प्रमाण आयु थी।

१० हरिषेण चक्रवर्ती का शरीर २० धनुष और १०००० वर्ष प्रमाण आयु थी।

११ जयसेन चक्रवर्ती का शरीर १५ धनुष प्रमाण और ३००० वर्ष आयु थी।

१२ ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का शरीर ७ धनुष प्रमाण और ७०० वर्ष आयु थी।

इन सभी चक्रवर्तियों का शरीर स्वर्णमय था।

सूत्र—

सप्तांगानि ॥१६॥

राजा, ग्रामाधिपति, जनपद, दुर्ग, भंडार, षडंगबल तथा मित्र, ऐसे चक्रवर्ती के सात अंग होते हैं।

षडंग बल ये हैं—चक्रबल, ८४००००० भद्र हाथी, उतने ही रथ, १८ करोड़ उत्तम नस्ल के घोड़े, ८४ करोड़ वीर भट, अनेक देव बल, अनेक विद्याधर इस प्रकार षडंग बल होता हैं।

सूत्र—

चतुर्दश रत्नानि ॥१७॥

चक्र, छत्र, असि, दंड, मणि, काकनी और चर्म ये सात रत्न अचेतन हैं। गृहपति, सेनापति, गजपति, अश्व, स्थपति, पुरोहित तथा स्त्री रत्न, ये सात चेतन रत्न हैं। इस प्रकार इन चौदह रत्नों को महा रत्न कहते हैं। और इनकी एक-एक हजार यक्ष रक्षा करते हैं। अब आगे उनकी शक्ति को बतलाते हैं। चक्रवर्ती के प्रति यदि कोई प्रतिकूल हो जाता है तो उसका सिर चक्ररत्न के द्वारा उसी समय हाथ में आ जाता है। सम्पूर्ण धूप, वर्षा, धूलि, ओले, तथा वज्रादि की बाधा को दूर करने के लिये छत्र रत्न होता है।

३—चक्रवर्ती के चित्त को प्रसन्न करने वाला असि रत्न होता है।

४—४८ कोस प्रमाण समस्त सेना को भूमि के समतल करने वाला दंड रत्न होता है।

५ जो इच्छा हो उसे पूरा करने वाला मणि रत्न होता है।

६ जहाँ अंधेरा पड़ा हो वहाँ चन्द्र सूर्य के आकार को प्राप्त कर प्रकाश करने वाला काकिनी रत्न होता है।

७ नदी नद के ऊपर कटक को पार करने के लिये चर्म रत्न होता है।

८ राज भवन की समस्त व्यवस्था करने के लिए गृहपति रत्न होता है।

९ आर्य खंड के अतिरिक्त पांच म्लेच्छ खंडों को जीतने वाला सेनापति रत्न होता है।

१० चक्री के जितने भी हाथी हैं उनको जीतकर हस्तगत करने वाला सबसे मुख्य हाथी गज रत्न होता है।

११ तिमिश्रगुफा के कपाट स्फोटन समय में जब उसमें से ज्वाला

निकलती है तब चक्रवर्ती को तुरन्त ही बारह योजन उछालकर दूर ले जाने वाला अश्व रत्न है।

१२ चक्रवर्ती की इच्छानुसार प्रासाद आदि को बनाकर तदनुकूल सहायता करने वाला स्थपति रत्न होता है।

१३ चक्रवर्ती के अन्तःपुर में जो ९६००० स्त्रियाँ होती हैं वे सभी अपने-अपने मन में यह मानती रहें कि शाम से लेकर सुबह तक चक्रवर्ती महाराज तो मेरे पास रहे, इस प्रकार की अद्भुत विक्रिया शक्ति के धारक चक्रवर्ती की कामवासना को शान्त कर देने वाला स्त्री रत्न होता है।

१४ सम्पूर्ण कटक सैन्य को धर्म कर्मानुष्ठान से चलाने वाला पुरोहित रत्न होता है। चक्रवर्ती के साढ़े तीन करोड़ बंधुवर्ग और संख्यात सहस्र पुत्र, पुत्रियाँ, ३६१ शारीरिक वैद्य तथा ३६१ रसोइया होते हैं। और एक-एक रसोइया ३६० दिन तक ढाई द्वीप में रहने वाली दिव्यौषधि को अन्नपानादि में मिलाकर ग्रास बनाता है। फिर ३२ ग्रासों में से केवल एक ग्रास निकालकर ४८ योजन प्रमाण में रहने वाली समस्त सेना को खाने को देता है और उसे खाकर पानी पीते ही जब सभी को अजीर्ण हो जाता है तब वह ग्रास चक्रवर्ती के खाने योग्य परिपक्व होता है। ऐसे ३२ ग्रासों को चक्रवर्ती प्रतिदिन पचाने वाला होता है।

उन ग्रासों में से स्त्री रत्न, गजरत्न, अश्वरत्न, केवल एक एक ग्रास को पचा सकते हैं। अब चक्रवर्ती की इन्द्रियों की शक्ति को बतलाते है।

१२ योजन की दूरी पर यदि कोई भी वस्तु गिर जावे तो उसकी आवाज चक्रवर्ती कर्ण द्वारा सुन सकते हैं। ४७२६३ साधिक योजन तक के विषय को देखता है। घ्राण और स्पर्शन इन्द्रिय से ९० योजन जानता और सूंघता है। ३२ चमर २४ शंख, उतनी ही, भेरी पटह, यानी १२ भेरी और १२ पट होते हैं। इन सम्पूर्ण की द्वादश योजन तक ध्वनि जाती है। इनके साथ १६००० मगपति (अंग रक्षक) देव होते हैं। ३२००० मुकुट-बद्ध, इतनी ही नाट्य शाला, उतनी ही संगीत शाला, उतने ही देश, वृत वृतान्त तक आदि होते हैं। ९६ करोड़ ग्राम, चार द्वार वाले आकार वाले ७५ हजार नगर, नदी वेष्ठित १६ हजार गाँव, पर्वत वेष्ठित २४ हजार खवंड, प्रत्येक ग्राम के लिए ५०० मुख्य, ४०० मडंव, रत्न योगी नाम के ४८ हजार पट्टन (नगर) हैं। समुद्र और खातिका से घिरा हुआ ९९ हजार द्रोणमुख नगर होते हैं। १६ हजार वाहन हैं। चारों ओर से घिरे हुए हैं २८ हजार किले होते हैं। अन्तर द्वीप ५६ हैं। ६०० प्रत्यन्तर हैं। ७०७ मत्यंतर कुक्षि निवास अटवी हैं। ८०० सभा हैं। ३ करोड़ गाय

हैं। १ करोड़ स्थान हैं। १ लाख करोड़ भैंसे हैं। ६० हजार म्लेच्छ राजाओं के द्वारा चक्रवर्ती सुशोभित होता है।

सूत्र

नव निधयः ॥१८॥

प्रत्येक एक एक हजार यक्ष देवों से राक्षि नौनिधियां होती हैं। १-तीनों ऋतुओं के योग्य द्रव्य को देनी वाली काल निधि है।

२ नाना प्रकार के भोजन विशेषता को देने वाली महाकाल निधि होती है।

३ प्रत्येक गोधूमादि सम्पूर्ण धान्य को देने वाली पाण्डु निधि है।

४ असि, मूसल, इत्यादि नाना आयुध को देने वाली माणवक निधि है।

५ तत, वितत, धन, सुशिर भेद वाले वादित्रों को देने वाली शंख निधि है।

६ अनेक प्रकार के महल मकान आदि को देने वाली नैसर्प निधि है।

७ स्वर्गीय वस्त्रों की स्पर्द्धा करने वाले वेशकीमती वस्त्र को देने वाली पद्म निधि है।

८ स्त्री पुरुषों को उनके योग्य आभरण देने वाली पिंगल निधि है।

९ वज्र, वैडूर्य, मरकत मानिक्य, पद्म राग, पुष्प राग आदि को देने वाली सर्वरत्न निधि है।

इन निधियों में से चक्रवर्ती की आज्ञानुसार चाहे जितनी भी चीज निकाल ली जाय तो भी अटूट रहती हैं।

सूत्र—

दशांगभोगानि ॥१९॥

दिव्य नगर, दिव्य भोजन, दिव्य भोजन, दिव्य शयन, दिव्य नाट्य, दिव्य आसन, दिव्य रत्न, दिव्य निधि, दिव्य सेना, दिव्य वाहन ऐसे दशांग भोग चक्रवर्ती की विभूतियां हैं।

आगे नव बलदेव का वर्णन करने के लिए सूत्र कहते हैं।

सूत्र—

नव बलदेवाः ॥२०॥

यह नव बलदेव इस प्रकार हैं।

१ श्री कान्त, २ शान्त चित्त, ३ वर बुद्धि, ४ मनोरथ, ५ दयामूर्ति, ६ बिपुल कीर्ति ७ प्रभाकर, ८ संजयंत, ९ जयंत, ये अतीत काल के बलदेव हैं।

रथ, विजय, अचल, सुधर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नंदिमित्र, राम, पद्म यह वर्तमान काल के बलदेव हैं।

गाथा—

सगसिदि वु सुव सूणं, संमति सस्सतर समा लहि।
सह पद्विसित संतरसहस बारसय माहु वले ॥

अर्थ—विजय की ८७ लाख, अचल की ७७ लाख, सुधर्म की ६७ लाख, सुप्रभ की ३७ लाख, सुदर्शन की १७ लाख, नंदिमित्र की ३७ हजार, राम की १२ हजार पद्म की १२ हजार वर्ष आयु है।

सूत्र—

वासुदेव प्रतिवासुदेवनारदाश्चेति ॥२१॥

काकुस्थ, वरभद्र, समुद्र, संसृष्ट, वरवीर, शंत्रुजय, दमितारि, प्रिय दर्शन और विमल वाहन यह अतीत काल के नव वासुदेव हैं।

निसुंभ, विद्युत प्रभ धरणीशिख, मनोवेग, चित्रवेग, दृढरथ, वज्रजंघ विद्युदंग, प्रहलाद ऐसे अतीति काल के प्रति वासुदेव हैं।

त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुषवर, पुडंरीक, दत्तनारायण, कृष्ण यह वर्तमान काल के वासुदेव हैं।

अश्वग्रीव, तारक, मेरक, निसुंभ, मधुकैटभ, बली, प्रहरण, रावण, जरासंध यह वर्तमान काल के नव प्रतिवासुदेव हैं।

नंदि नंदी मित्र, नन्दन, नंदिभूति, वल, महावल, अतिवल, त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ यह भावी काल के नव वासदेव है।

१—श्री कंठ, २—हरिकंठ, ३—नील कंठ, ४—अश्व कंठ, ५—सुकंठ, ६—शिखि-कंठ, ७—अश्वग्रीव, ८—हयग्रीव, ९—मयूर ग्रीव, ये भावी काल के नव प्रतिवासुदेव हैं।

(१) भीम (२) महा भीम (३) रुद्र (४) महारुद्र (५) काल (६) महा-काल (७) दुर्मुख (८) नरकमुख (९) अधो मुख ये नव नारद वर्तमान काल के हैं। अब उनकी आयु बताते हैं।

गाथा

शेयादिपनस्वहरि पन छट्ठ रवुगविरहमति दुगनभ्के
दट्ठाट्ठमसूविइहदुग विरहिनेमि काल जोक्यन्नोह ॥
समय चुलसिदिविहतरि सट्ठितिसवशलक्खपण सट्ठि।
बत्तीसौ थोरेकं सहस माउस्स मध्य चक्कीमम् ॥

अर्थ—८४ लाख, ७२ लाख, ६० लाख, ३० लाख, १० लाख, ६५ हजार, ३२ हजार १२ हजार और १०००वर्ष अर्थ चक्रवर्ती की आयु क्रमशः होती है। अब इनकी उत्सेध [ऊंचाई] को कहते हैं।

गाथा—

सोवीसत्तरिसट्ठी पण्णापणवाल ऊणतीसाणि ।
बावीससोलवसधणु केसित्तियाणि उच्छेहो ॥४७॥

अर्थ—८०, ७०, ६०, ५०, ४५, २६, २२, १६, १० धनुष नारायण के शरीरों की क्रमशः ऊंचाई है।

गाथा—

एवे नव पडिसत्तुणवाण हत्थेहिं वासुवेवाणं
णिय चक्केहि रणेसु समाहवा जंतिणिरय खिदिं ॥४८॥
ऊर्ध्वगा वासुदेवार्युर्निनिदाना भवान्तरे ।
अधोगाश्च विदुर्वासुकेशवाः प्रतिशत्रवः ॥
पढमे सत्तामिवण्णो, पणछट्ठमपञ्च विगदो वत्तो ।
नारायणो चउत्थि कसिनो तदियगद अपापा ॥

अर्थ—ये प्रतिनारायण युद्ध में नारायण के द्वारा चक्र से मारे जाते हैं और नरक को जाते हैं ॥४८॥

अर्थ—बलदेवों में आठ मोक्षगामी हैं। अन्त के बलदेव ब्रह्मकल्प से आकर कृष्ण जब भावी तीर्थंकर होंगे उनके वहां समवशरण में प्रमुख गणधर होंगे। तदनन्तर मोक्ष जावेंगे। नारायण प्रतिनारायण नरक जाते हैं ॥४९॥

अर्थ—पहला नारायण सातवें नरक में, ५ नारायण छटे नरक में, एक पांचवें में. एक चौथे नरक में और अंतिम नारायण तीसरे नरक में गया है। प्रतिनारायण भी इसी प्रकार नरक गये हैं ॥५०॥

गाथा—

कलहप्पिया कदाचि धम्मररावासुवेवसमकाला
भव्भाणिरयगदे हिंसावेसेन गच्छंति ॥५०॥

अर्थ—नारद कलहप्रिय होते हैं, ब्रह्मचारी होते हैं, कुछ उनको धर्म से भी राग होता है। नारायणों के समय में होते हैं। और मर कर नरक जाते हैं।

सूत्र :—

एकादश रुद्राः ॥ २२ ॥

भीमबली, जितशत्रु, रुद्र, विश्वानल, सुप्रतिष्ठ, अचल, पुंडरीक, अजितंधर, अजितनाभि, पीठ, सात्यकि, यह ११ रुद्र हैं।

सूत्र—

उसहव काये पढमवुसमण्णवो, ससमुवि दिपो उक्कितु ।
पीढो संति जिणिंदे वीरे सच्चइ सुदो जादो ॥५१॥
पणसयपा पण्णूनसयं, पच्चसुवसहिणं नम रचउवीसं ।
टक्काय धनुज्सेहे सच्चयेतनयस्स सत्त करा ॥५२॥

इनका उत्सेध ५००, ४५०, १००, ६०, ८०, ७०, ६०, ५०, २८, २४, धनुष है । अंतिम रुद्र की ऊंचाई सात हाथ है ।

गाथा—

तेसिविमीअत्तरोवगि लक्खो पुव्वाणिवालसक्खाऊ ।
मलसिवि सिट्ठेवुसदस हीणवलिगिबस्सणवसदि्ठ ॥५३॥

इन रुद्रों की आयु को क्रम से कहते हैं।

८३ लाख पूर्व आयु, ७१ लाख पूर्व, २ लाख पूर्व, १ लाख पूर्व, ८४ लाख वर्ष, ६० लाख वर्ष, ५० लाख ४० लाख वर्ष, २० लाख वर्ष, १० लाख वर्ष ६६ वर्ष आयु है ।

गाथा—

यज्जाणपादपढने दिट्ठपणट्ठसंजमाभव्वो ।
कदिचि भवेसिज्झति हुगई दुक्खमर्समहिमादो ॥५४॥
पढमा माघवी मरणे पण मघवी अट्ठमो दुरिट्ठमहेन्दो ।
अंजनं पवण्णो मेघसुच्चई जो चोदो ॥५५॥

अर्थ—२-प्रमद, २समंद, ३-प्राकाम ४-कामद, ५-भव दूर, ६-मनोभव ७-मार, ८--काम, ९--रुद्र, १०-अंगज यह भावी काल के ११ रुद्र हैं।

गाथा—

कालेसु जिनवराणं चउवीसाणं हवंति चउवीसा ।
ते वाहुवलिप्पमुहा कद्दमपाणि रुपमायारो ॥५६॥
तित्थयरातप्पियरा केशिवल चक्किरुद्दणारद्दा ।
कुलकर अंगज पुरुषा भव्वा सिज्झत्ति नियमेण ॥५७॥

अर्थ----इस प्रकार ऊपर कहे हुए पुरुषों में सभी तीर्थंकर मोक्ष जाते हैं । तीर्थंकरों के माता पिता कुलकर, कामदेव, बलदेव, ये सभी ऊर्ध्वगामी होते हैं । वासुदेव प्रति वासुदेव नारद रुद्र ये अधोगामी होते हैं ।

चक्रवर्ती में कोई ऊर्ध्वगामी होते हैं। कोई कोई अधोगामी होते हैं। त्रेसठ शलाका भव्य होते हैं। भेदाभेद रत्नत्रयात्मक धर्म को धारण कर उसी भव से स्वर्ग जाने तक जो कथा कही जाती है उसे अर्थाख्यान कहते हैं। मोक्ष जाने तक जो कथा है वह चारित्र कहलाती है। तीर्थंकर और चक्रवर्ती के कथानक को पुराण कहते हैं।

समन्त भद्र आचार्य ने भी ऐसा ही कहा है:----

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यं।
बोध समाधि निधानं बोधति बोध: समीचीन: ॥

पंच मन्दिर के पूर्वापर विदेह क्षेत्र में ऐसे तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव महान पुरुष सभी काल में होते रहते हैं।

भरत ऐरावत क्षेत्र में १८ कोड़ाकोड़ी सागर काल बीत जाने पर द्विगुण ६३ शलाका पुरुष दो कोड़ाकोड़ी काल के अन्दर पैदा होते हैं।

कहा भी है :----

जिनसमपट्टट्ठविदा समकाले सुन्नद्वयट्ठिमेरचिदा।
उभयजिनत्तरजादा सन्नेया चक्क हर रुद्दा ॥५८॥
पण्णरणजिनखदुति जेना, सुन्न दुज्जेण गगन जुगल जेन खदुगम।
जेन कज्जेण खदुजेणा क्यड्डिजयोतिषशालया नेया ॥५९॥
चक्कि दुग मत्थसुराणं, हरिपण छह चक्कि केशि नव केशि।
अड्डिनभच्चक्कि हरिनभ, चक्कि हरिचक्कि सुरणण दुगं ॥६०॥
रुद्दुगच्छ सुण्णा सत्तह रागगण जुगुणमिसारणव।
पणणदनभाणितत्तो, सम्भयि तणों महावीरे ॥६१॥

यह भगवान जिनेन्द्र के अन्तराल काल में होने वाले चक्रवर्ती इत्यादि की गाथा है।

श्री माघनंद्याचार्य विरचित शास्त्र सार समुच्चय का प्रथमानुयोग नाम का पहला अध्याय समाप्त हुआ।

करणानुयोग:

परम श्री जिन पतियं । स्मरियिसि भव्यर्ग पेल्वेणां कन्नडदि ॥
करणानुयोग मंभुव । भुवनत्रयेक हितमंनुतमं ॥१॥

अर्थ—वीतराग जिनेंद्र भगवान् का स्मरण करके तीन लोक में हितकारी भव्य जीवों को हिंदी भाषा में करणानुयोग शास्त्र के विवेचन को कहूँगा।

अथ त्रिविधो लोकः ॥१॥

अर्थ—अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक इस प्रकार यह तीन लोक है। जिधर देखिये उधर दीखने वाले अनंत आकाश के बीच अनादि निधन अकृत्रिम स्वाभाविक नित्य सम्पूर्ण लोक आकाश है। जिसके अन्तर में जीवाजीवादि सम्पूर्ण द्रव्य भरे हुए हैं। जोकि नीचे से ऊपर तक चौदह राजु ऊंचा है। पूर्व से पश्चिम में नीचे सात राजु चौड़ा, सात राजु की ऊंचाई पर आकर मध्यलोक में एक राजु चौड़ा, फिर क्रमशः फैल कर साढ़े दस राजू की ऊंचाई पर पाँच राजु होकर क्रमशः घटता जाकर अन्त में एक राजु चौड़ा रह गया है। दक्षिण से उत्तर में सब जगह सात राजु है। जो घनोदधि, घनोनील और तनुवात नाम वाले तीन वातवलयों से वेष्टित है। नीचे में सात राजु ऊंचाई वाला अधोलोक है जिसमें भवनवासी देव और नारकी रहते हैं।

द्वीप समुद्र का आधार, महा मेरु के मूलभाग से लेकर ऊर्ध्व भाग तक एक लाख योजन ऊंचा मध्यम लोक है। स्वर्गादि का आधार भूत पंचचूलिका मूल से लेकर किंचित न्यून सप्त रज्जु ऊंचाई वाला ऊर्ध्वलोक है। ऐसे तीन लोक के बीच में एक रज्जु विस्तार चौदह राजु ऊंचाई वाली त्रस नाली है।

सप्त नरकाः ॥२॥

अर्थ—रत्न, शर्करा, बालुका, पंक, धूम, तम, महातम इन नामों वाले सात नरक हैं। इनका विस्तार इस प्रकार है।

घनाबु वाताकाश प्रतिष्ठित एक एक रज्जु की ऊंचाई के विभाग से विभक्त होकर लोकांत तक विस्तार वाली ये महा भूमियाँ हैं।

गाथा २—

रयनप्पहातिहा, खरभागापंकापवहुल भागोति।

सोलस चौरासिदि जोयन सहस्स वाहल्ला ॥१॥

अर्थ—खर भाग १६ हजार योजन है। पंक भाग ८४ हजार योजन और अव्वहुलभाग ८० हजार है।

अब्बुल भाग ८० योजन है कुल १ लाख के ऊपर ८० हजार योजन वाला रत्न प्रभा है।

उसके नीचे की भूमियाँ क्रमशः—३२००० हजार २८००० हजार २४००० हजार २०००० हजार १६००० हजार आठ हजार बाहुल्य ऊंचाई वाली है। और सप्तम नरक के नीचे के भाग से लेकर १००० योजन प्रमाण को छोड़कर प्रस्तार क्रम से बिल हैं।

एकोनपंचाशत् पटलानि ॥३॥

सात नरकों के अंतर्गत रहने वाले ४९ पटल इस प्रकार से हैं।

१ सीमान्त, २ निरय, ३ रौरव, ४ भ्रान्त, ५ उद्भ्रान्त, ६ सम्भ्रान्त, ७ असम्भ्रान्त, ८ विभ्रान्त, ९ त्रस्त, १० त्रसित, ११ वक्रान्त, १२ अवक्रान्त, १३ वर्ग यह पहिले नरक में १३ इन्द्रक हैं।

१ तलक, २ स्तनक, ३ वनक, ४ मनक, ५ खडा, ६ खडिका, ७ जिह्वा, ८ जिह्वक, ९ लोल, १० लोलक, ११ लोलवत्स, १२ पटल वंशा नाम की दूसरी पृथ्वी में हैं।

१ तप्त, २ तपित, ३ तपण ४ तापण, ५ निदाघ, ६ उज्वलका, ७ प्रज्वलिका, ८ संज्वलिका, ९ संप्रज्वालिका ये नव पटल मेघा नाम की तीसरी पृथ्वी में हैं।

१ आर, २ मार, ३ तार, ४ वर्चस्क, ५ तम ६ फडा ७ फडाय, यह सात इन्द्रक अंजना नाम की चौथी पृथ्वी में हैं।

१ तदुक, २ भ्रमक, ३ झषक, ४ अन्ध, ५ तमिश्र, यह पाँच इन्द्रक अरिष्टा नामक नरक में हैं।

हिम, वार्दल लल्लक, यह तीन इन्द्रक मघवा नाम की छठी पृथ्वी में हैं।

अवधिस्थान नाम के इन्द्रक माघवी नाम की सातवीं पृथ्वी में है।

पटल के मध्य में इन्द्रक होते हैं। उन इन्द्रकों की आठों दिशाओं में

श्रेणिवद्ध विल रहते हैं। उसके आजू बाजू अनेक प्रकार के प्रकीर्णक रहते हैं

गाथा —

तेरादिदुहि निहय श्रेडवद्धा दिशासुविदिसासु ।
उसवरणद ढालादि एककेकेणूनयाकमसो ॥२॥

अब प्रत्येक पटल में श्रेणि वद्ध कितने हैं सो आगे के सूत्र में कहते हैं।

चतुरुत्तर षड शत नव सहस्र श्रेणि वद्धानि ॥४॥

रत्नप्रभा के १३ पटलों में ४४२० श्रेणि वद्ध हैं। वंशा में २६८४, मेघा में १४७६, और अंजना के सात पटलों में ७०० श्रेणि वद्ध हैं। अरिष्टा के पांच पटलों में २६०, मघवा के तीन पटलों में ६०, और महातमा के एक पटल में ४ श्रेणि वद्ध हैं।

इनके नाम पूर्वादि दिशाओं में काल, महाकाल, रौरव, श्रम, महारौरव, आदि हैं। यह सभी मिलकर ९६०४ श्रेणि वद्ध होते हैं। इन श्रेणिवद्धों के बीच में प्रकीर्णक विल कितने हैं, सो आगे के सूत्र द्वारा कहते हैं।

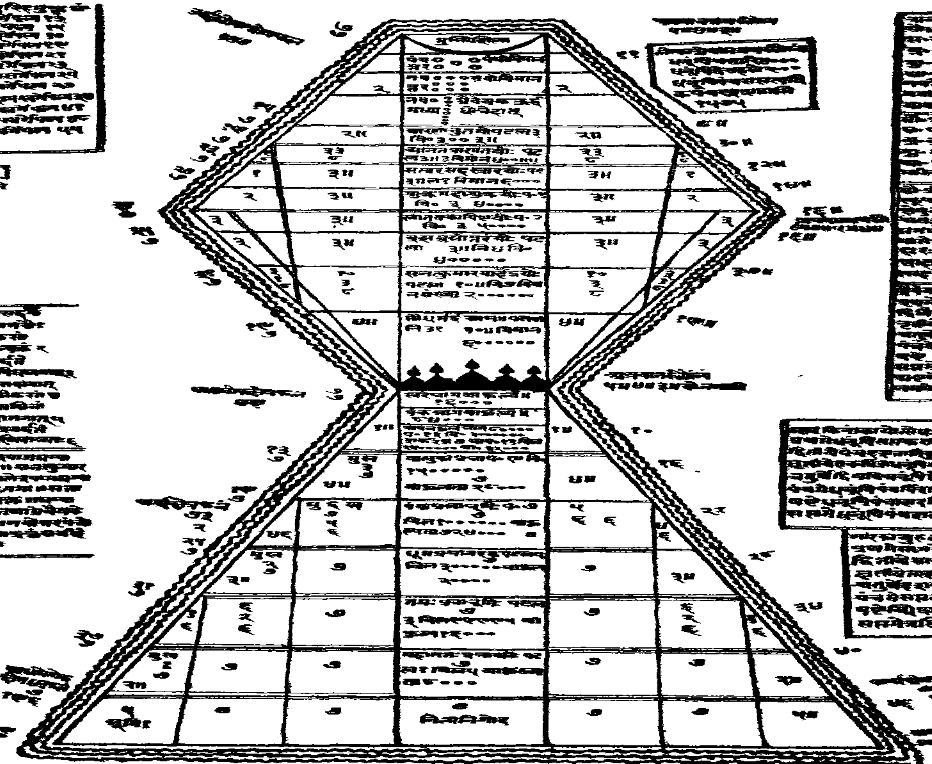
त्र्यशीतिलक्षनवतिसहस्रत्रिशतत्र्यूनपंचाशत्प्रकीर्णकाः ॥५॥

१ घर्मा में २९९५५६२ प्रकीर्णक हैं।
२ वंशा में २४९७३०५ प्रकीर्णक हैं।
३ मेघा में १४९८५१५ प्रकीर्णक हैं।
४ अंजना में ९९९२९३ प्रकीर्णक हैं।
५ अरिष्टा में २९९७३५ प्रकीर्णक हैं।
६ मघवी में ९९९३२ प्रकीर्णक हैं।
७ माघवी में केवल प्रकीर्णक होते हैं।

इनके सम्पूर्ण प्रकीर्णक मिलकर ८३९०३४७ होते हैं। इनके अन्दर विल की संख्या बताने को सूत्र कहते हैं।

चतुरशीतिलक्षविलानि ॥६॥

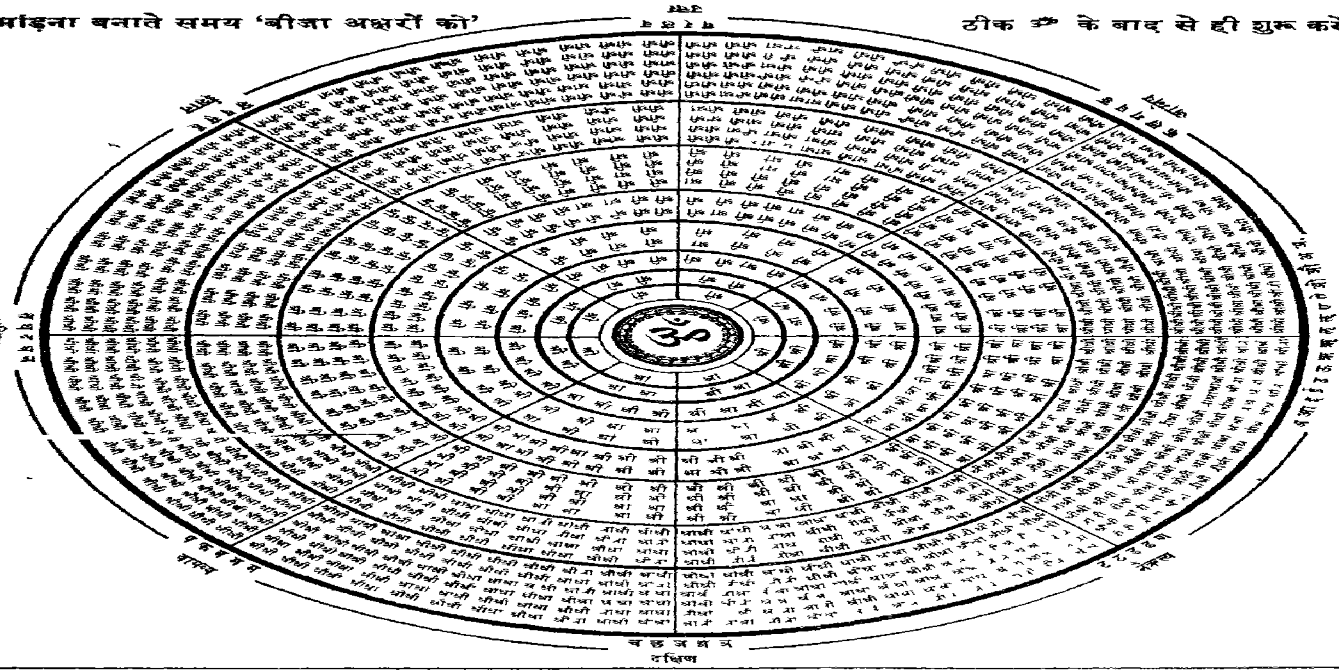
अर्थ १—घर्मा में ३० लाख विल हैं।
२ वंशा में २५ लाख विल हैं।
३ मेघा में १५ लाख विल हैं।
४ अंजना में १० लाख विल हैं।



सिद्धशिला
नित्यनिगोद

श्री सिद्धचक्र विधान का मांडला

मांडना बनाते समय 'बीजा अक्षरों को' ठीक ॐ के बाद से ही शुरू करें।



५ अरिष्टा में ३ लाख बिल हैं।

६ मघवी में ५ कम १ लाख विल हैं।

७ माघवी में केवल ५ विल हैं।

यह सब मिलकर चौरासी लाख (८४०००००) विल होते हैं।

श्लोक कानड़ी भाषा में—

मूवत्तिपत्तैव, तावगर्पादिनैदुपत्तुमूरयदूनं ।
भाविर्पाडवुलक्ष गळे, पेळ्वुदुबळिकमयवुनरक विलंगळ् ।।

अर्थात् उपर्युक्त सभी विल (८४०००००) होते हैं।

इन्द्रक संख्यात योजन विस्तार वाले और श्रेणीवद्ध असंख्यात योजन विस्तार वाले होते हैं। प्रकीर्णकों में कोई संख्यात योजन, और कोई असंख्यात योजन वाले विल होते हैं। अब चार प्रकार के दुख के सम्बन्ध में सूत्र कहते हैं।

चतुर्विधदुःखमिति ।।७।।

सहज, शारीरिक, मानसिक, आगन्तुक यह चार प्रकार के दुख होते हैं।

शारीराज्वरकुष्टाद्या क्रोधाद्या मानसास्मृताः ।
आगन्तवो भिघातोत्थाः सहजा क्षुत्तृषादयाः ।।

अर्थात् क्षेत्रज, असातोदयज शरीरज, मानसिक, परस्परोदीरित और दनुजों के द्वारा होने वाले अनेक प्रकार के दुखों से रात और दिन यह जीव वहां दुख पाता है।

इस जीव को नरकों में एक क्षण मात्र भी सम्यक्त्व ग्रहणकाल को छोड़कर बाकी समय में सुख लेश मात्र भी नहीं मिलता। अर्थात् सम्यक्त्व बिना इस संसार में सुख नहीं।

तीसरे नरक से आगे असुर कुमार के द्वारा किया हुआ दुख नहीं है। क्योंकि देव लोग आगे नहीं जाते हैं। रत्न प्रभा से धूमप्रभा के तीन भाग तक होने वाले (२२५०००) विलों में से मेरु पर्वत के समान लोहे के गोले को यदि बनाकर डाल दिया जाय तो उसी समय पिघल कर पानी हो जाता है, इतनी गर्मी है।

और वहां से नीचे १७५००० और विल हैं। वे इतने ठंडे होते हैं कि—

अगर ऊपर कहा हुआ मेरु पर्वत के समान पिंड को गला कर पानी

करके उसका डाल दिया जाय तो तुरन्त ही पिंड बन जाता है। ऐसी इस पृथ्वी की महिमा है।

अब उन भूमियों में कौन उत्पन्न होते हैं, सो बताते हैं, ऐसी कुत्सित योनि में जन्म लेने वाले जीव वे होते हैं जोकि भगवान् वीतराग का कहा हुआ जो समीचीन मार्ग जैन धर्म है उसपर श्रद्धान न रखने वाले हों, उसको न मानने वाले तथा उनके अनुयायी से क्लेश परिणामी, मिथ्या वाद करने वाले, मद्य मांस मधु का सेवन करने वाले, अपने कुल देवता की आराधना का बहाना करके पशु बलि देने वाले, पर नारी सेवनेवाले, दुर्ध्यान दुर्लेश्या से मरने वाले, वहां से अपने पाप कर्म के अनुसार मरकर पहिले नरक से सातवें नरक तक जाकर जन्म लेते हैं।

अन्तमुंहूर्त काल में ही षट्पर्याप्ति सहित पूर्णावयव-वाले होकर उत्पन्न होते हैं। उसी समय में उनके सम्पूर्ण शरीर को हजारों बिच्छू एकत्र होकर काटने सरीखी वेदना होती है अथवा उनके शरीर में ऐसी वेदना निरंतर होती रहती है जो यहाँ पर हालाहल विष खाने से भी नहीं होती। नारकी लोग जन्म लेते ही जब अपने विल में से नीचे जमीन पर पड़ते हैं तब ऊपर से वज्र शिला पर पड़ने वाले पक्व कटहल के फल के समान उनके शरीर के टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं। फिर पारे के समान वापिस मिलकर जब वह नारकी खड़ा होता है तथा गुस्से में लाल आंखें करके जब सामने देखता है तो पुराने नारकी को आता हुआ देखकर और भी भयभीत होता है। उसी समय अपने आप को तथा औरों को भी सन्ताप देने वाला विभङ्ग ज्ञान उसे पैदा हो जाता है। उत्पन्न होने वाल पुराने नारकी को देखकर भयभीत होकर अपने को और दूसरे को अत्यंत संताप को उत्पन्न करने वाले विभंग ज्ञान से जानता है:—

जिनधर्मके दयारसाब्धिगे वृथाविद्वेषमंमाळ्पमु ।
निनदुर्भावदिनाव पापदफलं निष्कारण द्वेषवु ॥
विनमं नारककोटियोळपडेवुदु नायिनायिगळोळयोपर्वाळ् ।
मुनिदोर्वरनोर्वरेदिक्कडिखंड माडुतं दण्डिपर् ॥१॥

इर्वारिरिवु सवियेनुतं ।
सविनोळ् पं पळवुतेरव मृगदडगविवावुवु ॥
सविपेळ् नुतवनव ।
ययंगळ् कोय्वु इडुवरवनाननदोळ् ॥१॥
मोरेयळिव मद्यपावन ।
नेरेनेदु मधुवनटिट्टु तलेयोळ् तलियि ॥

प्यरगुलगळ तलेोंबिविलि ।
एरबळ् ततळ् लळिसि कुविवलोहब्रवमं ॥२॥
यलं मिलवो निनगल्लेदे ।
निळ्ळारवो पाण्के बंदळिदं लवा ॥
नलिव् नेरेयेंब् कडुगा ।
वृव लोहपुञ्जिकेयनाग्रहदिनप्पिसुवर् ॥३॥

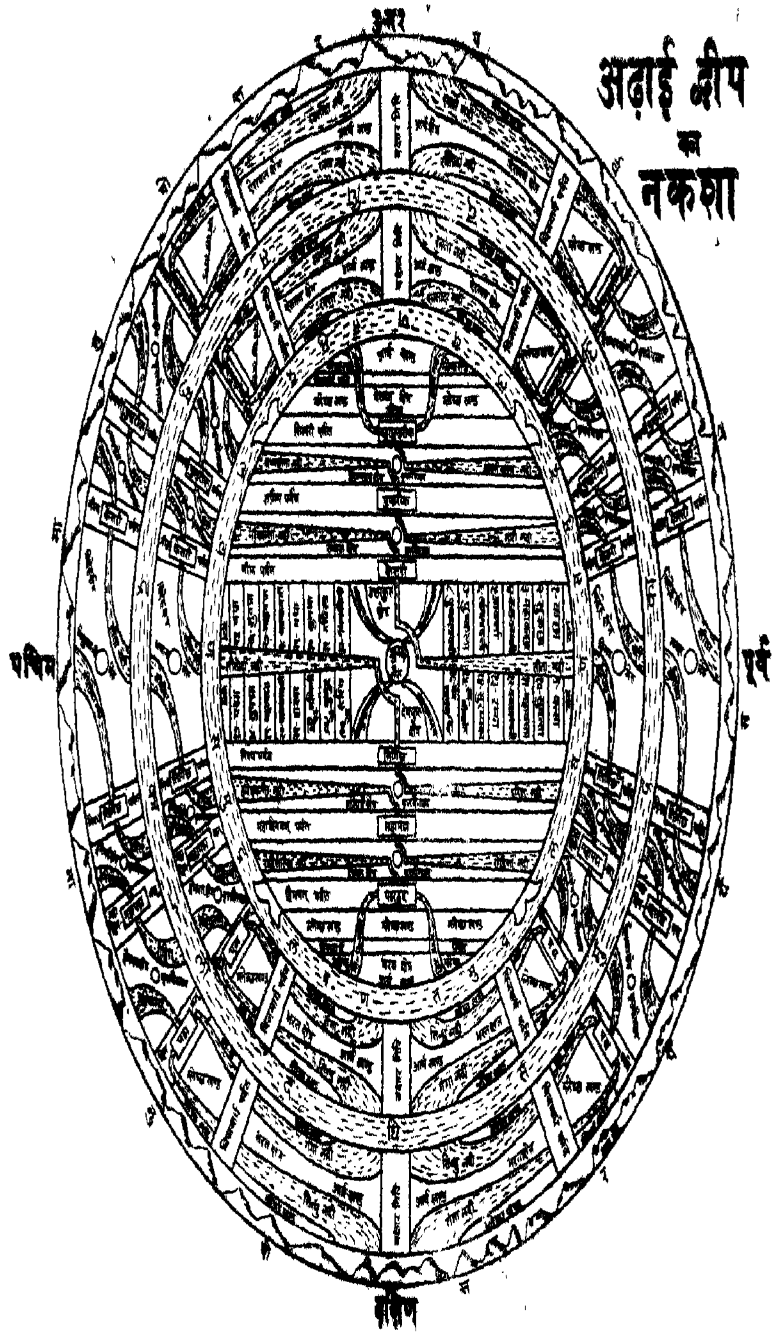
अर्थात्—पुराने नारकी जीव वहाँ उन नये नारकियों को देखकर अत्यन्त कठोर वचन कहते हुये उन नारकी जीवों का घात करा देते हैं। पुनः उस शरीर में जो घाव हो गया उस पर अत्यन्त तीक्ष्ण खारी जल से सींचते हैं।

गद्य का अर्थ—पुनः अग्नि को जैसे घी मिलने से अग्नि बढ़ती जाती है उसी तरह सुर और असुर कुमार उन नारकियों को आपस के पूर्व जन्म के वैर याद दिलवा कर तथा विभंग ज्ञान से उनके पूर्व जन्म में किये हुए दोष की चेष्टा को जानकर अपने दोष आप खुद ही न समझ कर अत्यन्त क्रोधित होकर लड़ते हैं और आपस में अत्यन्त वेदना को प्राप्त होते हुए मूर्छित हो जाते हैं। अब नवीन नारकी क्या करते हैं सो कहते हैं—

तेवि विहंगेण तदो जाणिदपुव्वावरारि संबंधा।
असुहापुहविक्किरिया हणंति हण्णंति वा तेहिं ॥८॥

अर्थ—वे नवीन नारकी भी विभंग अवधि ज्ञान के कारण तहां पर्याप्त पूर्ण भये पीछे जान्या है पिछला वैरीपणा का सम्बन्ध जिनने ऐसे बहुरि अशुभ अपृथक विक्रिया जिनके पाइये ऐसे होते संते अन्य नारकीनि को हने हैं। वा तिना नारकियों करि आप हनिये हैं। ऐसे परस्पर वैर घात प्रवर्ते हैं। वहाँ के नारकियों को ऐसा कुअवधिज्ञान होता है जिसके कारण परस्पर वैर को जानकर विरोध रूप ही प्रवर्ते हैं। बहुरि जो पूर्व भव में कोई उपकार किया हो वे जलती हुई अग्नि की ज्वाला में घी पड़ने पर जैसे वह उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है उसी प्रकार एक दूसरे को देखने से उस नारकी के मन में क्रोध का वेग बढ़ता है। तथा अपने किये हुये दोषों की तरफ न देख कर सिर्फ सामने वाले के दोषों का स्मरण करके उसे चुनौती देते हुए इस प्रकार कहते हैं कि-देखो तुमने गाय के मांस को बहुत अच्छा समझ कर खाया था तथा बकरे के मांस को उससे भी अच्छा समझ कर खाया था अतः अब यह देखो उससे भी बहुत अच्छा मांस है। ऐसा कह कर उसी के हाथ आदि के मांस को काट कर उसके

अढ़ाई द्वीप का नकशा



मुंह में जबरन देता है। इसी प्रकार तुमने जो मद्य पान करके सुख माना था अब यह पीवो, ऐसा कह कर गरम गरम पिघले लोह को उस के मुंह में देता है तथा सिर पर डालता है। किंच दूसरे की स्त्री को खूबसूरत (सुन्दर) समझ कर उसके साथ में बलात्कार किया था, अब यह देखो कैसी सुन्दर है ऐसा कह कर लोहे की जलती पुतली के साथ में उसका आलिङ्गन करवाता है। तब उसका शरीर जलने लगता है और मूर्छा खाकर गिर पड़ता है। फिर क्षण भर में होश में आकर उठ खड़ा होता है और अपने पूर्वोक्त कर्मों के बारे में सोचने लगता है कि मैंने नर जन्म में दूसरे लोगों को कुष्ठादि रोग युक्त देख कर उन से ग्लानि की थी, दूसरों को भय पैदा करने वाला बीभत्स रस का प्रदर्शन किया था, अद्भुत रस का प्रकाशन किया था, शृंगार रस को अपना कर इतर व्यभिचारिणी स्त्रियों के साथ में आलिङ्गन चुम्बनादि कर्म किया था उसी पाप के उदय से मैं यहां आकर पैदा हुआ हूं। ऐसा सोचते हुये सन्तप्त होकर सामने देखता है तो नदी दीख पड़ती है, तो पानी पीने की इच्छा से वहां जाता है और नदी के उस दुर्गन्धमय तथा विषैले पानी को जब पीता है तो एकाएक उस के शरीर में पहले से भी अधिक वेदना होती है, तो उसे शांत करने की भावना को लेकर सामने दीख पड़ने वाले वृक्ष के नीचे जाकर बैठता है।

ननेगळे नडुगु कामिग। ळनेंब मातिल्लि पुसि परस्त्री ॥
ननेय मोनेयंबुमलरळनंबु। मावन दोळवननोयिपुवु दिटं ॥४॥
वोळ गोळगेकळ्वरंपुसि। गेळेयिदोळगे सुळिवु पर वनिता सं ॥
कुल बोळु नेरेद वरघ। मोळगोळ गिरिगु विचित्र रोगच्छलदिं ॥५॥

इस लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि वृक्ष के फूल पत्ते जब कामी लोगों के ऊपर पड़ते हैं तो उन्हें आनन्द प्रतीत होता है किन्तु उस नारकी के शरीर पर जो वृक्ष के फूल पत्ते पड़ते हैं सो सब तलवार का काम करते हैं। उन से उसका शरीर कट जाता है।

ज्वरदाह श्वास कास व्रण पिटिक शिरो रोग सर्वंग शूला।
दिरू जा संदोह जड़ा भरदिं लोलरुतं सुत्तलु बंने यिदं।
बिरयुत्तं नार कर्क ळ्बिरि किनेड़े गळं शस्त्रदिं सोळ्दुंगो।
ळ् गरे युत्तं कूगिडुत्तं
मति ल्के शदिं अर्दु तिप्पर् ॥६॥

अर्थात् इस प्रकार उस नारकी को एक साथ ज्वरकाश श्वास, व्रण, पिटक दाह, शिरो रोग, सर्वाङ्ग ज्वर आदि अनेकानेक रोग बहुत ही सताते

। इतने ही में और नारकी जीव आकर उसे फिर कष्ट देने लगते हैं। तब बुरी तरह से रोने चिल्लाने लगता है इस प्रकार से कर्मज तथा रोगज इन दोनों प्रकार के कष्ट उस नारकी जीव को निरन्तर सताते रहते हैं और उसे घोर संकट-मय जीवन बिताना पड़ता है।

वहां उन नरकों में रीछ, बाघ, सिंह आदि भयङ्कर पशु तथा गीध, काक, चील आदि कष्टदायक पक्षियों आदि के रूप से नारकी जीव खुद ही विक्रिया के द्वारा अपने शरीर को बचा कर एक दूसरे को कष्ट पहुचाते रहते हैं तथा बरछी, भाला, तलवार आदि अशुभ विक्रिया रूप में उन नारकियों का शरीर अपने आप दुख सहन करता रहता है।

नारकी जीव को आयु और ऊंचाई आदि

सीमंतक में जघन्य आयु १०००० वर्ष की है उत्कृष्ट आयु ९०००० वर्ष की होती है। क्रम से बढ़ते-बढ़ते आगे चलकर पहले नरक के अन्त के इन्द्रक में उत्कृष्ट आयु एक सागरोपम की हो जाती है और द्वितीयादि नरकों में ३, ७, १०, १७, २२, ३३ सागरोपम की उत्कृष्टायु होती है। ऊपर की उत्कृष्ट में एक समय अधिक करने से नीचे वाले की जघन्य आयु होती है। शरीर की ऊंचाई सीमांतक में सात हाथ होती है। आगे बढ़ती हुई अपने अपने अन्त के इन्द्रक में पहिले वाले के शरीर की ऊंचाई सात धनुष तीन हाथ छः अंगुल अन्तर से द्विगुण क्रम से होती है। अन्त में ५०० धनुष होती है। कहा भी है--

गाथा--

फणमिस्थे दशनो जेवा जीवासहसाउगजहन्निदरे।
तेन उदि लक्कजेट्ठा असवक पुव्वाए कोइडये ॥३॥
सायरदशउत्तीरिय सग सग चरिमिद्धयम्मि इगतिम्मी।
सत्तदशऊ व हिवाविसत्तेत्ति समा ॥४॥
आसद अंथ विशेषी रूण वाइदम्मि हारिणचयं।
उवरिम जेट्ठा सहयेण हियं हेट्ठिम जहण्णं तु ॥५॥
पढम सत्त तिच्चत्रकं उदयद्दगुयरणि अंगुलसेसे।
दुगुण कमं पढमिंदि रयणतियंजाण हारिणचय ॥६॥

अब आगे नारकी के अवधि क्षेत्र को बताते हैं --

श्लोक कानडी---

क्रोशचतुष्कं मोदलोळ्।
क्रोशार्धं मंवु कुन्दुगुंबळि कल्तल् ॥
क्रोशादि कमप्पिनंसम्,
क्लेशं पेच्चल्गु कुं दु गुम् तद्बोधं ॥२५॥

अवधि ज्ञान का विषयपहिले चार कोस बाद में आधा कोस की कमी होते होते क्रम से एक कोस रह जाता है क्लेश के बढ़ते हुए अवधि का विषय थोड़ा होता जाता है ।

अब लेश्या को कहते हैं—

प्रथम, द्वितीय, तृतीय नरकों में क्रम से कापोत जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट होती है । परन्तु तृतीय चतुर्थ पंचम नरकों में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट होती है । पंचम षष्ठ और सप्तम नरकों में क्रम से कृष्ण लेश्या जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट होती है । इसके सम्बन्ध में कहा भी है—

अमनस रिसि पविहग्गमघनसि हित्तिए मच्छमणवाणं ।

पढमादिसरसप्पति अडवारादो दुदवण्णिवारत्ति ॥७॥

अब आगे नरक में निरन्तर कितनी बार जन्म सकते हैं सो बताते हैं—

प्रथम नरक में आठ बार जन्म लेते हैं । फिर एक एक कम होते हुए महातमप्रभा में दो बार जन्म लेते हैं । पुनः वहाँ जन्म लेकर जीने वाले नारकी नारक गति में तथा देव गति में जन्म नहीं लेते है । कर्म भूमि में गर्भज मनुष्य होकर सैनी पर्याप्त गर्भज, तिर्यंच होकर उत्पन्न होते हैं । महातमप्रभा के जीव को मरण समय सम्यक्त्व नहीं होता, मरण के काल में मिथ्यात्व को प्राप्त होता है उस नरक से आया जीव मनुष्य गति को प्राप्त नहीं होता । तिर्यंच गति में जन्म लेकर कदाचित् सम्यक्त्व प्राप्त हो जाय, परन्तु वह व्रत धारण करने योग्य नहीं होता है । छठे नरक में से आया हुआ जीव अणुव्रत को धारण कर सकता है । परन्तु महाव्रत धारण नहीं कर सकता । पांचवें नरक से आया हुआ जीव महाव्रत धारण कर सकता है परन्तु चरम-शरीरी न होने के कारण मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है । चौथे नरक से आया हुआ जीव चरम-शरीरी हो सकता है परन्तु तीर्थङ्कर पद प्राप्त नहीं कर सकता है । तीन, दो और एक, इन नरकों में से निकल कर तीर्थङ्कर हो सकता है । क्योंकि पूर्व जन्म में मिथ्यात्व दशा में नरकायु का बन्ध करके फिर बाद में सम्यक्त्व को प्राप्त होकर दर्शन-विशुद्धि पूर्वक तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लेने वाला जीव ऐसा हो सकता है । नरक से आये हुए जीव को वासुदेवत्व, प्रतिवासुदेवत्व, बलदेवत्व, सकल चक्रवर्ती इत्यादि पद प्राप्त नहीं होता है । क्योंकि उस पदवी को चारित्र ही मुख्य कारण होने से दुर्धर तपश्चरण के द्वारा वैमानिक देव होकर बाद में यहां आकर उस पद को प्राप्त होते हैं ।

गाथा—

निरयचरो णत्थि हरि बलचक्कितुरियपर दिण्णिसट्ठि ।

तित्थयर मग्गसंजमदेससंजमो णत्थिणियमेण ॥७॥

उस प्रथम पृथ्वी के नीचे एक एक रज्जु प्रमाण लोकाकाश है। वहां भी जहां नारकी नहीं हैं ऐसे स्थान में पंच स्थावर जीव होते हैं।

मोर्वलिधर्मेयखरभा गदोळं तन्नमहिय मध्यभागद पंदा।
वृयदोळं कुमार रेण्वा। त्रिदशरभवनंगळप्पवति विपुलंगळ् ॥

इस प्रकार सात सूत्रों के द्वारा अधोलोक का स्वरूप संक्षेप से कहा गया है।

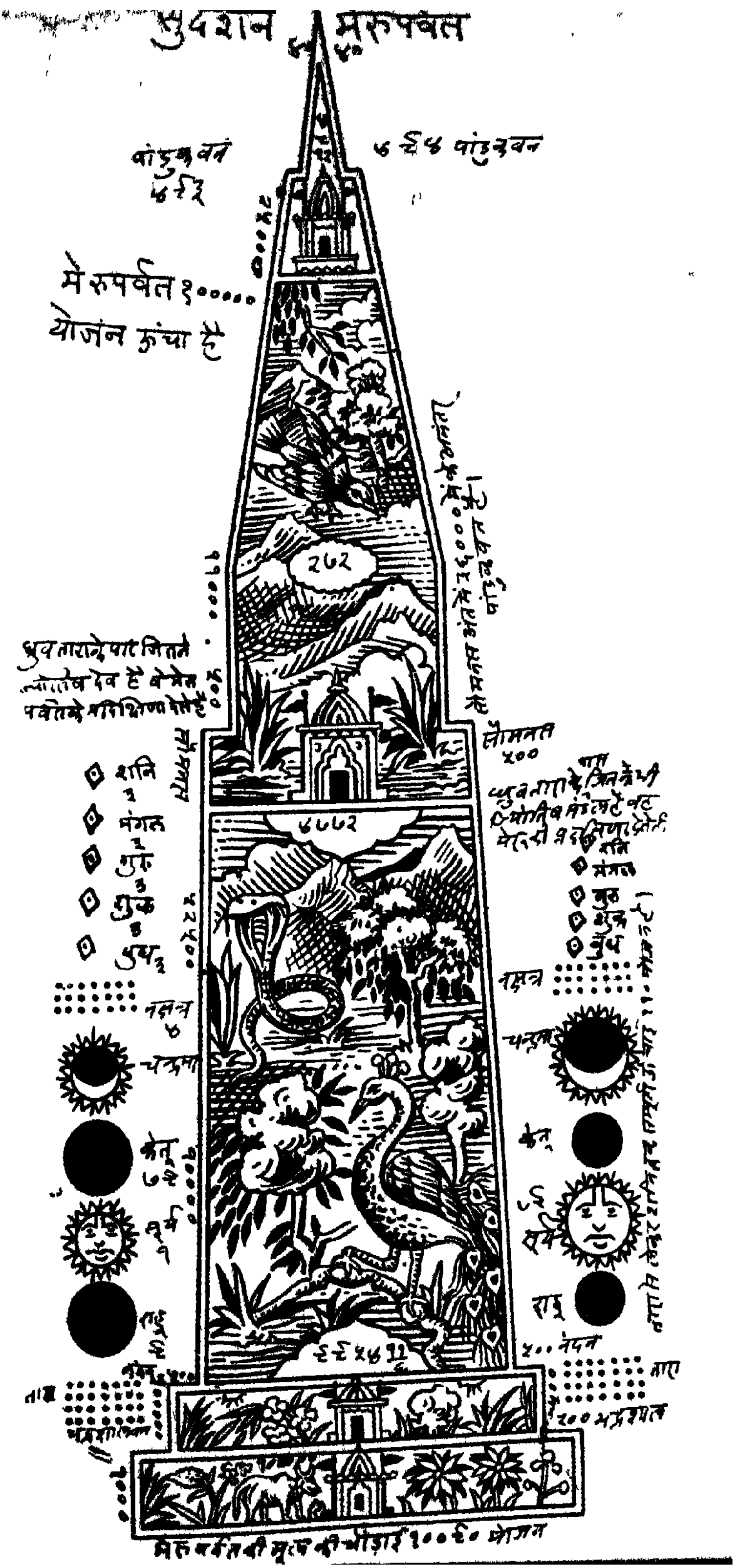
मध्य लोक का स्वरूप

जम्बूद्वीपलवणसमुद्राद्यसंख्यातद्वीपसमुद्राः ॥ १ ॥

अर्थ—मध्य लोक में जम्बू द्वीप तथा लवण समुद्र आदि असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। मध्य लोक का स्वरूप इस प्रकार है—जिस लोक के बीच असंख्यात द्वीप समुद्र व्यंतर देव तथा ज्योतिष्क विमान रहते हैं उस मध्य लोक के बीच नाभि के समान स्थित महामेरु पर्वत को अपने बीच किये हुए एक लक्ष योजन विस्तार वाला जम्बू द्वीप है। उससे दूने विस्तार वाला लवण समुद्र है। तथा लवणोदधि से दूने विस्तार वाला धातकी खंड द्वीप है। और उससे दूने विस्तार वाला कालोदधि समुद्र है। और उससे दुगुना पुष्करवर द्वीप है। इससे आगे कहे जाने वाले समुद्र और द्वीपों के नाम ये हैं—

पुष्कर द्वीप से पुष्कर समुद्र। ४ वारुणी वर द्वीप, ५ क्षीरवर द्वीप, ६ घृतवर द्वीप, ७ क्षौद्रवर द्वीप, ८ नंदीश्वर द्वीप, ९ वरुण वर द्वीप, १० अरुणाभास द्वीप, ११ कुंडलवर द्वीप, १२ शंखवर द्वीप, १३ रुचिकवर द्वीप, १४ भुजंगवर द्वीप, १५ कुशिकवर दीप, १६ क्रौंचवर द्वीप ये १६ द्वीप समुद्र के अंतर भाग में हैं। वहां से आगे असंख्यात द्वीप समुद्र जाने पर क्रम से अंतिम के १६ द्वीप समुद्र के नाम बताते हैं।

(१) मणिच्छिला द्वीप	मणिच्छिला समुद्र
(२) हरिताल द्वीप	हरिताल समुद्र
(३) सिन्धुवर द्वीप	सिन्धुवर समुद्र
(४) श्यामकवर द्वीप	श्यामकवर समुद्र
(५) अंजनवर द्वीप	अंजनवर समुद्र
(६) हिंगुलिकवर द्वीप	हिंगुलिकवर समुद्र
(७) रूप्यवर द्वीप	रूप्यवर समुद्र
(८) सुवर्णवर द्वीप	सुवर्णवर समुद्र


मेरुपर्वत १००००० योजन ऊंचा है
पांडुकवन
शनि
मंगल
गुरु
शुक्र
बुध
नक्षत्र
चन्द्रमा
केतु
सूर्य
राहु
२८२
४८८२

(९) वज्रवर द्वीप	वज्रवर समुद्र
(१०) वैडूर्यवर द्वीप	वैडूर्यवर समुद्र
(११) नागवर द्वीप	नागवर समुद्र
(१२) भूतवर द्वीप	भूतवर समुद्र
(१३) यक्षवर द्वीप	यक्षवर समुद्र
(१४) देववर द्वीप	देववर सुमुद्र
(१५) अहिन्द्रवर द्वीप	अहिन्द्रवर समुद्र
(१६) स्वयंभूरमण द्वीप	स्वयंभूरमण समुद्र

अंत के द्वीप में चार गोपुर सहित आठ योजन ऊंची, १२ योजन विस्तार वाली ४ योजन मुख विस्तार युक्त वज्र वेदिका है। इसी प्रकार प्रत्येक द्वीप समुन्द्र के बीच में एक एक वज्रवेदिका है। ये वेदिका ५०० धनुष ऊंची होती है। दश कोश उन्नत पदन वेदिका है। समस्त द्वीप समुन्द्र कितने होते हैं? इसके समाधान में आचार्य कहते हैं:—

७५ कोड़ाकोड़ी उद्धार पल्योपम का जितने रोम प्रमाण हैं उतने द्वीप समुद्र समझना चाहिये। इस जबूद्वीप से आठवें नंदीश्वर का वलय विस्तार १६३ करोड़ ८४ लाख योजन प्रमाण होता है। उसके चारों ओर दिशा के मध्य प्रदेश में ८४००० चौरासी हजार योजन ऊंचाई और उतनी ही चौड़ाई-संयुक्त चार अंजन पर्वत हैं। उसके चारों ओर चारों दिशाओं में १०,००० योजन समुचतुरस्त्र १००० योजन गहरी जलचर जीवों से रहित जलपूर्ण ४ बावड़ी हैं। लाख योजन लंबे ७०,००० योजन चौड़े संयुक्त अशोक सप्तच्छद, चंपक, आम्रवन, चतुष्टय-विराजित, नंदी, नंदवती, नंदोत्तरी नंदिषेणा नामक चार बावड़ी हैं। ये पूर्व दिशा के अंजन पर्वत की चार दिशाओं की हैं। अरजा, विरजा, अशोक, वीत-शोक, ऐसे चार सरोवर (बावड़ी) दक्षिण अंजन पर्वत की चार दिशा में हैं। विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित ऐसे चार सरोवर (बावड़ी) पश्चिम अंजन पर्वत की दिशा वाले हैं। रम्य रमणीय, सुप्रभा, सर्वतोभद्र ऐसे चार सरोवर उत्तर अंजन की दिशा के हैं।

इन १६ सरों के मध्य प्रदेश में १०,००० योजन ऊंचाई तथा चौड़ाई-संयुक्त दधिमुख पर्वत हैं। उन सरोवरों के वाह्य कोण-द्वय में १००० योजन लंबाई चौड़ाई संयुक्त सुवर्ण वर्ण के ३२ रतिकर पर्वत हैं। इन ५२ पर्वतों के शिखर पर चार प्रकार गोपुर सहित जिन मन्दिर हैं। श्री तालपरिस्कृत सहित ध्वजा मालादि अलंकृत (शोभाय मान) अभिषेक, पूजन, क्रीडन, संगति, नाटक अवलोकनादि मंडप हैं। विकसित कमल कुसुम से शोभायमान दीर्घिका (वापी)

संयुक्त चारों दिशामें चतुर्दश महावीथी [गली] हैं। मानस्तम्भ, नवस्तंभसे अभि- राम से धूपकुंभ, अष्ट मंगलालंकृत प्रांगण हैं। कोटि दिनकर प्रभावीन प्रातिहार्य सहित ५०० धनुष ऊंची जिन प्रतिमा प्रत्येक मन्दिर में एक एक है।

वहाँ सौधर्म इन्द्र प्रमुख सुरासुर समिति [सभा] सहित प्रत्येक वर्ष में ३ बार यात्रा करते हैं। अष्टान्हिक नामक महामह (पुजातिशय) करते हैं। और ७५,००० योजन ऊंचाई १०,२२० योजन भूव्यास तथा ४२४० योजन मुख व्यास वाला सोने के समान कुंडल गिरि पर्वत कुण्डलपुर द्वीप में है। उसकी प्रत्येक दिशा में एक एक जिन मन्दिर है और चार चार अंतर कूट हैं।।

गाथा:—

कुंडलवर पर्वत मदु।
कुंडलसद्वीपदर्धदोळ् वळसिकुं
कुंडलद बोलदरोळ् गुरा।
मंडनन गृहाळि नाल्के नाल्कुं देशेयोळ्॥

चौरासी हजार योजन उत्सेध विस्तार वाले रुचकाद्रि के बाये तट में ३२ कूट तथा अभ्यंतर में चार जिन मन्दिर हैं।

गाथा:—

वर रुचक मंघ गिरियोळ्।
सिरूनं रुचकार्धमल्लि वलयाकृतियिं॥
परिवेष्ठिसिद्दुदरोळ्।
पुरुजिन भवनाळि नाल्के नाल्कुं दिशेयोळ्॥३६॥

तथा इस स्वयंभू रमण द्वीपार्ध को मानुषोत्तर पर्वत के समान स्वयंप्रभाचल घेर रहा है। उस मानुषोत्तर पर्वत से स्वयंप्रभाचल तक सम्पूर्ण द्वीप समुद्र में जघन्य तिर्यंच भोग भूमि रहती है। वहां जलचर प्राणी नहीं हैं। वहाँ थलचर प्राणी मिथुन रूप में उत्पन्न होकर परस्पर विरोध रहित होकर तृण पत्र फलादि का आहार कर सुख से एक पल्योपम काल बिताकर अंत में देवगति में जाते हैं। वहाँ निःशील व्रत होते हुए दानानुमोदन के फल से वहाँ उत्पन्न होते हैं। और स्वयंप्रभ पर्वत से बाहर स्वयंभूरमण समुद्र के अंत तक कर्मभूमि का प्रतीचार होता है। वहाँ वर्षा, हवा, धूप, पसीना आदि सभी होता है। वहाँ तिर्यञ्च योनिज पंचम गुणस्थान वाले होते हैं। अपने अपने परिणाम के समान आयु को बांधकर चारों गति में भ्रमण करते हैं।

पुनः उस लवण वारुणि वर, क्षीर, घृतवर समुद्र का पानी अपने अपने नाम रस के समान स्वाद को प्रगट करता है। कालोदधि, पुष्कर, स्वयंभूर-

मण समुद्र के पानी अरुचिकारक हैं। बाकी असंख्यात समुद्रों का पानी गन्ने के रस के समान है। उन समुद्रों में जलचर प्राणी नहीं रहते हैं। जलचर जीव कहाँ रहते हैं सो बताते हैं:—

लवण समुद्र में, कालोदधि, व अंत के स्वयंभूरमण में में जलचर प्राणी रहते हैं। लवण समुद्र की मछली की लम्बाई ३६ योजनहै अंतके स्वयंभूरमण समुद्र की मछली की लम्बाई १००० योजन प्रमाण है। अपनी अपनी नदी की मछली अपने अपने समुद्र से आधी होती है (उस मछली की लम्बाई समुद्र की मछली से आधी होती है)। आगे एकेन्द्रिय जीव की आयु तथा उत्कृष्ट अवगाहना को बताते हैं।

एकेन्द्रिय जाति में कमल १ कोश से १००० योजन तक के होते हैं।
द्विइन्द्रिय जाति में शंख १२ योजन के होते हैं।
तीन इन्द्रिय जाति में वृश्चिक (बीछू) तीन कोश के होते हैं।
चतुरिंद्रिय जाति में भौंरा ४ योजन का होता है।
पंचेन्द्रिय जाति में मछली का विस्तार १००० योजन, चौड़ाई ५०० योजन होती है। और उत्सेध (ऊंचाई) २५० योजन होती है।

इस प्रकार यह सब इनकी उत्कृष्ट अवगाहना है। जघन्य घनांगुल के असंख्यातवें भाग के बराबर है। ये सभी अंतद्वीपार्ध और अंतिम समुद्र में होते हैं। इनकी आयु इस प्रकार है:—

शुद्ध पथिवी काय की १२००० वर्ष है।
खर पृथिवी काय की २२००० वर्ष है।
अप कायिक की ७००० वर्ष है।
तेज काय की ३ दिन ही आयु होती है।
वात कायकी ३०००० वर्ष आयु होती है।
वनस्पति काय की १०००० वर्ष की होती है।
द्विइन्द्रिय की १२ वर्ष आयु होती है।
तीन इन्द्रिय की ४९ दिन होती है।
चतुरिन्द्रिय की ६ मास आयु होती है।
पंचेन्द्रिय नर तिर्यंच महामत्स्यादि की एक करोड़ पूर्व आयु होती है।
गोह की और गिरगिट सरीसर्प आदि की ९ पूर्व आयु होती है।
पक्षी की ७२००० वर्ष आयु होती है।
सर्प की ४२००० वर्ष की आयु होती हैं। इत्यादि सम्पूर्ण तिर्यंच जीवों

की उत्कृष्ट स्थिति है। जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है। नारकी, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, सम्मूर्छन, नपुंसक होते हैं। गर्भज नर तथा तिर्यंच, नपुंसक, स्त्री, पुरुष वेद वाले होते हैं। भोग भूमि के जीव व देव स्त्री पुरुष वेदी होते हैं।

गाथा—

निरयगिविगला संमुच्छनपंच्चक्खाय होंति संढाहुं।
भोगासुरसत्थूणा तिवेदजा गब्भ नर तिरया ॥८॥

अब मध्य लोक का प्रमाण लिखते हैं।

इस मेरु पर्वत के मूल से लेकर अन्त के समुद्र के अन्त तक जो चौड़ाई है वह सभी तिर्यक्‌लोक कहलाता है।

तत्राद्धं द्वितीयद्वीपसमुद्रौमनुष्यक्षेत्रम् ॥२॥

अर्थ---उस असंख्यात द्वीप समुद्र में पहिले मध्य का १ लाख योजन विस्तार वाला जम्बू द्वीप है। उससे दूना विस्तार वाला लवण समुद्र है। उस से दूना विस्तार वाला धातकी खंड द्वीप है। उससे दूना विस्तार वाला कालोदधि समुद्र है। उसके प्रमाण अष्ट योजन लक्ष प्रमाण वलय विस्तार वाला अर्ध पुष्करवर द्वीप है। इस प्रकार से ४५ ००,००० योजन विस्तार वाला मनुष्य क्षेत्र है। इस प्रकार यह ढाई द्वीप है। यह दो समुद्रों से घिरा हुआ मानुषोत्तर पर्वत तक है। मानुषोत्तर पर्वत १७२१ योजन ऊंचा और १०२२ योजन चौड़ाई मूल की तथा ४२४ योजन ऊपर की चौड़ाई है, ऐसे स्वर्ण वर्ण युक्त उस पर्वत के ऊपर नैऋत्य वायव्य दिशा बिना बाकी ६ दिशा में ३-३ कूट हैं। उनके अभ्यंतर महादिशा के चार कूटों में जिन मंदिर हैं। उस पर्वत तक मनुष्य रहते हैं उसके बाहर जाने की मनुष्य में शक्ति नहीं है।

ऐसा मनुष्य क्षेत्र आर्य, म्लेच्छ, भोग-भूमिज, कुभोग-भूमिज ऐसे चार प्रकार का है। उसमें आर्य खंड में उत्पन्न हुआ मनुष्य आर्य कहलाता है। उनमें पर्याप्तक अपर्याप्तक ऐसे दो भेद हैं। वहां पर्याप्तक की आयु जघन्य से अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट आयु एक करोड़ पूर्व है अपर्याप्त मनुष्य की अन्तर्मुहूर्त आयु होती है। इनमें लब्ध्यपर्याप्तक जीव एक उच्छ्वास काल में १८ बार जन्म और मरण करते हैं। म्लेच्छ की आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट एक करोड़ पूर्व होती है। भोगभूमिवाले की आयु स्थिर भोग भूमि में एक, दो, तीन पल्य की होती है। अस्थिर भोगभूमि वाले की जघन्य आयु समयाधिक एक करोड़ पूर्व

प्रमाण होती है। उत्कृष्ट ३ पल्योपम होती है। कुभोग-भूमि वालों की आयु एक पल्योपम होती है।

पंचदश कर्मभूमयः ॥३॥

स्थित कर्म-भूमि में पांच भरत, पांच ऐरावत हैं। नित्य कर्मभूमि में ५ विदेह हैं। भरत की चौड़ाई जम्बू द्वीप के १६० वां भाग है जोकि ५२६ योजन तथा एक योजन के १६ भाग करने से ६ भाग प्रमाण (५२६$\frac{6}{19}$) होता है। हिमवान पर्वत भरत क्षेत्र से दुगुना है। इसके आगे विदेह तक दुगुना-दुगुना विस्तार होता है। उसके पश्चात् आधा आधा भाग प्रमाण ऐरावत तक होता है। प्रत्येक भरत तथा ऐरावत में म्लेच्छ खंड पांच पांच होते हैं, अतः समस्त पचास म्लेच्छ खंड होते हैं।

विदेह क्षेत्र के प्रत्येक भाग में पांच पांच म्लेच्छ खंड होने से ८०० म्लेच्छ खंड होते हैं। और १६० आर्य खंड होते हैं। इनके सिवाय बाकी सब भोगभूमि होती हैं सो नीचे बताते हैं।

त्रिंशद्भोगभूमयः ॥४॥

दो हजार धनुष प्रमाण शरीर वाले तथा एक पल्योपम आयु वाले पांच हैमवत और पांच हैरण्यवत क्षेत्र जघन्य भोगभूमि है ४००० धनुष उत्सेध (ऊंचाई) वाले दो पल्योपम आयु वाले पांच पांच हरिवर्ष और रम्यक क्षेत्र मध्यम भोगभूमि हैं। ६००० धनुष शरीर वाले, ३ पल्योपम आयु वाले हैं ५ देवकुरु, ५ उत्तर कुरू उत्तम भोगभूमि हैं। ये देवकुरू उत्तरकुरू मिलकर तीस भोग भूमियां हैं।

षण्णवति कुभोगभूमयः ॥५॥

तात्पर्य—लवण समुद्र तथा कालोदधि समुद्र के बाहर के तट के निकट २४-२४ इस तरह कुल ९६ कुभोग भूमियां हैं। वे इस प्रकार हैं :—

> दहगुण पण पण पण पण सट्ठी मुबही।
> महि गम्मस्सय सयपण वण्णं पण्णं पणावीसाविस्तडा कमसो ॥६॥

वज्रवेदिका से पांच सौ योजन दूरी पर १०० योजन विस्तार वाले चार दिशा के द्वीपों में एक टांग वाले, पूंछ वाले, सींग वाले, गूंगे मनुष्य होते

हैं। ५०० योजन दूरी पर ५० योजन विस्तार वाली दिशाओं के बीच में एक गोल आंखवाले, कर्ण आवरण अर्थात् लम्बे कान वाले, शशक कर्ण वाले तथा शष्कुली कर्ण वाले मनुष्य होते हैं।

५५० योजन की दूरी पर ५० योजन विस्तार वाले अन्तर्द्वीपों में सिंह के मुखवाले, अश्वमुख वाले, श्वान मुख वाले, महिष मुख वाले, वराह मुख वाले, व्याघ्र मुख, घूक मुख, पिकमुख वाले मनुष्य होते है तत्पश्चात् ६०० योजन की दूरी पर २५ योजन विस्तार वाले कृषि द्वीपों में मछली मुख वाले, कृष्ण मुख वाले मनुष्य हिमवन्त पर्वत के पूर्व पश्चिम समुद्र में होते है। मेघ मुख समान, गोमुख समान मनुष्य भरत के विजयार्ध पर्वत के पूर्वापर समुद्र में होते हैं। मेघ मुख वाले विद्युण्मुख मनुष्य शिखरी पर्वत के पूर्वा पर समुद्र में होतें हैं। ऐरावत क्षेत्र के विजयार्द्ध पर्वत के पूर्व पश्चिमी समुद्र के द्वीपों में दर्पण मुख और गजमुख वाले मनुष्य होते है इन सबके शरीर की ऊंचाई दो हजार धनुष प्रमाण और एक पल्योपम आयु है।

ये चौवीस कुभोगभूमि कालोदधि के दोनों ओर तथा पुष्कर समुद्र के एक ओर इस तरह तीन जगह में होती है। इनके ९६ पर्वतों के यही नाम है। उसी में रोरुग पर्वत की विशाल गुफा में रहकर नाना प्रकार के रुचिकर पाषाण खंड तथा शर्करा के समान स्वादिष्ट रेत को और केले के पत्ते नारियल नारंगी आदि नाना वृक्षों के पके फलों को खाकर तथा वापीकूप सरोवर, दीर्घिका के क्षीर, घृतइक्षु रस को पीकर जीते रहते है। इनके जीने का समय एक पल्योपम होता है। कुभोगभूमि में उत्पन्न होने के निम्नलिखित कारण हैं। कुपात्र को दान देना, दान देकर रोना, दान देने वाले को देकर उनसे घृणा करना तथा दान जबरदस्ती देना या दूसरे के दबाव से देना, या अनेक प्रकार के आर्तध्यान, रौद्रध्यान से दान देना या अन्याय से द्रव्य उपार्जन कर दान देना, सप्तव्यसन सहित दान देना या किसी प्रेम से दान देना या मंत्र कार्यादिक से दान देना या सूतक पातक आदि के समय दान देना या रज-स्वला से दान दिलाना, भावशुद्धि रहित दान देना आदि या जाति कुलादि के घमंड से दान देना, या जाति संकर आदि दोषों से युक्त होकर दान देना तथा कुत्सित भेष धारी, मायावी जिनलिग धारी, ज्योतिष मंत्र तंत्र वाद, दातृ वाद, कन्या वाद, वैद्य विद्या से जीवन करने वाले, संघ को छोडकर एकाकी रहने वाले को, या दुराचारी को, या कषायोद्रेक से संघ में कलह करने वाले अर्हंतादि भगवान में निर्मल भक्ति न रखने वाले को, मौन को छोड़ भोजन

करने वाले इत्यादि को दान देने से कुभोग भूमियों में उत्पन्न होते हैं। कुभोग भूमि के मनुष्य स्वभाव से मंद कषायी होने से स्त्री पुरुष मिथुन देव गति को जाते हैं। वहां से मिथ्यादृष्टि जीव भवन त्रिक में तथा सम्यग्दृष्टि जीव सौधर्म ईशान में उत्पन्न होते हैं।

सूत्रः——

पंच मन्दारगिरयः ॥६॥

अर्थः—जम्बू द्वीप में १, धातकी खंड द्वीप के पूर्व पश्चिम दिशा मे एक एक, पुष्करार्द्ध द्वीप के पूर्व पश्चिम में एक-एक; इस तरह ५ मेरु पर्वत हैं। असंख्यात द्वीप समुद्र के बीच में जम्बू वृक्ष उपलक्षित जम्बू द्वीप के बीच भाग में, जैसे बीच में कोई स्तंभ हो, इस प्रकार पद्म कर्णिका के समान सुदर्शन मेरु है उसका परिमाण इस प्रकार है।

(कनड़ी पद्य)

नव नबति दशैककम। नवय बंदि मडिसि पंच शतयोजनदिं।
दव निर दोडिसि मूलदो। ळप्रविभागं व्यास माळ्के तद्गिरि वरदा।

सुमेरु पर्वत की ऊंचाई ९९,००० हजार योजन भूतल से है। चित्रा भूमि में १००० योजन है। इस प्रकार कुल एक लाख योजन है। मूल में मेरू पर्वत का बिस्तार १०,००० योजन प्रमाण तथा ऊपर १००० योजन प्रमाण है।

गाथा

मेरू विदेहमज्झे णवणउविदहि क्क योजण सहस्सा।
उदयभूमुहवास उवरूवरिगण चउक्कजुदा ॥१०॥

वह सुमेरु पर्वत सुवर्ण वर्ण है, उसमें जामुन के रंग समान वैडूर्य मणि मय प्रत्येक दिशा में चार चार अकृत्रिम जिन भवन सहित ऊपर ऊपर भद्रशाल नन्दन, सौमनस, तथा पांडुक वन हैं। पाण्डुक वन में ईशान आदि विदिग्विभाग में प्रतिष्ठित चार पांडुक शिलाएं हैं। पूर्वापर दक्षिणोत्तर आयत हैं। उनका आकार आधे चन्द्रमा के समान है। कांचन, रूप्य, तपनीय, तथा रुधिर समान लाल उनकी प्रभा है। पांडुक शिला १०० योजन लम्बी है। ५० योजन चौड़ी तथा ८ योजन ऊंची हैं। उन पांडुक शिलाओं के पूर्व दिशा के अभिमुख तीन पीठिका मय सिंहासन हैं तीर्थंकर का जन्माभिषेक सौधर्म ईशान इन्द्र उन ही सिंहासनों पर करते हैं। भरत, पश्चिम विदेह, ऐरावत, पूर्व विदेह के तीर्थंकरों का अभिषेक उन पर होता है। भगवान के जन्माभिषेक के जल से पवित्र किया हुआ पांडुक, पांडु कम्बल, रक्त कम्बल, अतिरिक्त कम्बलनामक सुन्दर चार शिलाएं हैं। वहां

देव दम्पत्तिकी क्रीडा के स्थान हैं। लोकपाल आभियोग्य देवों द्वारा सेवनीय ऐसा महामेरु पर्वत है। उस मेरु पर्वत के नीचे—

(कनाड़ी श्लोक)

केळ गिर्दु वधोलोकं बळ सिर्दु मध्यलोक विर्दु दुतुदियोळ्।
तोळ ऊर्ध्वं लोक मेने भू। वळय दोळा मध्यगिरिगे गिरिसमनोळवे ॥२७॥

अधोलोक है। उस मेरु पर्वत के मध्य में मध्यलोक है। उस के ऊपर ऊर्ध्व लोक है। सुमेरु पर्वत के भद्रशालादि वन कैसे हैं? सो बतलाते हैं। पर्वत के नीचे २२००० योजन विस्तार वाली भूमि में भद्रशाल वन है। वहां से ५०० योजन ऊपर में ५०० योजन विस्तार वाला दूसरी मेखला में नंदन वन हैं। वहां से ६२५०० योजन ऊपर में ५०० योजन विस्तार से वेष्टित तीसरी मेखला में सौमनस वन है। उससे ३६००० योजन ऊपर में पांडुक वन है। उसकी उपरिम मेखला में ४६४ योजन विस्तार वाली मंदर चूलिका है। मेरु पर्वत से दक्षिण, लवणसमुद्र की वज्र वेदिका से उत्तर में भरत, हैमवत, हरिवर्ष, विदेह, रम्यक हैरण्यवत, ऐरावत ऐसे ७ क्षेत्र हैं। शेष ४ मेरु पर्वत ८४००० योजन ऊंचे हैं। वे क्षुल्लक मेरु के नाम से प्रसिद्ध हैं। पहले कहे हुए भद्रशालादि वन उन पर्वतों पर भी हैं।

सूत्रः—

जम्बूवृक्षाश्च ॥७॥

अर्थ—मेरु पर्वत के समीप उत्तरकुरु के पूर्व में जंबूवृक्ष का स्थान है उसका विस्तार ५०० योजन है। अन्त में ½ (आधा) योजन विस्तार मध्य भाग में आठ योजन बाहुल्य है। उसका आकार गोल है, रंग स्वर्ण मय है। उस के ऊपर १२ योजन चौडा ८ योजन (ऊंचा) जम्बूवृक्ष है। उस स्थान के ऊपर वलयाकार १२ वेदिका हैं। चार गोपुर सहित हैं उसके बाहर के वलय से लेकर प्रथम द्वितीय में कुछ नहीं है। तृतीय वलय के आठ दिशाओं में १०८ प्रातिहार्य जाति के देव वृक्ष हैं। चतुर्थ वलय के पूर्व दिशा में देवी के चार वृक्ष हैं पांचवें में वापी कूप सरोवर इत्यादि से शोभित वन हैं। छठे में कुछ नहीं है। सातवें के चार दिशाओं में अंग-रक्षक के १६००० वृक्ष हैं। अष्टम वलय में ईशान उत्तर वायव्य में सामाजिक ४०० देवों के हैं। नवें वलय के अग्नि कोण में अभ्यन्तर परिषद के ३२००० वृक्ष हैं। दशवें के दक्षिण दिशा में मध्यम परिषद के ४००० वृक्ष हैं। ग्यारहवें के नैऋत्य कोण में बाह्य परिषद के ४२००० वृक्ष हैं। द्वादशवें के पश्चिम दिशा में वाहन देव के ७ वृक्ष हैं। ये सब

मिलकर १,४०,१२० वृक्ष होते हैं। अब आगे कहे जाने वाले पीठ के ऊपर आधे योजन चौड़ाई वाली और सदा काँपने वाली मरकत मणि-मय दो योजन सुरक्षित वज्रमय ८ योजन विस्तार वाली तथा अर्ध योजन चौड़ाई संयुक्त ४ महा शाखा हैं। अनेक रत्नमयी शाखाएं हैं। उसके ऊपर कमल पुष्प है मृदंग आकार के फल पृथिवी को सार भूत बनाने वाले हैं। १० योजन ऊंचाई ६ योजन मध्यम विस्तार वाले ४ योजन अग्र विस्तार संयुक्त उत्तर कुल गिरि के समीप शाखा में १ कोश विस्तृत जिन मंदिर है। बाकी शाखा में लक्ष कुल के आदर अनादर आवास है। इस जंबू वृक्ष के परिवार वृक्ष सभी अर्ध प्रमाण वाले होते हैं।

शाल्मलयोपि ॥८॥

शाल्मलि वृक्ष का रूप्यमय स्थल है इसका विवरण पहिले कहे हुए जंबू वृक्ष के समान है यह सीतोदा के पश्चिम तट के निषध पर्वत के समीप, मंदर के नैऋत्य दिशा के देवकुरू में है। शाल्मली वृक्ष की परिवार संख्या १ लाख ४० हजार ११६ है। मुख्य शाल्मली के दक्षिण शाखा में जिन मन्दिर है। शेष ३ शाखा में वेणु धारियों के आवास स्थान है।

कानड़ी श्लोक

हेमाचल वीशान दो
ळा मंदर गिरिय नैरूतिय विसेयोळ् जं।
बू मही रूहव शालमलि।
भूमि जमु कुरुमही तळंग ळोळेसगु ॥२८॥

चतुस्त्रिंशद्वर्षधर पर्वताः ॥९॥

अर्थ——चौंतीस कुल गिरि हैं।

भरतादि क्षेत्रों का विभाग करने वाले हेम, अर्जुन, तपनीय, वैडूर्य, रजत, हेममय ६ कुलगिरि हैं। मणि विचित्र पार्श्व वाले मूल उपरि में समान विस्तार वाले हैं। सिद्ध आयतन आदि कूटों और किलों से सुशोभित होकर हिमवन्त, महाहिमवन्त, निषध, नील रूक्मि, शिखरी नामवाले वे कुलाचल पर्वत हैं। हिमवान पर्वत की ऊंचाई १०० योजन, गहराई २५ योजन, विस्तार (मोटाई) १०५२१२/१९ योजन है। निषध पर्वत तक विस्तार दुगुना-दुगुना है। निषध के समान नीलाद्रि है उसके आगे उत्सेध (लम्बाई) आदि आधी-आधी है।

गाथा—

हेमज्जुणतवणीयाकमसोवे ळुपयंरजतहेममया।
इगिदुग चउ चउ दुगिथिगि समतु'गाहोन्तिहु कमेण ॥११॥

अर्थात्—इन हिमवत् आदि ६ कुल पर्वतों को ५ गुना करने से ३० संख्या होती है। वे सुवर्ण आदि वर्ण वाले हैं। ४०० योजन ऊंचाई १००० योजन विस्तार वाला है। ४ लाख योजन लम्बा धातकी खंड तथा ८ लाख योजन विस्तार वाला पुष्करार्द्ध है। उसके दक्षिण तथा उत्तर में एक-एक ईष्वाकार पर्वत है। लवण और कालोदधि तक तथा कालोदधि से इस मानुषोत्तर पर्वत तक रहने वाले ये चार इष्वाकार हैं। इनमें ३० कुल गिरि मिलकर कुल ३४ वर्षधर पर्वत होते हैं।

त्रिशत्युत्तरशत सरोवराः ॥१०॥

अर्थ—१३० सरोवर हैं।

पद्म, महापद्म, तिगंछ, केसरी, पुण्डरीक, महा पुण्डरीक नामक ६ सरोवर, हिमवत आदि ६ कुल पर्वतों के उपर क्रमशः हैं। प्रथम सरोवर पद्म की लम्बाई १००० योजन है। विष्कंभ (चौड़ाई) ५०० योजन है। और १० योजन गहरा है। उसमें(कमल)पुष्करका विष्कंभ १योजन है। उसकी कर्णिका १ कोस प्रमाण है, पद्म ह्रद से दुगुना महापद्म और उससे दुगुना तिगंछ ह्रद है केशरी और तिगंछ एक समान हैं और उससे आगे ह्रद क्रमशः आधे-आधे विस्तारवाले हैं। कर्णिका पीले रंग की है। उस कर्णिका में पंच रत्नखचित एक-एक प्रासाद है। उसके समीप में सामानिक, पारिषद्, आत्म रक्षकादि देव परिवार सहित रहते हैं। सौधर्म, ईशान, इन्द्र की आज्ञाकारिणी देवी उन प्रासादों में रहती हैं और जिनमाता के गर्भशोधन क्रिया के समय में वे आती हैं। पल्योपम आयु प्रमाण वाली वे श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी नामक देवियां क्रमशः उन सरोवरों के कमल प्रासादों में रहती हैं। उत्तर कुरु पूर्व भद्रशाल वन में समान नाम वाले सीता नदी के पास १००० योजन लम्बाई वाले ५०० योजन चौड़ाई वाले हैं। नील उत्तरकुरु, चन्द्रिका, ऐरावत, मालवन्त, नामक पांच ह्रद हैं। पश्चिम भद्रशाल वन में समान नाम वाले सीता, सीतोदा, नदी के पास पहले कहे हुये आयाम और विस्तार से युक्त निषध, देवकुरु, सुर, सूरा, सुलसा, विद्युत नामक ५ सरोवर हैं, इसी प्रकार १० सरोवर देवकुरु है। ऐसे २० सरोवर के पद्म प्रासाद के अन्दर नाग कुमारियां और उनके परिवार

रहते हैं। पद्म सरोवर में पहले कहे अनुसार १ लाख ४० हजार १ सौ पन्द्रह परिवार हैं। जम्बू द्वीप में पद्म आदि ६ सरोवर तथा देवकुरु उत्तरकुरु के २० सरोवर यानी सब २६ सरोवर हैं। पद्म (छोटे कमल) धातकी खंड में उनसे दुगुने यानी ५२ और पुष्करार्द्ध में ५२ ऐसे कुल १३० सरोवर हैं।

सूत्र—

सप्ततिर्महानद्यः ॥११॥

अर्थ—७० महानदियां हैं। उनका विवरण बताते हैं......

ऊपर कहे हुये पद्म सरोवर से उत्पन्न होकर गंगा नदी उस पर्वत के कुछ योजन आगे चलकर प्रणाली (मोरी) से बाहर आकर पर्वत के नीचे कुण्ड के मध्य में स्थित देवता कूट में विराजमान जिन बिंब के मस्तक के ऊपर जन्माभिषेक के समान गिरती है। वहाँ से प्रवाह रूप धारा-वाही होकर उस कुंड से बाहर आकर भरत क्षेत्र में बहती हुई महानदी के रूप में आगे जाकर लवण समुद्र में मिल जाती है। इसी प्रकार अन्य नदियां भी बहती हैं।

अब नदियों के नाम बताते हैं .—

गंगा, सिंधु, रोहित, रोहितास्या, हरित, हरिकांता, सीता सीतोदा, नारी नरकांता, सुवर्ण कूला, रूप्यकूला, रक्ता, रक्तोदा ऐसी १४ नदियां हैं। इनको धातकी खंड तथा पुष्करार्द्ध की नदियों की अपेक्षा पांच गुणा करने से ७० महा नदियां होती हैं। भरत में गंगा सिन्धु, ऐरावत में रक्ता रक्तोदा बहती हैं उन प्रत्येक नदी के १४००० परिवार रूप सहायक नदियां हैं। रोहित-रोहितास्या, सुवर्णकूला रूप्यकूला हेमवत तथा हैरण्यवत क्षेत्र में बहती हैं उन प्रत्येक की २८०००-२८००० परिवार नदियाँ हैं। हरित हरिकान्ता नारी नरकान्ता क्रमशः हरि तथा रम्यक क्षेत्र में ५६००० नदी परिवार सहित बहती हैं। देवकुरु-उत्तर कुरु में सीता, सीतोदा नदी ८४०००-८४००० परिवार नदियों के साथ बहती हैं। इस प्रकार ये सभी मिलकर धातकी खंड तथा पुष्करार्द्ध द्वीप में दुगुनी रचना के अनुसार ५ गुणा करने से ८९६०१५० नदिया अढ़ाई द्वीप में हैं।

सूत्र—

विंशतिर्नाभिनगाः ॥१२॥

स्थिर भोग भूमि में यानी जम्बू द्वीपवर्ती जघन्य तथा मध्यम भोगभूमि के क्षेत्रों में १००० योजन विस्तार वाले ४ नाभि गिरि हैं। उनके नाम षड्-जवन्त, विचटवन्त, पद्मवन्त और गन्ध हैं। ये सफेद वर्ण हैं। इन पर्वतों के ऊपर देवेन्द्र के अनुचर स्वामी वारण, पद्म, प्रभास. रहते हैं। इन ४ नाभि पर्वतों को पांच गुणा करने से २० (वृत्त विजार्द्ध) नामी पर्वत होते हैं।

विंशतिर्यमकगिरयः ॥१३॥

अर्थ—बीस यमक पर्वत हैं।

कनाड़ी छन्द

बरनील निषध पार्श्व दो।
ळेरडुं कुलनदि गळिक्केलंगळोळंता- ॥
बेरडेरडी यमक नामक-।
गिरिपति गळ् व्यंतरामरा वासंगळ् ॥

अर्थ—नील, निषध, पर्वत के पार्श्व में दो कुलगिरि हैं। बाकी में वे दो-दो यमक नाम के गिरिपति हैं। वहां व्यंतरामर का वास है।

यमक, मेघ, चित्रा, विचित्रा, ये उन यमक गिरियों के नाम हैं। इनकी लम्बाई, चौड़ाई १००० योजन, मुख का विस्तार ५०० योजन है। उनको पांच गुणा करने से २० यमक गिरि होते हैं।

सहस्रकनकगिरयः ॥१४॥

अर्थ—१००० कनकगिरि हैं।

अब १००० सुवर्ण के पर्वतों (कनकगिरियों) का वर्णन करते हैं।

कनाड़ी छन्द

कुरुभद्रशाल मध्य दो।
ळेरडुं कुलनदि गळंदु ऐदागे सरो ॥
वरमिप्पत्तं देवादा।
सरंगळाकेल बोळसेये कनकाद्रिगळुं ॥

कुल भद्रशाला के दो, कुलनदी पांच-पाँच होकर सरोवर २५-२५ होकर वह कनकाद्रि गिरि होती हैं। उत्तर कुरू में तथा पूर्व भद्रशाल वन में देवकुरू में तथा पश्चिम भद्रशाल वन में ५-५ सरोवर हैं उनके तट पर ५, ५ पर्वत होने से २०० होते हैं। उसको पाँच गुना करने से ५ मेरुओं के १००० सुवर्ण पर्वत होते हैं। उनकी लम्बाई १०० योजन होती है। उनके मुख का विस्तार ५० योजन होता है। उनके शिखर में शुक्ल वर्ण के व्यंतर देव होते हैं।

चत्वारिंशत् दिग्गज पर्वताः ॥१५॥

अर्थ—४० दिग्गज पर्वत हैं।

अब ४० दिग्गज पर्वतों का विवरण बताते हैं।

[कानडी छन्द]

कुरुभद्रशाल मध्य दो ।
ळेरडु ल कुनदि गळिवकलंगळोळ दि ॥
वकरि गिरि यर डेर डप्पबु विस ।
निरतिशय व्यंतरावसितंगळ् ॥

देवकुरु भद्रशाल के मध्य में दो कुलनदी होकर वहीं उस में दिग्गिरि दो दो होते हैं। उसमें निरतिशय व्यंतर असित (काले) रहते हैं। दिग्गज पर्वत की लम्बाई तथा चौड़ाई १०० योजन है। उसके मुख का विस्तार ५० योजन है। जम्बू-द्वीपवर्ती ८ दिग्गज पर्वतों के नाम पद्मोत्तर, नील, स्वस्तिक, अंजन, कुमुद, पलास, अवतंस और रोचन हैं। उनको पांच से गुणा करने से ४० दिग्गज गिरि होते हैं।

शतं वक्षार पर्वताः ॥१६॥

अर्थात्—१०० वक्षार पर्वत हैं। मेरु पर्वत की ईशान दिशा से ५०० योजन दूर विभंग नदी हैं। तप्तजल, मत्तजल, उन्मत्तजल ये तीन नदियां हैं।

क्षारोधि, शिरोधि, स्रोतवाहिनी ये तीन नदियां हैं। गंभीर-मालिनी, फेनमालिनी, ऊर्मि मालिनी इत्यादि १२ नदियां हैं। इनको पांच गुणा करने से ६० विभंग नदियां होती हैं।

१ योजन लम्बा चौड़ा माल्यवन्त तथा महासौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्ध-मादन ये चार गजदन्त पर्वत हैं। मेरु पर्वत के पूर्व भद्रशाल वन की वेदिका से पूर्व सीता नदी के पश्चिम से लेकर चित्रकूट, पद्मकूट, नलिन कूट एक शैल; ये चारों २९२२ योजन विस्तार वाले हैं। देवारण्य से पश्चिम सीता नदी से दक्षिण में चित्रकूट, वैश्रवणकूट, अंजनकूट आत्मांजन कूट ये चार मेरु पर्वत के पश्चिम भद्रशाल से पश्चिम सीतोदा से दक्षिण में षड्जवन्त, विचटवन्त, आशीविष, सुखावह ये चार, भूतारण्यसे पूर्व दिशा में सीता नदी के उत्तर में हैं। चन्द्रमाला, सूर्यमाला नागमाला, देवमाला ये चार वक्षार वाले गजदन्त पर्वत २० हैं। इसको पांच से गुणा करने से १०० वक्षार पर्वत होते हैं।

षष्ठि विभंगानद्यः ॥१७॥

अर्थ—६० विभंग नदी हैं।

६० विभंग नदियों का विवरण बतलाते हैं। पहिले कहे हुये वक्षार पर्वत के समीप रहने वाली १२५ योजन विस्तार वाली गृहवती, द्रववती, पंकवती ये विभंग नदियां हैं। तप्तजल, उन्मत्तजल, मत्तजल ये तीन नदियां हैं। क्षारोधि

शिरोधि, स्रोतवाहिनी, ये तीन नदियाँ है। गंभीर मालिनी, फेन मालिनी, उर्मि मालिनी ऐसी १२ नदियों को ५ से गुणा करने से ६० होती हैं। ये ६० विभंग नदी हैं।

षष्ठ्युत्तरशतं विदेहजनपदाः ॥१८॥

अर्थः—पांच विदेह के १६० देश हैं। उनका वर्णन करते हैं?

कच्छ, सुकच्छ, महाकच्छ, कच्छकावती, आवर्त, लांगलावर्त, पुष्कला, पुष्कलावती, ऐसे आठ देश पूर्व विदेह के सीता नदी के उत्तर के देश हैं।

वत्सा, सुवत्सा, महावत्सा, वत्सकावती, रम्य, रम्यक, रमणीक, मंगलावती—ऐसे ये आठ सीता नदी के दक्षिण के देश हैं।

पद्म, सुपद्म, महापद्म, पद्मकावती, सख्य, नलिन, कुमुद, सरित ये पश्चिम विदेह के सीता नदी के दक्षिण बाजू के देश हैं।

वप्र, सुवप्र, महावप्र, वप्रकावती, गंधि, सुगंधि, गंधिला, गंधमालिनी ये आठ जनपद पश्चिम विदेह के सोता नदो के उत्तर तट के हैं। ये सब २२१२ योजन विस्तृत देश हैं। प्रदक्षिणा के क्रम से महानदी के तटवर्ती हैं। ये देश अति विशाल ग्राम, नगर, खेत, कर्वट, मटम्ब, पत्तन आदि से वेष्टित हैं। अनेक नदी, उद्यान, दिर्घिका सरोवर, (कमल से शोभित) अत्यन्त विनीत जनों से संकीर्ण एक एक खंड होते हैं। उसके मध्य में चालीस कोस लम्बे ३६ कोस चौड़े नगर हैं। अब चक्रवर्ती की राजधानी का नाम कहते हैं।

क्षेमा, क्षेमपुरी, अरिष्टा, अरिष्टपुरी, खलीग, मंजूषा, ओसपुरी, पुण्डरीकिणी, सुषमा, कुण्डल, अपराजित, प्रभंकर, अंक, पद्मावती, शुभारत्न संचय ऐसे पूर्व विदेह सेसंबंधित नगर हैं।

अश्वपुरी, सिंहपुरी, महापुरी, विजयपुरी, अरजा, विरजा, अशोका, विशोका, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजिता, चक्रपुरी, खडगपुरी, अवधपुरी, और अयोध्यापुरी ये १६ नगर अपर विदेह के पद्मावती देश संबंधी है इन ३२ जनपद को ५ मेरु पर्वत सम्बन्ध से पंचगुना करने पर १६० देश और १६० नगर होते हैं।

श्लोक कानड़ी:—

चरमोत्तम देहदु ।
भरतवदिवं विदेह रण्पुदरिंदा ।
वरणिगे विदेह मेंदों
विरे संदी नाम मंतवक् कन्यवं ॥२१॥

बरपेळ् पूवू बिल्लु निडियर् ।
परमस्थिति पूर्व कोटि मनुजरहियोळ् ॥
परसमयविल्ल धर्म-
स्वरदि जिनधर्म मोदे बेळगुतिक्कु ॥३०॥

अर्थः—यहाँ के मनुष्य चरमशरीरी होने से, दुर्धर तपस्या की शक्ति होने से और उस क्षेत्र के मनुष्य हमेशा सम्यग्दृष्टि होने की अपेक्षा विदेही रहते हैं। इसलिए उस क्षेत्र का नाम 'विदेह' सार्थक है ॥२६॥

उनके शरीर की ऊंचाई ५०० धनुष होती है। आयु एक करोड़ पूर्व होती है। उस भूमि में पर-समय की चर्चा क्षण भर भी नहीं होती है। हमेशा धर्म चर्चा के सिवाय अन्य पर आदि की चर्चा नहीं होती है। वहां हमेशा हर समय जैन धर्म की प्रभावना चारों ओर फैली रहती है।

उन अवस्थित कर्म भूमियों में दुषमा सुषमा नाम का एक ही काल एक स्वरूप से प्रवर्त्तता है। और वहाँ चौदह गुणस्थान, दो जीव समास, दस (१०) प्राण, ६ पर्याप्ति, ४ संज्ञा, मनुष्य गति, त्रस कायिक, तेरह योग, तीन वेद, कषाय चार, ज्ञान आठ, सात संयम, चार दर्शन, लेश्या ६, भव्य अभव्य, छः प्रकार के सम्यक्त्व मार्गणा, संज्ञी, आहारक, अनाहारक, १२ उपयोग, सामान्य रूप से विदेह क्षेत्र के मनुष्यों को होते हैं।

अल्लि पसविळविडामर ।
मल्लिवरं मारि पेरवुमाकुलतेगळं ॥
तल्लि पोरगिलेयववनिय -
रल्लि षडंशमने कौडु परि पलिसुवर ॥३१॥

अर्थ—उस क्षेत्रवर्ती मनुष्यों को उपवास आदि करने में कष्ट अनुभव नहीं होता, आकुलता नहीं होती। वहां अन्य कोई झूठे आडंबरादि मायाचार की क्रिया नहीं है। वहाँ हमेशा देव लोकों का आवागमन होता है। वहाँ के मनुष्यों में आकुलता, महामारी या अन्य कोई और रोग नहीं होता। वहाँ अनावृष्टि, अतिवृष्टि नहीं होती। उस क्षेत्र के लोग हमेशा दान, देवपूजा, संयम, गुरुपूजा, तप, स्वाध्याय इन छः क्रियाओं में लीन रहते हैं।

उस क्षेत्र में कुबेर के समान धनवान वैश्य, सरस्वती के समान विद्या में चतुर, कामदेव के समान सुन्दर रूप वाले, देवेन्द्र के समान सर्व सुख भोगने वाले तीर्थंकर की माता के समान शीलवती स्त्रियां, रति, तिलोत्तमा से भी अधिक रूप वाली युवतियां, राजा श्रेयांस के समान दानी, चारुदत्त से बढ़कर त्यागी

सदा होते रहते हैं और चक्रवर्ती, अर्ध चक्रवर्ती, मंडलीक, महामंडलीक, मुकुटबद्ध राजा सदा होते हैं। तीर्थंकर परमदेव, अनगार केवली, श्रुतकेवली, चारण ऋद्धि धारी मुनि, ऋद्धि धारी मुनि, सर्वावधि-सम्पन्न, मनःपर्यय-ज्ञानी, परिहार-विशुद्धि संयमी, आहार ऋद्धि प्राप्त मुनि, अष्टांग निमित्त ज्ञानी, परम भावना निरंजन शुद्धात्म भावना में रत, भेदाभेदरत्नत्रय-प्रिय, भेद-विज्ञानी ऐसे परम योगी निरन्तर विदेह क्षेत्र में होते रहते हैं ? इस प्रकार विदेह में हमेशा समान काल प्रवर्तता है।

सप्तत्यधिकशतविजयार्धपर्वताः ॥१६॥

अर्थ--१७०विजयार्ध पर्वत हैं। वे इस प्रकार हैं— भरत, ऐरावत, विदेह के बीच में पूर्व से पच्छिम तक फैले हुए २५ योजन ऊंचे, मूल, मध्य शिखर भाग में क्रम से ५०-३०-१० योजन विस्तार वाले विजयार्द्ध पर्वत हैं। विजयार्द्ध पर्वतों की तीन मेखला(श्रेणी) हैं उनमें से पहली मेखला(श्रेणी)में विद्याधर रहते हैं। आभियोग्य जाति के तीन प्रकार के देव द्वितीय मेखला में रहते है। शिखर में सिद्धायतनादि कूट होते हैं ? विजयार्द्ध पर्वत के ऊपर से आती हुई दो नदियों के कारण क्षेत्र के छह खंड हो जाते हैं।

वृषभगिरयश्चोति ॥२०॥

अर्थ--विदेह, भरत, ऐरावत के मध्य म्लेच्छ खंडों में १७० वृषभगिरि हैं।

शतयोजनमुन्नतिर्यि।
दतीत चक्रिगळ पेसर्गळि दिडिगिरिवू--॥
जितमार्गिनिद वृषभ।
क्षितिधर मुख्यंगळोंदु गेय्देसेदिक्कु ॥३२॥
कुलगिरि कुलनदि रजता--।
चल वक्षाराद्रि कनकगिरि जम्बूशा-- ॥
ल्मलि विजयविभंग नदि।
कुलमेंदिदे नेंदु मदु पुदु गेळिसिक्कु ॥३३॥

अर्थात्--एक सौ १०० योजन ऊंचे, अतीत काल के चक्रवर्ती के नामों से भरे हुए अत्यन्त उन्नत वृषभगिरि पर्वत पांच दिशाओं में खड़े हैं। कुलगिरि, कुलनदी, रजताचल, वक्षाराद्रि, कनकगिरि, जम्बू शाल्मली, विजेय, विभंग नदी कुल इत्यादि नाम हैं।

पहले कहा हुआ जम्बूद्वीप प्राकारादि से घेरा हुआ वज्रवेदिका व २०००००
योजन विस्तार वाले लवण समुद्र से घेरा हुआ है। समुद्र के बीच में १०००००
योजन लम्बे चौड़े (मूल में) मध्य विस्तार १०००० हजार योजन गहरे और
उसी प्रमाण के मुख विस्तार वाले महा पाताल, चारों दिशाओं में चार हैं।
उससे दश गुणे छोटे पाताल ईशान आदि दिशाओं में १० हजार योजन
विस्तार वाले हैं। समस्त पाताल १०० हैं। उनके नीचे के
तीसरे भाग में केवल वायु भरी हुई है। ऊपर एक भाग जल से ही
भरा हुआ है, बीच के भाग में जल और वायु है। कृष्ण पक्ष में नीचे की
वायु समुद्र के बीच में से उछल कर पहले से जल हानि होती है। शुक्ल पक्ष में
वायु ऊपर से और जोर से चलने से बात वृद्धि होती है। कहा भी है कि:—

हेड्डु वरियतिम्र भागे रिणयदव्वाल ज्लन्तुमज्झम्मि।
जलवां जलवड्ढि किण्हे, सुक्केय पादस्सा ॥१२॥

इस कारण से चन्द्रमा के साथ समुद्र का पानी बढ़ता है और
फिर घटता जाता है, ऐसा कहते हैं अतः शुक्ल पक्ष में समुद्र मे पानी बढ़ता है
और कृष्ण पक्ष में पानी कम होता है।

आगे घातकी खंड और पुष्करार्ध के स्वरूप को कानड़ी छन्दों में
बतलाते हैं।

वक्षार कुलाचल।
शरदंबुज षंड कुंड मेंब नितरवि-॥
स्तार सिमडि गेय्दपुंवु।
सरिसंगुबे ळगं पुष्करार्ध वरेगं ॥३४॥
गिरि मानुषोत्तरं पु–।
ष्करार्ध वोळ् नरगें वज्रवेदिकेयिप्पं–॥
तिरे सुत्तिर्दत्तरोळ्।
वर जिनभवनाळि नाल्के नाल्कुं बेसेयोळ् ॥३५॥
मंदर महियव रोळं जिन–।
मंदिर मेंभत्तु सुव वक्षार बोळं॥
संदिपकार चतुष्कवो–।
ळंचिन कुल अभुकुलाद्रि भुवन रोळं ॥३६॥

सलयुत कल्पतति रुप्य ।
गिरियिवर दोळ मेपुदु शाल्मलियोळं जम्बू- ॥
गिरि रुह पंचक दोळ मु— ।
न्नत गृह मोरोंदमेल्लवं वंदिसुवें ॥३७॥

गाथा:—

लवणहर लोय जिणपुर चत्तारि सयाणि दोविहिणाणु ।
बावण्ण चउ चउ कोड़ि सरकुंडले रुचकें ॥१३॥
मंदर कुलवक्खारिसु मणुसुत्तार रुप्प जंबुसामलिसु ।
सीदिति सन्त्तु तयं चउचउ सत्तरि सय दुपणं ॥१४॥

अर्थ—वक्षार कुलाचल के नदी, सरोवर, तालाबादि विस्तार की अपेक्षा से आधे २ हैं और ये पुष्करार्ध तक समान उत्सेधवाले हैं।

पुष्कर द्वीप के बीच में मानुषोत्तर नामक पर्वत है जो कि वलयाकार होते हुये मनुष्यों के लिए वज्र वेदिका के समान है। उसके चारों ओर दिशाओं में चार जिन मन्दिर हैं।

पांच मेरु सम्बन्धी जिन मन्दिर ८० है। सौ वक्षारों में हैं, कुलाद्रि पर ३० हैं। वक्षार पर्वतों पर १०० हैं। १७० विजयार्द्ध गिरियों में हैं। ये उन्नत जिन मंदिर हैं। उनको मैं नत मस्तक होकर नमस्कार करता हूं।

इस प्रकार बीस सूत्र तक मध्य लोक के स्वरूप का निरूपण किया।

ऊर्ध्व लोक का विवरण।

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥१॥

अर्थः—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिक ये चार प्रकार के देव हैं। पुण्य कर्म के उदय से प्राप्त दिव्य सुखों के वे स्वयमेव अधिकारी हैं।

वनिता बिम्बाधरचुं-।
बनविरसं स्वरूप लावण्य वितो-॥
कनदिव्यकण्दू पुरनि—
स्वन विकि वितनुलसत्कुचस्पर्शनविम ॥३८॥
समसग दिव्य पोष्मुव ।
सुगन्धवि घ्राणविळोळि सविसुव प- ॥

सुमेवेरेति कुडोवेरसुव ।
नेगळ्तेयि मनवनून सुखमन पडेवुव ॥३६॥
बणेबल्लिगे बणेबागळे ।
बणेवन्दव वाहनंगळागे विळासम् ॥
बणेगोळ्ळे सुरपरनोय ।
बंगेयिदं शीघ्रमाग वाहनदेवर् ॥४०॥

अर्थ—स्वर्ग लोक के देव स्वर्गीय देवांगनाओं के बिम्बधर अर्थात् बिम्ब फल की लालिमा के समान रक्त वर्ण अधरों के रस का पान करते हुये, उनके अनुपम सौंदर्य का नेत्रों से निरीक्षण करते हुये, पैरों में पहिनी हुई नूपुर की सुमधुर झंकार कानों से सुनते हुये, सुगन्धित हसन्मुख की सुगंध लेते हुये तथा कुच प्रदेश का स्पर्श करते हुए, इन्द्रिय-जन्य अनुपम सुख का अनुभव करते हुए आनन्द से अपने समय को बिताते हैं ॥३८-३९॥

कल्पवासी देवों की जहाँ आने-जाने की इच्छा होती है वहाँ उनकी आज्ञा से वाहन देवों को हाथी-घोड़ा आदि वाहन बनकर जाना पड़ता है ॥४०॥

अब इनके भेद बतलाने के लिये सूत्र कहते हैं:—

भवनवासिनो दशविधाः ॥२॥

असुर, नाग, सुपर्ण, उदधि, स्तनित, दिक्, अग्नि, वायु, द्वीप और विद्युत कुमार ऐसे दश प्रकार के भवनवासी देव हैं। इन भवनवासियों में से असुर कुमारों के चमर और वैरोचन, नागकुमारों के भूतानन्द और धरणानन्द, सुपर्ण कुमारों के वेणु और वेणुधर, द्वीप कुमारों के पूर्ण और वशिष्ठ, उदधि कुमारों के जल कान्त और जल प्रभ, विद्युत कुमारों के हरिषेण और हरिकान्त, स्तनित कुमारों के घोष और महाघोष, दिक् कुमारों के अमितगति और अमितवाहन, अग्निकुमारों के अग्नि-शिख और अग्निवाहन, वात कुमारों के वैलम्ब और प्रभञ्जन ऐसे बीस इन्द्र प्रतीन्द्र हैं लोकपाल, त्रायस्त्रिंशत् सामानिक, अंगरक्षक, पारिषद्‌त्रय, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विष ऐसे भवनवासी और कल्पवासी देवों के भेद होते हैं। व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में त्रायस्त्रिंशत् और लोकपाल नहीं होते। चमरेन्द्र सौधर्म के साथ, वैरोचन ईशानेन्द्र के साथ, भूतानन्द वेणु के साथ, धरणानन्द वेणुधारी के साथ स्वभाव से ही परस्पर ईर्षा करते हैं।

असुर आदि देवों के चिन्हों को बतलाते है :—

[१] चूडामणि [२] फरिण [३] गरुड़ [४] गज [५] मकर [६] वर्द्धमान [७] वज्र [८] सिंह [६] कलश और [१०] अश्व ऐसे दस चिन्ह क्रमशः असुरादि देवों के होते हैं।

असुरादि के ध्वजा और चैत्यवृक्ष एक ही समान होते हैं सो बतलाते हैं– अश्वत्थ, सप्तच्छद, शाल्मली, जम्बू, हृच्च, कड, छाया, सिरीश, पलाश, राजद्रुम ये तीन कोट, तीन कटनी तथा चार गोपुर और मानस्तम्भ, तोरण आदि से सुशोभित जम्बू वृक्ष के समान होते हैं। प्रत्येक वृक्ष के नीचे पल्यंकासनस्थ ५०० धनुष प्रमाण भगवान की पांच-पांच प्रतिमायें प्रत्येक दिशा में विराजमान हैं जिनकी पूजा नित्य प्रति देव करते है। चमर देवों के चतुस्त्रिंशल्लक्ष ३४००-००० भवन हैं। वैरोचन के ३० लाख, भूतानन्द के ४० लाख, जलप्रभ के ३६ लाख, हरिषेण के ४० लाख, महाघोष के ३६ लाख, अमितगति के ४० लाख, अमितवाहन के ३६ लाख, अग्निशिख के ४० लाख, अग्निवाहन के ३६ लाख, वैलम्भ के ५० लाख तथा प्रभञ्जन के ४३ लाख भवन होते हैं। कुल मिलकर ७ करोड़ ७२ लाख भवन होते हैं। ये सभी भवन रत्नमय हैं। इन भवनों में संख्यात योजन वाले भी हैं और असंख्यात योजन वाले भी हैं। सभी भवनों का आकार चतुरस्र तथा धनुषाकार होता है। उनका विस्तार ३० योजन है। मध्य प्रदेश में १०० योजन ऊंचाई वाले रत्न पर्वतों के ऊपर अत्यन्त रमणीय अकृत्रिम चैत्यालय विराजमान हैं। इस भूमि के नीचे १००० (एक हजार) योजन की दूरी पर व्यन्तर और अल्पर्द्धिक देव तथा दो हजार योजन पर महर्द्धिक देव रहते हैं। इसके अतिरिक्त यदि ४२००० (४२ हजार) योजन पर्यन्त आगे जावें तो उत्तम महर्द्धिक देवों का दर्शन होता है।

भवन वासियों में से असुर देवों के, व्यन्तरों में से राक्षसों के तो पंक भाग में और शेष बचे हुए सभी देवों के खर भाग में भवन होते हैं। इन्द्र तो राजा के समान, प्रतीन्द्र युवराज के समान, दिगिन्द्र तन्त्रपाल के समान, त्रायस्त्रिंश देव पुत्र के समान, सामानिक देव कलत्र के समान, तनुरक्षक देव अंगरक्षक के समान, पारिषद त्रयदेव आभ्यन्तर, मध्यम और बाह्य प्रवेशकों के समान, अनीक देव सेना के समान, प्रकीर्णक देव पुरजन के समान, आभियोग्य देव परिजन के समान और किल्विषक देव गायकों के समान होते हैं। इन्द्र के समान प्रतीन्द्र तथा सोम, यम, वरुण, कुवेर ये पूर्वादि दिशा में रहने वाले लोकपाल देव कहलाते हैं ॥३६॥ त्रायस्त्रिंश देवों की, चमरादिक तीन की, बचे हुए सभी की तथा सामानिकों की संख्या बताई है, सो इस प्रकार हैं:—

सामानिक ५४ हजार, ५६ हजार तथा ५० हजार होते हैं। अंगरक्षकों की २०५६०००, २४००००, २०००००, २००००० संख्या है। आभ्यंतर पारिषदों की संख्या २८०००, २६०००, ६००० और ४०००, मध्यम पारिषदों की ३००००, २८०००, ८०००० है। बाह्य पारिषदों की संख्या ३२०००, ३००००, १०००० और ८०००० है।

सत्तेव य आणीया पत्तेयं सत्त सत्त कक्खजुदा ॥
पढमं ससमाणसमं तद्दुगुणं चरिमकक्खोत्ति ॥१५॥

अर्थ—अनीक (सेना) सात प्रकार की होती हैं और प्रत्येक सेना की सात-सात कक्षा हैं। पहली सेना सामानिक देवों के समान है। आगे-आगे की सेना दुगुनी दुगुनी होती है। असुरेन्द्र के अनीक के महिष, अश्व, गज, रथ, पदाति, गंधर्व और नृत्यानीक भेद होते हैं। शेष इन्द्रके, गरुड, हाथी, मकर, ऊंट, गैंडा, सिंह, पालकी अश्व, ये प्रथम सेना हैं। शेष अनीक (सेना) पहिले कहे हुए के अनुसार होती है। आभियोग्य किल्विषों की यथायोग्य, संख्या होती है असुरत्रय देवों की और शेष देवों की देवियों की संख्या क्रम से ५६०००, ५००००, ४४०००, ३२००० होती हैं। उनकी पट्टराणियां १६०००, १००००, ४०००, २००० होती हैं। शेष देवियां प्रत्येक की ८-८ हजार पृथक् विक्रिया वाली होती हैं।

ये देवियां इन्द्रादि ५ देवों के समान होती हैं। अंग-रक्षकों की देवियां १०० (सौ), सेना देवों की देवियां ५०, चमर के अभ्यन्तर पारिषद देवों की देवियां २५०, मध्यमवालों की २००, बाह्य देवों की १५०, वैरोचन के अभ्यन्तर वालों की ३००, मध्यम वालों की २५०, बाह्य की २०० सौ, नाग कुमार के अभ्यंतर की २०० मध्यम की १६०, बाह्य की १४०, गरुड़ के अभ्यंतर पारिषद देवों की देवियां १६०, मध्यम की १४०, बाह्य परिषद के देवों की देवियां १२० होती हैं। सर्व निकृष्ट देवों के ३२ देवियां होती है। देव अनेक प्रकार की विक्रिया शक्तिवाली देवियों के साथ में अपनी आयु के अवसान तक सुन्दर हर्म्य आदि—प्रदेशों में क्रीडा करते रहते हैं।

अब इन व्यंतर देवों के रहने के महल कैसे होते हैं सो बतलाते हैं—इस चित्रा पृथ्वी के ऊपरले खर भाग में भूत जाति वाले देवों के १४००० भवन हैं। पंक भाग में राक्षस जाति वाले देवों के १६००० भवन हैं। शेष व्यन्तर देवों के रहने के स्थान, चित्रा पृथ्वी के ऊपर एक लाख योजन ऊंचे तिर्यक् लोक में यथायोग्य आवास हैं। ये आवास जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से तीन तरह के होते हैं। इनमें उत्कृष्ट भवन तो बारह हजार योजन

विस्तार वाले तथा तीन सौ योजन उत्सेध वाले हैं। पच्चीस योजन विस्तार वाले तथा तीन कोस की ऊंचाई वाले जघन्य आवास हैं। इसके बीच में और भी अनेक प्रकार की ऊंचाई वाले और विस्तार वाले मध्यम आवास हैं। पुरों में से उत्कृष्ट पुर इकावन लाख योजन विस्तार वाले, जघन्य पुर एक योजन विस्तार वाले हैं। आवासों में उत्कृष्ट आवास बारह हजार दो सौ योजन विस्तार वाले हैं। जघन्य आवास तीन कोस विस्तार वाले हैं।

एक-एक कुल में दो दो इन्द्र होते हैं। एक-एक इन्द्र के दो दो महादेवियां होती हैं और दो हजार बल्लभिकायें होती हैं जो विक्रिया-शक्ति वाली होती हैं। देवियों के साथ में देव लोग-जलक्रीड़ा और सुगन्धित और अच्छे कोमल स्पर्श वाले स्थलों में स्थल क्रीड़ा, चम्पक अशोक सप्तच्छद वनों में होने वाले पुष्पलता मण्डपों में वन क्रीड़ा करते हैं और रजत सुवर्ण, रत्नमय क्रीड़ा-गृहों में अचल क्रीड़ा करते हैं। विचित्र रत्न खचित, षोडश वर्ण निर्मित भवनों की ऊपर की मंजिलों में स्फटिकमय भीतों वाले शयनागारों में पिनी हुई रुई के बने हुये सुकोमल विस्तरों पर सुख क्रीड़ा, विनोद मंदिर में गीत, मैदान में झूला झूलने की क्रीड़ा तथा अश्व, गजादि की क्रीड़ा करते हुए सुख से काल बिताते हैं। सुगन्धित तथा सुस्वादु दिव्य द्रव्यों को अपने हाथो में लेकर अकृत्रिम चैत्यालयों में जाकर जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक अष्टविध पूजा करते हुए अपनी आयु पर्यन्त सुख से काल व्यतीत करते हैं।

वरजिन भवनं भावना-
मरलोक दोळेळु कोटियं मेगेप्प ॥
सोरडेरकुलक्केय-
वकुरुमुर्वादि विनय विनत मस्तक मप्पेम् ॥३६॥

भवनेषु सत्तकोटि बाहत्तरि लक्ख होंति जिन गेहा।
भवनामरिन्द महिरा भवना समेतानि वंदामि ॥ गाथा १६॥
अष्टविधव्यन्तराः ॥३॥

अर्थ—किन्नर १, किंपुरुष २, महोरग ३, गंधर्व ४, यक्ष ५, राक्षस ६, भूत ७ और ८ पिशाच इस प्रकार व्यन्तर ८ प्रकार के होते हैं। इन व्यन्तरों के ८ प्रकार के चैत्यवृक्ष होते हैं जो निम्नांकित हैं:-अशोक, चम्पक, पुन्नाग, तुम्बुक बट, पलास, तुलसी तथा कदम्ब ये ८ चैत्यवृक्ष हैं। इन्हीं वृक्षों से पृथ्वी सारभूत रहती है। यह सब जम्बू वृक्षार्द्ध प्रमाण हैं। इन समस्त वृक्षों के नीचे मूल भाग में पल्यङ्कासनस्थ, प्रातिहार्य-समन्वित तथा चारु तोरणों से सुशोभित चतुर्मुखी

जिन बिम्ब प्रत्येक दिशा में विराजमान हैं। १ किम्पुरुष, २ किन्नर, ३ हृदयंगम, ४ रूपपालि, ५ किन्नर किम्पुरुष, ६ अनिन्दित, ७ मनोरम, ८ किन्नरोत्तर, ९ रतिप्रिय १० ज्येष्ठ ये किन्नरों के १० भेद हैं। १ पुरुष, २ पुरुषोत्तम, ३ सत्पुरुष, ४ महापुरुष, ५ पुरुषप्रभ, ६ अति पुरुष, ७ अमर, ८ मरुदेव, ९ मरुत्प्रभ और १० यशोवन्त ये दस भेद किम्पुरुष देवों के हैं।

महोरग में भुजग, भुजंगशाली, महाकाय, स्कन्धशाली, मनोहरा, अति-काय, अशनिज, महैश्वर्य, गम्भीर और प्रियदर्श ऐसे दस भेद होते हैं।

हाहानाद, हुहु संज्ञक, नारद, तुम्बुरु, वासव, गंधर्व, महास्वर, गीतरति, गीतयश और दैवत ये गंधर्वों के दस भेद होते हैं।

यक्षों में-१ मणिभद्र, २ पूर्णभद्र, ३ शैलभद्र, ४ मनोभद्र, ५ भद्रक, ६ सुभद्र, ७ सर्वभद्र, ८ मानुष, ९ धनपाल, १० सुरूप यक्ष, ११ यक्षोत्तम और १२ मनोहर ऐसे बारह भेद होते हैं।

राक्षसों में-१ भीम, २ महाभीम, ३ विघ्न, ४ विनायक, ५ उदक रक्षक, ६ राक्षस राक्षस और ७ ब्रह्मराक्षस ऐसे सात भेद होते हैं।

भूत जातियों में—१ सुरूप, २ अतिरूप, ३ भूतोत्तम, ४ प्रतिभूत, ५ महाभूत, ६ प्रतिच्छन्न और ७ आकाशभूत ऐसे सात भेद होते हैं।

पिशाचकुल में-१ कूष्माण्ड, २ यक्षेश्वर, ३ राक्षस, ४ संमोहन, ५ तारक ६ अशुचि, ८ महाकाल, ९ शुचि, १० शतालक, ११ देव, १२ महादेव, १३ तूष्णिक और १४ प्रवचन ऐसे चौदह भेद होते हैं।

किन्नर कुलके-किनर और किंपुरुष, किंपुरुष कुल के सत्पुरुष और महा-पुरुष। महोरग के अतिकाय और महाकाय, गन्धर्वों के गीतरति और गीतयश, यक्षों में मणिभद्र और पूर्णभद्र, राक्षसों के भीम और महाभीम, भूत जातीय देवों के स्वरूप और प्रतिरूप, पिशाचों के काल और महाकाल इस प्रकार व्यन्तर देवों में सोलह प्रतीन्द्रों सहित ३२ इन्द्र होते हैं। इन युगलों में से प्रथम-प्रथम इन्द्र दक्षिणेन्द्र और दूसरे-दूसरे उत्तरेन्द्र कहलाते हैं।

इन इन्द्रों की भूमियां:-

अंजनक, वज्रधातुक, सुवर्ण, मणिशिला, वज्र, रजत, हिंगुलिक और हरताल ये आठ भूमियां इन्द्रों की होती हैं। इनके दक्षिण और उत्तर तथा मध्य भाग में पांच २ नगर हैं। ये सब नगर द्वीपरूप हैं। इन्हीं द्वीपों में उपर्युक्त इन्द्रों की वल्लभा देवियों के ८४००० नगर हैं। अवशिष्ट देवों के नगर असंख्यात द्वीप समुद्रों में हैं। चित्रा पृथ्वी के एक हाथ ऊपर नीचउपपाद देव हैं। वहां से १०००० हाथ ऊपर दिग्वासी अन्तर्निवासी और कूष्माण्ड देव रहते हैं, वहां

से १०००० हाथ ऊपर उत्पन्न, अनुत्पन्न, प्रमाणु, गन्धर्व, महागन्धर्व के भुजग, प्रीतिकर और आकाशोपपन्न होते हैं। इनके आवास क्रम से दस दस, बीस, बीस, बीस, बीस, बीस, बीस, बीस तथा २० हजार हाथ ऊपर रहते हैं।

अब उनकी आयु क्रम से बतलाते हैं:—

उनकी आयु क्रम से दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, साठ, सत्तर, अस्सी हजार वर्ष की होती है। उससे आगे पल्य के आठवें भाग, दो पल्य के चतुर्भाग और त्रिपल्य के आधे भाग प्रमाण यथाक्रम आयु होती है।

(कानड़ी छन्द)

त्रिविधं व्यंन्तरनिलयं।
भवनपुरावास भवन भेदविदित्तं ॥
तदनुक्रमदिद सं।
दपु मध्यार्द्ध दिशेगधो भागद कु ॥४०॥

भवनवासियों में असुर कुमार को छोड़कर शेष कुमारों में किन हो के भवन, किसी के भवनपुर, किसी के भवनपुरावास ऐसे तीन प्रकार के निलय होते हैं। व्यन्तरावास असंख्यात हैं उन असंख्यातों में से एक का विवरण लिखते हैं-

मत गुरिएल योजनत्रय।
त्रितहतसंख्यात रूपभाजितलोक ॥
प्रतरप्रमित व्यन्तर-।
ततिय जिनायतन मिन्तसंख्यातंगळ ॥४१॥

तिण्णिसय जोयणाणं कदिहिदपदरस्ससंखभागमिदि।
भम्माणं जिनगेहे गणनातीदे णमंसामी ॥१७॥

पंचविधज्योतिष्का: ॥४॥

अर्थ—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णक और तारक यह ज्योतिषियों के पांच भेद हैं।

जितने चन्द्र हैं, उतने ही सूर्य हैं और एक-एक चन्द्र के प्रति शनैश्चर इत्यादिक ८८ ग्रह तथा कृतिकादि २८ नक्षत्र हैं।

तारकादि विमानों की संख्या ६६९७५०००००००००००००० (छ्यासठ हजार, नौ सौ पचहत्तर कोड़ाकोड़ी) हो जाती है। चित्रा पृथ्वी के ऊपर ७९० योजन ऊपर जाने के बाद प्रकीर्णक तारक विमान हैं। वहां से १० योजन

ऊपर सूर्य विमान है। उसके आगे ८० योजन ऊपर चन्द्र विमान है, तत्पश्चात् ४ योजन आगे नक्षत्र हैं। उससे ४ योजन ऊपर बुध विमान है। वहाँ से क्रमशः ३, ३ योजन ऊपर जाने पर शुक्र, बृहस्पति, मंगल और शनि के विमान हैं। इस तरह ११० योजन मोटाई में एक रज्जू विस्तार में रहने वाले ज्योतिर्विमान लोक के अन्त के घनोदधिवातवलय को स्पर्श करने वाले सभी विमान आधे नीचे गोले के समान हैं। उसके ऊपर ज्योतिषियों का नगर है। उस नगर के बीच में एक २ जिनभवन है। उन विमानों के प्रमाण को बताते हैं— चन्द्र और सूर्य के विमान ६१ योजन के ५६ भाग $\frac{56}{61}$ और योजन के ४८ भाग $\frac{48}{61}$ क्रमशः होता है। शुक्र के विमान का विस्तार एक कोस, बृहस्पति का किंचित् न्यून एक कोस है। अंगारक, (मंगल) बुध और शनि के विमान का प्रमाण आधा कोश है, नक्षत्र का विमान आधा कोस, छोटे ताराओं के विमान कोस का चतुर्थ भाग, उससे बड़े ताराओं का आधा कोस, उससे बड़े विमान कोस का तीसरा भाग और सबसे बड़े ताराओं के विमान एक कोस होते हैं। चन्द्र विमान के नीचे पर्वराहू विमान किंचित् न्यून एक योजन प्रमाण है, वह विमान जब चन्द्र विमान को आच्छादित करे तब छः मास में एक बार पूर्णिमा के अंत में सोम-ग्रहण (चन्द्र ग्रहण) होता है।

इसी रीति से राहु के द्वारा विशेष आच्छादित होने से अथवा नैसर्गिक स्वभाव से प्रति दिन चन्द्र विमान के सोलहवें भाग कृष्णवर्ण होता जाता है।

सूर्य बिम्ब के अधोभाग में रहने वाला अरिष्ट नामक राहु का विमान कुछ कम योजन प्रमाण है। उस विमान द्वारा छः मास में एक बार सूर्य विमान आच्छादित हो तो अमावस्या के अन्त में सूर्यग्रहण होता है। ये सब ज्योतिष विमान जम्बू द्वीप के मेरु पर्वत से ११२१ योजनष तक स्पर्श न करके मेरु की प्रदक्षिणा करके संचार करते रहते हैं। ढाई द्वीप से बाहर रहने वाले विमान जहाँ के तहां रहते हैं, वहीं रहकर प्रकाश करते हैं।

ईवंरमोदलोळ् बळिकी।
रोवंरु पवीवंररालल्लि नाल्व-॥
सीवंकमसलोळ् प-।
शीविंरपुष्करवोळ् बरस शशिसूर्यंर् ॥४२॥

दोद्दोवग्गं बारसचाळत बिहत्तरिन्नु हत्तसंसा।
पुक्खर कमसिवरदो अवलिया सव्व जोइगणा ॥१७॥

इस जम्बू द्वीप से पुष्करार्द्ध द्वीप पर्यन्त पूर्वोक्त चन्द्र-सूर्य प्रभृति ज्योति-विमान अपनी २ राशि का अर्द्ध, द्वीप समुद्र के पथ क्रम में संचार करते रहते हैं।

कहा भी है कि:—

सगसगजोइगणद्धं एक्केभागम्मिदीवुरहियाणं ।
एक्केभागे अद्धं चरन्ति पत्तेक्क मेणेव ॥१८॥

ऐसे विमान पूर्वादिक चारों दिशाओं में स्थित हैं।

करिम्पुंक करी हरिरिषभभटा पुरंग-
माकार वाहनामररेणछा-
सिरनिर्मणिखरकर हिम-।
कररोळमर्द्धाद्धं मक्कुमितरत्रिकदोळ् ॥

सभी नक्षत्रों के उत्तर दिशा में अभिजित्, दक्षिण दिशा में मूल नक्षत्र, ऊर्ध्व, अधो तथा मध्यम भाग में स्वाति, भरणी, कृतिका रहकर संचार करते हैं। जो स्थिर नक्षत्र हैं उनका भी यही क्रम है। और तारकाओं के अन्तर समीप आये हुए तारकाओं के एक कोश का सातवां भाग ($\frac{1}{7}$) दूर रहता है। उसका अन्तर ५५ योजन है। गुप्त हुए तारकाओं का अन्तर १००० योजन है। मनुष्य क्षेत्र से बाहर रहने वाले चन्द्रादित्य वलय क्रम से किरण देते रहते हैं। वह इस प्रकार है:—मानुषोत्तर पर्वत से प्रारम्भ होकर द्वीप समुद्र वेदिका के मूल से पचास पचास हजार योजन दूर पर वलय हैं। उसके आगे एक एक लाख योजन दूर पर वलय है।

मणुसुत्तर सेणादोवेदियमूलादविवउवहीणं ।
पण्णास सयस्साहियलक्खे लक्खेतदों वलमं ॥

एक-एक वलय में रहने वाले सूर्य और चन्द्र की संख्या कहते हैं:—

पुष्कर द्वीपार्द्ध के प्रथम वलय में १४४ चन्द्र और इतने ही सूर्य हैं। इसके बाहर के वलय में चार चार सूर्य चन्द्र की वृद्धि होती है। तदनन्तर के द्वीप समुद्रों के आदि में पहले द्वीप समुद्र के आदि से दुगुनी संख्या में सूर्य होते हैं। और इसी क्रम से संख्यात, असंख्यात वलय में सूर्य का अन्तर है। अब आगे चन्द्र का अन्तर निर्दिष्ट करते हैं :—

परिधिगळि परिधिगे सं।
तरबिन्दुगळिविभागिसलु तंम तंमं ॥

तरवक्कु पुष्करार्द्धदोळ् ।
बुरुह प्रियरिर्पंदभिजेयोळ् हरिणांकर् ॥४३॥

मनुष्य क्षेत्र के अन्दर रहने वाले सूर्यों का अन्तर लवण समुद्र से लेकर पुष्करार्द्ध द्वीप पर्यन्त अपने अपने क्षेत्र में एक दिशा के सूर्य बिम्ब क्षेत्र को अपने अपने विष्कम्भ से निकालकर शेष बचे हुए अंक से उन्हीं बिम्बों में भाग देने से अन्तर आ जाता है। उस अन्तर का अर्द्ध प्रमाण छोटी वीथी का अन्तर आता है और पुष्करार्द्ध पर्यन्त दो दो चन्द्रादित्यों के लिए एक गमन क्षेत्र रहता है। उसका प्रमाण ५१० योजन सूर्य बिम्बादि से है। जम्बू द्वीपस्थ सूर्य चन्द्र जम्बू द्वीप में १८० योजन संचार करते हैं। बचे हुए योजन लवण समुद्र में संचार करते हैं और बाहरी सूर्य चन्द्र अपने अपने क्षेत्र में गमन करते हैं।

प्रतिदिवसमोन्दे वीथियो-।
ळ् तोळल्वरिन्नेन्दु गळ्तमावरिसिरे तुरेम् ॥
भत्तनाल्कक्कु तारा-।
पतियोळ् पदिनैदुवीथि जिनपतिमतदिं ॥४४॥

अपनी अपनी वीथी का विस्तार पिंड के चार (गमन) क्षेत्र से यदि निकाल दिया जाय तो रूपोन पद भक्षित अपने अपने वीथी के विस्तार (चौड़ाई) पिण्ड को चार क्षेत्र में घटा कर उसमें से एक और घटा देने पर वीथी का अन्तर प्राप्त हो जाता है। उस अन्तर में अपने अपने बिम्ब को मिला देने से दिन की गति निकल आती है।

बिम्बाधिकयोजन युग, मम्बुजमित्रंगे दिवसगति विशोना-।
त्तुं बेरसिद मुवतेंदुं, बिम्ब मुमिन्दुंगी मंदविवेयलंघनेगळ् ।४५।

सबसे आखीर वाली भीतर की वीथी का अन्तर रखकर मेरु पर्वत के सूर्य का अन्तर उसमें मिलाकर उसी में दिवस गति मिला देने से वीथी का अन्तर निकल आता है। इस प्रकार सर्वाभ्यन्तर वीथी के प्रमाण को समझकर उसके साथ दिवस गति की परिधि के प्रमाण को गुणा करके उपर्युक्त अन्तर में मिलाते जावें तो वीथी की परिधि का परिमाण निकल आता है। यह सब सूर्य का वर्णन हुआ इसी प्रकार चन्द्रमा का भी वर्णन समझ लेना चाहिए। चन्द्र और सूर्य बाहर निकलते हुए अर्थात् बाह्य मार्ग की ओर आते समय शीघ्र गति वाले और अत्यन्त मार्ग की ओर प्रवेश करते हुए मन्द गति से संयुक्त होते हैं इसीलिए वे समान काल में ही असमान परिधियों का अमण

करते हैं। चन्द्र और सूर्य को छोड़कर बाकी के ग्रह नक्षत्र और तारा ये सब अपनी अपनी वीथियों में भ्रमण करते रहते हैं।

सूर्य के द्वारा रात और दिन का विभाग होता है। उनका प्रमाण कर्क राशि से श्रावण मास के सर्वाभ्यन्तर वीथी में सूर्य रहने का दिन अठारह मुहूर्त और रात्रि बारह मुहूर्त की होती। इसके बाद प्रतिदिन मुहूर्त का इकसठ भाग में से दो भाग प्रमाण रात्रि बढ़ती जाती है, इसी तरह माघ मास में मकर राशि के समय- बाह्य वीथी में सूर्य रहता तब दिन बारह मुहूर्त का और रात्रि अठारह मुहूर्त की हो जाती है। इसके बाद उपर्युक्त क्रम से रात्रि के समान दिन बढ़ता चला जाता।

मेरु पर्वतके आभ्यन्तर मध्यम बाह्य वीथीका प्रमाण ३१६ है। अभ्यन्तर परिधि का प्रमाण ३१५०८६ तथा मध्यम परिधि ३१६६०२ है और बाह्य परिधि ३१८३१४ जलस्पृष्ट भाग परिधि ५२७०४६ है उस परिधि में निश्चित सूर्य चन्द्रमा को समान रूप से भाग देकर जो लब्ध आवे वह उष्णता और अन्धकार का प्रमाण होता है ऐसी परिधिके क्षेत्र का प्रमाण जान कर गणित के द्वारा निकाल लेना चाहिये।

अब आगे नक्षत्रों के क्षेत्र-प्रमाण को बतलाते है सो इस प्रकार है।

मेरुपर्वत के मूल भाग से लेकर मानुषोत्तर पर्वत तक घेरे हुए आकाशको १०९८०० का भाग देकर मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणाके रूप से घेरे हुए अभिजितादि ५६ नक्षत्रोंके गगनखण्ड ३६० होते है। शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, श्लेषा और ज्येष्ठा इन जघन्य छः नक्षत्रों का प्रत्येक के १००५ गगन खण्ड होते हैं। अश्विनी, कृतिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पुनर्वसु, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढ़, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वाभाद्रपद, रेवती इन १५ मध्यम नक्षत्रों के गगन खण्ड २०१० होते हैं। रोहिणी, विशाखा, पुनर्वसु, उत्तरा फाल्गुनी, उत्तरा भाद्र पद, उत्तराषाढ़ इन छः उत्कृष्ट नक्षत्रों के प्रत्येक के ३०१५ गगन खण्ड होते हैं। इन सभी नक्षत्रों के गगन खण्डों को मिलाने से १०९८०० आकाश खण्ड हो जाते हैं। इन सब गगन खण्डों को अपनी मुहूर्त गति के अनुसार गगन खण्डों का भाग देने से परिधि के योग्य मुहूर्त निकल आता है। वह कैसे? सो बतलाते हैं—चन्द्रमा एक मुहूर्त में १७६८ गगन खण्डों में भ्रमण करता है। सूर्य १८३० गगन खण्ड पार करता है। नक्षत्र १८३५ गगन खण्डों को प्राप्त करता है। प्रत्येक नक्षत्र चन्द्रमा के साथ में एक मुहूर्त में ६७ गगन खण्ड पार करता है। सूर्य उसी को ५ मुहूर्त में पूरा करता है। राहु द्वादश भाग अधिक पाँच भागों में पूरा कर देता है। ऐसे पूर्ण करने वाले आकाश के भागों में अभिजितादि के

[illegible] भागों से भाग देने पर अभिजितादि नक्षत्रों में रहने वाले सूर्य और चन्द्रमा के मुहूर्त हो जाते हैं। सो इस प्रकार है—चन्द्रमा अभिजित नक्षत्र में रहने के समय में मुहूर्त के ६/६७ अधिक नौ मुहूर्त तथा जघन्य नक्षत्रों में १५ मुहूर्त, मध्यम में तीस मुहूर्त, उत्कृष्ट में ४५ मुहूर्त रहते हैं। सूर्य-अभिजित नक्षत्र में चार दिन छः मुहूर्त, जघन्य नक्षत्र में २१ मुहूर्त अधिक छः दिन, मध्यम नक्षत्र में बारह मुहूर्त अधिक तेरह दिन, उत्कृष्ट नक्षत्र में तीन मुहूर्त से ज्यादा बीस दिन। ऐसे अभिजितादि सब को मिलाकर १८३ दिन होते हैं। ये एक अयन के दिन हुए। अयन दो होते हैं एक दक्षिणायन दूसरा उत्तरायण। ये दोनों अयन मिलकर एक सम्वत्सर होता है, पाँच सम्वत्सरों का एक युग होता है।

श्रावण मास की कृष्णा प्रतिपदा के दिन अभिजित नक्षत्र में चन्द्रमा के होने पर युग का प्रारम्भ होता है और आषाढ़ सुदी पूर्णमासी को युग समाप्त होता है।

अब नक्षत्रों के रहने का स्थान बतलाते हैं—

अभिजित आदि ६ नक्षत्र चन्द्रमा की पहली वीथी में और स्वाति से फाल्गुणी तक चन्द्रमा की दूसरी वीथीमें रहते हैं। मघा और पुनर्वसु तीसरी वीथी में होते हैं। रोहिणी और चित्रा सातवीं वीथी में होते हैं। छठी, आठवीं, दशमी, ग्यारहवीं वीथी में कृतिका है। विशाखा अनुराधा ज्येष्ठा ये १२ वीं १३ वीं १४ वीं वीथी में यथाक्रम से रहते हैं। शेष ८ नक्षत्र चन्द्रमा की १५ वीं वीथी में रहते हैं, इस प्रकार आठ वीथी में नक्षत्र रहते हैं, सात में नहीं।

खरबाणहुताशन चं— ।
द्ररसाग्नि षडब्धि नयननयं पंचमुमं ॥
हरिणांकहिम गुणतिरुतु ।
सुरनिधिजलनिधि पयोधिशिखिहुतवहमं ॥४६॥
शतमुं रुद्रसमन्वित ।
शतमुं युगमुपळमुं चतुर्गुणवसुवुं ॥
वृततति पुरमुं मुनि— ।
हलगति नक्षत्र कृत्तिकाद्यामोदलिक ॥४७॥

खर ६, बाण ५, हुताशन ३, चन्द्र १, रस ६, अग्नि ३, षडब्धि ६, नयन ४, नय २, पंचक ५, हरिणांक १, हिम १, गति ४, ऋतु ६, सुर ३, निधि ९, जल निधि ४, पयोधि ४, शिखिहुत ३, वह्नि ३, शत ५, रुद्र समन्वित

शत १११, शून २, युगल २, चलुगुंण वसु ३२, व्रत ५, पुर ३, मुनि हस्तगत नक्षत्र गरण कृतिका के पहले होते हैं।

इन २८ स्थानों से पंका शकटाकृति, हरिण के शिर, द्वीप, तोरण, छत्र, वल्मीक, गोमूत्र, शर, युग, हस्त, उत्पल, दीप, व्यास पीठ, हार, वीणा, शृङ्ग, वृश्चिक, दुष्कृत, पापी, हरिकुंभ, गजकुम्भ, मुरज, उड़ने वाले पक्षी, शेन, गज-पूर्व गात्र, अपरत्र, द्रोण, अश्व मुख, चुल्लिपाषाण, इत्यादि के समान होते हैं।

ज्योतिष्क देवों की आयु का प्रमाण—

चन्द्रमा की आयु १००००० लाख वर्ष अधिक पल्य है।

सूर्य की १००० हजार वर्ष अधिक पल्य आयु है।

शुक्र की १०० वर्ष अधिक एक पल्य आयु है।

बृहस्पति की १ पल्य आयु है।

बुध अंगारक और शनि की आधा पल्य आयु है।

तारा की उत्कृष्ट आयु पल्यका चौथा भाग है और जघन्य आठवां भाग है।

इस प्रकार ज्योतिषी देवों की आयु का प्रमाण है और देवियों की आयु अपने अपने देवो से आधी आधी होती है।

सबसे कनिष्ठ देवों की ३२ देवियां होती हैं।

पांच प्रकार के ज्योतिषी देवों के विमान गणनातीत (असंख्यात) है।

शत युग षट् पंचाश— ।
त्प्रतरांगुल वर्गगुणितसंख्यात ॥
हृत प्रतरप्रमितंगळू ।
गत रंगळ जिनभवनमिउ मसंख्यातंगळ् ॥

गाथा:—

बेसद वयछप्पण्णं गुणकदिहिदपदरसंखभागमिदे ।
जोइसजिणिंदगेहे गणणातीदे णमंसामि ॥

अब भवनवासी देवों की आयु आदि बतलाते हैं—

परमायुष्यं व्यं -।
तरसुरर्गे पल्योपमं कु-।
मारर्गे दशगुण ।
वरुष सहस्रं जघन्यमितुत्कृष्टं ॥

असुर कुमार का आयु एक सागरोपम, नाग कुमार देवों की तीन पल्यो-

पम, गरुड़ कुमार की अढ़ाई पल्य, द्वीप कुमारों के दो पल्य, शेष कुमारों की डेढ़ पल्योपम आयु होती है।

उत्तरेन्द्र की आयु साधिक सौ पल्य, इन्द्र, प्रतीन्द्र, लोकपाल, त्रायस्त्रिंशत्, सामानिक इन पाँचों की आयु समान होती है। चमर और असुरेन्द्र की देवियों की आयु ढाई पल्योपम, वैरोचन की देवियों की आयु तीन पल्योपम, नागेन्द्र की देवियों की पल्य का आठवां भाग, गरुड की देवियों की तीन करोड़ पूर्व आयु होती है। चमर वैरोचन गरुड़ तथा शेष इन्द्रों के अन्तरंग, मध्य, बाह्य भेद से तीन प्रकार के पारिषद देवों की आयु क्रमशः डेढ़ पल्य, तीन पल्य, पल्य का आठवां भाग, तथा तीन करोड़ पूर्व प्रमित होती है। मध्य वालों की आयु ढाई पल्य, दो पल्य का सोलहवां भाग, तीन करोड़ पूर्व तथा दो करोड़ वर्ष आयु होती है बाहर के देवों की आयु ढाई पल्य, पूर्व करोड़ का ३२ वां भाग तथा एक करोड़ पूर्व प्रमाण है। चमर वैरोचन के नाग, गरुड़, शेष, सेना नायक, आत्म-रक्षक, डेढ़ पल्योपम, कोटि वर्ष तथा लाख वर्ष प्रमाण आयु वाले होते हैं। और उनके सेना नायक देव की आयु आधा पल्य, शताधिक पल्यार्ध, करोड़ वर्ष, लाख वर्ष तथा ५० हजार वर्ष होती है।

ईरैंदुधनुगळकु -।
मार्ग व्यन्तरंगमाज्योतिष्क ॥-
गंरिप्यलुकेळे सेव ।
शरीरोच्छ्र्त्तिपंचवर्गमसुरामररोळ् ॥५०॥

देवों के आहार तथा उच्छ्वास का नियम बतलाते हैं —

मनवोळ् सासिरवर्ष ।
क्कनतिशयासनमनो मेनेनुवस्सुयिव ॥
विनपंचधूनत्रितयक्के ।
सुखमं पोगळ् वेनेनसुरामररा ॥५१॥

अर्थ—चमर और वैरोचन एक हजार वर्ष के बाद एक बार आहार ग्रहण करते हैं और उनके एक श्वासोच्छ्वास लेने में १५ दिन लग जाते हैं। उनके सुखों का वैभव कहाँ तक वर्णन करें?

जलप्रभ अमितगति का आहार क्रम से साढ़े बारह दिन तथा साढ़े सात दिन पर्यन्त होता है। उच्छ्वास काल साढ़े बारह मुहूर्त, और साढ़े सात मुहूर्त होता है। व्यन्तरामर पांच दिन में एक बार मानसिक आहार और पांच मुहूर्त में एक बार श्वासोच्छ्वास लेते हैं।

अब इन भवनवासियों के भवन स्थानों का वर्णन करते हैं:---

भूमि से नीचे एक हजार योजन पर्यन्त व्यन्तर भवन हैं। भवन-वासियों में अल्पर्द्धिकों के भवन दो हजार योजन हैं। महर्द्धिकों के भवन ४२ हजार योजन पर्यन्त हैं। मध्यम महर्द्धिकों के भवन एक लाख योजन तक हैं। इनमें असुरामर का भवन रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग से नीचे रहने वाले पंक भाग में है। शेष बचे हुए नौ कुमारों के भवन खर भाग में हैं। उन भवनों में से कुछ का प्रमाण असंख्यात योजन है और वह सब चतुरस्र हैं। नाना रत्न खचित हैं। तीन योजन बाहुल्य, मध्यगत सौ योजन ऊंचा तथा एक एक कूप से सुशोभित है। गणना करने पर कुंओं की संख्या सात करोड़ बहत्तर लाख होती है। वहां से ३४, ४४, ३८ इन तीन स्थानों में ४० और अन्तिम में पचास लाख भवन होते हैं। उन भवनों के चमर, भूतानन्द आदि दक्षिणेन्द्र अधिपति हैं। और तीस, चालीस तथा चौंतीस इन तीन स्थानों में ३६, अन्तिम में ४६ लाख भवनों के वैराचन, धरणानन्द आदि उत्तरेन्द्र अधिपति हैं।

चोत्तीसच्चउवालं अड़तीसं च सुवितालपंण्लणासं।
चउचउविहेणतारिणय इन्दाणं भवनक्खारिण ॥२१॥

उपर्युक्त प्रत्येक भवनों में एक एक जिन मन्दिर है।

वरजिनभवनंभवना।
मरलोकदोळेळु कोटियुमत्तेप्प ॥
त्तेरडक्कु लक्कोयव।
क्कुरुमुदर्दि विनयविनतमस्तकनप्पें ॥५२॥

पहले कहे गये ज्योतिष्क देव मनुष्य क्षेत्र में सुदर्शन मेरु की प्रदक्षिणा करते हैं। उनके गमन विशेष से दिन, वार, नक्षत्र, योग, करण, मुहूर्त इत्यादि शुभाशुभ सूचक होते हैं। वह कैसे हैं, सो बतलाते हैं:---

रवि, सोम, मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र तथा शनि ये सात वार हैं।

प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, अमावस्या तथा पूर्णिमा ये सोलह तिथियाँ हैं।

यक्ष, वैश्वानर, रक्ष, नद्रित, पन्नग, असुर, सुकुमार, सिता, विश्वमाली, चमर, वैरोचन, महाविद्या, मार, विश्वेश्वर, पिंडासी ऐसे पन्द्रह तिथियों के पंचक कहलाते हैं।

नन्दा, भद्रा, जया रिक्ता, पूर्णा ये प्रतिपदा की आदि से तिथि पंचक हैं।

नन्दा भद्रा जया रिक्ता पूर्णा च तिथयः क्रमात् ।
देवाश्चन्द्रसूरेन्द्रा आकाशो धर्म एव च ।।

कृतिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा, मघा, पूर्वा, उत्तरा, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वा भाद्रपदा, उत्तरा भाद्रपदा, रेवती, अश्विनी और भरिणी ये २८ नक्षत्र हैं ।

शिखी, कमलज, शितकर, रुद्र, अविति, जीभ, उरग, पितृ भग, ऐएम, दिनकर, त्वष्ट, समीर, इन्द्राग्नि, मैत्री, इन्द्र, निःश्रुति, जल, विश्वदेव, अजा, विष्णु, वसु, वरुण, अजपाद, अहिबुंध्म, पूषा, अश्वी और यम ये २८ तारों के अधिपति हैं ।

अब नक्षत्रों के चार चार चरणों को बतलाते हैं:—

अवकहड चक्र का विचार:—

चू चे चो ला	अश्विनी ।	हु रे रो ता	स्वाती ।
लि लू ले लो	भरणी ।	ती तू ते तो	विशाखा ।
आ इ उ ए	कृतिका ।	ना नी नू ने	अनुराधा ।
ओ वा वि वू	रोहिणी ।	नो या यी यु	ज्येष्ठा ।
वे वो का कि	मृगशिरा ।	ये यो भा भी	मूल ।
कू घ ङ छ	आर्द्रा ।	भू धा फ ढा	पूर्वाषाढ़ा ।
के को हा हि	पुनर्वस ।	भे भो जा जि	उत्तराषाढ़ा ।
हू हे हो डा	पुष्य ।	जू जे जो खा	अभिजित् ।
डी डू डे डो	आश्लेषा ।	खि खू खे खो	श्रवण ।
मा मि मु मे	मघा ।	गा गी गू गे	धनिष्ठा ।
मो टा टी टू	पूर्वा फाल्गुनी ।	गो सा सि सु	शततारा ।
टे टो पा पि	उत्तरा फाल्गुनो ।	से सो दा दी	पूर्वाभाद्रपद ।
पू षा णा ठ	हस्त ।	दु थ झ ञ	उत्तराभाद्रपद ।
पे पो रा री	चित्रा ।	दे दो चा ची	रेवती ।

प्रत्येक मनुष्य के नक्षत्र और चरण की पहचान—नामका पहला अक्षर हो अथवा जन्म नाम का पहला अक्षर हो तो उसको पहले अच्छी तरह समझ लेना चाहिए । उसके बाद वह अक्षर ऊपर के अवकहड़ा कोष्ठक में देख-कर उस मनुष्य के नक्षत्र चरण को निश्चय कर लेना चाहिये ।

उदाहरण के लिये:—

महावीर इस नाम का पहला अक्षर 'म' है यह अवकहड़ा चक्र में मघा नक्षत्र के ४ अक्षरों में से पहला अक्षर होने के कारण मघा नक्षत्र का पहला चरण है ऐसा समझना चाहिये। इसी तरह 'म' पहला अक्षर–युक्त मल्लिनाथ मणिभद्र इत्यादि नाम वाले जितने होते हैं वे सभी मघा नक्षत्र के पहले चरण वाले होते हैं।

दूसरा उदाहरण:–महावीर का दूसरा जन्म नाम 'सन्मति' है। 'स' यह अक्षर शततारक के तीसरे चरण का तीसरा अक्षर होता है, इसलिए वह शततारका का तीसरा चरण हुआ।

इसी तरह अन्य नामों के नक्षत्र भी जानने चाहिए।

अवगहड चक्र के ह्रस्व अक्षर तथा दीर्घ अक्षर के विषय में विचार:—

अवगहड की मूल उत्पत्ति में ह्रस्वाक्षर उत्पन्न होने पर भी उच्चारण के समय में [अवगहड में] कुछ दीर्घाक्षर कुछ ह्रस्वाक्षर होते हैं। ये दोनों एक ही होने के कारण प्रसंग के अनुसार ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व समझकर नक्षत्र चरण को बना लेना चाहिए।

उदाहरण:—'इन्दुधर' शब्द का प्रथम अक्षर 'इ' है इ अवगहड चक्र में नहीं है। चक्र में "ई" अक्षर कृतिका के दूसरे चरण का हो गया। 'ईश्वर' का भी यही नक्षत्र होगा। इसी तरह शेष अक्षरों को भी समझ लेना चाहिए।

संयुक्त अक्षर वाले नामों के नक्षत्र का ज्ञान:—अवगहड चक्र में संयुक्त अक्षरों का उल्लेख नहीं है संयुक्त अक्षर वाले शब्द का कौन सा नक्षत्र समझा जावे? इसका खुलासा इस प्रकार है कि:—

किसी मनुष्य का नाम प्रेमचन्द है इसका पहला अक्षर 'प्रे' है यह 'पे' अक्षर में र् कार वर्ण मिलाने से बना है। तो मिले हुए र कार को छोड़कर पहले वर्ण का 'पे' अक्षर चित्रा नक्षत्र में है इस तरह 'प्रेमचन्द' नाम चित्रा नक्षत्र के पहले चरण का हो गया। इस तरह समझकर त्रिलोकनाथ, स्वयंप्रभु इत्यादि नामों के नक्षत्र जान लेना चाहिए। जैसा कि:—

यदि नाम्नि भवेद्वर्णो संयुक्ताक्षरलक्षणः।
ग्राह्यस्तवादिमो वर्णो युक्तत्वं ब्रह्मयामले॥

इसी तरह 'संयोगाक्षरजे नाम्ना ज्ञेयं तत्रादिमक्षरं' इस तरह अन्य मुहूर्त मार्तंड इत्यादि ग्रन्थों में कहा है।

शुभ नक्षत्र परिज्ञान :—

मघामृगशिरोहस्तः स्वातिर्मूलानुराधयोः ।
रेवती रोहिणी चैवमुत्तराणि त्रयाणि च ॥
आवाये च विवाहे च कन्यासम्वरणे तथा ।
वापये सर्ववीजानां गृहं ग्रामं प्रवेशयेत् ॥
पुष्याश्विनी तथा चित्राधनिष्ठा श्रवणं वसु ।
सर्वाणि शुभकार्याणिसिद्ध्यन्तितेषु भेषुच ॥

भावार्थ—मघा मृगशिरा हस्त स्वाती मूल अनुराधा रेवती रोहणी तीनों उत्तरा, इन ग्यारह नक्षत्रों में कन्यादान विवाह वीज वपन इत्यादि कार्य करना चाहिए । । इसी प्रकार ग्राम प्रवेश, गृह प्रवेश इत्यादि कार्य भी कर सकते हैं । इसी प्रकार से पुष्य अश्विनी चित्रा धनिष्ठा श्रवण पुनर्वसु इन नक्षत्रों में भी और सब शुभ कार्य किये जाते हैं किन्तु विवाह नहीं करना चाहिये । इन सत्रह नक्षत्रों को छोड़कर बाकी के नक्षत्र निकृष्ट हैं उनमें शुभ कार्य नहीं करने चाहिए । तथा जिस नक्षत्र पर ग्रहण लगा हो उस नक्षत्र में छः महीने तक विवाह नहीं करना चाहिए । और ग्रहण लगे हुए दिन से पहिले के तथा पीछे के सात सात दिन छोड़कर विवाह करना शुभ होता है ।

शुभ अशुभ योग और त्याज्य घटिका:—

प्रीति १ आयुष्मान् २ सौभाग्य ३ शोभन ४ सुकर्म ५ धृति ६ वृद्धि ७ ध्रुव ८ हर्षण ९ सिद्धि १० वरियान ११ शिव १२ सिद्ध १३ साध्य १४ शुभ १५ शुक्ल ब्रह्म १७ इन्द्र १८ ये अठारह शुभ योग हैं । ये अपने नाम के अनुसार शुभ फल करते हैं । इनमें शुभ कार्य किये जाते हैं । विष्कम्भ १ अति-गण्ड २ शूल ३ व्याघात ४ वज्र ५ व्यतिपात ६ परिघ ७ वैधृति ८ गण्ड ९ ये नौ योग अशुभ है इनमें वैधृति, और व्यतीपात ये दोनों पूर्णरूप से दुर्योग हैं । इसलिए इनमें कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए । शेष सात नक्षत्रों की सदोष घटिकाओं का त्याग करके कार्य करना चाहिए । वे घटिकायें इस प्रकार हैं—विष्कम्भ योग में तीन घटिका शूल में पाँच घटिका, गण्ड और अति गण्ड में छः छः घटिका । व्याघात और वज्र योग में नौ नौ घटिका । परिघ योग में ३० घटिका पूर्ण होने तक छोड़ देना चाहिए ।

अब शुभाशुभ करण को बतलाते हैं।—

बव, बालव, कौलव, तैतिल, गर्ग, वणिज, शकुनि ये सातों शुभकरण हैं इनमें शुभ कार्य हमेशा करना चाहिए। भद्र चतुष्पाद नागवान और किंस्तुघ्न

ये चार करण दुष्ट हैं इनमें कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए।

इनमें भी भद्राकरण महादोष वाला है।

अवकहड़ चक्र की मूल उत्पत्ति

१—अवकहड़

२—म ट प र त

३—न य भ ज ख

४—ग स द च ल

इस तरह ५-५ अक्षरों के चार सूत्र हैं।

१ सूत्र

अ	व	क	ह	ड
इ	वि	कि	हि	डि
उ	वु	कु घ ङ छ	हु	डु
ए	वे	के	हे	डे
ओ	वो	को	हो	डो

२ सूत्र

म	ट	प	र	त
मि	टि	पि	रि	ति
मु	टु	पु ष न श	रु	तु
मे	टे	पे	रे	ते
मो	टो	पो	रो	तो

३ सूत्र

न	य	भ	ज	ख
नि	यि	भि	जि	खि
नु	यु	भु ध फ ढ	जु	खु
ने	ये	भे	जे	खे
नो	यो	भो	जो	खो

४ सूत्र

ग	स	द	च	ल
गि	सि	दि	चि	लि
गु	सु	दु शं झ थ	चु	लु
गे	से	दे	चे	ले
गो	सो	दो	चो	लो

इस प्रकार चार सूत्रों से सम्बन्धित २५-२५ अक्षरों के कोष्ठक बने हैं। जिनके १०० अक्षर होते हैं तथा मध्यम के साथ ३-३ अन्य अक्षर होते हैं। समस्त अक्षर ११२ होते हैं।

इनके पढ़ने का क्रम—

चार चार अक्षरों का एक-एक नक्षत्र बनाते हुए उपर्युक्त ११२ अक्षरों के २८ नक्षत्र हो जाते हैं।

लग्नाधिपति और लग्न प्रमाण घड़ी का कोष्ठक

लग्नाधिपति	कुज	शुक्र	बुध	चन्द्र	रवि	बुध
लग्न	मेष	वृष	मिथुन	कर्क	सिंह	कन्या
प्रमाण घड़ी	४।०	४।३०	५।१५	४।३०	५।३०	५।१५
लग्नाधिपति	शुक्र	कुज	गुरु	शनि	शनि	गुरु
लग्न	तुला	वृश्चिक	धनुष	मकर	कुम्भ	मीन
प्रमाण घड़ी	५।१५	५।३०	५।३०	५।१५	४।३०	४।०

इस कोष्ठक के अनुसार किसी भी नाम का नक्षत्र और चरण को ठीक तरह से जान लेने पर किस नक्षत्र की कौन सी राशि होती है इस विषय को निम्नलिखित श्लोक द्वारा दिखाया जाता है—

अश्विनीभरणीकृतिकाः पादेषु मेषः
कृतिका त्रयपादा रोहिणी मृगशिरार्द्धं वृषभः।
मृगशिरद्विपादा पुनर्वसुत्रिपादेषु मिथुनः
पुनर्वस्वेकपादा पुष्याश्लेषान्तेषु कर्काटकः।
मघा पूर्वोत्तरैकपादेषु सिंहः
उत्तरात्रिपादहस्तचित्रार्द्धेषु कन्या।
चित्रार्द्धस्वातिविशाखात्रिपादेषु तुला
विशाखैकपादानुराधाज्येष्ठान्तवृश्चिकः
मूलपूर्वाषाढ़ोत्तराषाढैकपादेषु धनुः
उत्तराषाढात्रिपादश्रवणधनिष्ठार्द्धेषु मकरः।

धनिष्ठार्द्ध शतभिषा पूर्वाभाद्रपाद त्रिपादेषु कुम्भः
पूर्वाभाद्रपदैकोत्तराभाद्रपदरेवत्यन्तं मीनः ।

अर्थ—इस प्रकार अश्विनी ४ पाद, भरणी ४ पाद, कृतिका एक पाद मिलकर मेष राशि होती है।

कृतिका के शेष ३ पाद, रोहिणी ४ पाद, मृगशिरा के दो पाद मिलकर वृषभ राशि होती है।

मृगशिरा के शेष २ पाद, आर्द्रा के ४ पाद, पुनर्वसु के ३ पाद मिलकर मिथुन राशि होती है।

पुनर्वसु का शेष १ पाद, पुष्य के ४ पाद, आश्लेषा के ४ पाद मिलकर कर्क राशि होती है।

मघा ४ पाद, पूर्वाफाल्गुणी ४ पाद और उत्तरा का १ पाद मिलकर सिंह राशि होती है।

उत्तरा के शेष ३ पाद, हस्त के ४, चित्रा के दो चरण मिलकर कन्या राशि होती है।

चित्रा के २ पाद, स्वाति के ४, विशाखा के ३ पाद मिलकर तुला राशि होती है।

विशाखा का शेष १ पाद, अनुराधा के ४ पाद, ज्येष्ठा के ४ पाद मिलकर वृश्चिक राशि होती है।

मूल के ४ पाद, पूर्वाषाढ़ के ४ पाद, उत्तरा का एक पाद मिलकर धन राशि होती है।

उत्तरा के शेष ३ पाद, श्रवण के ४, धनिष्ठा के २ पाद मिलकर मकर राशि होती है।

धनिष्ठा के शेष २ पाद, शततारा के ४ पाद, पूर्वाभाद्रपद के ३ पाद मिलकर कुम्भ राशि होती है।

पूर्वाभाद्रपद का शेष १ पाद, उत्तराभाद्रपद के ४, रेवती के ४ पाद मिलकर मीन राशि होती है।

आगे संवत्सर का नाम बतलाते हैं—

जैन सिद्धान्त शास्त्र के अनुसार ६० संवत्सरों के नाम–

उत्तम संवत्सर		मध्यम संवत्सर		कनिष्ठ संवत्सर	
१	प्रभव	२१	सर्वजितु	४१	प्लवंग
२	विभव	२२	सर्वधारि	४२	कीलक
३	शुक्ल	२३	विरोधि	४३	सौम्य
४	प्रमोदित	२४	विकृति	४४	साधारण
५	प्रजोत्पत्ति	२५	खर	४५	विरोधिकृतु
६	अंगीरस	२६	नंदन	४६	परिधातु
७	श्री मुख	२७	विजय	४७	प्रमादित
८	भाव	२८	जय	४८	आनन्द
९	युव	२९	मन्मथ	४९	राक्षस
१०	धातु	३०	दुर्मुखि	५०	नल
११	ईश्वर	३१	हेविलंबि	५१	पिंगला
१२	बहुधान्य	३२	विलंवि	५२	काल युक्ति
१३	प्रमाथि	३३	विकारि	५३	सिद्धार्थि
१४	विक्रम	३४	शर्विरि	५४	रौद्रि
१५	विषु (वृष)	३५	प्लव	५५	दुर्मति
१६	चित्र भानु	३६	शुभकृतु	५६	दुंदुभि
१७	सुभानु	३७	शोभनकृतु	५७	रुधिरोद्गारी
१८	तारण	३८	क्रोधि	५८	रक्ताक्षि
१९	पार्थिव	३९	विश्वावसु	५९	क्रोधन
२०	व्यय	४०	पराभव	६०	क्षय

अयनों के नाम–

एक वर्ष में उत्तरायण, दक्षिणायन ऐसे दो अयन होते हैं। स्थूलमान के अनुसार पौष मास से ज्येष्ठ मास तक सूर्य उत्तर की तरफ होने के कारण उत्तरायण कहते हैं। आषाढ मास से मगशिर तक सूर्य दक्षिण की तरफ संचार करने के कारण दक्षिणायन कहते हैं।

६ ऋतु के नाम

चैत्र-वैशाख वसंत ऋतु। आसोज-कार्तिक शरद ऋतु। ज्येष्ठ-आषाढ़ ग्रीष्म ऋतु। मगशिर-पौष हेमन्त ऋतु। श्रावण-भाद्रपद वर्षा ऋतु। माघ-फागुण शिशिर ऋतु।

१२ महीनों के नाम–

१ चैत्र, २ वैशाख, ३ ज्येष्ठ, ४ आषाढ़, ५ श्रावण, ६ भाद्रपद, ७ आश्विन, ८ कार्तिक, ६ मार्गशिर, १० पौष, ११ माघ, १२ फागुन।

पक्ष २

प्रयेक महीने के शुरू मे सुदी पडवा से पौर्णिमा तक १५ दिन शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से अमावस्या तक १५ दिन कृष्ण पक्ष जानना चाहिए। शुक्ल पक्ष को सुदी, कृष्ण पक्ष को वदी कहने की परिपाटी है।

तिथि ३० होती है–

प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी और पौर्णिमा ये शुक्ल पक्ष की तिथि हैं।

पुनः प्रतिपदा से चतुर्दशी तक १४ तिथि ऐसे आगे चलते हुए ३० वीं तिथि के अंत में अमावस्या आती है। ये कृष्ण पक्ष की तिथि है। ये ३० तिथि मिलकर १ मास होता है।

वार–७ हैं–

रविवार, सोमवार, मंगलवार, बुधवार, गुरुवार, शुक्रवार, शनिवार ये सात वार है।

नक्षत्र २८ हैं–

आकाश मंडल में असंख्यात नक्षत्र होने पर भी इस क्षेत्र में रूढ़ि में आने वाले नक्षत्र २८ हैं। उनके नाम इस प्रकार है:–

नक्षत्रों के नाम :–

१ अश्विनी	८ पुष्य	१५ स्वाती	२२ श्रवण
२ भरणी	६ आश्लेषा	१६ विशाखा	२३ धनिष्ठा
३ कृतिका	१० मघा	१७ अनुराधा	२४ शततारका
४ रोहिणी	११ पूर्वा	१८ जेष्ठा	२५ पूर्वा-भाद्रपद
५ मृगशिरा	१२ उत्तरा	१६ मूल	२६ उत्तरा-भाद्रपद
६ आर्द्रा	१३ हस्त	२० पूर्वा-षाढ	२७ रेवती
७ पुनर्वसु	१४ चित्रा	२१ उत्तरा-षाढ	२८ अभिजित

उत्तराषाढ और श्रवण के बीच में अभिजित नाम का नक्षत्र है। बहुत दिनों तक यह नक्षत्र रूढि में न होने के कारण अन्य ज्योतिषकारों ने इसको बिल्कुल ही गिनती नहीं लिया था अब जैन ज्योतिष ग्रन्थों के अनुसार यह नक्ष प्रचार में आने से सभी-ज्योतिष के विद्वान २८ नक्षत्र को गिनती में लाने लगे हैं।

योग २७ हैं

१ विष्कंभ	८ धृति	१५ वज्र	२२ साध्य
२ प्रीति	९ शूल	१६ सिद्धि	२३ शुभ
३ आयुष्यमान	१० गंड	१७ व्यतिपात	२४ शुक्ल
४ सौभाग्य	११ वृद्धि	१८ वरियान	२५ ब्रह्म
५ शोभन	१२ ध्रुव	१९ परिघ	२६ ऐन्द्र
६ अतिगंड	१३ व्याघात	२० शिव	२७ वैधृति
७ सुकर्म	१४ हर्षण	२१ सिद्ध	

करण ग्यारह हैं

१ बव २ बालव ३ कौलव ४ तैतल ५ गर्ज ६ वनिज ७ भद्र ८ शकुनि ९ चतुष्पाद १० नाग ११ किंस्तुघ्न इस प्रकार ये ११ करण हैं। इसके शुभाशुभ फल को आगे बतायेंगे।

राशि और लग्न १२ होते हैं

१ मेष	४ कर्क	७ तुला	१० मकर
२ वृष	५ सिंह	८ वृश्चिक	११ कुंभ
३ मिथुन	६ कन्या	९ धनुष	१२ मीन

ये बारह राशि हैं और बारह राशि के समान ही लग्न भी होते हैं। लग्न या राशि में कोई भेद नहीं है। फिर राशि और लग्न में भेद क्यों है इसका समाधान निम्नलिखित है :—

अगर किसी बालक का जन्म वृष राशि में हुआ हो अर्थात् बालक के जन्म के समय उदय काल में वृष राशि हो तो उसे वृष लग्न कहते हैं। इसका स्पष्टीकरण प्रकरण के अनुसार करेंगे।

ग्रह ९ हैं।

१ रवि २ चन्द्र ३ कुज ४ बुध, ५ गुरु,६ शुक्र ७ शनि ८ राहु ९ केतु ये नव ग्रह हैं। २४ घण्टे का १ दिन ६० पल की १ घड़ी ३ घण्टे का १ याम. २॥ घड़ी का १ घण्टा। १ याम को प्रहर भी कहते हैं। ६० मिनट का १ घण्टा एक घण्टे का एक होरा होता है। २॥ पल का १ निमिष, ६० घटिका का १ दिन होता है। 149 Page Some...

पंचांग क्या है :—

तिथिवार नक्षत्रं च योगः करणमेवच ।
एतैः पंचभिरंगैः संयुक्तं पंचांगमुच्यते ॥

भावार्थ—तिथि, वार, नक्षत्र, योग, और करण इन सबको मिलाने को पंचांग कहते हैं। इस पांच अंग के अलावा उपयोगी अनेक विषयों को पंचांग में लिखने की पद्धति आजकल बहुत प्रचलित है।

तिथि वार नक्षत्र और योग के समान ६० घड़ी पूर्ण न होकर करण जो है वह एक दिन में तीस तीस घड़ी के प्रमाण दो हो जाते हैं। अब आगे चर स्थिर करणों को बतलाते हैं— बव, वालंब, कौलव, तैतिल, गर्ज वणिज, भद्र ये सात चरकरण हैं। शकुनि, चतुष्पाद, नागवान, किंस्तुघ्न ये चार करण स्थिर करण होते हैं।

चरकरण की उत्पत्ति—

जिस तिथि का करण देखना हो उस तिथि तक शुक्ल प्रतिपदा से लेकर गत तिथियों को गिने। जो संख्या आवे उसे दो से गुणा करे और लब्ध को ७ से भाग दे। भाग देने से जो शेष बचे उसी संख्या वाला चर करण नित्य तिथि के पूर्वार्द्ध में समझना चाहिए। उत्तरार्द्ध तिथि के लिए गत तिथियों को दो से गुणा करके १ और जोड़ दें। तत्पश्चात् ७ से भाग देकर जो बचे उस संख्या वाला बवादि करण समझना चाहिए। ३० घड़ी से यदि कम तिथि हो तो उसे उत्तरार्द्ध समझना और यदि अधिक हो तो पूर्वार्द्ध।

उदाहरणार्थ—शक संवत् १८५२ श्रावण सुदी १२ को कौनसा करण है? ऐसा प्रश्न करने पर देखा गया कि वह तिथि ३० घड़ी से कम है। इसलिए वह उत्तरार्द्ध तिथि हुई। अब गत तिथि ११ को दो से गुणा करने पर २२ हुआ और इसमें १ मिलाकर ७ से भाग दिया तो शेष दो बचा, जोकि दूसरा बालव करण हुआ। यह चर करण का नियम हुआ।

स्थिर करण की उत्पत्ति:—

कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के उत्तरार्द्ध में शकुनिकरण, अमावस्या के पूर्वार्द्ध में चतुष्पाद और उत्तरार्द्ध में नागवान करण होता है। तथा कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के पूर्वार्द्ध में किंस्तुघ्न करण होता है। यहां इतना और समझ लेना चाहिए कि तिथि और नक्षत्रों के समान आगे पीछे न होकर करण की उत्पत्ति नियत रूप से होती है।

राशियों के विषय:—

मेष, मिथुन, सिंह, तुला, धन और कुम्भ ये ६ राशियां विषम हैं अथवा ये क्रूर स्वभाव वाली पुरुष राशियां हैं। इनके अतिरिक्त (वृषभ, कर्क, कन्या, वृश्चिक, मकर तथा मीन) राशियां युग्म राशि, सौम्य स्वभाव वाली स्त्री

राशियाँ हैं। मेष, कर्क, तुला और मकर ये चार चर राशियाँ हैं। वृषभ, सिंह, वृश्चिक और कुंभ ये स्थिर राशियां हैं। तथा शेष मिथुन, कन्या, धन और मीन ये द्विस्वभाव वाली हैं। मेष, वृषभ, कर्क, धन और मकर ये पाँच राशियाँ पृष्ठोदय हैं, मिथुन, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक तथा कुंभ ये छः शिरसोदय राशियाँ हैं और मीन उभयोदय राशि है। मेष, वृषभ, मिथुन, कर्क, धन और मकर ये छः राशियां रात्रि बल-वाली है और शेष सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, कुंभ तथा मीन ये छः दिवाबली है।

शुभअशुभ ग्रहः—

पूर्ण चन्द्र, बुध, गुरु और शुक्र ये चार शुभ हैं तथा अच्छा फल देने वाले ग्रह हैं। सूर्य, क्षीण-चन्द्र, कुज, (मंगल) शनि राहु, तथा केतु ये छः पाप ग्रह हैं जोकि दुष्ट फल देते हैं। इन पापी ग्रहों के साथ यदि बुध हो जाय तो वह भी पाप फल देने होता है।

रवि, मंगल और गुरु ये ३ पुरुष ग्रह हैं, चन्द्र, शुक्र, तथा राहु ये ३ स्त्री ग्रह हैं तथा बुध, शनि केतु ये ३ नपुंसक ग्रह हैं।

अब इन ग्रहों का राशियों पर रहने का समय बतलाते हैं:—

रवि शुक्र बुधा मासं सार्धमासं कुजस्तथा।
गुरुर्द्वादशमासस्तु शनिस्त्रिंशत्तथैव च॥
वर्षार्द्धं राहुकेतुस्तु राशिस्थितिरितीरितम्।

अर्थ—रवि, शुक्र और बुध ये तीनों ग्रह एक मास पर्यन्त एक राशि पर रहते हैं, मंगल डेढ मास तक १ राशि पर रहता है, गुरु एक राशि पर १२ मास तक रहता है, शनि १ राशि पर ३० मास तक रहता है तथा केतु और राहु १ राशि पर डेढ वर्ष तक रहते हैं तथा चन्द्रमा १ राशि पर सवा दो दिन तक रहता है।

ग्रहों की जातियां:—

गुरु और चन्द्र ब्राह्मण वर्ण, रवि और मंगल क्षत्रिय वर्ण, बुध वैश्य वर्ण, शुक्र शूद्र वर्ण, शनि, राहु तथा केतु नीच वर्ण वाले होते हैं।

यंत्र मंत्र व्रतादिके मूहूर्त—

उफा हस्ताश्विनी कर्ण विशाखामृगभेहनि।
शुभे सूर्ययुते शस्तं मंत्रयंत्रव्रतादिकं॥

भावार्थ—उत्तरा, हस्त, अश्विनी, श्रवण, विशाखा, मृगशिरा इन छः नक्षत्रों में, तथा रवि, सोम, गुरु, शुक्रवार में किया हुआ मंत्र, यंत्रादि का आराधन

शीघ्र ही फल को देता है। और व्रत उपवासादि क्रिया की सिद्धि भी होती है।

काल-राहु रहने की दिशा:—

रवि गुरुवार को पूर्व दिशा में, सोम शुक्र को दक्षिण दिशा में, मंगलवार को पश्चिम दिशा में, शनि, बुध को उत्तर दिशा में काल-राहु रहता है।

नवीन गृह (घर) निर्माण मुहूर्त:—

वैशाख, श्रावण, कार्तिक, माघ इन मासों में उत्तराषाढ़- उत्तरा भाद्रपद, मृगशिरा, रोहिणी, पुष्य, अनुराधा, हस्त, चित्रा, स्वाति, धनिष्ठा शततारका, रेवती इन १३ तेरह नक्षत्रों में और २-३-५-७-१०-११-१३-१५ तिथियों में तथा सोम, बुध, गुरु, शुक्रवार दिनों में नया घर बनवाने का मुहूर्त उत्तम माना है। फागुन मास नूतन गृहारंभ करने में साधारण माना है।

औषधि सेवन करने और तैयार करने का मुहूर्त:-

हस्त, चित्रा, स्वाति, अनुराधा, मूला पुष्य श्रवण, धनिष्ठा, शततारका मृगशिरा, रेवती, अश्विनी पुनर्वसु, इन नक्षत्रों में तथा सोम, बुध, गुरु, शुक्रवार दिनों में और २-३-५-७-१० ११-१३-१५ का शुक्ल पक्ष में तथा कृष्ण पक्ष की प्रति पदा के दिन औषध तैयार करने में और सेवन करने में शुभ माने है।

भौमाश्विनी आदि सिद्ध योग भी कार्य विशेषों में निन्द्य है :—

गृहप्रवेशे यात्रायां विवाहे च यथाक्रमम् ।
भौमेऽश्विनीं शनौ ब्राम्हं गुरौ पुष्यं विवर्ज्जयेत् २२॥

मंगलवार को अश्विनी गृह प्रवेश में, शनिवार का रोहिणी यात्रा में, गुरुवार को पुष्य नक्षत्र विवाह में वर्जित है।

प्रयाण के लिए शुभ नक्षत्र:---

मृगाश्विनी पुष्य पुनर्वसू च , हस्तानुराधा श्रवणं च मूलः ।
धनिष्ठरेवत्य गते प्रयाणं, फलं लभेत् शीघ्र विवर्तनं च ॥

अर्थात्—मृगशिर, अश्विनी, पुष्य, पुनर्वसु, हस्त, अनुराधा, श्रवण, मूल, धनिष्ठा और रेवती इन नक्षत्रों में प्रयाण करने से कार्य शीघ्र सफल बनता है।

प्रयाण के लिए दुष्ट नक्षत्र :—

पूर्वा फाल्गुनी, पूर्वाषाढा, पूर्वाभाद्रपद, मघा, जेष्ठा, भरणी, जन्म नक्षत्र, कृतिका, स्वाति, श्लेषा, विशाखा, चित्रा, आदि इन नक्षत्रों में कभी प्रयाण नहीं करना चाहिए। इन नक्षत्रों में प्रयाण करने से हानि होती

है, शेष बचे—उत्तरा-फाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तराभाद्रपद, शततारका, इन नक्षत्रों में प्रयाण करने से साधारण फल होता है।

अक्षरारम्भ का मुहूर्त—

मृगात्कराच्छ्रुतेस्त्रयेऽश्विमूलपूर्विकात्रये ।
गुरुद्वयेऽर्कजीवविित्सितेऽह्निषट्शरत्रिके ॥
शिवार्कदिग् द्विकेतिथौ ध्रुवान्त्यत्रिभेपरैः,
शुभैरधीतिरुत्तमात्रिकोणकेन्द्रगैः स्मृता ॥३८॥

—मुहूर्त चिन्तामणि

अर्थात्—मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, हस्त, चित्रा, स्वाती, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, अश्विनी, मूल, तीनोंपूर्वा, पुष्य, श्लेषा, ध्रुवसंज्ञक, अनुराधा और रेवती इन नक्षत्रों में तथा रविवार, बुधवार, गुरुवार और शुक्रवार इन वारों में तथा ६, ५, ३, १५,१२,१०, २ इन तिथियों में जब केन्द्र त्रिकोण गत शुभ ग्रह हों तब विद्यारम्भ करना चाहिए। आगे यज्ञोपवीत का समय मुहूर्त चिन्तामणि ज्योतिष शास्त्र में बताया गया है—

वह यहां पर देते हैं।

विप्राणां व्रतवन्धनं निगदितं, गर्भाज्जनेर्वाष्टमे,
वर्षे वाप्यथ पञ्चमे क्षितिभुजां षष्ठे तथैकादशे ॥
वैश्यानांपुनरष्टमे ऽप्यथपुनः स्याद्द्वादशे वत्सरे,
कालेऽथद्विगुणेगतेनिगदिते गौणंतदाहुर्बुधाः ॥३९॥

(मुहूर्त चिन्तामणि)

अर्थात्—ब्राह्मणों को गर्भ से या जन्म से पञ्चम अथवा अष्टम सौर वर्ष में क्षत्रियों को छठे तथा ग्यारहवें वर्ष में और वैश्यों को आठवें या बारहवें वर्ष में यज्ञोपवीत धारण करना कहा है। इस कथित समय से दूने समय को पण्डितों ने गौणकाल माना है।

यात्रा में शुभ वार—

अङ्गारपूर्वे गमने च लाभस्सोमेशनिर्दक्षिण अर्थलाभः ।
बुधे गुरौ पश्चिमकार्यसिद्धिर्भानौ मृगे चोत्तरधान्यलाभः ॥

—मुहूर्त चिन्तामणि

अर्थ—मंगलवार को पूर्व दिशा में गमन करने से लाभ होता है।

सोमवार और शनिवार को दक्षिण दिशा की यात्रा से धन का लाभ होता है। बुधवार तथा गुरुवार को पश्चिम दिशा में गमन करने से कार्य की सिद्धि होती है। रविवार तथा शुक्रवार को उत्तर दिशा में यात्रा करने से धन धान्य का लाभ होता है।

दिक् शूल–

न पूर्वे शनि सोमे च, न गुरुर्दक्षिणे तथा
न पश्चिमे भानुशुक्रे च, नोत्तरे बुधमंगले ।।

अर्थ—शनिवार सोमवार को पूर्व दिशा में गमन न करे। दक्षिण दिशा में गुरुवार को जाना ठीक नही। रविवार शुक्रवार को पश्चिम दिशा में तथा बुधवार मंगलवार को उत्तर दिशा में न जाना चाहिये।

प्रयाण के लिए शुभ तिथियां—

द्वितीया को यात्रा करने से कार्य सिद्धि, तृतीया को शान्ति, पंचमी को सुख, सप्तमी को अर्थ लाभ, अष्टमी को शुभ, दशमी को शुभ फल की प्राप्ति एकादशी तथा त्रयोदशी को यात्रा करने से कार्य सिद्ध होता है। शेष १- ४-९-१४-१५, अमावस्या षष्ठी और द्वादशी यात्रा के लिए अशुभ है।

यात्रा के लिए चन्द्र विचार—

मेषे च सिंहे धनपूर्वभागे, वृषे च कन्या मकरे च याम्ये।
युग्मे तुले कुम्भसुपश्चिमायां कर्कालिमीने दिशि चोत्तरस्याम् ।।

अर्थ—मेष, सिंह, धन राशि हो तो चन्द्रमा पूर्व दिशा में रहता है। वृष, कन्या, और मकर राशि हो तो चन्द्र दक्षिण दिशा में रहता है। मिथुन तुला, कुम्भ राशि में चन्द्र पश्चिम दिशा में तथा कर्क, वृश्चिक मीन राशि के समय चन्द्र उत्तर दिशा में रहता है।

सन्मुखे अर्थलाभाय, दक्षिणे सुखसम्पदः।
पृष्ठतः प्राणनाशाय, वामेचन्द्रे धनक्षयः ।।

अर्थ—यात्रा के समय चन्द्रमा यदि सन्मुख हो तो अर्थ [धन] का लाभ होता है। यदि चन्द्र दाहिनी दिशा में हो तो सुख सम्पत्ति प्राप्त होती है, चन्द्र यदि पीठ की ओर हो तो प्राण नाशकी आशंका रहती है तथा यदि यात्रा के समय बांयी दिशा में चन्द्रमा हो तो धन की हानि होती है।

मरण नक्षत्र दोष विचार—

धनिष्ठा नक्षत्र के ३-४ पाद से शततारका, पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद, रेवती को पंचक नक्षत्र कहते हैं। कृतिका, उत्तरा, उत्तराषाढ़ा ये अन्तः त्रिपाद

नक्षत्र हैं। विशाखा, पूर्वाभाद्रपदा बहि: त्रिपाद नक्षत्र हैं। चित्रा मृगशिर, धनिष्ठा द्विपाद नक्षत्र हैं। रोहिणी, मघा, भरणी दुष्ट नक्षत्र है। परन्तु शनिवार रविवार मंगलवार में त्रिपाद नक्षत्र मिल जाय तो द्विपुष्कर योग होता है और २-७-१२ तिथियोंको ऊपर लिखे हुए पापवार तथा त्रिपाद नक्षत्र मिल जायं तो त्रिपुष्कर योग होता है। इस त्रिपुष्कर योगमें बालकके जन्म होने पर ६ मास के लिए घर छोड़ कर अन्य जगह निवास करना चाहिए। द्विपुष्कर योग में शिशु जन्म के समय ६ मास के लिए, त्रिपाद में जन्म होने पर ३ मास के लिए मृगशिर चित्रा के द्विपाद में जन्म लेने पर दो मास के लिए, रोहिणी नक्षत्र में जन्म होने पर १२ मास तक, भरणी और मघा में ५ मास, धनिष्ठा के ३-४ पाद में जन्म हो तो ८ मास, शततारका में ६ मास, पूर्वाभाद्रपद में जन्म होने पर ८ मास, उत्तराभाद्रपद में जन्म होने पर ३ मास, रेवती में बालक का जन्म होने पर एक मास के लिए घर छोड़ कर अन्य घर में रहना चाहिए फिर शुभ तिथि देखकर मंगल कलश सहित घर में प्रवेश करना चाहिये।

विवाह-भंग योग—

यदि भवतिसितातिरिक्तपक्षे, तनुगृहतः समराशिदः शशाङ्कः।
अशुभखचररवीक्षतोऽरिरन्ध्रे भवति विवाहविनाशकारकोऽयम् ॥

अर्थ—यदि कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा समराशिका होकर प्रश्न लग्न से छठे या आठवें स्थान में हो और पाप ग्रह से दृष्ट हो तो विवाह नाशकारक होता है।

वैधव्य योग का विचार–

जन्मोत्थं च विलोक्य बालविधवायोगं विधाय व्रतं,
सावित्र्याउतपैप्पलं हि सुतया दद्यादिमां वा रहः।
सल्लग्नेऽच्युतमूर्तिपिप्पलघटैः कृत्वा विवाहं स्फुटं,
दद्यात्तां चिरजीविनेत्र न भवेद्दोषः पुनर्भूभवः ॥

(मुहूर्त चिन्तामणि)

अर्थ—जन्म लग्न से कन्या को यदि बाल-विधवा होने का योग हो तो व्रत, पूजन, दान आदि करके उस कन्या को दीर्घजीवी वर के साथ विवाह कर देना चाहिए।

यात्रा में सूर्य विचार–

धनुर्मेषसिंहेषु यात्रा प्रशस्ता शनिज्ञोशनोराशिगेचैव मध्या।
रवौ कर्कमीनालिसंस्थेतिदीर्घा, जनुःपञ्चसप्तत्रितारास्च नेष्टाः ॥

(मुहूर्त चिन्तामणि)

अर्थ—धनु मेष सिंह के सूर्य में यात्रा करना शुभ है। मकर, कुम्भ, मिथुन, कन्या, वृष, तुला के सूर्य में यात्रा मध्यम है और कर्क, मीन, वृश्चिक में सूर्य हो तो यात्रा लम्बी होती है। यात्रा में १-५-३-७वीं तारा नेष्ट है।

गोचर विचार—

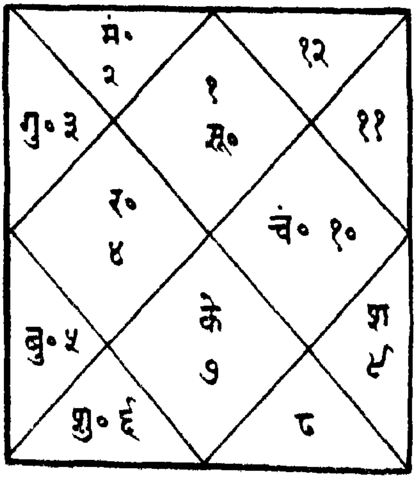
पहले लिखे अनुसार नक्षत्रों की १२ राशियां अच्छी तरह समझ लेने के बाद 'किस राशि वाले मनुष्य को कौन-सा ग्रह किस स्थान में है, कितने स्थान में होता है तथा वह ग्रह कितने समय तक अपना अच्छा या बुरा फल देता है।' यह विषय जानने को 'गोचर' कहते हैं। यह बात प्रत्येक मनुष्य को जाननी आवश्यक है।

गोचर ग्रह के जानने की विधि

राशि को जान लेने पर, उस राशि का ग्रह कितने स्थान में कितने समय तक रहता है, इस बात को जानने के लिए उस वर्ष का पंचांग, लेकर शुक्ल पक्ष या कृष्ण पक्ष की कुण्डली में किस राशि में कौन सा ग्रह है, यह देखना चाहिये तदनन्तर अपने ग्रह रहने की राशि तक गिन लेना चाहिये। गिन लेने पर उतनी संख्या में अपना ग्रह जान कर अपना शुभ अशुभ फल जान लेना चाहिए।

उदाहरण के लिए ईश्वरचन्द्र नामक व्यक्ति के विषय में विचार करें कि इनके कितने स्थान पर गुरु और शनि है ? तो

ईश्वर चन्द्र का प्रथम अक्षर 'ई' है जोकि अवगहड़ चक्रानुसार कृतिका



नक्षत्र के दूसरे पाद में है। कृतिका नक्षत्र के द्वितीय पाद में वृषभ राशि होती है। इसको निम्नलिखित कुण्डली में देखिये—(शक संवत् १८७६ आषाढ़ सुदी २ शनिवार।)

ईश्वरचन्द्र की १२ राशियां उपरिलिखित कुण्डली में यथा स्थान हैं। तदनुसार गुरु तीसरे स्थान पर, शनि ईश्वरचन्द्र के नौवें स्थान पर है। इसी प्रकार अन्य ग्रहों को भी समझ लेना चाहिये। परन्तु जन्म कुण्डली के ग्रह राशि के अनुसार बदलते रहते हैं। इसको सावधानी से देखना चाहिये।

ग्रहों द्वारा राशि परिवर्तन का विचार—

पंचांग में लिखे हुए तिथि, वार, नक्षत्र, योग करण की पंक्ति में १-'म' सिंहे ज्ञ: लिखा होता है। इसका अभिप्राय यह है कि उस दिन सिंह राशि में बुध आया समझ लेना चाहिए। इसी प्रकार का 'उत्तरा दूसरे चरण में कन्ये शुक्र:' इस प्रकार लिखा होता है इसका अर्थ यह है कि उस दिन उत्तरा नक्षत्र में शुक्र सिंह राशि को छोड़ कर कन्या राशि में आ गया है। इस प्रकार इस विषय को पंचांग में दिये गये संकेतों के अनुसार राशि बदलने की विधि समझ लेना चाहिए।

इसके सिवाय प्रत्येक मास में तुले रवि: या तुलेऽर्क: कर्के गुरु: मिथुने कुज: इस प्रकार पंचाँग में जहां तहां राशि परिवर्तन लिखा होता है उसके अनुसार ग्रह द्वारा राशि परिवर्तन के स्थान पर घड़ी पल आदि भी लिखा होता है जैसे—'सिंहे बुध: ५५ घड़ी ४ पल' लिखा है इस का अभिप्राय यह है कि सूर्य उदय से ५५ घड़ी ४ पल समय बीत जाने पर बुध ग्रह सिंह राशि में आ गया है। इस प्रकार प्रत्येक मास में ग्रह का राशि-परिवर्तन लिखा होता है उसे देख कर मनन कर लेना चाहिए।

नव ग्रह गोचर का फल—

सूर्य का फल—

प्रथम स्थान का रविनाश को प्रगट करता है, दूसरे स्थान का रवि भय हानि को, तीसरे स्थान का रवि व्यापार में धन लाभ को, चौथा रवि रोग पीड़ा मर्यादा भंग को, पांचवां रवि दरिद्रता को, छठा रवि घूमने फिरने को, नौवां रवि नाश तथा अशुभ फल को, दशवां तथा ग्यारहवां रवि अनेक प्रकार का लाभ तथा सुख, बारहवें स्थान का रवि पीड़ा तथा नाश का सूचक है।

चन्द्र का फल—

पहले स्थान का चन्द्र पुष्टि, अन्न वस्त्र के लाभ को बतलाता है, दूसरा

चन्द्र अनेक प्रकार की द्रव्य प्राप्ति, तीसरा चन्द्र लक्ष्मी, सुख प्राप्ति, चौथा चन्द्र देह पीड़ा रोग आदि को, पांचवां चन्द्र पराजय, असफलता, छठा सातवां चन्द्र धन सम्पत्ति लाभ को, आठवां चन्द्र रोग को, नौवां चन्द्र राजकीय आपत्ति को, दशवां ग्यारहवां चन्द्र अनेक प्रकार के सुख तथा लाभ को, बारहवें स्थान का चन्द्र द्रव्य नाश तथा आपत्तियों को सूचित करता है।

मंगल का विचार—

प्रथम स्थान का मंगल शत्रु भय को सूचित करता है। दूसरा मंगल धन नाश को, तीसरा मंगल व्यापार उद्योग में द्रव्य प्राप्ति को, चौथा मंगल शत्रु की वृद्धि को, पांचवां मंगल रोग पीड़ा को, छठा अनेक प्रकार के धन लाभ को, सातवां मंगल देह निर्बलता तथा द्रव्य नाश को, आठवां मंगल विरोधियों के भय तथा पाप फल को, नौवां मंगल अनेक प्रकार के उपद्रव तथा पीड़ा को, दशवां ग्यारहवां मंगल धन लाभ तथा सुख शान्ति को तथा बारहवें स्थान का मंगल नाश को सूचित करता है।

बुध का फल—

पहले स्थान का बुध भय का सूचक है, दूसरे स्थान का बुध व्यापार उद्योग आदि में धन प्राप्ति, तीसरा बुध क्लेश, भय को, चौथा बुध द्रव्य प्राप्ति, पांचवां बुध रोगादि पीड़ा तथा मनोव्यथा को, छठा बुध लक्ष्मी समागम को, सातवां बुध शरीर पीड़ा को, आठवां बुध अनेक प्रकार के धन लाभ को, नौवां बुध रोग को, दशवां बुध अनेक प्रकार के सुख भोग को, ग्यारहवां बुध अनेक प्रकार की द्रव्य प्राप्ति तथा सुख को, बारहवें स्थान का बुध अनेक प्रकार से द्रव्य व्यय तथा शारीरिक रोग को सूचित करता है।

गुरु का फल—

पहले स्थान का गुरु शत्रु द्वारा भय का सूचक है, दूसरा गुरु व्यापार आदि में द्रव्य लाभ, तीसरे स्थान का गुरु विविध प्रकार के कष्टों को, चौथा गुरु व्यापार उद्योग में हानि को. पांचवां गुरु अनेक प्रकार के लाभ तथा सुख को, छठा गुरु अनेक प्रकार के मानसिक रोग आदि को, सातवां गुरु समस्त जनता द्वारा सन्मान तथा सुख को, आठवां गुरु अनेक प्रकार की शरीर-व्याधि तथा द्रव्यहानि को, नौवां गुरु अनेक प्रकार की मर्यादा (सन्मान) तथा धन धान्य की वृद्धि को, दशवां गुरु साधारण सुख शान्ति को, ग्यारहवां गुरु अनेक प्रकार के धन धान्य के लाभ को तथा बारहवें स्थान का गुरु अनेक प्रकार की पीड़ा तथा द्रव्य हानि को सूचित करता है।

शुक्र का फल—

पहले स्थान में शुक्र हो तो सुखदाता तथा शत्रुनाशक होता है, दूसरे स्थान का शुक्र व्यापार उद्योग में सफलता को, तीसरे तथा चौथे स्थान का शुक्र द्रव्य लाभ तथा सुख शान्ति को, पांचवें स्थान का शुक्र पुत्र लाभ को, छठे स्थान का शुक्र जनता द्वारा विरोध तथा रोग को, सातवें स्थान का शुक्र मानसिक दुख को, आठवें स्थान का शुक्र अनेक प्रकार के सुख तथा लाभ को, नौवें स्थान का शुक्र धर्म कर्म में उत्साह को तथा वस्त्राभरण के लाभ को, दशवें स्थान का शुक्र मानसिक चिन्ता तथा विपत्ति को, ग्यारहवां शुक्र धन लाभ को तथा बारहवें स्थान का शुक्र प्रत्येक कार्य में द्रव्य नाश का सूचक होता है।

शनि का फल—

पहले स्थान का शनि रोग तथा कष्ट को सूचित करता है, दूसरे स्थान का शनि प्रत्येक कार्य में धन नाश तथा चिन्ता को, तीसरा शनि द्रव्य लाभ तथा सन्तोष को, चौथा शनि शत्रु की वृद्धि तथा मानसिक व्यथा को, पांचवां शनि द्रव्य नाश, शोक, स्त्री पुत्रादि द्वारा विघ्न बाधा को सूचित करता है, छठे स्थान का शनि धन लाभ, सन्तोष, कार्य कुशलता की वृद्धि को, सातवां शनि विविध अपवाद (बदनामी), भय तथा चिन्ता को; आठवां शनि शारीरिक रोग तथा विघ्न बाधा को, नौवां शनि उद्योग तथा व्यवहार में असफलता, धर्म नाश तथा चिन्ता को, दशवां शनि साधारण लाभ तथा कार्य अनुकूलता को, ग्यारहवां शनि कार्यों में द्रव्य लाभ तथा सुख आनन्द को एवं बारहवें स्थान का शनि मानसिक व्यथा को और व्यापार उद्योग में द्रव्य नाश को सूचित करता है।

नोट—गोचरी में चौथे पांचवें स्थान के शनि को पंचम शनि कहते हैं। चौथे स्थान का शनि ढाई वर्ष तक तथा पांचवें स्थान का शनि ढाई वर्ष तक यानी-कुल ५ वर्ष तक कष्ट देता है इसी कारण इसको पंचम शनि कहते हैं। इसी प्रकार बारहवें स्थान का शनि साढ़े सात वर्ष तक कष्ट देता है, इसी को साढ़ेसाती कहते हैं क्योंकि बारहवें स्थान में २॥ ढाई वर्ष, पहले स्थान में ढाई वर्ष और दूसरे स्थान में ढाई वर्ष तक, कुल ७॥ साढ़े सात वर्ष तक कष्ट देता है।

राहु केतु का फल—

राहु केतु पहले स्थान में हो तो अनेक प्रकार के नाश तथा शरीर पीड़ा को बतलाता है। दूसरे स्थान का दरिद्रता, कलह, विरोध को, तीसरे स्थान में द्रव्य लाभ, सुख को चौथे स्थान का भय की वृद्धि, शत्रु वृद्धि को, पांचवे स्थान का शोक चिन्ता को, छठे स्थान का अनेक प्रकार के धन लाभ, सुख सम्पत्ति

को, सातवें स्थान का कलह तथा राजकीय बिपत्ति को, आठवें स्थान का राहु केतु अपमृत्यु, भय तथा ज्वरादि पीड़ा को, नौवें स्थान का पाप कार्य में मन की इच्छा को, दशवें स्थान का वैर वृद्धि, चिन्ता वृद्धि को, ग्यारहवें स्थान का अनेक प्रकार सुख तथा सन्मान की वृद्धि को और बारहवें स्थान के राहु केतु अनेक प्रकार के शोक चिन्ता, शत्रु वृद्धि तथा धननाश को सूचित करते है।

गोचर फल का विशेष विचार—

रवि, मंगल, बुध और शुक्र इन चार ग्रहों द्वारा मास में होने वाला गोचर फल जाना जाता है। चन्द्र से दैनिक फल, गुरु, शनि केतु से वार्षिक फल जान लेना चाहिये, परन्तु रूढ़ि में गुरु और शनि द्वारा गोचर फल जानने की प्रथा प्रचलित है। जिस समय का शुभ अशुभ फल जानना हो उस समय शुभ अशुभ ग्रहों को अच्छी तरह देख लेना चाहिए। यदि उस समय शुभ ग्रह अधिक हों तो उस समय सुख प्राप्त होगा, यदि अशुभ ग्रह अधिक हों तो दुःख मिलेगा, यदि शुभ अशुभ ग्रह समान हों तो सुख दुख समान होगा।

रवि मंगल राशि के आदि में, चन्द्र और बुध सदा, गुरु और शुक्र राशि के मध्य में तथा शनि राहु और केतु राशि के अंत में अपना फल देते हैं।

प्रत्येक राशि में आने से सूर्य ५ दिन पहले, चन्द्रमा ३ घड़ी पहले, मंगल ८ दिन पहले, बुध शुक्र ७ दिन पहले, गुरु दो मास पहले, शनि ६ मास पहले और राहु केतु ४ मास पहले अपनी-अपनी दृष्टि की सूचना कर देते है।

राशियों के घात मास

मेष राशि वाले को कार्तिक मास तथा प्रतिपदा, छठ, एकादशी तिथि, रविवार, मघा नक्षत्र, विष्कम्भ योग, बवकरण, पहला पहर घातक है। मेष राशि वाली स्त्रियों तथा पुरुषों के लिए पहला चन्द्र घातक है।

वृष राशि वाले को मगसिर मास, पंचमी, दशमी, पूर्णिमा, शनिवार हस्त नक्षत्र, शुक्ल योग, शकुनि करण, चौथा पहर घातक है। पाचवां चन्द्र पुरुषों के लिए तथा स्त्रियों के लिए आठवां चन्द्र घातक है।

मिथुन राशि वाले को—आषाढ़ मास, द्वितीया, सप्तमी, द्वादशी तिथि सोमवार, स्वाति नक्षत्र, परिघ योग, कौलव करण, तीसरा पहर, नौवां चन्द्र तथा स्त्रियों के लिए सातवां चन्द्र घातक है।

कर्क राशि वाले के लिए—पौष मास, द्वितीया सप्तमी द्वादशी तिथि, बुधवार अनुराधा नक्षत्र, व्याघात योग, नागवान करण, पहला पहर, दूसरा चन्द्र तथा स्त्रियों के लिए नौवां चन्द्र घातक होता है।

सिंह राशि वाले के लिए—ज्येष्ठ मास, तृतीया, अष्टमी, त्रयोदशी तिथि, शनिवार, मूल नक्षत्र, धृति योग, बव करण, पहला पहर, छठा चन्द्र तथा स्त्रियों के लिए चौथा चन्द्र घातक है।

कन्या राशि वाले को—भाद्र-पद मास, ५-१०-१५ तिथि शनिवार श्रवण नक्षत्र, शुक्ल योग, कौलव करण, पहला पहर, दशवां चन्द्रमा तथा स्त्रियों के लिए तीसरा चन्द्र घातक होता है।

तुला राशि वाले को—माघ मास, ४-९-१४ तिथि गुरुवार, शततारका नक्षत्र, शुक्ल योग, तैतल करण, चौथा पहर, सातवां चन्द्र तथा स्त्रियों के लिए दूसरा चन्द्र घातक होता है।

वृश्चिक राशि वाले को—आश्विन (आसोज) मास, १-६-११ तिथि, शुक्रवार, देवती नक्षत्र, व्यतिपात योग, गर्ग करण, पहला पहर, सातवाँ चन्द्र तथा स्त्रियों के लिए दूसरा चन्द्र घातक है।

धनुष राशि वाले को—श्रावण मास ३-८-१३ तिथि शुक्रवार भरणी नक्षत्र, बज्रयोग, तैतिल करण, पहला पहर चौथा चन्द्र तथा स्त्रियों के लिए १०वां चन्द्र घातक है।

मकर राशि वाले के लिए—वैशाख मास, ४-९-१४ तिथि, मंगलवार, रोहिणी नक्षत्र, वैधृति योग, शकुनि करण, चौथा पहर आठवां चन्द्र, स्त्रियों के लिए ११ वा चन्द्र घातक है।

कुम्भ राशि वाले को—चैत्र मास, ३-८-१३ तिथि गुरुवार, आर्द्रा नक्षत्र, गण्ड योग, किंस्तुघ्न करण, तीसरा पहरा, ग्यारहवां चन्द्र तथा स्त्रियों के लिए पांचवां चन्द्र घातक है।

मीन राशि वाले को—फागुन मास ५-१०-१५ तिथि, शुक्रवार, आश्लेषा नक्षत्र, वज्रयोग, चतुष्पाद करण, चौथा पहर, ग्यारहवां चन्द्र तथा स्त्रियों के लिए १२वां चन्द्र घातक है।

अपनी अपनी राशि के अनुसार इन घातक मास, तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण, पहर तथा चन्द्रमा में यात्रा व्यापार उद्योग प्रारम्भ, नवीन गृह निर्माण, नूतन वस्त्रआभरण पहनना, राजकार्य, धनधान्य संग्रह, दीक्षा, विवाह आदि कार्य नहीं करने चाहिए।

तारा बल जानने की विधि |

बधू- वर के जन्म अथवा नाम नक्षत्र से विवाह के नक्षत्र तक गिनकर उसको ९ से भाग देने पर १ शेष रहे तो जन्म, २ शेष रहे तो सम्पत्ति, ३

शेष रहे तो विपत्ति, ४ रहे तो क्षेम, ५ शेष रहे तो पृथकता, ६ शेष रहे तो साधन प्राप्त होना, ७ शेष रहने पर वध, ८ रहने पर मैत्री, ९ रहने पर परम मैत्री समझना चाहिए। इनमें २-४-७-८ परम शुभ हैं, ९ मध्यम है। ये नाम और गुण के अनुसार फल देते हैं।

चन्द्र बल जानने की विधिः–

विवाह कुण्डली में बधू वर की जन्म राशि में पहला चन्द्र हो तो पुष्टि, दूसरा हो तो सुख की कमी, तीसरे स्थान में धन लाभ, चौथे में रोग, पांचवें में कार्य नाश, छठे में विशेष द्रव्य लाभ, सातवें स्थान में राज सन्मान, आठवें स्थान में चन्द्र हो तो निश्चय से मरण, नौवें में भय, दसवें में सम्मत्ति, ग्यारहवें में द्रव्य लाभ और बारहवें स्थान में चन्द्र हो तो अनेक प्रकार के दुःख प्राप्त होते हैं।

सारांश--२-४-५-८-९-१२ स्थान का चन्द्र अशुभ है। शुक्ल पक्ष में २-५-९वें स्थान पर रहने से भी कृष्ण पक्ष में ४-८-१२ वें स्थान पर रहते हुए भी चन्द्र शुभ माना गया है।

पंचक देखने की विधि—

प्रतिपदा के पहले बीते हुए तिथि, वार, नक्षत्र की संख्या में लग्न संख्या को मिलाकर जोड़ में ९ से भाग देने पर शेष १ रहे तो मृत्यु, २ शेष तो अग्नि, ४ शेष रहे तो राज्य, ६ रहे तो चोरी भय, ८ रह जावे तो रोग, यदि ३-५-७ शेष रहे तो निष्पंचक होता है।

ऊपर कहे हुए पंचक दोष को विवाह, उपनयन, संस्कार, नवीन घर निर्माण, नूतन गृह प्रवेश इत्यादि शुभ कार्य नहीं करने चाहिए। ३-५-७ शुभ हैं, शेष अशुभ हैं।

रविबल तथा गुरु बल जानने की विधि—

विवाह की कुण्डली में वर की राशि से रवि रहने की राशि तक गिनने पर यदि ३-६-१०-११ वें स्थान में रवि हो तो उस मास में रवि बल समझना चाहिए। इसी प्रकार गुरु की राशि तक गिनने पर २-५-७-९-१०-११ वें स्थान पर गुरु हो तो गुरु बल समझना चाहिए। वर को गुरु बल तथा रवि बल हितकारी है। स्त्रियों के लिए गुरु बल ही हितकारक होता है। विवाह में मुकुट बांधते समय गुरु बल श्रेष्ठ माना गया है।

इस प्रकार यहां आवश्यक ज्योतिष-विषय दिया गया है, विस्तार के भय से अन्य विषय को छोड़ दिया है।

वैमानिक देवों का वर्णनः—

द्विविधा वैमानिकाः ॥ ५ ॥

अर्थ—कल्पज और कल्पातीत वैमानिक देवों के दो भेद हैं। इन्द्र प्रतीन्द्रादि विकल्प वाले कल्पवासी देव होते हैं। और जहाँ पर इन्द्रादिक भेद न होकर सभी समान रूप से अहमिन्द्र हों उनको कल्पातीत कहते हैं :

षोडश स्वर्गाः ॥ ६ ॥

अर्थ—कल्प की अपेक्षा से सौधर्म, ईशान, सानकुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ट, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत ये १६ स्वर्ग हैं। इन १६ स्वर्गों के १२ इन्द्र होते हैं। सौधर्मादि चार कल्पों में सौधर्मेन्द्र ईशानेन्द्र, सानत्कुमार तथा महेन्द्र ऐसे चार इन्द्र हैं। मध्य में आठ कल्पों के पूर्वापर युगलों के एक एक इन्द्र होते हैं। जैसे ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर का ब्रह्मेन्द्र, लान्तव कापिष्ठ का लान्तवेन्द्र, शुक्र और महाशुक्र का शुक्रेन्द्र, शतार और सहस्रार सहस्रारेन्द्र। आनतादि चार कल्पों में आनतेन्द्र, प्राणतेन्द्र, आरणेन्द्र, तथा अच्युतेन्द्र ये चार इन्द्र हैं। इनके साथ १२ प्रतीन्द्र मिलकर कल्पेन्द्र २४ होते हैं।

नव ग्रैवेयकाः ॥ ७ ॥

अर्थ—अधो ग्रैवेयकत्रय, (३) मध्य ग्रैवेयकत्रय, (३) उपरिमग्रैवेयकत्रय, (३) ये ग्रैवेयक के नौ भेद है।

नवानुदिशाः ॥ ८ ॥

अर्थ—अर्चि, अर्चिमालिनी, वैर, वैरोचन ये पूर्वादि दिशाओं के ४ श्रेणीबद्ध हैं। सोम, सोमरूप, अंक तथा स्फटिक ये चार आग्नेयादि दिशाओं के प्रकीर्णक हैं। बीच का इन्द्रक विमान मिलकर अनुदिशों के नौ विमान होते हैं।

पंचानुत्तराः ॥ ९ ॥

अर्थ—विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित ये चार पूर्वादि दिशाओं के श्रेणीबद्ध विमान हैं और मध्य में सर्वार्थसिद्धि का विमान है।

मेरुतलादु दिवड्ढं दिवड्ढदलछक्कएक्करज्जुम्हि।
कप्पाणमट्ठ जुगला गेवज्जादी य होंति कमे ॥२॥

मेरु पर्वत के मूल से लेकर डेढ़ $1\frac{1}{2}$ रज्जू उत्सेध पर सौधर्म, ईशानकल्प, उससे ऊपर $1\frac{1}{2}$ डेढ़ रज्जू ऊपर में सनत्कुमार, और माहेन्द्र कल्प हैं।

वहाँ से ऊपर आधी आधी रज्जू के अन्तर में ऊपर के छः युगल हैं। वहाँ से ऊपर १ रज्जू ऊंचाई पर नवग्रैवेयकादि विमान हैं।

कल्प तथा कल्पातीत क्षेत्र का अन्तर अपने अपने इन्द्रक के ध्वजदण्ड तक ही अन्त है। उससे आगे ऊपर में क्रम से नवग्रैवेयकादि कल्पातीत विमान हैं उससे कुछ ऊपर जाकर लोकान्त है।

"त्रिषष्ठि पटलानि" ॥१०॥

ऋतु, विमल, चन्द्र, वल्गु, अरुण, नन्दन, नलिन, काञ्चन, रोहित, चरि, चतु, मरुत, रुद्दिष, वैडूर्य, रुचिक, रुचिर, अंक, स्फटिक, तपनीय, मेघ, अभ्र, हरिद्र, पद्म, लोहित, वज्र, नन्द्यार्क, प्रभंकर, प्रष्टक, गज, मित्र और प्रभा ऐसे ३१ सौधर्मद्विक के पटल हैं।

अंजन, वनमाली, नाग, गरुड, लांगल, वलभद्र, चक्र ये सात सनत्कुमार द्विक के पटल हैं।

अरिष्ट, सुरसमिति, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर ये चार ब्रह्मद्विक के पटल हैं ब्रह्म, हृदय, लांतव, ये पटल लांतवद्विक के हैं, शुक्र, विमान एक है वह शुक्र द्विक के लिए है।

सतार विमान एक ही सतार द्वय का है।

आनत प्राणत पुष्पक ऐसे तीन पटल आनतद्विक के हैं।

शातक आरण, अच्युत ये तीन पटल आरणद्विक के हैं।

सुदर्शन, अमोघ, सुप्रबुद्ध ये तीन पटल अधो ग्रैवेयक के हैं।

यशोधर सुभद्र, विशाल ये तीन पटल मध्यम ग्रैवेयक के हैं।

सुमनस, सौमनस, प्रीतंकर ये तीन विमान उपरिम ग्रैवेयक के हैं।

आदित्येन्द्र यह नवानुदिश का एक पटल है।

सर्वार्थ सिद्धि इन्द्रक नाम का एक पटल पंचानुत्तर का है।

ये सभी मिलकर त्रेसठ इन्द्रक विमान होते हैं। इसका खुलासा इस प्रकार है:-

मेरु पर्वत शिखर पर ४० योजन ऊंची मूल तल में बारह योजन विस्तार वाली, मध्य में चार योजन विस्तार वाली चूलिका है जोकि मन्दर सुमेरु नामक महिपति के मुकुट में लगे हुए वैडूर्य मणि के समान प्रतीत होती है। उस चूलिका के ऊपर कुरुभूमिज मनुष्य के बालाग्र के अन्तर से (स्पर्श न करते हुए) ऋजु विमान है। वह मनुष्य क्षेत्र के १४५ लाख योजन का प्रमाण है। उसी प्रमाण सिद्ध क्षेत्र से नीचे बारह योजन अन्तर में सर्वार्थ सिद्धि है।

वह सर्वार्थ सिद्धि जम्बू द्वीप के प्रमाण एक लाख योजन है। उन दोनों को घटाने पर ४४००००० योजन में शेष ६२ पटलों का भाग करने से आया हुआ लब्ध शेष इन्द्रक विमानों के हानि चयका प्रमाण आता है। जैसा कि नीचे की गाथा में लिखा है:-

णाभिगिरिचूलिगुवरिं वालग्गंतर ट्ठियो हु उडुइंदो।
सिद्धी दो धो बारह जोयणमाणम्हि सव्वट्ठं ॥२३॥
माणुसखित्तपमाणं उडुसव्वट्ठं ट्ठ तु जम्बुदीवसमं।
उभय विसेसेरूऊणिंदय भजदे दु हाणिचयं ॥

पुनः उस इन्द्रक की चार दिशाओं में क्रम से रहने वाले श्रेणी-बद्ध विमान इस प्रकार हैं:-

पहले के इन्द्रक की चार दिशाओं में श्रेणिवद्ध ६२ हैं। यहाँ से ऊपर के सभी पटलों की चार दिशा में क्रम से एक एक श्रेणीबद्ध कम होता चला गया है। वहाँ से नवानुदिश पंचानुत्तर की दिशा में एक एक ही श्रेणीबद्ध है। यह कैसे ? उसके लिए सूत्र कहते हैं: —

"षोडशोत्तराष्टशतसप्तसहस्रश्रेणिवद्धानि" ॥११॥

अर्थः—सात हजार आठ सौ सोलह श्रेणीबद्ध विमान हैं। सौधर्म कल्प में ४३७५ श्रेणीबद्ध विमान हैं। ईशान कल्प में १४६७ श्रेणीवद्ध हैं। सनत्कुमार कल्प में ५८८ श्रेणिवद्ध हैं। माहेन्द्र कल्प में १९६ श्रेणीवद्ध हैं। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर में ३६० हैं। लांतव द्वय में १५६, शुक्रद्वय में ७२, शतारद्वय में ६८, आनतादि चतुष्क में ३२४, अधो ग्रैवेयकत्रय में १०८, मध्यम ग्रैवेयकत्रय में ७२, उपरिम ग्रैवेयक त्रय में ३६, नवानुदिश में ४ इस प्रकार सभी मिलकर ७८१६ श्रेणीवद्ध होते हैं। ये सभी संख्यात योजन विस्तार वाले होते हैं।

चतुरशीतिलक्षैकोननवतिसहस्रैकशतचतुश्चत्वारिंशत् प्रकीर्णकानि ॥१२॥

अर्थ—प्रकीर्णक विमानों की संख्या ८४८९१४४ है। इन्द्रक से लगे श्रेणीवद्ध विमानों के बीच में प्रकीर्णक इस प्रकार हैं।

सेढीणं विच्चाले पुप्फपइण्णग इव ट्ठियविमाणा।
होंति पइण्णइणामा सेढिंदिय हीणरासिसमा ॥२५॥

अर्थ—सौधर्म कल्प में ३१ लाख ९५ हजार पांच सौ अठानबे (३१९५-५९८), ईशान में २७९८५४३, सनत् कुमार में ११९९४०५, महेन्द्र कल्प में

७९९८०४ ब्रह्मद्वय में ३९९६३६, लांतवद्वय में ४९८४२ शुक्रद्वय में ३९९२७ सतारद्वय में ५९३१, आनतादि चतुष्क में ३७०, अधोग्रैवेयकत्रम में प्रकीर्णक नहीं है। मध्यम ग्रैवेयक में ३२, उपरिम ग्रैवेयक त्रय में ५२, नवानुदिश में ४, पंचानुत्तर में प्रकीर्णक नहीं हैं। इस प्रकार सभी प्रकीर्णक मिलकर ८४८९१४४ होते है।

चतुरशीतिलक्षसप्तनवतिसहस्रत्रयोविंशतिविमानानि ।।१३।।

अर्थः–८४९७०२३ यह विमानों की संख्या है। यह किस प्रकार है यह बतलाते हैं। सौधर्म कल्प में ३२००००० विमान है ईशान में २८००००० विमान है। सानत कुमार में १२०००००, महेन्द्र कल्प में ८००००० ब्रह्मद्वय में ४०००००, लांतवद्वय में ५०००० शुक्रद्वय में ४००००, शतार द्वय में ६०००, आनतादि चतुष्कों में ७०००, अधोग्रैवेयक त्रय में १११, मध्यम ग्रैवेयक में १०७, उपरिम ग्रैवेयक त्रय में ९१ नवानुदिश में ९, पंचानुत्तर में ५ विमान हैं और प्रत्येक में जिन मन्दिर है।

पुनः सौधर्मादि इन्द की महादेवी आठ आठ हैं। उन एक-एक देवियों के प्रतिवद्ध परिवार देवी और १६०००होनेसे,सौधर्म ईशानदेवों की संख्या १२८००० होती है और आगे पाँच युगलों में अर्ध अर्ध यथा-क्रम से होती है जैसे कि ६४००० सानत कुमार द्वय को, ३२००० मोहन्द्र को, १६००० लांतव को और महा शुक्र को ८०००। सहस्रार को ४०००। आनतादि चतुष्कों को २०००, २००० स्त्रियां होतीं हैं और पटरानी सौधर्म ईशान इन्द्र को ३२००० सानत १ मोहन्द्र को ८०००, व्रह्मेन्द्र को २०००, लांतव को ५००, महाशुक्र को २५०, सहास्रार इन्द्र को १२५, आनतादि चार प्रत्येक को त्रेसठ-त्रेसठ होती हैं। दक्षिणोत्तर कल्प के देवों की देवियों के उत्पत्ति स्थान विमान सौधर्म कल्प में ६००००० होते हैं। ईशान कल्प में ४०००००। देवों के काम सुख के अनुभव को बताते हैं:—

भवन वासी से ईशान कल्प तक रहने वाले देव और देवियाँ काय-प्रविचार वाली होती हैं। मनुष्य के समान अनुभव करें तो उनकी तृप्ति होती है। सानतकुमार माहेन्द्र कल्प के देव-देवियों को स्पर्श मात्र से तृप्ति हो जाती है। अर्थात् अन्योन्यांग स्पर्श मात्र से ही काम सुख की तृप्ति हो जाती है। इस से ऊपर के चार कल्प के देव देवियों के रूप का अवलोकन करने मात्र से उनकी तृप्ति हो जाती है। अर्थात् उनके श्रृङ्गार, रूप, लावण्य, हाव भाव, विभ्रम देख कर उनकी तृप्ति हो जाती है।

हावो मुखविकारः स्याद्भावश्चितत्तु संभवः।
विलासो नेत्रजो ज्ञेयो विभ्रमः भ्रू युगान्तयोः ॥

उसमें ऊपर चार कल्प के देवों को शब्द सुनने में तृप्ति होती है। अर्थात् अन्योन्य मृदु वचन गीतालंकार आदि को सुनकर तृप्ति को प्राप्त होते हैं। वहां से ऊपर चार कल्प के देव मनः-प्रविचार से तृप्त होते हैं। अर्थात् अपने मन में विचार कर लेने मात्र से मन्मथ सुख की प्राप्ति कर लेते हैं। वे स्त्री के साथ भोग करने के समान ही सुखी होते हैं और वहां से ऊपर सभी अहमिन्द्र अप्रविचार वाले हैं। उनके समान उन देवों को सुख नहीं, ऐसा नहीं है। सेवन करने वाले यह सभी वेदनीय कर्म के उदीरणा से होने वाले दुख को उपशम करने के लिए प्रतीकार स्वरूप प्रवीचार करते हैं, वह वेदना-जन्य दुःख अहमिन्द्र कल्प में न होने के कारण वहां प्रविचार नहीं है। पांच प्रकार के अन्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए साता, शुभ पंचक में रहने वाले उन देवों के प्रविचार सुख से अनंत गुणा होता है। वह सुख कितना है? इसकी उपमा नहीं है, वह उपमातीत है अर्थात् उस सुख के समान ऐसा और कोई सुख नहीं है, अतः अहमिन्द्र ही सुखी हैं। कहा भी है :-

हृषीकजमनातंकं दीर्घकामोपलालितं।
नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव ॥

और उन वैमानिक देवों की आयु अणिमादि ऐश्वर्य, सुख, कान्ति, लेश्या की विशुद्धि, इन्द्रियों के विषय, अवधि का विषय, ऊपर-ऊपर कल्प में अधिक है। उनके रहने वाले क्षेत्र, शरीर, अभिमान, परिग्रह कम होता जाता है।

लेश्या-भवनवासी देवों से लेकर प्रथम दो कल्पों के देवों तक पीत लेश्या होती है। फिर तीसरे चौथे पांचवें युगल में पद्म होती है। छठवें मेंपद्म और शुक्ल लेश्या होती है। वहां से ऊपर सभी में शुक्ल लेश्या वाले होते हैं। भवन-त्रिक को अपर्याप्ति काल में कृष्ण नील का पोत यह अशुभ लेशा ही होती है। और उनकी विक्रिया शक्ति, अवधि का विषय, प्रथम द्वितीय युगल वालों की, प्रथम द्वितीय पृथ्वी के अंत तक होता है, वहां से ऊपर तीन स्थानों में क्रम से क्रम से चार कल्प के देव को ३-४-५ वीं पृथ्वी तक होता है। नवें ग्रैवेयक वाले और नवानुदिश वालों को ६-७ पृथ्वी तक को जानते हैं तथा विक्रिया प्राप्त करने की शक्ति वाले होते है। पंचानुत्तर के अहमिन्द्रलोग सातवीं पृथ्वी तक प्रत्यक्ष से जानते हैं। अपने-अपने अवधि क्षेत्र तक अपने-अपने शरीरको भी फैलाते हैं और उस पृथ्वी को उलटने की ताकत भी रखते हैं।

दुसु दुसु चदु दुसु दुसु चदु तित्तिसुसेसेसु देह उस्सेहो ।
रयणीए सत्त छप्पण्ण चत्तारिदले हीएकमा ॥ ५४३ त्रि०स०

अब आयु बतलाते हैं :-

कानड़ी श्लोकः-

यरडेळु पत्तु पदिना- ।
ल्केरडुत्तरेयागे पेच्चु गु स्थितियिप्प ॥
रोरडु वरमत्ता ओंदु ।
त्तरेयि मूवत्त मूरुवरमंबुधिगळ् ॥४४॥

सौधर्म ईशान कल्प में कुछ अधिक दो सागरोपम उत्कृष्ट आयु है, वह आगे के तीसरे चौथे स्वर्ग में जघन्य है, ऐसा ही क्रम ऊपर ऊपर है ।

सोहम्म वरं पल्लं वरमुहिवि सत्तदस य चोद्दसयं ।
वावीसोत्ति दुवड्ढी एक्केक्कं जाव तेतीसं ॥२७॥

अर्थ-सौधर्म कल्प में जघन्य एक पल्य उत्कृष्ट २ सागरोपम फिर क्रम से ७, १०, १४, १६, १८, २०, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ३२ ३३ सागर । सर्वार्थ सिद्धि में तेतीस सागर ही जघन्य उत्कृष्ट आयु है ।

सम्मे घादे ऊणं सायरदलमहियमा सहस्सारा ।
जलहि दल मुडुवराऊ पदलं पडि जाण हाणिचयं ॥२८॥

प्रथम कल्प द्वय में हानि वृद्धि के प्रमाण सागरोपम के त्रिशत् भाग होने से $\frac{२}{२०}$ प्रत्युत्कृष्ट आयुष्य $\frac{१}{२}$, $\frac{१६}{३०}$, $\frac{२०}{३०}$, $\frac{२७}{३०}$, $\frac{२९}{३०}$, $\frac{३१}{३०}$, $\frac{३३}{३०}$, $\frac{३७}{३०}$, $\frac{३९}{३०}$, $\frac{४१}{३०}$, $\frac{४३}{३०}$, $\frac{४५}{३०}$, $\frac{४७}{३०}$, $\frac{४९}{३०}$; $\frac{५१}{३०}$, $\frac{५३}{३०}$, $\frac{५५}{३०}$, $\frac{५७}{३०}$, $\frac{५९}{३०}$, $\frac{६१}{३०}$, $\frac{६३}{३०}$, $\frac{६५}{३०}$, $\frac{६७}{३०}$, $\frac{६९}{३०}$, $\frac{७१}{३०}$, $\frac{७२}{३०}$, $\frac{५}{१}$ सानत कुमार युगल में $\frac{४५}{१४}$, $\frac{५५}{१४}$, $\frac{६५}{१४}$, $\frac{७५}{१४}$, $\frac{८५}{१४}$, $\frac{९५}{१४}$, ब्रह्म युगल में ३२ का छेद करने से $\frac{३३}{४}$, $\frac{३९}{४}$, $\frac{३१}{२}$; लांतव द्वय में $\frac{२५}{२}$, $\frac{१९}{२}$ शुक्र द्वय ३२ में $\frac{३३}{२}$ शतार द्वय में ३७ को $\frac{३७}{२}$ आनत द्वय में घातायुष्य (अकाल मृत्यु वाले) की उत्पत्ति नहीं है। $\frac{१९}{२}$, $\frac{३९}{२}$, २० आरण युग में $\frac{६२}{३}$ इस से ऊपर वालों की उपर्युक्त कहे हुए घाति आयुष्य में तीन इन्द्रकमें जघन्य आयु पल्य के तीन भाग $\frac{५}{३}$ है ।

उवहिदलं पल्लद्धं भवणे वित्तर दुगे कमेण हियं ।
सम्मे मिच्छे घादे पल्लासंखं तु सव्वत्थ ॥५४०॥

पूतायुष्य में सम्यग्दृष्टि को अर्ध सागरोपप अधिक है । व्यंतर ज्योतिष्क में सम्यग्दृष्टि की आयु अर्ध पल्योपम से अधिक है । किन्तु भवनवासियों में के असुर

कुमार का डेढ़ सागरोपम है। व्यंतर ज्योतिष्कों में डेढ़पल्य है। पूर्व आयुष्य वाले मिथ्यादृष्टि को सर्वत्र चतुर्निकायों में पल्य के असंख्यातवें भाग से अधिक है, और देवियों की जघन्य आयु प्रथम युगल में साधिक पल्य है, उत्कृष्ट ५ आयु पल्योपम सौधर्म में है और ग्यारहवें कल्प तक दो-दो पल्य की वृद्धि है। और चार कल्प तक सात तक वृद्धि होकर अच्युत कल्प देवियों की ५५ पल्योपम आयु होती है।

साहियपल्लं अवरं कप्पदुगित्थीणपरण पढमवरं।
एक्कारसे चउक्के कप्पे दो सत्त परिवड्ढी ॥३०॥

भावार्थ——सौधर्म कल्प में साधिक पल्य जघन्य स्थिति, सौधर्मादि कल्पों में उत्कृष्ट स्थिति ५, ७, ६, ११, १३, १५, १७, १६, २१, २३, २५, २७, ३४, ४१, ४८, ५५, पल्य है और उन देव दम्पतियों को—

सहजांगांबर भूषण।
सहस्र किरणंगळु निजांगप्रभेयु ॥
गृहभित्तियेमणिकुट्टिम।
महियंशुगळु पळंचि पत्तु देशेयं ॥५५॥
पासिन पोरेयोळु जनियिसि।
भासुर भूषांबर प्रसूनतें जो ॥
दृभासि गळोप्पिव तम्मा।
वासिसिदमु प्रसुस मनुष्वदिचवोळ् ॥५६॥
समचतुरस्र शरीर।
समस्तमल धातु दोष रहित स्वेद ॥
श्रमरोग वर्जितवि।
व्यमूर्तिगळु दिव्यवोधरणिमाविगुणर् ॥५७॥
सासिर वर्षक्कन।
तिशआग्रमं नेनेअरोमेंसुयुत्रसु खदिं ॥
मासार्धक्के सुमस्त सु।
रासुररनुपम बीभिसळु सौरभमु ॥५८॥

अर्थ—इस प्रकार देव देवियों का आयुकाल ऊपर ऊपर बढ़ता गया है। तदनुसार उनका आहारकाल, श्वास निःश्वास काल अधिक होता जाता है। अधिक होते होते सर्वार्थ सिद्धि के देव ३३ हजार वर्ष में एक बार मानसिक आहार करते हैं। १६½ मास में एक बार श्वास लेते हैं। देवों का शरीर अति

सुन्दर, समचतुरस्र संस्थान वाला, पसीना रहित होता है उनका शरीर वैक्रियिक होता है, अतः उनको मलमूत्र नहीं होता, रक्त आदि धातु उसमें नहीं होते। वे बहुत सुन्दर दिव्य वस्त्र आभूषण पहनते हैं। उनके रहने के स्थान बहुत सुन्दर होते हैं, उनको कभी कोई रोग नहीं होता। आदि भोग उपभोग सुख उन्हें प्राप्त होते है।

ब्रह्मलोकान्तालयाश्चतुर्विंशतिलौकान्तिकाः ॥१४॥

अर्थ–ब्रह्मलोक के अन्तिम भाग में रहने वाले लौकान्तिक देव होते हैं, वे २४ हैं।

व्याख्या–ब्रह्मलोक के अन्त में ईशान आदि दिशाओं में रहने वाले १–सारस्वत, २ अग्न्याभ, ३ सूर्याभ, ४ आदित्य, ५ चन्द्राभ, ६ सत्याभ, ७ वन्हि ८ श्रेयस्कर, ९ क्षेमङ्कर, १० अरुण, ११ वृषभेष्ट, १२ कामधर, १३ गर्दतोय १४ निर्माण राजस्क, १५ दिगन्तरक्षक, १६ तुषित, १७ आत्मरक्षित, १८ सर्वरक्षित, १९ अव्याबाध, २० मरुत, २१ अरिष्ट, २२ वसु, २३ अश्व, २४ विश्व नामक लौकान्तिक देव हैं।

सारस्वत ७०७, अग्न्याभ ७००७, सूर्याभ ९००९, आदित्य ७०७, चन्द्राभ ११०११, सत्याभ, १३०१३, वन्हि ७००७, श्रेयकर १५०१५, क्षेमंकर १७०१७, अरुण ७००७, वृषभेष्ट १९०१९, कामधर २१०२१, गर्दतोय ९००९ निर्माण राजस्क २३०२३, दिगन्तरक्षक २५०२५, तुषित ९००९, आत्मरक्षित २७०२७, सर्वरक्षित २९०२९, अव्याबाध ११०११, मरुत् ३१०३९, वसु ३३०३३, अरिष्ट ११०११, अश्व ३५०३५, और विश्व ३७०३७, है। इस प्रकार समस्त लौकान्तिक देव ४०७८२० होते हैं।

निरंजन परम ब्रह्मस्वरूप अभेद भावना के द्वारा चिन्तवन करने वाले लौकान्तिक देवों के रहने के कारण इस पंचम स्वर्ग का नाम 'ब्रह्मलोक' सार्थक है। तथा संसार का अन्त करने वाले एवं स्वर्ग के अन्त में रहने के कारण उन देवों का नाम 'लौकान्तिक' यथार्थ है, लौकान्तिक देवों में परस्पर हीन-अधिक भेद भावना नहीं होती, काम-वासना से रहित वे ब्रह्मचारी होते हैं, बारह भावनाओं के चिन्तवन में सदा लगे रहते हैं, १४ पूर्व के पाठी होते हैं, समस्त देवों, इन्द्रों द्वारा पूज्य होते हैं और तीर्थंकर के तप कल्याणक के समय ही उनकी वैराग्य भावना को बढ़ाने लिए तथा प्रशंसा करने के लिये आते हैं। उनकी आयु ८ सागर की होती है। वे सब चतुर्थ गुणस्थानवर्ती एवं शुक्ल लेश्या वाले होते हैं। उन देवों में से अरिष्ट देवों की आयु ९ सागर की होती

है, ५ हाथ ऊंचा शरीर होता है। सभी लौकान्तिक संसार दुख से भयभीत निरंजन वीतराग भावना में सदा लीन रहते हैं।

अणिमाद्यष्टगुणाः ॥१५॥

अर्थ—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, ये आठ गुण देवों के वैक्रियिक शरीर में होते हैं। उस देव गति में भेद प्रभेद रत्नत्रय-आराधन सम्यग्दृष्टि भी होते हैं, अतः सम्यक्त्व गुण देवों में होता है। इन्द्र अहमन्द्रि आदि महर्द्धिक देव सम्यक्त्व गुण के भी कारण निरतिशय आध्यात्मिक सुख का अनुभव करते हैं।

देवगति में उत्पत्ति के कारण—

असैनी पर्याप्तक व्यन्तर देवों में, तापसी भोगभूमि के मिथ्यादृष्टि भवनत्रिक में, भोगभूमि के सम्यग्दृष्टि सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। परवश रहकर ब्रह्मचर्य पालन करने वाले, जैल आदि में पराधीनता से काय-क्लेश आदि शान्ति से सहन करने वाले, बालतप करने वाले नीच देव आयु का बन्ध करते हैं। देवायु का बन्ध हो जाने के पश्चात् यदि अग्नि में जलकर अथवा जल में डूबकर अथवा पर्वत से गिरकर आदि ढंग से शरीर त्याग करें तो वे नीच देवों में उत्पन्न होते हैं। आत्म आराधक परिव्राजक पंचवें स्वर्ग तक होते हैं। शान्त परिणामी परम हंस साधु १६ वें स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं। पशु तथा मनुष्य असंयत सम्यग्दृष्टि, देश संयमी महान तप करने वाली द्रव्यस्त्रियां सोलहवें स्वर्ग तक महर्द्धिक देव होती हैं। द्रव्य से महाव्रती किन्तु भाव से देशव्रती तथा असंयत सम्यग्दृष्टि, भद्र परिणामी मिथ्यादृष्टि नौवें ग्रैवेयक तक जाते हैं। द्रव्य एवं भाव से महाव्रती, उपशम श्रेणी में आरूढ़, शुक्लध्यानी मुनि सर्वार्थसिद्धि तक उत्पन्न होते हैं।

ईशान कल्प वाले कन्दर्प देव, अच्युतस्वर्ग तक के आभियोग्य देव अपने अपने कल्प की जघन्य आयु का बन्ध करके दुख का अनुभव किया करते हैं।

कर युगमं मुगिदोंकि-।
करवाहनदेव नप्पे नें पापियेनो-॥
त्करकरमेंदा वाहन।
सुराविगळ् नोंदु बे बुतिपंमं न वोळ् ॥५५॥

अर्थ—वाहन देवों को उनके स्वामी देव कठोर शब्दों का व्यवहार करते हैं। तब वाहन देव अपने मन में बहुत दुखी होते हैं और विचारते हैं कि मैं पूर्व जन्म में कुतप करने आदि से ऐसा नीच देव हुआ हूं। इसके

सिवाय वे कठोर वचन बोलने वाले देवों को अपने मन में आला करते हैं।

देव उपपाद भवन में, उपपाद शय्या पर अन्तर्मुहूर्त में अपनी छहों पर्याप्ति पूर्ण करके नवयौवन शरीर को दिव्य वस्त्र आभूषण सहित प्राप्त कर लेते हैं और जैसे मनुष्य सोकर उठते हैं, उसी प्रकार वे उपपाद शय्या से परिपूर्ण शरीर पाकर उठ बैठते हैं।

नेरेयवे सुन्नकेसा पडिगळु नवसौरभ मुण्मे नोक्कळं ।
नेरेक्कु रत्नतोरणगणं गळु दप्रविमानराशियो- ॥
ळ्नेरेदवु जीवन दोळ् गुडिय दांगुडिगळ्डिदाडुवंतेसु- ।
त्तिरुदवु भोंकनातन पुरातन पुण्य फल प्रभावदिं ॥५६॥

अर्थः—उपपाद शय्या से उठने वाले देव को उसके पुण्य प्रताप से सुन्दर तोरण-शोभित विमान तथा जीवन का भोग उपभोग आदि सुख सामग्री उसके चारों ओर उपस्थित मिलती है। तथा उसके परिवार के देव उस उत्पन्न हुए देव के सामने आकर जय जयकार बोलते हुये, स्वागत करने के लिये हर्ष आनन्द मनाते हैं, उसके सामने सुन्दर गान नृत्य करते हैं, सिर झुकाकर नमस्कार करते हैं, मानों जंगम लता ही उसके सामने झुक रही हो। रत्न दर्पण भृंगार, चमर, छत्र, कनक कलश आदि सामग्री लाते है, नियोगिनी सुन्दरी देवांगनायें बड़े हाव भाव विलास विभ्रम आदि द्वारा उस नये देव का चित्त अपनी ओर आकर्षित करती है। देव उसके शिर पर अक्षत रखते हैं। उस दिव्य सामग्री को अपने सामने उपस्थित देखकर वह हर्ष से फूला नहीं समाता तथा अनिन्द्य-सुन्दरी देवांगनाओं को देखकर वह कामातुर हो उठता है। अपनी देवियों के मिष्ट चातुर्य-पूर्ण शब्द सुनकर, उनके चरणों के नूपुरों के शब्द सुन कर तथा उनके कटाक्ष को देखकर वह विचार करने लगता है कि मैं यहां कहां आगया हूं, यह सब क्या है? ऐसा विचार होते ही उसे अवधि ज्ञान से उस स्वर्ग का वैभव जान पड़ता है और पुण्य कर्म के उदय से वहां पर अपने उत्पन्न होने का कारण ज्ञात हो जाता है। धर्म की महिमा की प्रशंसा करता है। तदनन्तर सरोवर में स्नान करके सम्यग्दृष्टि देव जिनेन्द्र भगवान की पूजा करते हैं और मिथ्यादृष्टि देवों को पूजा करने की प्रेरणा करते है।

देव निरन्तर सुख सागर में निमग्न रहते हैं अत: वे अपने आयु के दीर्घकाल को व्यतीत करते हुये भी नहीं जान पाते। जब कहीं पर किसी तीर्थंकर का कल्याणक होता है अथवा किसी मुनि को केवल ज्ञान होता है तब चारों निकाय के देव उनका उत्सव करने जाते हैं। परन्तु अहमिन्द्र देव अपने स्थान पर रहकर

हो वहां भगवान को हाथ जोड़ कर अपने मुकुट सुशोभित शिर को झुकाकर नमस्कार कर लेते हैं।

देवों की आयु जब ६ मास अवशेष रहती है, तब देव अग्रिम भव का आयु का बंध किया करते हैं और आयु समाप्त करके कर्म भूमि में आकर जन्म लेते हैं। सम्यग्दृष्टि देव बल, बुद्धि वैभव, तेज, ओज, पराक्रम सौंदर्य-सम्पन्न, शुभ लक्षणधारक, भाग्यशाली मनुष्यों के रूप में जन्म लेते हैं।

कुतप, बालतप, शीलरहित, व्रतपालन आदि से भवन-त्रिक में उत्पन्न हुये जो देव मिथ्यादृष्टि होते हैं वे अपनी आयु का समस्त समय दिव्य इन्द्रिय-सुखों के भोगने में ही व्यतीत करते हैं। जब उनकी आयु ६ मास अवशेष रह जाती है तब उनको अपने कल्पवृक्ष कांपते हुए, निस्तेज (फीके) दिखाई देने लगते हैं तथा उनके गले की पुष्पमाला भी मुरझा जाती है इससे उनको अपनी आयु छह मास पीछे समाप्त होने की सूचना मिल जाती है। दिव्य सुखों की समाप्ति होते जानकर उनको बहुत दुख होता है, अपने विभंग अवधि ज्ञान से गर्भवास का दुख प्राप्त होता जानकर उन्हें बहुत विषाद होता है, वे अपनी देवियों के साथ वियोग होना जानकर रुदन करते हैं। इस तरह असाता वेदनीय कर्म का बन्ध कर क्लेशित परिणामों से स्थावर काय में जन्म लेने की भी आयु बांध लेते हैं जिससे अपने दिव्य स्थान से च्युत होकर चन्दन, अगुरु आदि वृक्षों में तथा पृथ्वी आदि काय में जन्म ग्रहण करते हैं।

कुछ मिथ्यादृष्टि देव निदान बन्ध करके हाथी घोड़ा आदि पंचेन्द्रिय पशुओं में तथा कुछ मनुष्यों में जन्म ग्रहण करते हैं।

जो सम्यग्दृष्टि देव होते हैं वे अपनी आयु समाप्त होती जानकर दुखी-नहीं होते। उस समय उनका यह विचार होता है कि 'अब हम मनुष्य भव पाकर तपश्चरण करने की सुविधा प्राप्त कर लेंगे जिससे कर्मजाल छिन्न भिन्न करके मुक्ति प्राप्त कर सकेंगे।' ऐसा विचार करके वे प्रसन्न होते हैं, उनको दिव्य सुखों के छूटने का दुख नहीं होता क्योंकि वे इन्द्रिय-जन्य सुख और दुख को समान दृष्टि से देखते हैं। वे विचारते हैं कि हमने अब तक भेद अभेद रत्नत्रय न प्राप्त करने के कारण संसार में अनन्त भव धारण करके भ्रमण किया, अब हमको मनुष्य भव में इस भव-भ्रमण से छूटकर अनन्त अपार अव्याबाध अविछिन्न सुख प्राप्त करने का सुअवसर प्राप्त होगा, ऐसा विचार करके वे त्रिलोकवर्ती ८५६९७४८१ अकृत्रिम चैत्यालयों तथा भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषियों के भवनवर्ती एवं विमानवर्ती तथा अन्य कृत्रिम जिन

भवनों में जाकर जिनेन्द्र देव का पूजन, स्तुति करते हैं, तीर्थंकरों के कल्याणकों में भाग लेते हैं, केवलियों की, मुनियों की वन्दना करते हुये पुण्य-उपार्जन करते हैं। अन्त में वे दीपक बुझ जाने के समान अदृश्य होकर अपना दिव्य शरीर छोड़ते हैं जो चक्रवर्ती तीर्थंकर होने वाले होते हैं उनके वस्त्र आभरण फीके नहीं होते, न उनके गले की माला मुरझाती है। जो देव चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र होने वाले होते हैं उनकी माला भी नहीं मुरझाती, शेष सभी देवों के गले की माला ६ मास पहले मुरझा जाती है।

नव अनुदिश तथा विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित इन १३ स्थानों के देव मर कर अधिक से अधिक दो मनुष्य भव पाकर मुक्त होते हैं और सर्वार्थ-सिद्धि के देव केवल एक महर्द्धिक मनुष्य भव पाकर ही मुक्त होते हैं।

सर्वार्थ सिद्धि से १२ योजन ऊपर 'ईषत् प्राग्भार' नामक आठवीं भूमि है जो कि उत्तर से दक्षिण ७ राजू मोटी और पूर्व से पश्चिम एक राजू चौड़ी है उसी पर १४५ लाख योजन विस्तार वाली ८ योजन मोटी शुद्धस्फटिक मणि की आधे गोले के आकार सिद्धशिला है जिसे सितावनी (स्वच्छ सफेद पृथ्वी) भी कहते हैं।

उस सिद्धिशिला से ऊपर ४२५ धनुष, कम एक कोश मोटा घनोदधि वातवलय, उतना ही मोटा घनवातवलय तथा उसी के समान तनुवातवलय है। उस तनुवातवलय के ६००००० भाग करने पर एक भाग प्रमाण में जघन्य अवगाहना वाले सिद्ध है। तनुवातवलय के एक हजार पांच सौ १५०० भाग करने पर एक भाग में उत्कृष्ट अवगाहना वाले सिद्धों का निवास है।

सिद्धों की जघन्य अवगाहना साढ़े तीन हाथ प्रमाण और उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष प्रमाण है। सिद्धों की मध्यम अवगाहना के अनेक भेद हैं।

मध्यलोकवर्ती सम्यग्दृष्टि मनुष्य कर्मकलंक समूल नष्ट करके उस सिद्धि स्थान में विराजमान होते हैं। सिद्ध स्व-अनन्त अव्याबाध, अक्षय, असीम, अभव्य जीवों को अप्राप्य, अनुपम सुख का सदा अनुभव करते हैं।

वरमध्यापर जिनमं- ।
दिरमर्द्धाद्धं क्रमं विमानद नंदी- ॥
श्वरव भद्रशाल नंदन- ।
वर जिनहर्म्यंमंतु उत्कृष्टंगळ् ॥५३॥
कुळ रुचक मनोसर कुं- ।
डल वक्षाराचलं गळिष्वाकारं ॥

गळ सौमनस बनंगळ ।
निळयं मध्यदवु पांडुकाम्बरंगळ् ॥५७॥
आयामं नूरगलमु ।
मामामवदळ इयांर्द्ध मुत्कृष्ट गृहो ॥
च्छ्रायं षोडशकं, द्वारांतिकता, नेंदुयोजनं विष्कंभं ॥५८॥
रजतगिरि जम्बुशाल्मलि ।
कुजगत भवलावळि योंदु नीळं क्रोशं ॥
त्रिजगन्नुत शेष गृह ।
व्रज यतियंतंतवक्क तक्कंतक्कु ॥५९॥
श्रीमन्मेरौ कुलाद्रौ रजतगिरिवरे शाल्मलौ जम्बु वृक्षे ।
वक्षारे चैत्यवृक्ष रतिकर रुचके कुण्डले मानुषांके ॥
इष्वाकारेञ्जनाद्रौ दधिमुखशिखरे व्यन्तरे स्वर्गलोके ।
ज्योतिर्लोकेभिवन्दे भुवन महितले यानि चैत्यालयानि ॥
देवासुरेन्द्र नरनाग समर्चितेभ्यः ।
पापप्रणाशकर भव्य मनोहरेभ्यः ॥
घण्टा ध्वजादि परिवार विभूषितेभ्यो ।
नित्यं नमो जगति सर्व जिनालयेभ्यो ॥
कोडिलक्ख सहस्सं अट्ठय छप्पन्न सत्तानउ दिया ।
चउसद मेवा सीदिगणनग एचेदिए वंदे ॥३१॥
अड़दाला नवय सया सत्तोवीस सहस्स लक्ख तेवण्णा ।
कोडिपणवीसनवय सयाजिणपडिमाअक्कट्टिमा किट्टिवंदामि॥३२॥
तिहुवण जिणंद गेहो अकिकट्टिमा किट्टमेत्ति कालभवे ॥
वण कोमर भेदगामर नर खेचर वंदिये वंदे ॥३३॥

इति माघनन्द्याचार्य विरचित शास्त्रसारसमुच्चये
करणानुयोगवर्णनो द्वितीयपरिच्छेदः ।

चरणानुयोग

सुरनरकिन्नरनुतनं, परम श्री वीरनाथनं मनेवोलविं ॥
वरभव्यजनके पेळ्वें, निरुपम चरणानुयोगमं कन्नडदिं ॥२॥

अर्थात–सुर नर और किन्नर लोग जिनको नमस्कार करते हैं ऐसे परम परमेश्वर श्री वीरनाथ भगवान को स्मरण करके मैं भव्य जीवों के कल्याण के लिये हिन्दी भाषा में चरणानुयोग का व्याख्यान करता हूं।

सूत्रावतार का विशेष कारण ज्ञान और चारित्र है। उस ज्ञान और चारित्र का मूलभूत सम्यक्त्व है, जैसे कि महल के लिये नींव। सम्यक्त्व·मोक्ष पुर के प्रति गमन करने वाले को पाथेय के समान है। मुक्ति लक्ष्मी के विलास के लिये मणिमयदर्पण के समान है। संसार समुद्र में गिरते हुए प्राणियों को बचाये रखने के लिये हस्तावलम्बन के समान है। ग्यारह प्रतिमामय श्रावक धर्म रूप प्रासाद के लिए अधिष्ठान के समान है। परम कुशलता देने वाले उत्तम क्षमादि दश धर्म रूप कल्पपादप के लिये जड़ के समान है। परमोत्तम लक्ष्मी के साथ समागम करने के लिये मंगल रत्नमय महल है। विषम जो दर्शन मोह रूप उग्रग्रह, उसके उच्चाटन के लिए परमोत्तम यन्त्र है। दीर्घ संसार रूप जो काला सांप है उसके मुह से उत्पन्न हुए भयंकर बिष को मिटाने के लिये मारणतन्त्र है। मोक्ष लक्ष्मी को वश में करने के लिए परमोत्तम वशीकरण मन्त्र है। व्यन्तर विष और रोगादि-जन्य क्षुद्रोपद्रवों को नाश करने के लिए रक्षा मणि के समान है। आसन्न भव्य के लिये मनोवांछित फल प्रदान करने वाले चिन्तामणि के समान है। भव्य जीव रूप लोहे को स्पर्श मात्र से जातरूप (सुवर्णमय या दिगम्बर मुनि मय) बना देने वाली पारस रत्न के समान है। सम्पूर्ण पाप रूप वन को जला डालने के लिए दावानल अग्नि के समान है। ज्ञान और वैराग्य रूप बगीचे के लिये बसंत ऋतु के समान है। विशिष्ट पुण्य कर्म का अनुष्ठान करने के लिये पवित्र तीर्थ है। जन्म जरा और मरण को मिटाने के लिए सिद्ध रसायनका पिटारा है, आठ अंगों की पुष्टि के लिए उत्तम पुष्प मंजरी के समान है। ऐसे उस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए पांच लब्धियों की आवश्यकता है, उन पंच लब्धियों का वर्णन के लिए सूत्र—

पंच लब्धयः ॥१॥

अर्थ—सम्यक्त्व उदय होने के लिए ५ लब्धियां होती हैं।

अब चरणानुयोगान्तर्गत पांच लब्धियों का वर्णन किया जाता है।

१ क्षयोपशम लब्धि, २ विशुद्धि लब्धि, ३ देशना लब्धि, ४ प्रायोग्य लब्धि और ५ वीं करण लब्धि। इस प्रकार जब पांच लब्धियां प्राप्त हो जाती हैं तब इनके सहयोग से संसारी जीवों को प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। उसका विवरण यह है:—जब कभी अशुभ कर्मों की अनुभाग शक्ति को प्रति समय अनन्त गुण हीन करते हुये उदीरण होने योग्य कर लिया जाता है उस अवस्था का नाम क्षयोपशम लब्धि है। १

साताआदि प्रशस्त प्रकृतियो के बंध योग्य परिणाम का होना विशुद्धि लब्धि है।

जीवादिक वस्तु के वास्तविक स्वरूप का उपदेश करने वाले आचार्यों का निमित्त पाकर उनका उपदेश सावधानी से श्रवण करना देशना लब्धि है।

अनादि काल से उपार्जित किये हुये ज्ञानावरणादि सात कर्मों की स्थिति को घटाकर अन्त: कोडा कोडी सागरोपम प्रमाण कर लेने की योग्यता आ जाना तथा लता, दारु, अस्थि और शैल रूप अनुभाग वाले चार घातिया कर्मों की अनुभाग शक्ति को घटाकर केवल लता और दारु के रूप में ले आने की शक्ति हो जाना 'प्रायोग्य लब्धि' है। ये चारों लब्धियाँ भव्य तथा अभव्य दोनों प्रकार के जीवों को समान रूप से प्राप्त होती हैं।

परन्तु अब पाँचवीं करण लब्धि, जो कि केवल आसन्नभव्य जीवों को ही प्राप्त होती है, उसका स्वरूप कहते हैं।

भेदाभेद रत्न-त्रयात्मक मोक्षमार्ग को तथा सम्पूर्ण कर्मों के क्षय स्वरूप मोक्ष को और अतीन्द्रिय परम ज्ञानानन्दमय मोक्ष स्थल को अनेक नय निक्षेप प्रमाणों के द्वारा भली भांति जान कर दर्शन मोहनीय के उपशम करने योग्य परिणामों का होना 'करण लब्धि' है।

अदु दर्शन रत्न प्रद।
मदु सुचरित जन्म निलय मंतदु भव्य॥
त्वद कण्देरवि विवेक।
वकदु फलमदु बुधजन प्रणूतं ख्यातं॥१॥
करणं त्रिविधम् ॥२॥

अर्थ—१ अध: प्रवृत्तिकरण, २ अपूर्व करण तथा ३ अनिवृत्ति करण इस प्रकार करण के ३ भेद होते हैं। प्रत्येक करण का काल अन्त मुहूर्त होता है। फिर भी एक से दूसरे का काल संख्यात गुणा हीन होता है। उसमें अध: प्रवृत्तिकरण काल में यह जीव प्रति समय उत्तरोत्तर अनन्त गुणी विशुद्धि को

प्राप्त होता हुआ चला जाता है। जिसमें प्रति समय संख्यात लोक मात्र परिणामों के चरम समय तक समान वृद्धि से बढ़ता चला जाता है। इस अधः प्रवृत्ति करण का कार्य स्थिति बंधापसरण है। अब इसके आगे अपूर्ण-करण का प्रारम्भ होता है जिसमें असंख्यात लोक प्रमाण विशुद्धि क्रम से प्रति समय समान संख्या के द्वारा बढ़ती जाती है। इसका काम स्थिति बंधापसरण, स्थिति कांडक घात अनुभाग, कांडक घात तथा गुण संक्रमण और गुण श्रेणी निर्जरा होना है।

अधः प्रवृत्ति करण में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम भी समान हो सकते हैं तथा एक समयवर्ती जीवों के परिणाम विसदृश भी हो सकते हैं। परन्तु अपूर्व करण में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम भिन्न जाति के ही होते हैं। फिर भी एक समयवर्ती जीवों के परिणाम सभी जीवों के समान न होकर विभिन्न जाति के ही होते है।

अब इसके आगे आने वाले अनिवृत्ति करण में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम भिन्न जाति के ही होते हैं। और एक समयवर्ती जीवों के परिणाम सभी के एक से ही होते हैं। इस प्रकार सुदृढ़ परिणामों के द्वारा वह भव्य जीव पूर्व की अपेक्षा और भी अधिक स्थिति बंधापसरण करने वाला होता है। इस अनिवृत्ति करण के अन्त समय मे चतुर्गति में उत्पन्न होने वाला भव्य जीव ही गर्भज पंचेन्द्रिय सैनी पर्याप्तक अवस्था को प्राप्त होता हुआ शुभ लेश्या सहित होकर ज्ञानोपयोग मे परिणत होता हुआ वह जीव इस अनिवृति करण नामक बज्रदंड के घात से संसार वृद्धि के कारण रूप मिथ्यात्व रूपी दुर्ग को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। और सम्यग्ज्ञान लक्ष्मी के अलंकार स्वरूप सम्यग्दर्शन को उस शुभ मुहूर्त में प्राप्त हो जाता है।

उदयिसि दुदु वर भव्यन।
हृदय दोळमिरततरणि सकला भिमत॥
प्रवचिन्तामणितविलि।
ल्लिद संवेगादि गुणवकणि सम्यक्त्वं॥२॥
अंतु परमात्मपदमन।
नंतज्ञानादि गुणगणअाजितमं।
भ्रांतिसदे लब्धिवशदिं।
दंतिळि दडिगडिगे रागिसुत्तिर्पागळ्॥३॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है।

१—आप्त, आगम और पदार्थों के स्वरूप को जानना और उन पर समुचित रूप से ठीक ठीक श्रद्धा करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

२—निज शुद्धात्मा ही साक्षात् मोक्ष का कारण है, इस प्रकार जानकर दृढ़ विश्वास करना निश्चय सम्यग्दर्शन है। अथवा नय निक्षेपादि के द्वारा पदार्थ के स्वरूप को अपने आप जानना निसर्गज सम्यग्दर्शन है। और पराश्रय से पदार्थों के स्वरूप को जानकर विश्वास करना अधिगमज सम्यग्दर्शन है। तथा जहां तक सम्यग्दर्शन में स्व और पर के विकल्प रूप आश्रय हो वह सराग सम्यग्दर्शन होता है और वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन मात्र का अवलंबन जहां पर होता है वह वीतराग सम्यग्दर्शन है।

त्रिविधम् ॥४॥

अर्थ—औपशमिक, वेदक और क्षायिक के भेद से सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का भी होता है। वह इस प्रकार है:—

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियों के उपशम होने से औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व तथा सम्यग्मिथ्यात्व के उपशम होने से और सम्यक् प्रकृति के उदय होने से जो सम्यक्त्व होता है उसे वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। सातों प्रकृतियों के परिपूर्णतया नाश होने से क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

वेदक सम्यग्दृष्टि जब उपशम श्रेणी के सन्मुख होता है तब द्वितीयोपशम सम्यक्त्व होता है। जिस वेदक सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व होता है वह कृतकृत्य वेदक सम्यक्त्व कहलाता है।

दशविधं वा ॥५॥

अर्थ—अथवा सम्यग्दर्शन १० प्रकार का है:—१ आज्ञा सम्यक्त्व, २ मार्ग सम्यक्त्व, ३ उपदेश सम्यक्त्व, ४ सूत्र सम्यक्त्व, ५ बीज सम्यक्त्व, ६ संक्षेप सम्यक्त्व, ७ विस्तार सम्यक्त्व, ८ अर्थ सम्यक्त्व, ९ अवगाढ सम्यक्त्व, १० परमावगाढ़ सम्यक्त्व,

जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का श्रद्धान करने से जो सम्यग्दर्शन होता है वह आज्ञा सम्यक्त्व है। ॥१॥ जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रदर्शित मुक्ति मार्ग ही यथार्थ है ऐसे अचल श्रद्धान से जो सम्यक्त्व होता है वह मार्ग सम्यक्त्व है ॥२॥ निर्ग्रन्थ मुनि के उपदेश को सुनकर जो आत्म-रुचि होकर सम्यग्दर्शन होता है वह

उपदेश सम्यक्त्व है ।।३।। सिद्धान्त सूत्र सुनने के पश्चात् जो सम्यक्त्व होता है वह सूत्र सम्यक्त्व है ।।४।। बीज पद सुनकर जो सम्यक्त्व होता है वह बीज सम्यक्त्व है ।।५।। संक्षेप से तात्विक विवेचन सुन कर जो सम्यग्दर्शन होता है वह संक्षेप सम्यक्त्व है ।।६।। विस्तार के साथ तत्व विवेचन सुनने के बाद जो सम्यक्त्व होता है वह विस्तार सम्यक्त्व है ।।७।। आगम का अर्थ सुन कर जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह अर्थ सम्यक्त्व है ।।८।। द्वादशांगवेत्ता श्रुतकेवली के जो सम्यक्त्व होता है उसे अवगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं ।।९।। केवल ज्ञानी का सम्यक्त्व परमावगाढ सम्यक्त्व है ।।१०।।

इस प्रकार जिन्होंने सम्यक्त्व प्राप्त किया उन्होंने जिनेन्द्र भगवान के मार्ग का अनुगमन किया और मार्दवधर्म, विनय-सम्पन्नता को स्वीकार किया।

मृदुशठ वचनद बकवे । षद मरेयोळु सवियमरेय विषदु प्रतेयं
ददिनिप्पबंगागदु स । त्याधिष्टितं जिनेश्वर मार्ग ।७।
इदु योग्यमयोग्य । मिदेन्नदोवियदलंघनिमिरेगतिहानिगम
ळदिनडेव कानरंगा । गदु सकलत्याग साधकं जैनमतं ।८।
इवु सप्तप्रकृतिगळिं । विवुगळुपशमदिं क्षयोपशमदिं क्षयदिं ।
पवणिल्लद दणिविल्लद । भवसमितिगेपवणं माडुत्तमुदयिपुदुसम्यक्त्वं

इस प्रकार मोक्ष मार्ग के प्रतिकूल जैसे:—

बयसि निदानमं सुकृतमिल्लद वर्भरदितदग्रभू
मियनेगळुत्तमिर्दु निधिगाण्बेडेयोळ् मरुळागि पोपमा
ळ्केयिन पवर्गमार्गदोदविं फलरु पिरिदोदितत्वनि
र्णय जनकोक्तियल्लि जडरप्परिदे नघशक्ति चित्रमो ।९।
जिनदीक्षेगेळ्गुमह । मिद्रंरागिपुट्टुगुमनन्त भवदोळु जीव
मनदोळु सम्यग्दर्शन । मनोमेयु पोर्द दिनमघटित मोळवे ।१०।
ज्ञात्वातलामलक मद्भुवि सर्व विद्या ।
कृत्वा तपांसि बहुकोटि युगांतराणि ।
दर्शनामृतरसायन पान वाह्य
नात्यंति किमनुभवं त हि मोक्ष लक्ष्मी ।११।
अदु दूरभव्यनोळ्कू । डददेन्तुमभव्य जीवनोळ्पुट्टिविसदं ।
तदु दुर्लभमदु भवभय । विदुर मदासन्न भव्यनोळ् समनिसुगुं ।१२।

आराध्यनवागममं । चाह पदार्थममल योगीश्वररं
सारासार विचारदि । नारैवरिदु वोलिदुनंबुवुदु सम्यक्त्वं ।१३।
परमगुरु वचन दीप । स्फुरितदबलदिंसुयुक्ति लोचनदिं मो
ळ्पर मन वोळाद वस्तु । स्वरूपवादात्म निश्चयं सम्यक्त्वं ।१४।
चलियिसुगुमेत्तलानुं । कुल भूदर मग्नि शैत्यमं कैकोळ्गुं
तळ्गुं चद्रं बिसुपं । तकरदु जिनवचन मेंबबगे सम्यक्त्वं ।१५।
स्थिरतेयोळमरुविनोळमो । बॅरनोर्वर्मिगुवपुरुषरुळ्ळु दरिंदे
ललरुमं मिगुवनुमोळना । परमात्मने दैव मेंबबगे सम्यक्त्वं ।१६।
सकल विमोह क्षतदिं । सकल जगद्वंद्यवीतराग ते जिनरोळ्
सकलावरणक्षयदिं । सकल ज्ञानते ये सगु मेंबबगे सम्यक्त्वं ।१७।
येनितोंदु मोह पाशम । दनितुं बिडे मोक्ष मदरिनळिपेंबुद
नेनिनितुमनोल्लदुमुक्तिगे । जिनमार्गमे मार्ग मेंबबगे सम्यक्त्वं ।१८।
इदु पापास्रव कारण । मिदुपुण्यास्रवनिमित्त मितिदु मोक्ष
प्रद मेंदु जीव परिणा– मद तेरनं पिटदि नरिव बगे सम्यक्त्वं ।१९।
मनद पदुळिकेगे कंटक- । मेनिप बहिर्विषय विषमदे उदोचित्सं-
जनित स्वास्थ्य सुधारस- । मनुपम मेंदरिदु नेम्बुवुदु सम्यक्त्वं ।२०।
माभ धनमेनिप सम्य- । ज्ञानिगे तक्कुदु निजोपशम जनित स्वा-
धीन सुखं पर विषया- । धीन सुखं नष्ट मेंब बगे सम्यक्त्वं ।२१।
इदे मोक्ष मार्ग-मिदे मो । क्षद लक्षण मिदुवे मोक्ष फल मेंबुदनु-
ळ् ळुदनुळ्ळमाळ्केयित- । प्पदे मनदोळु तिळिदुनंबुवदु सम्यक्त्वं ।२२।
वरबोध चरित्रंगळ- । नेरेवं पारदेयुमेक चत्वारिंशद् ।
दुरितंगळ बंधमनप- । हरिपुद चिंत्यप्रभाव निधि सम्यक्त्वं ।२३।
परम जिनेश्वररं सि- । द्धरनाचार्यादि दिव्यमुनिगळ नरिदा
दर दिनडिगडिगे तत्व- । स्वरूपमं नेनेवुदेंब बगे सम्यक्त्वं ।२४।
जिन बिंबा कृतियं लो- । चनदिं काण्बंते तिळिदु सिद्धाकृतियं
नेनेय लोडं प्रव्यक्त मि- । देने मनदिं काण्ब काण्केयदु सम्यक्त्वं ।२५।
अनिमिष लोचन सिहा- । सनकं निमित्त तीर्थंकर पुण्य निबं-
धनमेनिसुव षोडशभा- । वनेयोळु तानग्रगण्यमिदु सम्यक्त्वं ।२६।

जितमूढत्रयमपसा- । रित षडनायन नमपगताष्ट मदंगळं व-
र्जित शंकाद्यष्ट मलं - । प्रतीत नव सप्त तत्व मिदुसम्यक्त्वं ।२७।
परनिंदितखिळ हेया- । चरणदि संसार दुःखमद्य संतति सं-
स्मरण मुपादेयदिनिदु- । परमार्थं तप्पदेंब वगे सम्यक्त्वं ।२८।
कर कंजळर्पिदं- । परिणमिसुव तेरदि निर्निमित्तं कालं
दोरे कोळे तन्निदंतां । परमात्म नप्पेनेंब वगे सम्यक्त्वं ।२६।
नडेवेडेयोळ् नुडिवेडेयोळ् । केडेवेडेयोळ् दुःख मेय्दुवेडे योळ् जवनो
य्वेडेयोळ् तत्व स्मरणम- । नेडेवरियदेनेच्चिनोळ्पुददुसम्यक्त्वं ।३०।
अनशन मोदलारु तनु -। तनुकृद्दनितु भूत बाह्य तप सं-
जनिता यासदोळेने. । दनवरतं निजव नेनेवुददु सम्यक्त्वं ।३१।
निरुतं बोध चरित्र दो- । ळेरडुं तानेनिसदेक चत्वारिंशद्-
दुरिताप ह्नवर्चित्य- । स्वरूप नविकल्प में बवगे सम्यक्त्वं ।३२।

अर्थ—मायाचार, छलकपट, वचनवक्रता (बचन में टेढ़ापन) आदि रखकर जो मनुष्य जैन धर्म की आराधना करता है उसको वास्तव में जैन धर्म प्राप्त नहीं होता ॥६॥

'यह योग्य है या अयोग्य' इस प्रकार विशेष विचार न करके केवल इन्द्रियों के अधीन विषय कषायों की पुष्टि के लिए प्रयत्नशील मनुष्य को भी जैनधर्म की प्राप्ति नही होती ॥७॥

दर्शन मोहनीय की ३ प्रकृतियों (मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति) तथा अनन्तानुबन्धी कषाय के क्रोध, मान, माया, लोभ, इन सात कर्म प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपक्षम होने पर ही सम्यक्त्व प्रगट होता है, इसके सिवाय सम्यक्त्व उदय होने का अन्य कोई उपाय नहीं है ॥८॥

पुण्यहीन मनुष्य द्रव्य पाने की इच्छा से एक पर्वत पर चढ़ता है, और उस पर्वत के मार्ग में इधर उधर निधि को ढूंढता है, ढूंढते ढूंढते जब उसको वह निधि मिलने का समय आता है तब वह पागल हो जाता है। पागल हो जाने पर उसको उस पास पड़ी हुई द्रव्य का ज्ञान भी नहीं रहता। उसी प्रकार मोक्ष के इच्छुक मनुष्य अनेक शास्त्र वेद पुराण आदि पढ़कर भी आत्मतत्व के यथार्थ निर्णय की बुद्धि न होने के कारण जैसे के तैसे अज्ञानी ही बने रहते हैं, पाप कर्म की कितनी शक्ति है! ॥९॥

दिगम्बर मुनि होकर कठोर तपस्या करके मनुष्य अहमिन्द्र पद भी

पा लेता है परन्तु सम्यक्त्व न होने से उसका संसार-भ्रमण नहीं छूट पाता ॥१०॥

हाथ पर रक्खे हुए आंवले के समान समस्त विद्याओं और कलाओं को जानकर करोड़ों युग तक तपस्या करके भी सम्यग्दर्शन रूपी अमृत-रस का आस्वादन न करने वाले मनुष्यों को मोक्ष प्राप्त नहीं होती ॥११॥

यह सम्यग्दर्शन अभव्य की तो बात ही क्या दूर-भव्य को भी दुर्लभ है, यह तो निकट-भव्य प्राणी को ही प्राप्त होता है ॥१२॥

जैसे कितना भी प्रकाश क्यों न हो अन्धे मनुष्य को कुछ दिखाई नहीं देता, इसी प्रकार अभव्य को चाहे जितना उपदेश दिया जावे, व्रताचरण कराया जावे किन्तु उसे सम्यक्त्व नहीं होता। नेत्र-रोग वाले मनुष्य को नेत्र ठीक हो जाने पर दिखाई देने लगता है उसी तरह दूर-भव्य को दीर्घ समय पीछे मिथ्यात्व हटने से सम्यक्त्व प्राप्त होता है। किन्तु ठीक नेत्र वाले मनुष्य को प्रकाश होने पर तत्काल दिखाई देने लगता है। उसी तरह निकट भव्य को सम्यक्त्व की प्राप्ति शीघ्र हो जाती है।

व्यवहार सम्यग्दर्शन—

परम आराध्य श्री वीतराग भगवान, जिनेन्द्र देव का उपदिष्ट आगम तथा पदार्थ और जिनेन्द्र देव के चरण-चिन्हों पर चलने वाले परम निर्मल निर्ग्रन्थ योगी का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

अर्हन्त भगवान, जिनवाणी, निर्ग्रन्थ गुरु का तथा जिनवाणी में प्रतिपादित पदार्थों का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है ॥१३॥

निर्ग्रन्थ गुरु के वचन रूपी दीपक द्वारा प्रकाशित और अपने सुयुक्ति रूपी नेत्रों से देखे हुए आत्म-स्वरूप का निश्चय सम्यग्दर्शन है ॥१४॥

अचल सुमेरु भी कदाचित् चलायमान हो जावे, अग्नि भी कदाचित् शीत (ठंडी) बन जावे तथा चन्द्र में भी कदाचित् उष्णता प्रगट होने लगे, तो हो परन्तु जिनेन्द्र भगवान के वचन कदापि अन्यथा नहीं हो सकते, ऐसी अचल श्रद्धा का नाम सम्यक्त्व है ॥१५॥

संसार में कोई भी देव या मनुष्य उत्कृष्ट (सर्वोच्च) नहीं है, एक दूसरे से बढ़कर पाये जाते हैं, अतः उनका बड़प्पन अस्थिर है। वीतराग अर्हन्त भगवान ही सबसे उत्कृष्ट हैं अतः वे ही पूज्य देव हैं, ऐसी अचल श्रद्धा का नाम सम्यग्दर्शन है ॥१६॥

मोहनीय कर्म के समूल क्षय से अर्हन्त भगवान पूर्ण शुद्ध वीतराग हैं

तथा ज्ञानावरण का पूर्ण क्षय हो जाने से वे समस्त लोक अलोक, भूत भविष्यत् वर्तमान काल के ज्ञाता है, ऐसी श्रद्धा करना सम्यक्त्व है ॥१७॥

समस्त संसार मोह-जाल में फंसा हुआ है उस मोह जाल को छिन्न-भिन्न करके मोक्ष की ओर आकर्षित करने वाला जिनमार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं है, ऐसी निश्चल श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है ॥१८॥

पापास्त्रव के कारण, पुण्य कर्म-आस्त्रव के कारण तथा मुक्त होने के कारण रूप जीव के परिणामों का ज्ञान होना, और उसका श्रद्धान करना, सम्यग्दर्शन है ।१६।

मन को व्याकुल करने वाले बाहरी विषय हैं, अतः वे त्याज्य हैं और चैतन्य-जनित स्वात्म-स्थिरता-रूप सुधारस अनुपम पेय है, ऐसा विश्वास करना सम्यक्त्व है ।।।२०।।।

सम्यग्दृष्टि जीव स्वाभिमानी होता है, अतः उसको उपशमजनित अपना स्वाधीनसुख ही रुचिकर है, इन्द्रिय विषयादि-जन्य पराधीन सुख उसे इष्ट नहीं है। ऐसी धारणा ही सम्यक्त्व है ॥२१॥

"यही (जैनागम-प्रदर्शित) मोक्ष का लक्षण है, यही मोक्ष का फल है और यही मोक्ष को देने वाला है" इस प्रकार संशय-रहित श्रद्धान सम्यक्त्व है ॥२२॥

दुष्कर्मों के बन्धन नष्ट करने वाला तथा ज्ञान और चारित्र को सम्यक् बनाने वाला, ऐसा अचिन्त्य प्रभावशाली गुण सम्यक्त्व है ॥२३॥

परमजिनेश्वर अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय सर्वसाधु को मनमें अच्छी तरह समझकर, बार बार उनके स्वरूप का अपने मन में रुचिपूर्वक भावना करना सम्यक्त्व है ॥२४॥

जिनेन्द्र देव की जैसी आकृति आंखों से देखी है, उसको मन में रखकर फिर सिद्ध परमेष्ठी को साक्षात् देख लेने की हृदय में भावना करना सम्यक्त्व है ॥२५॥

देवों के सिंहासनों को कम्पायमान कर देने वाले तीर्थंकर प्रकृति के उपार्जन की कारणभूत १६ भवनाऐं हैं; उनमें अग्रसर जो भावना है वह सम्यक्त्व है ॥२६॥

तीन मूढ़ता, छः अनायतन, आठ मद, शंका आदि आठ दोष रहित जो नौ पदार्थ तथा सात तत्वों का श्रद्धान करना है सो सम्यक्त्व है ॥२७॥

लोक-निन्दित समस्त पापाचरण हेय (त्याज्य) है और स्मरण करने

योग्य भी नहीं क्योंकि पापाचरण और पाप-चिन्तन से संसार-दुःख तथा पाप-संतान बढ़ती है।'

अपना आत्म-तत्व ही उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है। ऐसी श्रद्धा सम्यक्त्व है ॥२८॥

पीने के लिये अंजलि में लिये हुए जल में जिस प्रकार अचानक मुख दीख जाता है, इसी प्रकार दर्शन मोहनीय के उपशम से अचानक अदृष्ट आत्म-स्वरूप स्पष्ट दीखकर उसकी अनुभूति होना सम्यक्त्व है ॥२९॥

चलते फिरते, बोलते, गिरते समय, दुख आपत्ति के समय, मृत्यु आने के अवसर पर भी तत्व-चिन्तन में लगे रहना सम्यक्त्व है ॥३०॥

आत्म-अनुभूति के बिना अनशन आदि तप व्यर्थ हैं, सम्यक्त्व के साथ तप लाभकारक है, उनसे कर्म-निर्जरा होती है। ऐसी प्रतीति के पश्चात् शुद्ध आत्मा की अनुभूति होना सम्यक्त्व है ॥३१॥

ज्ञान चारित्र से भिन्न पापाचार तथा पापचिन्तन को त्याग कर आत्म-स्वरूप का चिन्तवन करना सम्यक्त्व है ॥३२॥

आवों भव्यानंदक। भावं भुवनैक वन्दितं निश्चयदिं।
दावननंतचतुष्टय। दाविभुतां दातुवेंबबगे सम्यक्त्वं ।३३।
येंतिर्दुवखिळ वस्तुग। ळंतनितु मिवं परियोळरिवनितरोळं।
भ्रांतं विट्टु निजात्मन। नंतमुंख नागिनेनेवुवदु सम्यक्त्वं ।३४।
परमेष्ठिस्वामिगळे। वरभेदमनरिदुर्नबि किल्बिषमं सं।
हरिसलुनेरेवनिजात्म। स्वरूपमं बिडदेनेनेवुवदु सम्यक्त्वं ।३५।
इंता श्रद्धानं सं। भ्रांतियोळें करणलब्धि कंकोळगुं।
मंतणमें वाग्जालदि। नंतंतें दूळ्वडवकुमे सम्यक्त्वं ।३६।
निजतत्वद रुचि रचितं।
निजतत्वद रुचि समस्त बोधाद्वैतं।
निजतत्वद रुचि जिननुति। निजतत्वदरुचियें संयमंपेरतुंटे ।३७।
निवतत्वं सदैवं। निजतत्वं पशिरोरदतपमदेनिक्कुं।
निजतत्वं चारित्रं। निजतत्वं शील मेंबबगे सम्यक्त्वं ।३८।
निजतत्वं नयनिकरं। निजतत्वं तां प्रमाणमक्कुमबब्वं।
निजतत्वं निक्षेपं। निजतत्वं तत्वमेंब बगे सम्यक्त्वं ।३९।

निजतत्वं सुख जनितं । निजतत्वं ब्रह्मचरियमपगत दंडं ।
दिजतत्वं सिद्धत्वं । निजतत्वं क्षांतियेंब बगे सम्यक्त्वं ।४०।
निजतत्वं गुणनिकरं । निजतत्वं समितिगुप्ति मार्दव शौचं ।
निजतत्वं किंचन्यं । निजतत्वं तत्वमेंब बगे सम्यक्त्वं ।४१।
निजतत्वं अर्जवत्वं । निजतत्वं संयमं महाव्रतमेनिकुं ।
निजतत्वं जिनपतिनुतिनिजतत्वं कार्यं मेंबबगे सम्यक्त्वं ।४२।
निजतत्वं दुरित हरं । निजतत्वमेतप्पदप्पुदायषिट्कं ।
निजतत्वमुपादेयं । निजतत्वं तत्वमेंब बगे सम्यक्त्वं ।४३।
इदु मुख्यं ग्राह्दलि । तिदु गौणं त्याज्यमेंदु बिडुवं पालं ।
पदुळं पिडिदविचारदि । तुदिगय्यलिकंदलने पिडिद मरुळं पोल्कुं ।४४
दोषघ्नेयात्प्तं स । द्भाषात्मक मप्पुदागमं तत्कथिता ।
शेषाळिपदार्थं जिन । भाषित में दरिदु नंबुवदु सम्यक्त्वं ।४५।
एंदुं मुन्दनेनेन यदत । न्नंदमेन विकल्प नप्पनं चिंतिसुवा ।
नंदं परिणामं घटियिसि । दंदातंशुद्ध दर्शनाव्हयनेनिकुं ।४६।
निजवं तप्पदे नोडुव । निजवं पल्लटिसुवरिवतद्वय सहितं ।
निजदोळ् चारित्रिप परिणति । वृजिनघ्नं शुद्धदर्शनंतानेनिकुं ४७
पिरिदुं मातिनोळेनु बाह्य जनित व्यापार मं बिट्टुस ।
द्गुरु विन्नागममेंबरन्न सोर्डारं मिथ्यातमोबंध सं ।
हरितातमुं खनागि निश्चलमनं स्वाधीन सौख्यामृता ।
करमग्न वर शुद्ध दर्शननवं संसार पारंगतं ।४८।
किडेसम्यक्त्वं मण्णोड । नोडेदंदं चरितमळिये हाटक कुंभं ।
पुडियाद भंगियदारं । केडिसदे दर्शन मनोवि नडेवुदु भव्यं ४९।
जिनपूजोत्सवदिं जिनेंद्र महिमा सानंददिं जैनश्रा ।
वन विस्तारित हर्षदिं जिनपदांभोजानतोत्साहदिं ।
जिनधर्मोद्गत सारतत्व रुचियिं श्री जेन गेहावलो ।
कन सौख्यामृत लंपिनिं चरियिपं सम्यक्त्व युक्तोत्तमं ।५०।
मनमोंदेंबुदु सुप्रसिद्ध मदुतां सम्यक्त्व दोळ् मिथ्येयोंळ् ।
जनितैकत्व बोळेंदियोंबुससय प्रोद्भूतवेंदेंब मा ।

तिनभेदं सकल ज्ञागोचर मंद पूर्वोक्तमं नंबुवा ।
तनु वादं प्रतिभाप्रयुक्त हृदयं सम्यक्त्व युक्तोत्तमं ।५१।
परम गुरूपदेशदि नशेष पदार्थमनुळ्ळभेदवि ।
स्तरतेयनावगं तिळिदु तन्नोळेतां नेलेगोंडु नच्चुमे ।
च्चिरेनिजतत्व संजनितनिश्चल निर्मल दिव्य सौख्य सा ।
गर दोळहृनिशंनेलसिर्निदने दर्शन शुद्ध नुत्तमं ।५२।
जिनपति काळिकारहित कांचनदंते निरस्त कर्मवं ।
धन नेनिसिर्दनां दुरित बंधदि काळिके पविदोंडु का ।
घन दवोलिर्दनी दुरित मीतेरदिंदमगल्वुडुं जिनें
द्रन दोरेयप्पेनेंदु तिळिवातनेदर्शन शुद्धमुत्तमं ।५३।
मुन्ननिजात्मननरियदे । इन्नेवरंपरपरंगळ्नानेंदु करं ।
मन्निसि केट्टें दगेयदे । सन्नुतमप्पात्म लब्धि दुर्लभदिंदं ।५४।
मानवनागदंदु खगमुं पशुकीट मागिरल् ।
ज्ञानमदिल्लतप्पेडरोळकट मानसनागियुं निज ।
ज्ञानमनोक्कु मत्ते पशुयोनियोळोय्यने बोळवात्मनं ।
ज्ञान घनत्वदिं तिळिदु नंबुवुदी परमोपदेशदिं ।५५।
हरियल्लं हरनल्लं ।
सरसिज भवनल्लनखिळ सुगतनुमल्लं ।
परमार्थ चिज्योति । स्वरूपनेम्मात्म नेंब दगे सम्यक्त्वं ।५६।
हुट्टद योनि मेट्टद नेलं नेरेकोळ्ळ दाहार मोर्मेयुं ।
मुट्टद भावमोंददभवं पेरतिल्लेने दुर्मोहदिं ।
तिट्टने बंदु नों तिरियदक्कट निन्ननि जस्वरूपमं ।
नेट्टने नोडि कूडि पडे नित्य निरंजन मोक्षलक्ष्मियं ।५७।
जिनरोळ् जिनवचन दो । ळाजिन वचरार्थ दोळ् पक्षपातं मोह ।
क्किनितेनेडेगुडदिरे निसिद । मनदेरकं गुण निबंधनं सम्यक्त्वं ।५८।
हेयमदति विषमविष । प्रायं जीवक्कधर्म मेंतुं धर्मं ।
श्रेयममृतोपमं सुख । दायक मादेयमेंब दगे सम्यक्त्वं ।५९।
ओंदु गुणंतन्नोळुनि । स्संदेहं नेलसलोड मशेष गुणंगळ् ।
बंदिदु मंदुवगे । यदुवुं दृढतर दुरितविजय जिन विश्वासं ।६०।

बिडुबोडिव बिरंगि कोळवी । जडत्वमं पोंदिदिनितनहंत्पदम ।
बिडविंदडंगिदि किडे । वेडंगनोळ कोंड मनमे दृढ सम्यक्त्वं ।६१।
जिनतेनगेननुसिदनद । मिसु तथ्यं दले मने पथ्यं पोगि ।
नेनें बेडपेरतनेंबि । मनद विनिश्चयमनर्घ्य दर्शन रत्नं ।६२।
तोप्यनेनेलवं पोधिवीडे । तप्पलककुमेंतागु कं ।
तप्पदु जिम भाषितमें । इप्पोडमेंदरिवु मंडिनेगळवने भव्यं ।६३।
तप्पुवीडहेंहुचनं । तप्पुगुमावार्द्धि मेरेयंमेरुवमं ।
तप्पुगुमिदंडेंबिदं । तप्पुगुमर्कोदयास्तमानक्रममं ।६४।
बोंदुभवं सर्वज्ञं । गोंदीवरदं निजोसमांग वोळन ता ।
नन्ददोळिर्दपडेगु । कुंदद सौख्य मेनिपदोंदु धात्रिगे चित्रं ।६५।

इस प्रकार वीतराग देव, जिन वाणी, निर्ग्रन्थ गुरु, सात तत्व, नौ पदार्थ के श्रद्धान स्वरूप व्यवहार सम्यग्दर्शन कषायाश्रित भव्य जीवों के होता है। अब सम्यक्त्व के प्रतिबन्धक कारण दूर हो जाने पर जो निश्चय सम्यक्त्व होता है, उसको बतलाते हैं:—

भावक कुचत्वनं सं । भाविप दुर्मोहुदंवुयदिल्लमेयिं ।
भावविशुद्धतेयक्कुं । पावन सम्यक्त्वमदुवे मिजरुचि गम्यं ।६६।
कांचन मेंतपगतदो । षंचेलवं पडेगुमन्ते दर्शन रत्नं ।
पंचाधिक विंशति मल । संचयदिं पिंगेसहजभाअदि मेसेगुं ।६७।
जिन वचन रसामृत वोळ् । ममदेरकं नच्चु मेच्चु नलबोश मेंबी
विनुत श्रद्धामार्थम । मनुलोव्यक्के बीजम तामुसिगुं ।६८।
सम्यक्त्वमे परमपदं । सम्यक्त्वमे सकल सुखद निलयं मत्तं ।
सम्यक्त्वमे मुक्ति पथं । सम्यक्त्वदि कूडिनेगळ्द तपमदु सकलं ।६९
इनितं भव्यने केळ्पा । वन सम्यक्त्व वतिकुं श्रद्धानं ।
जिन भाषित तत्व रुचिद । संनमात्म ज्ञनमेंब परियाय गळ् ।७०।
नीगुमिदं तिळिनाता । योनिय दुःखाग्नि तापमं नीगु ओदं ।
ज्ञान मयं शाश्वतस्वा । धीन सुखामृतदकडलोळोळाडुवो डं।।७१।

भव्यों को आनन्ददायक, त्रिलोक-पूज्य, अनन्त चतुष्टय के स्वामी, ज्ञान द्वारा सर्वव्यापक, जिनेन्द्र भगवान् ही यथार्थ में मुक्तिदाता हैं, ऐसा श्रद्धान ही सम्यक्त्व है ॥२३॥

समस्त बाह्य पदार्थों को जानकर उनमें भ्रान्तिवश लीन न होना, अन्तर्मुख होकर आत्म-अनुभूति में लगना ही सम्यक्त्व है ॥३४॥

पंच परमेष्ठी के भेद (रहस्य) को जानकर, पाप मल दूर करने के लिए निरन्तर आत्मस्वरूप का अनुभव करना सम्यक्त्व है ॥३५॥

आत्मा आदि पदार्थों का स्वरूप ऐसा है कि नहीं ? इत्यादि भ्रामक या सन्देहयुक्त वाग्जाल में न फंसना, करण-लब्धि होने के पश्चात् आत्मा का साक्षात्कार होना ही सम्यक्त्व है ॥३६॥

निज आत्मा की रुचि ही बोध चारित्र आदि की भेदभावना मिटाकर अद्वैत भाव प्रगट करती है, निजतत्व की रुचि ही जिनेश्वर की स्तुति है, निज तत्व की रुचि ही संयम है और अन्य कुछ नहीं है ॥३७॥

निज तत्व (आत्म स्वरूप) ही सत् देव (भाग्य) है, निज तत्व ही तप है, निज तत्व ही चारित्र है और निज तत्व ही शील है। ऐसा श्रद्धान करना सम्यक्त्व है ॥३८॥

निज तत्व ही नय-समुदाय है, निज तत्व ही प्रमाण है, निज तत्व ही निक्षेप है, इस प्रकार आत्मा का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है ॥३९॥

निज आत्मा ही सिद्धत्व है, निज तत्व ही शान्ति (क्षमा) है, ऐसी भावना करना सम्यक्त्व है ॥४०॥

निज तत्व (आत्मा) ही गुणों का भंडार है, निज तत्व ही गुप्ति, समिति, मार्दव, शौच और आकिंचन्य है इस कारण निजतत्व ही तत्व है, ऐसी भावना करना ही सम्यक्त्व है ॥४१॥

निज तत्व ही आर्जव है, निज तत्व ही संयम और महाव्रत है, निज तत्व ही जिनेन्द्र देव का स्तोत्र है एवं निज तत्व ही हमारा कार्य है, ऐसा चिन्तवन करना सम्यक्त्व है ॥४२॥

निज तत्व ही पापहारी है, निज तत्व ही मुनियों का षट् आवश्यक कर्म है, निजतत्व ही उपादेय है, ऐसी भावना करना सम्यक्त्व है ॥४३॥

नीर क्षीर का विवेक न करने वाले, मुख्य गौण, ग्राह्य (ग्रहण करने योग्य) अग्राह्य (न ग्रहण करने योग्य) का विचार न करने वाले मनुष्य को सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता ॥४४॥

रागद्वेष आदि दोषों से रहित ही आप्त (पूज्य देव) है, आप्त की वाणी ही आगम है, जिनेन्द्र द्वारा कहे गये पदार्थ ही यथार्थ हैं, ऐसा श्रद्धान करना ही सम्यक्त्व है ॥४५॥

अनादि काल से आत्मा विकल्प रूप से भी दृष्टिगोचर नहीं हुआ, वही आत्मा अब निर्विकल्प रूपसे प्रतीत हो रहा है, ऐसा परिणाम ही शुद्ध दर्शन का है ॥४६॥

मौन भाव से आत्मा को देखना (अनुभव करना) और उसे उलट पलट कर विचारना तथा अपने आत्मा में ही लीन रहना, ऐसी परिणति पापनाशक है ऐसा चिन्तवन करने वाला शुद्ध सम्यग्दृष्टि है ॥४७॥

बहुत कहने से क्या प्रयोजन, बाह्य क्रियाओं को छोड़ दो, सद्गुरु के उपदेश रूपी रत्न-ज्योति से मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को हटा कर अन्तर्मुख हो जाओ, निश्चल चित्त बन जाओ, स्वाधीन सुखामृत में मग्न हो जाओ। ऐसी वृत्ति रखने वाला शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और संसार-सागर के पार पहुँचने वाला है ॥४८॥

सम्यक्त्व का नष्ट होना मिट्टी के घड़े के टूटने के समान है और चारित्र का नष्ट होना सुवर्ण घड़े के टूटने के समान है। यानी—मिट्टी का घड़ा टूट जाने पर फिर नहीं जुड़ सकता किन्तु सोने का घड़ा टूट जाने के बाद भी फिर जुड़ जाता है, इसी प्रकार सम्यक्त्व के नष्ट हो जाने पर आत्मा का सुधार नहीं हो सकता, चारित्र नष्ट हो जाने पर फिर भी आत्मा सुधर जाती है ॥४९॥

जहां पर जिनेन्द्र देव का पूजन महोत्सव होता है वहां जाकर हर्ष मनाना, जिनेन्द्र भगवान की महिमा सुन कर और देखकर आनन्द मनाना, जैन शास्त्रों के महान विस्तार को देखकर हर्ष मनाना, जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करने में आनन्दित होना, जिनागम में सारतत्व का विवेचन देखकर प्रसन्न होना जिन-चैत्यालय को देखकर हर्षित होना, इस प्रकार की प्रवृत्ति वाला शुद्ध सम्यक्त्वी है ॥५०॥

यह मन एक है जब सम्यक्त्व का अनुभव करता है तब सम्यग्दृष्टि होता है, जब मिथ्यात्व में जाता है तब आत्मा मिथ्यादृष्टि होता है, परिणाम बदलने से एक ही समय में बदल जाता है। इन सब रहस्यों का ज्ञाता सर्वज्ञ है। ऐसा समझ कर मेधावी जो पूर्वोक्त रीति से श्रद्धान करता है वह उत्तम सम्यग्दृष्टि है ॥५१॥

परमगुरू के उपदेश से जैसा है वैसा समस्त पदार्थों को अच्छी तरह जानकर अपने आपमें स्थिर होकर, "हमने अद्भुत पदार्थ पा लिया" इस प्रकार अपने आत्मा से उत्पन्न हुए निश्चल, निर्मल, दिव्य सुखसागर में निरन्तर मग्न रहने वाला शुद्ध सम्यक्त्वी और उत्तम है ॥५२॥

शुद्ध सुवर्ण के समान निर्मल जिनेन्द्र भगवान हैं और मैं कालिमा-मिश्रित अशुद्ध सुवर्ण के समान हूं। जब मेरी कर्म-कालिमा दूर हो जायगी तब मैं जिनेन्द्र भगवान के समान शुद्ध निर्मल बन जाऊंगा। ऐसा श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ॥५३॥

अनादि काल से मैंने निज आत्मा को नहीं समझा, मैं आत्मा से भिन्न पर-पदार्थ शरीर आदि को अपना तत्व समझ कर पथ-भ्रष्ट रहा आया। सर्वोत्कृष्ट आत्मलब्धि को मैंने आज दुर्लभ से प्राप्त किया है ॥५४॥

पशु, पक्षी, कीड़े मकोड़े आदि जीव जन्तुओं की पर्यायमें ज्ञान की कमी से आत्म-बोध होता ही नहीं, इस कारण अनेक कष्ट सहन करते हुए मैंने कठिनाई से मनुष्य शरीर पाया है, एवं स्व-आत्म-बोध प्राप्त करके मै अपने आत्मा का भी अनुभव करने लगा, ऐसा हो जाने पर क्या मैं पशु-योनि में जा सकता हूँ ? कदापि नही। मेरा ज्ञानघन रूप है। श्री जिनेन्द्र देव का परमोपदेश गुरु द्वारा सुनने का यह लाभ मुझे प्राप्त हुआ है। ऐसी भावना करना श्रेष्ठ है ॥५५॥

मै न तो हरि हूं, न शिव हूँ, न ब्रह्मा हूँ, न बुद्ध हूं, मैं तो चैतन्य-स्वरूप आत्मा हूं, इस प्रकार चिन्तवन करना सम्यक्त्व है ॥५६॥

हे भव्य जीव ! तू इस संसार में अनादि समय से भटक रहा है इस लोकाकाश का कोई भी ऐसा प्रदेश शेष नहीं रहा जहां तू उत्पन्न नहीं हुआ, कोई ऐसा पदार्थ नहीं बचा जिस को तूने भक्षण नहीं किया, तू जगत के समस्त प्रदेशों में घूम आया, कर्म-बन्धन के समस्त भाव भी तूने प्राप्त किये, संसार की समस्त पर्यायें तू प्राप्त कर चुका है। इतना सब कुछ होकर भी दुर्मोह से तू फिर उन्हीं पदार्थों की भिक्षा मांगता है यह तुझे शोभा नहीं देता, तू अपने स्वरूप को प्रत्यक्ष अवलोकन कर, यही श्रेष्ठ है और अन्त में नित्य निरञ्जन मोक्ष-वैभव को इसी से प्राप्त करेगा ॥५७॥

जिनेन्द्र भगवान का, जिन वाणी का तथा निर्ग्रन्थ गुरु का पक्ष लेकर मोह को रंचमात्र भी हृदय में स्थान नही देना, ऐसी हार्दिक प्रबल भावना और गुणानुराग ही सम्यक्त्व है ॥५८॥

जो त्याज्य, अति विषम और विषमय है, वह अधर्म है। जो धर्म है वह श्रेयस्कर है, उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है, अमृत-तुल्य है, सुखदायक है। ऐसी श्रद्धा करना सम्यक्त्व है ॥५९॥

श्री जिनेन्द्र भगवान पर सन्देह-रहित विश्वास करने का एक गुण ही यदि प्राप्त हो जावे तो आत्मा के अन्य समस्त गुण स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। ऐसी अचल श्रद्धा ही पाप-निवारक है ॥६०॥

संसार में पर-पदार्थ छोड़ने योग्य हैं और निज पदार्थ ग्रहण करने योग्य है। आत्म-वैभव पाने के लिए अर्हन्त भगवान के चरणों का निश्चलता से आश्रय लेना ही सम्यक्त्व है ॥६१॥

जिनेन्द्र भगवान ने जो कुछ कहा है वही सत्य और हितकर हैं, अन्य वचन सत्य और कल्याणकारक नहीं, ऐसा निश्चय करना अमूल्य सम्यक्त्व रत्न है ॥६२॥

पृथ्वी पर हाथ का आघात करने से पृथ्वी पर चिन्ह पड़ता है, वह कदाचित् चूक जाय या विफल हो जाय परन्तु जिनेन्द्र भगवान का आदेश कभी निष्फल नहीं हो सकता, ऐसी श्रद्धा रखने वाले ही भव्य जीव हैं ॥६३॥

यदि अर्हन्त भगवान की वाणी निष्फल हो जायगी तो समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ देगा, अचल सुमेरु चलायमान हो जायगा तथा सूर्य के उदय अस्त होने का क्रम भी भंग हो जावेगा ॥६४॥

जिनेन्द्र भगवान ने अर्हन्त अवस्था पाने से पहले अनन्त भव धारण किए किन्तु अन्तिम एक भव में ही उस अनन्त जन्म-परम्परा का अन्त करके अनन्तानन्त सुख प्राप्त किया, जगत में यह एक बड़ी विचित्र बात है ॥६५॥

इस प्रकार वीतराग देव, जिनवाणी तथा निर्ग्रन्थ गुरु का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। अब सकषाय जीव को सम्यक्त्व के प्रतिबन्धक कारण हट जाने पर निश्चय सम्यक्त्व किस तरह प्राप्त होता है, यह बतलाते हैं—

परिणामों की कलुषता से द्रव्य मोह (मोहनीय कर्म या दर्शन मोहनीय कर्म) होता है। वह भाव-कलुषता अब मुझ में नहीं है। भाव कलुषता से विरुद्ध भाव-विशुद्धता अब प्रगट हो गई, यह पवित्र सम्यक्त्व है, यही निज आत्म-अनुभव-गम्य है ॥६६॥

जिस प्रकार कालिमा आदि दूर हो पर जाने सुवर्ण अपने स्वाभाविक स्वच्छ रूप में प्रगट हो जाता हैं ॥६७॥

जिनेन्द्र देव के वचन रसामृत का आस्वादन करना, उसको श्रेयस्कर मानना, उसमें ही निमग्न होना, उसी में आनन्द अनुभव करना, अनुपम सुख का बीज है ॥६८॥

सम्यक्त्व ही परम पद है, सम्यक्त्व ही सुख का घर है, सम्यक्त्व ही मुक्ति का मार्ग है, सम्यक्त्व-सहित तप ही सफल है ॥६९॥

हे भव्य जीवो ! सुनो, सम्यक्त्व में प्रवृत्ति करना, आत्म-श्रद्धा करना, जिन-भक्ति करना, तत्वों में रुचि करना, आत्म-ज्ञान होना, यह सब सम्यग्दर्शन के पर्याय नाम हैं ॥७०॥

यह भी समझ लो कि त्रिविध योनियों के दुख संताप को दूर करना हो, ज्ञानमय स्वाधीन सुखामृत सागर में डुबकी लगाकर आनन्द से रहना हो तो सम्यक्त्व को प्राप्त करो ॥७१॥

अब वेदक सम्यक्त्व के दोष बतलाते हैं—

तत्र वेदकसम्यक्त्वस्य पंचविंशतिमलानि ॥६॥

अर्थ—वेदक सम्यक्त्व के २५ दोष होते हैं ।

उक्तं च—

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ, तथानायतनानि षट् ।
अष्टौ शंकादयश्चेति, दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥

यानी—तीन मूढता, आठ मद, छह अनायतन, शंका आदि आठ दोष इस तरह सब मिल कर २५ दोष वेदक सम्यक्त्व हैं ।

मूढता—

दाम्भिक (अभिमानी), स्वार्थी, मायाचारी लोगों की बातों पर विश्वास रखकर, सत्य असत्य की परीक्षा न करके निराधार निष्फल बातों को धर्म समझ लेना मूढता (मूर्खता) है । मूढता के तीन भेद हैं—१ लोक मूढता, २ देव मूढता और ३ पाखण्ड मूढता ।

लोक मूढता—

सत्शास्त्रों का स्वाध्याय न किया हो, तत्व अतत्व का विचार न हो, सद्-गुरु का उपदेश न सुना हो, आचार विचार का ज्ञान न हो, ऐसे अनभिज्ञ मनुष्य दूसरे लोगों के देखा-देखी चाहे जो कुछ क्रिया करके जो धर्म मानने लगते हैं । अथवा ठग मायाचारी साधुओं के द्वारा दिखाये गये किसी चमत्कार को देखकर उनके कहे हुए ऊटपटांग क्रिया कांडों में धर्म मानने लगते हैं, इष्ट अनिष्ट से अनभिज्ञ (अनजान) रहकर भेड़ों की चाल की तरह गतानुगतिक बन कर धर्म मान लेते हैं सो 'लोक मूढता' है ।

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥

अर्थ—धर्म समझ कर नदी, सरोवर समुद्र में स्नान करने, पत्थरों तथा बालूका ढेर लगाने, अग्नि में जलने, पर्वत से गिरने को धर्म मानना 'लोक मूढता' है । तथा घर की पूजा करना, नदी को पूजना, गाय, पीपल, मील के पत्थरों की पूजा करना, पीर पैगम्बर पूजना, ताजियों के नीचे बच्चों को लिटाना, मस्जिद में मुल्ला से मुख में थुकाना, ये लोक मूढता के काम हैं । नदी आदि में स्नान करने से

केवल शरीर का मैल छूट जाता है परन्तु आत्मा का मैल नहीं छूटता; अत: नदी आदि में स्नान करना भावतीर्थ नहीं है।

सत्य तप, पांचों इन्द्रियों का निग्रह, सम्पूर्ण जीवों पर दया करना भाव तीर्थ है। इस भावतीर्थ में स्नान करने से आत्मा का कर्म मल नष्ट होता है तथा अन्त में स्वर्ग की या मोक्ष की प्राप्ति होती है। नदी समुद्र आदि नाम के ही तीर्थ हैं। इन में स्नान करने से कभी कर्म मल नही धुलता। अगर कर्म मल इन में स्नान करने से धुलता तो उनमें रहने वाले मेंढक, मगर मच्छ आदि अन्य जीव क्यों नहीं शुद्ध होते है? क्यों जन्म मरण किया करते हैं ? उन को न स्वर्ग मिलता है न मोक्ष ही मिलता है। नदी आदि तीर्थ में स्नान करने से तो शरीरके बाहिरी मल का नाश होता है। अगर इससे पुण्य होने लगे तो उसी जल में उत्पन्न होने वाले उसी में बढने और उसी जल को पीने वाले और उसी के अन्दर हमेशा रहने वाले जल-चर जीव मगर मछली आदि तथा जो सिंह बकरी हिरन आदि पशु पक्षी उसी का जल पीने वाले हैं उनको भी पुण्य बंध होना चाहिए। मनुष्य को इस प्रकार संकल्प करके धर्म की भावना करना और उसे स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति का साधन मानना तो रेत को पेल कर उस में से तेल निकालने के समान है। इसी तरह शस्त्र–घात से, अग्नि-घात से या पर्वत से गिर कर मरने वाले को पुण्य हो जावे और पानी में कूद कर या विष खाकर मरने को पुण्य माना जाय और इस से ही कर्मों की निर्जरा मान ली जाय तो 'ऋषि मुनियों के द्वारा बताये गये जप, तप, व्रत संयम, नियम आदि कर्म निर्जरा के कारण हैं' वह सब युक्ति-युक्त वचन अन्यथा हो जायेगे। इस मन--माने तीर्थ और लोक मूढता के स्थानों में जाने से, मानने से कर्म बंध होता है, इसे दूर से ही छोड़ना चाहिए।

इस लोक को और परमार्थ को न जानने वाले, ढोंगी तथा पाखंडी पापी, द्वारा माने हुए हिंसा मय धर्म पर विश्वास रखकर, स्त्री द्वारा पुरुष का रूप और पुरुष द्वारा स्त्री का रूप धारण कर आचार विचार से रहित अपने आपको देव देवी मानने वाले स्त्री पुरुषों के वचनों को मान कर पाप वृद्धि करना और उस पर विश्वास करना सभी 'लोक मूढता' है।

पाखण्ड-मूढता

जिनको आत्मा परमात्मा, संसार मोक्ष, कर्मबन्धन, कर्ममोचन, लोक परलोक आदि का ज्ञान नहीं है, तप कुतप आदि का जिन्हें परिज्ञान नहीं, जिनको अपनी महत्ता, ख्याति प्रशंसा की तीव्र उत्सुकता रहती है, भोजन,

वस्त्र, द्रव्य आदि से जिनकी मोह ममता बनी हुई है फिर भी जो अपने आपको साधु मानते तथा मनवाते हैं। इसके लिए कोई अपनी जटा बढ़ा लेते हैं, कोई नाखून बढ़ा लेते हैं तथा दण्ड, चीमटा आदि अनेक तरह की चीजें अपने पास रखते हैं, गांजा, सुलफा, तमाखू, भंग, आदि पीते हैं, जिनके क्रोध, मान, माया, लोभ बने हुए हैं, वे साधु-गुण-शून्य पाखण्डी कहलाते हैं। ऐसे पाखण्डियों को गुरु श्रद्धा से मानना, पूजना, विनयसत्कार करना 'पाखण्डि मूढ़ता' है।

आध्यात्मिक गुणों का गौरव जिनमें पाया जाता है, जो सांसारिक मोह माया, आरम्भ, घर, गृहस्थी, परिग्रह से दूर रहते हैं, दया, शान्ति, क्षमा, धैर्य, अटल ब्रह्मचर्य, सत्य, शौच, संयम, वैराग्य जिनमें सदा पाया जाता है, जो ज्ञानाभ्यास, आत्मचिन्तन, हित-उपदेश, ध्यान, स्वाध्याय में लगे रहते हैं वे सच्चे गुरु या सच्चे साधु होते हैं। विवेकी पुरुष को ऐसे साधु गुरु की उपासना करनी चाहिए, क्योंकि उनकी ही पूजा उपासना से उनके गुण अपनी आत्मा में आते हैं। उनके सिवाय पाखंडी साधुओं की उपासना से आत्मा का कुछ कल्याण नहीं होता। इस कारण पाखण्डियों की विनय पूजा उपासना 'पाखंडि मूढ़ता' है।

देव-मूढ़ता

परमात्मगुण-शून्य कल्पित देवों को या रागी द्वेषी आदि कुदेवों को आत्म-कल्याण की भावना से पूजना 'देव मूढ़ता' है।

देवों के ४ भेद हैं—१ देवाधिदेव, २ देव, ३ कुदेव, ४ अदेव।

रागद्वेष आदि भाव कर्म तथा मोहनीय आदि द्रव्य-कर्मों का नाश करके जो परम शुद्ध, परमात्मा, वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशक, त्रिलोक-पूज्य हैं वे 'देवाधिदेव' हैं।

जिन्होंने पूर्वभव में सुकृत पुण्य कार्य करके देव शरीर पाया है ऐसे सम्यग्दृष्टि कल्पवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क देव 'देव' या 'सुदेव' कहलाते हैं। वे सुमार्गगामी, देवाधिदेव वीतराग के अनुयायी, सेवक होते हैं।

मिथ्यात्व भावना सहित जो क्रोधी, कुमार्गरत, कलहप्रिय, तीव्र राग द्वेषधारक देव हैं, वे 'कुदेव' होते है।

स्वार्थी लोग अपने स्वार्थ साधन के लिए अपनी कल्पना से जिसको चाहे उसको देव मानकर पूजने पुजवाने लगते है, जोकि वास्तव में देव होते भी नहीं हैं, वे 'अदेव' हैं।

इनमें से आत्म शुद्धि के लिए, संसार से मुक्ति प्राप्त करने के लिए, सर्व कर्म कलङ्क से छूटने के लिए वीतराग देवाधिदेव की ही पूजा उपासना करना चाहिए, अन्य किसी देव की नहीं।

धार्मिक तथा लौकिक सत्कार्य में सहायता सहयोग प्राप्त करने के लिए जिनेन्द्र भक्त यक्ष, पद्मावती आदि सम्यग्दृष्टि देवों का भी साधर्मीवात्सल्य भावना से उचित आदर सत्कार करना चाहिए। जैसा कि प्रतिष्ठा आदि के समय करते हैं, परन्तु उन्हें आत्म-शुद्धिका कारण न समझना चाहिए और न अर्हन्त सिद्ध देवाधिदेव के समान पूजना चाहिए।

कुदेव तथा अदेवों की पूजा उपासना कदापि न करनी चाहिए। जो मनुष्य हेय उपादेय ज्ञान से शून्य हैं जिन्हें कर्तव्य, धर्म, अधर्म का विवेक नहीं, ऐसे भोले भाले (मूर्ख) मनुष्य दूसरों की देखादेखी या किसी की प्रेरणा से अथवा अपनें किसी कार्य-सिद्धि की भावना से जो कुदेवों अदेवों की पूजा उपासना करते हैं, वह 'देवमूढ़ता' है।

देवमूढ़ता से आत्म-पतन होता है आत्म-कल्याण नहीं होता, अतः विवेकी आत्म-श्रद्धालु इस मूढ़ता (मूर्खता) से भी बचा रहता है।

८ मद

मदमेंबुदु मिथ्यात्वद । मोदलदुतानेंदुभेदमक्कुं तन्नो- ।।
ळुदितमेने पेळ्वडंतदु । मदविरहितदर्शनिक नक्कुं पुरुषं ।१०९।

अर्थ—मिथ्याश्रद्धा के कारण मनुष्य विविध कारणों से अभिमान करता है, जब मनुष्य मद छोड़ देता है तभी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का पात्र होता है, तभी वह दार्शनिक श्रावक होता है।

अपने आपको अन्य व्यक्तियों से बड़ा समझकर दूसरों से घृणा करना 'मद' या अभिमान है। मद के ८ भेद हैं १ कुलमद, २ जाति मद, ३ रूप मद, ४ ज्ञान मद, ५ धन मद, ६ बल मद, ७ तप मद तथा ८ अधिकार मद।

पिता के पक्ष को 'कुल' कहते हैं। अपने कुल में अपना पिता-मह (दादा), पिता, चाचा, ताऊ, भाई, भतीजा, पुत्र, आदि कोई भी व्यक्ति या स्वयं आप राजा, महाराजा, सेठ, साहूकार, पहलवान, विद्वान, चारित्रवान, यशस्वी आदि हो तो उसका अभिमान करना, दूसरों के कुल परिवारों को तुच्छ हीन समझना, उनसे घृणा करना कुलमद है। जैसे मरीचिकुमार ने किया था कि मेरा पिता (भरत) चक्रवर्त्ती है, मेरा पितामह (बाबा) भगवान ऋषभनाथ पहले तीर्थङ्कर हैं, मेरे प्रपितामह (पर दादा) महाराजा नाभिराय अन्तिम

कुलकर हैं, मैं भी तीर्थंकर होने वाला हूँ। इस प्रकार मेरा कुल सबसे अधिक श्रेष्ठ है। इसी कुलमद के कारण मरीचि को अनेक योनियों में भटकना पड़ा।

माता के पक्ष को 'जाति' कहते हैं। तदनुसार अपनी माता के कुल परिवार में—अपना नाना, मामा, नाना-पुत्र आदि उच्च पदाधिकारी, राजा, मंत्री, सेठ, जमींदार, धनिक आदि हों तो उसका अभिमान करना, दूसरों को हीन समझकर उनसे घृणा करना 'जातिमद' है।

अपना शरीर सुन्दर हो तो उस सुन्दरता का अभिमान करके अन्य असुन्दर स्त्री पुरुषों से घृणा करना 'रूपमद' है। सनत्कुमार चक्रवर्ती बहुत सुन्दर थे, उनकी सुन्दरता देखने स्वर्ग से दो देव आये थे। इस कारण सनत्कुमार को अपनी सुन्दरता का बहुत अभिमान हुआ किन्तु कुछ क्षण पीछे उनकी सुन्दरता कम होने लगी। यहां तक कि मुनि अवस्था में उनको कोढ़ हो गया जिससे उनका शरीर बहुत असुन्दर हो गया।

अपनी धन सम्पत्ति का अभिमान प्रगट करना 'धनमद' है।

कनक-कनक तैं सौगुनी, मादकता अधिकाय।

जा खाये बौरात है, वा पाये बौराय॥

यानी सोने (धन) में मद पैदा करने की शक्ति धतूरे से भी अधिक है। तभी धतूरे को खाकर मनुष्य बौराता है किन्तु धन पाते ही बौराने लगता है।

इस तरह धन का अभिमान अन्य सब अभिमानों से अधिक नशा लाता है। धन के नशे मे अन्धा होकर मनुष्य अपना विवेक खो बैठता है।

अपने शरीर के बल का अभिमान करना 'बलमद' है। बलमद में चूर होकर मनुष्य निर्बल जीवों को सताता है, उन्हें ठुकराता है, मारता है, उन्हें लूटता खसोटता, अपमानित करता है। भरत चक्रवर्ती ने बलमद में आकर अपने भाई बाहुबली से युद्ध ठान लिया किन्तु जब वह मल्लयुद्ध, जलयुद्ध, तथा दृष्टि युद्ध में बाहुबली से हार गये तब उनको प्राण रहित करने के लिए उनपर चक्र चला दिया ऐसा अकृत्य मनुष्य बलमद में कर बैठता है।

तपश्चरण आत्म शुद्धि के लिए किया जाता है, परन्तु जब उसी तपस्या का अभिमान किया जाता है तब वह तपस्या एक अवगुण बन जाती है। तपमद करने वाला व्यक्ति अपने आपको महान तपस्वी, धर्मात्मा, महात्मा, शुद्धात्मा समझता है अन्य साधु मुनि ऋषियों को हीन समझता है। उनको घृणा की दृष्टि से देखने लगता है।

मनुष्यों को पूर्व पुण्य कर्म उदय से राजकीय, सामाजिक, जातीय, धार्मिक, राष्ट्रीय, अन्तःराष्ट्रीय अधिकार प्राप्त हुआ करते है। उस प्राप्त

अधिकार का अभिमान करना 'अधिकारमद' है। अधिकारमद में चूर होकर मनुष्य दूसरों का अपमान करता है, उनको आर्थिक, शारीरिक दण्ड देता है। इस तरह अपने पद का दुरुपयोग करता है।

इस तरह ८ मद सम्यग्दर्शन को मलिन करने वाले दोष है।

छह अनायतन

'आयतन' शब्द का अर्थ **'घर'** है। यहाँ सम्यक्त्व के प्रकरण में 'आयतन' का अर्थ **'धर्म का घर'** या **'धर्म का स्थान'** है। जो **'धर्म का स्थान'** न हो, अधर्म या मिथ्यात्व का स्थान हो उस को **'अनायतन'** कहते है।

अनायतन ६ हैं–१ कुदेव, २ कुदेवालय, ३ मिथ्या ज्ञान, ४ मिथ्याज्ञानी, ५ मिथ्या तप, ६ मिथ्या तपस्वी।

आत्मा, राग द्वेष, क्रोध, काम आदि दुर्भावों के कम होने या दूर होने से शुद्ध होता है। अतः वीतराग देव की भक्ति से वह आत्म-शुद्धि मिलती है। जो देव राग, द्वेष आदि दुर्भाव धारी हैं कुदेव है, उनकी भक्ति से आत्मशुद्धि नहीं हो सकती, अतः कुदेव धर्मायतन नहीं, अनायतन हैं, इसी कारण सम्यग्दृष्टि उनकी भक्ति नहीं करता। जो व्यक्ति किसी स्वार्थ या प्रलोभनवश उनकी भक्ति करता है वह अपने सम्यक्त्व में दोष लगाता है।

कुदेवों के स्थान भी इसी कारण त्याज्य हैं कि वहां आने जाने से आत्म-शुद्धि की प्रेरणा नहीं मिलती। अतः कुदेवालय भी अनायतन हैं।

जिन शास्त्रों के पठन-पाठन से आत्मा में काम क्रोध आदि दुर्भाव उत्पन्न हों, आत्मज्ञान वैराग्य की प्रेरणा न मिले वे ग्रन्थ मिथ्या ज्ञान के उत्पादक है, अतः वे भी अनायतन है।

आत्मा के अहितकारक ग्रन्थों को पढ़कर यदि कोई विद्वान हो तो उस की विनय सेवा सुश्रूषा से कुज्ञान ही प्राप्त होगा, अतः मिथ्याज्ञानी भी अनायतन रूप है।

कर्म निर्जरा करा कर आत्मा को शुद्धता की दिशा में ले जाने तप तो श्रेयस्कर है। किन्तु जिस तप से आत्मा की मलिनता कम न हो पावे, वह तप कुतप या मिथ्या तप है और इसी कारण अनायतन है।

• मिथ्या तप करने वाले आत्मज्ञान-शून्य तपस्वी अपने अनुयायियों को संसार से पार नहीं कर सकते, वे तो पत्थर की नाव की तरह संसार-सागर में स्वयं डूबते हैं और अपने भक्तों को डुबाते हैं, अतः वे भी अनायतन रूप हैं।

आठ दोष

जिन से सम्यग्दर्शन दूषित होता है उसे दोष कहते हैं। वे आठ हैं–१ शंका, २ कांक्षा, ३ विचिकित्सा, ४ मूढ़दृष्टि, ५ अनुपगूहन, ६ अस्थितीकरण, ७ अवात्सल्य, ८ अप्रभावना।

वीतराग और सर्वज्ञ होने के कारण जिनेन्द्र भगवान यथार्थ वक्ता (आप्त) हैं, अतः उनके वचनों में सम्यग्दृष्टि को निःशंक रहना चाहिए। ऐसा न होकर यदि उनके उपदिष्ट किसी सिद्धान्त या किसी बात में सन्देह प्रगट किया जाय तो वह 'शंका' दोष है।

आत्मा के स्वतन्त्र शान्त, अनुपम, अनन्त सुख से अनभिज्ञ या विमुख रहकर सांसारिक, कायिक, इन्द्रियजन्य, भौतिक भोग उपभोग-जन्य सुख की इच्छा करना 'कांक्षा' दोष है।

रत्नत्रय रूप आध्यात्मिक गुणों का आदर न करते हुए ऋषियों, मुनियों का मलिन शरीर देखकर उनसे घृणा करना 'विचिकित्सा' दोष है।

चेतन, जड़, संसार, मुक्ति, पुण्य पाप, हेय उपादेय आदि के आवश्यक ज्ञान से शून्य मूढ़ बने रहना 'मूढ़दृष्टि' दोष है।

अपने गुण प्रगट करना, दूसरे के दोष प्रगट करना, धर्मात्मा के अवगुणों को न ढकना 'अनुपगूहन' दोष है।

दरिद्रता, मूर्खता या अन्य किसी कारण से कोई मनुष्य अपना धर्म छोड़ कर विधर्मी हो रहा हो तो उसे उपाय करके अपने धर्म में स्थिर करने का प्रयत्न न करना 'अस्थितिकरण' है।

अपने साधर्मी व्यक्ति से कलह करना, उससे प्रेम न करना 'अवात्सल्य' दोष है।

अपने धर्म का प्रचार करने तथा इसका प्रभाव जगत में फैलाने का यथा-साध्य प्रयत्न न करना 'अप्रभावना' दोष है।

इस प्रकार ३ मूढ़ता, ८ मद, ६ अनायतन और ८ दोष, ये सब मिलकर सम्यग्दर्शन के २५ मल दोष हैं। इनके द्वारा सम्यग्दर्शन गुण स्वच्छ निर्मल न रह कर, मलिन हो जाता है।

अष्टांगानि ॥७॥

अर्थ—जिस प्रकार शरीर को ठीक रखने के लिए हाथ, पैर, शिर, छाती, पीठ, पेट आदि आठ अंग होते है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन को पूर्ण-स्वस्थ रखने के लिए आठ अंग होते हैं। उनके नाम–

१ निःशंकित, २ निःकांक्षित, ३ निर्विचिकित्सा, ४ अमूढ-दृष्टि, ५ उपगूहन, ६ स्थितिकरण, ७ वात्सल्य, ८ प्रभावना ।

जिनवाणी में रंच मात्र भी शंका सन्देह न करना निःशंकित अंग है।

सांसारिक विषय भोगों की इच्छा न करना निःकांक्षित अंग है।

निर्ग्रन्थ साधु के मलिन शरीर से घृणा न करना उनके आध्यात्मिक गुणों से अनुराग करना निर्विचिकित्सा अंग है।

आत्मा, अनात्मा, आचार अनाचार, पाप, पुण्य, हेय उपादेय आदि आवश्यक बातों का ज्ञान प्राप्त करना, इनसे अनभिज्ञ (अजान) न रहना अमूढ दृष्टि अंग है।

किसी साधर्मी भाई, मुनि ऐलक, क्षुल्लक, आर्यिका, क्षुल्लिका, ब्रह्मचारी आदि व्रती से आत्म-निर्बलता के कारण कोई दोष या त्रुटि हो जाय तो उसको प्रगट न करना, गुप्त रूप से सुधारने का यत्न करना उपगूहन अंग है।

कोई साधर्मी स्त्री पुरुष किसी कारण-वश अपना धर्म छोड़ने को तैयार हो तो उसे समझा-बुझा कर तथा अन्य अच्छे उपाय से धर्म में स्थिर रखना स्थितिकरण अंग है।

अपने साधर्मी व्यक्ति से ऐसा प्रेम करना जैसे गाय अपने बछड़े के साथ करती है, यह वात्सल्य अंग है।

दान, परोपकार, ज्ञान प्रचार, शास्त्रार्थ, उच्चकोटि का चारित्र पालन करना, व्याख्यान, पुस्तक वितरण आदि विविध उपायों से धर्म का प्रभाव सब जगह फैलाना प्रभावना अंग है।

इन आठ अंगों के आचरण करने से सम्यग्दर्शन पूर्ण एवं पुष्ट रहता है।

इन आठ अंगों के पालन करने में निम्नलिखित व्यक्ति प्रसिद्ध हैं— अंजन चोर निःशंकित अंग में, अनन्तमती निःकांक्षित अंग में, उद्दायन राजा निर्विचिकित्सा अंग में, अमूढ-दृष्टि अंग में रेवती रानी, जिनेन्द्रभक्त सेठ उपगूहन अंग में, वारिषेण स्थितीकरण में, विष्णुकुमार ऋषि वात्सल्य अंग में और वज्रकुमार मुनि प्रभावना अंग में जगविख्यात हुए है। विस्तार भय से यहां उनकी कथा नहीं देते हैं अन्य ग्रन्थों से उन्हें जान लेना।

जलस्नानत्यागी महाव्रती साधुओं का शरीर मैला देखकर उससे घृणा करना विचिकित्सा अतिचार है।

अष्ट गुणाः ॥८॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन के आठ गुण हैं।

१ धर्मानुराग, २ निर्वेग, ३ आत्म निन्दा, ४ गर्हा, ५ उपशम, ६ भक्ति, ७ अनुकम्पा और ८ आस्तिक्य ये उन ८ गुणों के नाम हैं।

धर्म से, धर्म के फल से तथा धर्मात्मा के साथ अनुराग रखना सम्यग्दर्शन का पहला 'धर्मानुराग' गुण है।

संसार, तथा शरीर विषय भोगों से विरक्त रहना 'निर्वेग' गुण है।

अपने दोषों की निन्दा करना 'आत्मनिन्दा' नामक गुण है।

प्रायश्चित्त लेने के लिये अपने दोषों को गुरु के सामने आलोचना करना 'गर्हा' नामक गुण है।

क्रोध आदि उग्र कषायों का मन्द होना शान्त भाव आना 'उपशम' नामक गुण है।

अर्हन्त भगवान, आचार्य तथा उपाध्याय आदि पूज्यों की पूजा, विनय, स्तुति आदि करना 'भक्ति' गुण है।

समस्त चर, अचर, छोटे बड़े जीवों पर दया भाव रखना, उनको कष्ट न होने देना 'अनुकम्पा' गुण है।

आत्मा, परमात्मा, इहलोक परलोक, पुण्य पाप, स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि को मानना, कर्म, कर्म के फल के अस्तित्व की श्रद्धा रखना 'आस्तिक्य' गुण है।

सम्यग्दृष्टि में ये ८ गुण होते हैं। इनसे सम्यग्दर्शन की अच्छी शोभा होती है।

अब सम्यग्दर्शन के अतिचार बतलाते है—

पंचातिचाराः ॥९॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन के ५ अतिचार हैं।

१ शंका, २ कांक्षा, ३ विचिकित्सा, ४ अन्यदृष्टि प्रशंसा, ५ अन्य-दृष्टि-संस्तव, ये ५ अतिचार सम्यग्दर्शन के हैं।

वीतराग सर्वज्ञ देव के प्रतिपादित सिद्धान्त 'मैं पता नहीं यह बात ठीक है या नहीं है' ऐसा सन्देह करना 'शंका' है।

धर्म-साधन का फल सांसारिक विषय भोगों की प्राप्ति चाहना 'कांक्षा' नामक अतिचार है।

जलस्नानत्यागी महाव्रती साधुओं का शरीर मैला देखकर उससे घृणा करना विचिकित्सा अतिचार है।

मिथ्याश्रद्धालु व्यक्ति की प्रशंसा (उसके पीछे तारीफ) करना अन्य दृष्टिप्रशंसा नामक अतिचार है।

मिथ्या श्रद्धानी व्यक्ति के सन्मुख उसके गुणों का वर्णन करना अन्य-दृष्टि संस्तव नामक अतिचार है।

सम्यग्दर्शन का आवश्यक वर्णन करके अब चारित्र का वर्णन प्रारंभ करते हैं, उससे सबसे पहले गृहस्थ चारित्र को लिखते हुए गृहस्थ की ११ श्रेणियों (प्रतिमाओं) को कहते हैं।

एकादश निलयाः ॥१०॥

चारित्रधारक गृहस्थ के ११ निलय यानी श्रेणी (प्रतिमाएं) है।

दंसण वयसामाइय पोसहसंचित्तरायभत्ते य।
बम्हारंभपरिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदीए ॥

अर्थ—१ दर्शन, २ ब्रत, ३ सामायिक, ४ प्रोषध, ५ सचित्तविरत, ६ रात्रि भुक्ति त्याग, ७ ब्रह्मचर्य, ८ आरम्भ त्याग, ९ परिग्रह त्याग, १० अनुमति त्याग, ११ उद्दिष्ट त्याग, ये गृहस्थ श्रावक के ११ निलय या प्रतिमाएं हैं।

दर्शन प्रतिमा

संसार तथा शरीर, विषय भोगों से विरक्त गृहस्थ जब पांच उदुम्बर फल (विनाफूल के ही जो फल होते हैं १ बड़, २ पीपल, ३ पाकर, ४ ऊमर, ५ कठूमर) भक्षण के त्याग तथा ३ मकार (मद्यपान, मांस भक्षण, मधुभक्षण) के त्यागके साथ सम्यग्दर्शन (वीतराग देव, जिन वाणी, निर्ग्रन्थ साधु की श्रद्धा) का धारण करना दर्शन प्रतिमा है।

व्रतप्रतिमा

हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह, इन पांच पापों के स्थूल त्याग रूप अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह परिमाण, ये पांच अणुव्रत, दिग्व्रत, देश व्रत, अनर्थ दण्ड व्रत, ये तीन गुणव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण, अतिथि संविभाग, ये ४ शिक्षाव्रत (५+३+४=१२) हैं, इन समस्त १२ व्रतों का आचरण करना व्रत प्रतिमा है।

संकल्प से (जान बूझकर) दो इन्द्रिय आदि त्रस जीवों को न मारना

अहिंसा अणुव्रत है। राज-दंडनीय, पंचों द्वारा भंडनीय असत्य भाषण न करना सत्य अणुव्रत है। सर्व साधारण जल मिट्टी के सिवाय अन्य व्यक्ति का कोई भी पदार्थ विना पूछे न लेना, अचौर्य अणुव्रत है। अपनी विवाहित स्त्री के सिवाय शेष सब स्त्रियों से विषय-सेवन का त्याग ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। सोना, चांदी, वस्त्र, बर्तन, गाय आदि पशु धन, गेहूँ आदि धान्य, पृथ्वी, मकान, दासी (नौकरानी), दास (चाकर) तथा और भी परिग्रह पदार्थों को अपनी आवश्यकतानुसार परिमाण करके शेष परिग्रह का परित्याग करना परिग्रह परिमाण व्रत है। पंच पापों का आंशिक त्याग होने से इनको अणुव्रत कहते हैं।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य तथा ऊर्ध्व (पृथ्वी से ऊपर आकाश) और अधः (पृथ्वी से नीचे), इन दस दिशाओं में आने जाने की सीमा (हद) जन्म भर के लिए करना 'दिग्व्रत' है।

दिग्व्रत के भीतर कुछ नियत समय तक आवश्यकतानुसार छोटे क्षेत्र की मर्यादा करना 'देशव्रत' है।

जिन क्रियाओं से बिना प्रयोजन-व्यर्थमें पाप- अर्जन होता है उन कार्यों का त्याग करना अनर्थदण्ड व्रत है।

नियत समय तक पंच पाचों का त्याग करके एक आसन से बैठकर या खड़े होकर सबसे रागद्वेष छोडकर, आत्म-चिन्तन करना बारह भावनाओं का चिन्तवन करना, जाप देना, सामायिक पाठ पढ़ना, सामायिक है।

अष्टमी और चतुर्दशी के दिन समस्त आरम्भ परिग्रह को छोड़कर खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना तथा पहले और पीछे के दिन (सप्तमी, नवमी, त्रयोदशी पूर्णिमा) प्रोषध (एकाशन एक बार भोजन) करना प्रोषधोपवास है।

भोग्य (एक बार भोगने योग्य-भोजन, तेल आदि पदार्थ) तथा उपभोग्य (अनेक बार भोग्ने योग्य पदार्थ-वस्त्र, आभूषण, मकान, सवारी आदि) पदार्थों का अपनी आवश्यकता अनुसार परिमाण करके शेष अन्य सबका त्याग करना भोगोपभोग परिमाण व्रत है।

अपने यहां आने की तिथि (प्रतिपदा द्वितीया आदि दिन) जिनकी कोई नियत नहीं होती, ऐसे मुनि, एलक, क्षुल्लक आदि अतिथि व्रती पुरुषों को भक्तिभाव से तथा दीन दुखी दरिद्रों को करुणा भाव से एवं साधर्मी गृहस्थों को वात्सल्य भाव से, भोजन कराना, ज्ञान दान, औषधदान तथा अभयदान करना 'अतिथि संविभाग व्रत, है।

सामायिक प्रतिमा

निर्दोष (अतिचार रहित) प्रातः, दोपहर और सायंकाल कम से कम दो-दो घड़ी (२४ मिनट की एक घड़ी) तक नियम से सामायिक करना, **सामायिक प्रतिमा** है। सामायिक का मध्यम समय ४ घड़ी और उत्तम समय ६ घड़ी है।

रागद्वेष आदि विकार भाव न आने देकर सब में समता (समान) भाव रखना सामायिक है। विषय भेद से उसे १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ क्षेत्र, ५ काल, और ६ भाव; छः भेद रूप माना गया है।

सामायिक करते समय किसी भी अच्छे नाम से राग न करना, बुरे नाम से द्वेष न करना, दोनों में समभाव रहना **नाम सामायिक** है।

सामायिक के समय किसी सुन्दर चित्र, मूर्ति स्त्री, पुरुष के चित्र, मूर्ति, प्रतिमा आदि पर राग भाव चिन्तवन न करना, असुन्दर चित्र आदि के लिए द्वेष भाव हृदय में न आने देना, समता भाव रखना स्थापना सामायिक है।

इष्ट अनिष्ट चेतन अचेतन पदार्थों में द्वेषभावना तथा हर्ष-भावना न लाकर सामायिक के समय समताभाव रखना **द्रव्य सामायिक** है।

सामायिक काल में शुभ, मनोहर, रमणीक क्षेत्रों (स्थानों) में राग भाव हृदय में न आने देना और अशुभ स्थानों से द्वेष भाव न आने देना, साम्यभाव-रखना **क्षेत्र सामायिक** है।

शुभ अशुभ कालों के विषय में सामायिक के समय राग द्वेष भाव उत्पन्न न होने देना **काल सामायिक** है।

सामायिक के समय क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, काम, भय, शोक, आदि दुर्भाव उत्पन्न न होने देना **भाव सामायिक** है।

सामायिक करने के लिए ७ प्रकार की शुद्धि का ध्यान रखना भी आवश्यक है। वे हैं क्षेत्र, काल, आसन, मन, वचन, काय और विनय।

मंदिर, धर्मशाला, बाग, पर्वत, नदीतट, वन आदि कोलाहल रहित तथा जीव जन्तु आदि रहित स्थान का होना **क्षेत्र शुद्धि** है।

तीन घड़ी रात्रि का अन्तिम समय और तीन घड़ी सूर्योदय समय प्रातः काल, बारह बजे दिन से तीन घड़ी पहले और पीछे ६ घड़ी तक एवं ३ घड़ी दिन का अस्त समय, तीन घड़ी रात्रि का प्रारम्भ समय इस तरह तीनों संध्याओं के ६-६ घड़ी समय में सामायिक के लिये उपयुक्त है यह **काल शुद्धि** है।

पद्मासन, खड्गासन, आदि दृढ़ आसन में स्थिर होकर चटाई, तख्ते, शिला पर निश्चल रूप से सामायिक करना आसन शुद्धि है।

मन को दुर्भावना से शुद्ध रखना मन शुद्धि है।

सामायिक पाठ, मंत्र आदि के उच्चारण के सिवाय अन्य वचन न बोलना मौन रहना 'वचन शुद्धि' है।

हाथ पैर धोकर या स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनना आदि काय शुद्धि है।

देव, शास्त्र, गुरु, चैत्य, चैत्यालय आदि के लिये विनय भावना रखना विनय शुद्धि है।

सामायिक करने की विधि

सबसे पहले पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर मुख करके खड़ा हो फिर नौ वार णमोकार मन्त्र पढ़ कर ढोक दे (दण्डवत नमस्कार करे)। तदनन्तर उसी तरह खड़े होकर ६ वार णमोकार मन्त्र पढ़कर तीन आवर्त [दोनों जुड़े हुए हाथों को बायीं ओर से दाहिनी ओर तीन वार घुमाना] और एक शिरोनति [नमस्कार] करे। तत्पश्चात् दाहिने हाथ की ओर खड़े खड़े घूम जावे और ६ वार णमोकार मंत्र पढ़े फिर तीन आवर्त, एक शिरोनति करे। इसके बाद दाहिने हाथ की ओर घूम जावे, उस ओर भी ६ वार णमोकार मन्त्र पढ़ कर ३ आवर्त, १ शिरोनति करे। तत्पश्चात् दाहिनी ओर घूमकर भी ६ णमो, कार मन्त्र पढ़ कर, ३ आवर्त, एक शिरोनति करे। यह सब कर लेने के बाद उसी पूर्व या उत्तर दिशा की ओर खड़े होकर या बैठ कर सामायिक करे।

सामायिक करते समय अपने मन को एकाग्र करे, आत्म चिन्तवन करे कि 'मैं निरञ्जन, निर्विकार, सच्चिदानन्द रूप हूं, अर्हंत सिद्ध भगवान का रूप मेरे भीतर भी है, कर्म का पर्दा हटते ही मेरा वह शुद्ध रूप प्रगट हो जायेगा, संसार में मेरा कोई भी पदार्थ नहीं, मैं सब से अलग हूं, सब पदार्थ मुझ से जुदे हैं, संसार में मेरा न कोई मित्र है, न शत्रु। समस्त जीवों के साथ मेरा समता भाव है।' इत्यादि।

जब तक चित्त ऐसे आत्मचिन्तवन में ठहरे तब तक ऐसा चिन्तवन करता रहे। फिर श्री अमिति गति आचार्य—रचित 'सत्वेषु मैत्री' आदि ३२ श्लोकों वाला संस्कृत भाषा का सामायिक पाठ पढ़े। अथवा **'काल अनन्त भ्रम्यो इस जग में'** आदि भाषा सामायिक पाठ पढ़े। उसके बाद णमोकार आदि किसी मन्त्र की जाप देवे। जाप के लिये—

३५ अक्षरों का णमोकार मन्त्र, १७ अक्षरों का अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्व साधुभ्यो नमः, ६ अक्षरों का अरहंतसिद्ध, ५ अक्षरों का असिआउसा, ४ अक्षरों का अरहंत, दो अक्षरों का मन्त्र 'सिद्ध' तथा एक अक्षर का मन्त्र 'ॐ' है। इसके सिवाय और भी अनेक मंत्र माला फेरने के लिए हैं। जाप देकर समय और सुविधा हो तो भक्तामर आदि पांच स्तोत्र, स्वयम्भूस्तोत्र का या एक स्तोत्र का पाठ करले। अन्त में उसी स्थान में कायोत्सर्ग (हाथ नीचे लम्बे करके निश्चल खड़ा होना) के रूप में खड़े होकर ९ बार णमोकार मन्त्र पढ़े और ढोक देकर नमस्कार [दण्डवत] करे।

प्रोषध प्रतिमा (4)

प्रत्येक अष्टमी तथा चतुर्दशी को सब आरम्भ परिग्रह छोड़कर मन्दिर या धर्मशालादि एकान्त शान्त स्थान में आहार पान छोड़कर धर्मध्यान करे, कोई अतिचार न लगने दे। अष्टमी को प्रोषधोपवास करना हो तो सप्तमी को एकाशन करे, अष्टमी को उपवास करे और नवमी को दोपहर पीछे भोजन करे। इस तरह सप्तमी के आधे दिन के २ पहर, रात के ४ पहर, अष्टमी दिन रात के ८ पहर और नवमी के २ पहर; सब १६ पहर [४८ घंटे] तक खान पान का त्याग करना चाहिये। १६ पहर को प्रोषधोपवास उत्कृष्ट है। १२ पहर का मध्यम [सप्तमी की रात्रि के ४ पहर अष्टमी के दिन रात के आठ पहर धर्मध्यान से बिताना] है और ८ पहर का [अष्टमी दिन रात के आठ पहर धर्मध्यान मे व्यतीत होना] जघन्य है।

इसमें कोई अतिचार न लगाना चाहिए। दूसरी प्रतिमा का प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के रूप में होता है उसमें अतिचारों का त्याग नहीं होता। चौथी प्रतिमा में अतिचारों का त्याग होता है।

सचित्त त्याग प्रतिमा (5)

जीव सहित पदार्थ को सचित्त कहते हैं। जघन्य श्रावक के भी दो इन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा तथा उनके मांस भक्षण का त्याग होता है। स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग चौथी प्रतिमाधारी तक के स्त्री पुरुषों के नहीं होता। इसी कारण वे छूने हुए सचित्त जल [कच्चा पानी] तथा सचित्त वनस्पति [शाक फल आदि] खाते हैं। परन्तु पांचवी प्रतिमा ग्रहण करने पर उस कच्चे जल का पीना और सचित्त [सजीव हरी] वनस्पति खाने का त्याग कर देते हैं।

जो जल सचित्त है वह गर्म कर लेने पर ४ पहर तक अचित रहता है और औटा हुआ [खौला हुआ] जल ८ पहर [२४ घण्टे] तक अचित रहता है।

छने हुए जल में बारीक राखे या पिसी हुई लोंग, इलायची, मिर्च आदि चीजें मिलाकर जल का रस, रूप, गन्ध, बदल देने पर दो पहर [छह घंटे] तक जल अचित्त [जल कायिक जीव रहित] रहता है तदनन्तर सचित्त हो जाता है।

शाक फल आदि सचित्त [हरित] वनस्पति सूख जाने पर या अग्नि से पक जाने आदि के बाद अचित्त [प्रासुक--वनस्पति काय रहित] हो जाती है।

इस प्रकार पांचवी प्रतिमाधारी को अचित्त जल पीना चाहिए तथा अचित्त वनस्पति खानी चाहिए। जीभ की लोलुपता हटाने तथा जीव-रक्षा की दृष्टि से पांचवी प्रतिमा का आचरण है।

रात्रि भोजन त्याग

खाद्य [रोटी, दाल आदि भोजन], स्वाद्य [मिठाई आदि स्वादिष्ट वस्तु] लेह्य (रबड़ी, चटनी आदि चाटने योग्य चीजें), पेय (दूध पानी शर्बत आदि पीने की चीजें), इन चारों प्रकार के पदार्थों का रात्रि के समय कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग करना **रात्रि भोजन त्याग** प्रतिमा है।

सूर्यास्त से सूर्योदय तक रात में भोजन पान न स्वयं करना, न किसी दूसरे को भोंजन कराना और न रात में भोजन करने वाले को उत्साहित करना, सराहना करना, अच्छा समझना इस प्रतिमाधारी का आचरण है। यदि अपना छोटा पुत्र भूख से रोता रहे तो भी इस प्रतिमाकधारी व्यक्ति न उसको स्वयं भोजन करावेगा, न किसी को उसे खिलाने की प्रेरणा करेगा। या न कहेगा।

ब्रह्मचर्य प्रतिमा

काम सेवन को तीव्र राग का, मनकी अशुद्धता का तथा महान हिंसा का कारण समझकर अपनी पत्नी से भी मैथुन सेवन का त्याग कर देना **ब्रह्मचर्य** नामक सतवीं प्रतिमा है।

इस प्रतिमा का धारक नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाता है।

नौ बाड़

जैसे खेत में उगे हुए धान्य को गाय आदि पशुओं से खाने बिगाड़ने से बचाने के लिए खेत के चारों ओर कांटों की बाड़ लगा दी जाती है उसी प्रकार ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य सुरक्षित रखने के लिये निम्नलिखित ६ नियमों का आचरण करना आवश्यक है, इनको ब्रह्मचर्य की सुरक्षा करने के कारण 'बाड़' कहते हैं।

१—स्त्रियों के स्थान में रहने का त्याग।

२—राग भाव से स्त्रियों के देखने का त्याग।
३—स्त्रियों के साथ आकर्षक मीठो बात चीत करने का त्याग।
४—पहले भोगे हुए विषय भोगों के स्मरण करने का त्याग।
५—काम-उद्दीपक गरिष्ठ भोजन न करना।
६—अपने शरीर का शृंगार करके आकर्षक बनाने का त्याग।
७—स्त्रियों के बिस्तर, चारपाई, आसन पर बैठने सोने का त्याग।
८—काम कथा करने का त्याग।
९—भोजन थोड़ा सादा करना जिससे काम जाग्रत न हो।

इस प्रतिमा के धारी को सादा वस्त्र पहनने चाहिए। वह घर में रहता हुआ व्यापार आदि कर सकता है।

आरम्भ त्याग

सब प्रकार के आरम्भ का त्याग करदेना **आरम्भ त्याग** नामक आठवीं प्रतिमा है।

आरम्भ के दो भेद हैं— १- घर सम्बन्धी, ५ सूना का [चक्की, चूल्हा ओखली, बुहारी और परींडा यानी पानी का कार्य] २-व्यापार-सम्बन्धी। जैसे दूकान, कारखाना खेती, आदिक कार्य।

आरम्भ करने में जीव हिंसा होती है तथा चित्त व्याकुल रहता है, कषाय भाव जागृत रहते हैं, अतः आत्म-शुद्धि और अधिक दया भाव का आचरण करने की दृष्टि से यह प्रतिमा धारण की जाती है। इस प्रतिमा का धारी अपने हाथ से रसोई बनाना बन्द कर देता है। दूसरों के द्वारा बनाये हुए भोजन को ग्रहण करता है।

परिग्रह त्याग

रुपये पैसे, सोना चांदी, मकान खेत, आदि परिग्रह को लोभ तथा आकुलता का कारण समझकर अपने शरीर के सादे वस्त्रों के सिवाय समस्त परिग्रह के पदार्थों का त्याग कर देना **परिग्रह त्याग** प्रतिमा है।

इस प्रतिमा को धारण करने से पहले वह अपने परिग्रह का धर्मार्थ तथा पुत्र आदि उत्तराधिकारियों में वितरण करके निश्चिन्त हो जाता है। विरक्त होकर धर्मशाला, मठ आदि में रहता है। शुद्ध प्रासुक भोजन करने के लिये जो भी कहे उसके घर भोजन कर आता है, किन्तु स्वयं किसी प्रकार के भोजन बनाने के लिये नहीं कहता। पुत्र आदि यदि किसी कार्य के विषय में पूछते हैं। तो उनको अनुमति [सलाह] दे देता है।

अनुमति त्याग

घर गृहस्थाश्रम के किसी भी कार्य में अपनी अनुमति (इजाज़त) तथा सम्मति देने का त्याग कर देना अनुमति त्याग प्रतिमा है।

इस प्रतिमा का धारक अपने पुत्र आदि को किसी व्यापारिक तथा घर-सम्बन्धी कार्य करने, न करने की किसी भी तरह की सम्मति नहीं देता। उदासीन होकर चैत्यालय आदि में स्वाध्याय, सामायिक आदि आध्यात्मिक कार्य करता रहता है। भोजन का निमन्त्रण स्वीकार करके घर पर भोजन कर आता है।

उद्दिष्ट त्याग

अपने उद्देश्य से बनाये गये भोजन ग्रहण करने का त्याग करना उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा है।

श्रावक का यह सर्वोच्च आचरण है। इस प्रतिमा का धारक घर छोड़ कर मुनियों के साथ रहने लगता है, मुनियों के समान गोचरी के रूपमें जहां पर ठीक विधि से भोजन मिल जावे वहां भोजन लेता है। निमन्त्रण से भोजन नहीं करता।

इस प्रतिमा के धारक के दो भेद हैं १– क्षुल्लक, २–ऐलक।

जो कौपीन [लंगोटी] और एक खण्ड वस्त्र [छोटी चादर, जो कि सोते समय शिर से पैर तक सारा शरीर न ढक सके] पहनने के लिये रखता है, अन्य कोई वस्त्र उसके पास नहीं होता तथा एक कमण्डलु और मोर के पंखों की पीछी भी रखता है।

ऐलक–केवल लंगोटी पहनता है अन्य कोई वस्त्र उसके पास नहीं होता।

यहाँ यह बात ध्यान रखनी चाहिये कि आगे की प्रतिमा धारण करने वाले को उससे पहले की प्रतिमाओं के यम, नियम आचरण करना आवश्यक है।

त्रिविधो निर्वेगः ॥११॥

अर्थ—निर्वेग तीन प्रकार का है—१ संसार निर्वेग, २ शरीर निर्वेग, ३ भोग निर्वेग।

चतुर्गति रूप संसार में जन्म मरण, चिन्ता, आकुलता, भूख प्यास आदि दुःखों का प्राप्त होना प्रत्येक जीव के लिए अनिवार्य है, अतः दुःखपूर्ण संसार से विरक्त होना संसार-निर्वेग है।

शरीर आत्मा के लिए कारागर [जेल] के समान है। रक्त मांस हड्डी का पुतला है, पीप, टट्टी, पेशाब, कफ थूक आदि घृणित पदार्थों का भंडार है,

रोगों से भरा हुआ है। ऐसे शरीर से विरक्त होना शरीर-निर्वेग है।

इन्द्रियों के विषय भोग आत्मा की तृष्णा को बढ़ाते हैं, पाप अर्जन कराते हैं, आत्मा को चिन्तित व्याकुल करते हैं, आत्म-शक्ति क्षीण करते हैं, भोगने के पश्चात् नीरस हो जाते हैं. ऐसा विचार कर भोगों से विरक्त होना भोग-निर्वेग है।

सप्त व्यसनानि ॥१२॥

अर्थ—आत्मा को दुखदायक, आत्मा का पतन कराने वाली आदतों को व्यसन कहते है। व्यसन ७ प्रकार के हैं—१ जुआ खेलना, २ मांस खाना, ३ मद्य पान, ४ वेश्यागमन, ५ शिकार खेलना, ६ चोरी करना, ७ परस्त्री सेवन।

१--बिना परिश्रम किये झटपट धन उपार्जन करने के विचार से कौड़ियों ताश आदि के द्वारा शर्त लगाकर द्यूत क्रीड़ा करना जुआ खेलना है। जुआ समस्त व्यसनों का मूल है। जुए में जीतने वाला कुसंगति के कारण वेश्यागमन परस्त्री सेवन, माँस भक्षण, शराब पीने आदि का अभ्यासी बन जाता है। और जुआ में हारने वाला चोरी करना सीख जाता है। जुए के कारण श्रावस्ती के राजा सुकेत, राजा नल तथा पांडव अपना सर्वस्व हार कर तथा राजभ्रष्ट होकर दीन, दरिद्र, असहाय बन गये।

२--मांस भक्षण करने का अभ्यास मांस भक्षण व्यसन है। दो इन्द्रिय आदि जीवों [जिनके शरीर में खून हड्डी होती है] के शरीर का कलेवर मांस होता है जिसमें सदा त्रस जीव उत्पन्न होते रहते है, अतः मास खाने से बहुत हिंसा होती है। मांस भक्षण के व्यसन से प्राचीन काल में कुम्भ राजा की दुर्गति हुई।

३-अनेक पदार्थों को सड़ा कर उनका काढ़ा [अर्क] निकाल कर मद्य [शराब] तयार होती है, अतः उस में त्रस जीव उत्पन्न होते हैं। इस कारण शराब पीने से हिंसा भी होती है और बुद्धि नष्ट भ्रष्ट होती है। इसके सिवाय धर्म और शुद्ध आचार भी नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। यादववंशी राज कुमारों ने द्वारिका के बाहरी कुण्डों में भरी हुई शराब पीकर ही नशे में द्वीपायन मुनि पर पत्थर फेंके थे जिस से क्रुद्ध हो कर द्वीपायन ने अपनी अशुभ तैजस ऋद्धि द्वारा द्वारिका भस्म कर डाली।

वेश्या व्यभिचारिणी स्त्री होती है। जो कि बाजारू वस्तुओं की तरह अपने शील धर्म [ब्रह्मचर्य] को सदा बेचती रहती है। सब तरह के ऊंच नीच, लुच्चे लफंगे द्रव्य देकर वेश्या से काम-क्रीड़ा किया करते हैं, अतः वेश्याओं को

उपदंश [गर्मी, आतिशक] आदि रोग हो जाया करते हैं। इस तरह वेश्यागमन से धर्म, शुचिता (पवित्रता) तथा धन नाश हो कर अनेक रोग प्राप्त होते हैं। प्राचीन समय में चारुदत्त सेठ ने वेश्या व्यसन द्वारा जो अपना सर्वस्व नाश किया था उसकी कथा प्रसिद्ध है।

जलचर, थलचर, नभचर पशु पक्षियों को धनुष बाण, भाला, तलवार, बंदूक आदि से मारना शिकार खेलना है। यह एक महान निर्दय हिंसा का कार्य है जिससे नरक--आयु का बन्ध होता है। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती इस व्यसन के कारण नष्ट हुआ। यह बात इतिहास-प्रसिद्ध है।

धन गृहस्थ मनुष्य का बाहरी प्राण है इस कारण चोरी करने वाला मनुष्य दूसरे की चोरी करके बड़ी भारी भावहिंसा किया करता है। चोर का सारा जगत अपमान करता है। उसे राज-दंड मिलता है और पर-भव में उस की दुर्गति हुआ करती है। विद्युद् वेग चोर की कथा प्रसिद्ध है तथा चोरी व्यसन से जो दुर्दशा मनुष्य की होती है, उसके उदाहरण प्रत्येक युग में अगणित मिलते हैं।

प्रत्येक मनुष्य अपनी पुत्री, बहिन, पत्नी, माता आदि पारिवारिक स्त्री का सदाचार [शील, ब्रह्मचर्य] सुरक्षित रखना चाहता है। अन्य मनुष्य जब उनकी ओर काम दृष्टि से देखता है या उन से व्याभिचार करता है तब उसे असह्य दुख होता है। जिसके प्रतिकार में बड़े बड़े युद्ध तक हो जाते हैं। सीता के अपहरण से रावण का सर्वस्व नाश हुआ। द्रोपदी के अपमान से कीचक तथा कौरव वंश का नाश हुआ।

पहली दर्शन प्रतिमा का धारक दार्शनिक श्रावक सात व्यसनों का त्याग कर देता है।

शल्यत्रयम् ॥१३॥

शल्य के ३ भेद हैं—१-माया, २-मिथ्यात्व, ३-निदान।

कांटा, कील, कांच आदि शरीर में चुभने वाली वस्तु को 'शल्य' कहते हैं। जब तक शरीर में कांटा आदि चुभा रहता है तब तक शरीर में व्याकुलता बनी रहती है, जब कांटा कील या कांच शरीर से निकल जाता है तब शरीर में आकुलता नहीं रहती। इसी प्रकार व्रती का व्रत तभी स्वस्थ या यथार्थ व्रत होता है जब कि उस के हृदय में कोई शल्य नहीं रहती।

माया यानी छल कपट शल्य व्रती के व्रत को यथार्थ व्रत नहीं रहने देती, मायाचारी मनुष्य दूसरों को भ्रम में डालने के लिये अपना व्रती रूप बनाता है

उसके हृदय में व्रताचरण की भावना नहीं होती। जैसे कि एक चोर, सेठ जिनेन्द्र भक्त के चैत्यालय से छत्र में लगे हुए रत्न को चुराने के लिये मायावी क्षुल्लक बन कर चैत्यालय में ठहर गया था। और रात में उसे चुरा कर भागा था।

आत्मा का विपरीत श्रद्धान मिथ्यात्व है।

सम्यक्त्व (आत्मा की सच्ची श्रद्धा) के साथ ही व्रत आचरण सच्चा होता है, आत्म-श्रद्धा के अभाव मे, मिथ्यात्व रहते हुए व्रत यथार्थ नही होते। इस कारण मिथ्यात्व भी व्रताचरण के लिए शल्य है।

व्रत चारित्र आत्मा को कर्म-जाल से छुड़ाकर मुक्त होने के अभिप्राय से ग्रहण किया जाता है। व्रती पुरुष के यदि सासारिक विषय भोगों को प्राप्त करने की अभिलाषा रूप निदान बना रहे, तो व्रत चारित्र का अभिप्राय ही गलत हो जाता है, अतः निदान भी व्रती पुरुष के लिए शल्य है।

जो व्यक्ति माया, मिथ्यात्व, निदान, इन तीनों शल्य को दूर करके व्रत पालन करता है, वही सच्चा व्रती होता है। 'निःशल्यो व्रती' यह व्रती का लक्षण है।

अब श्रावक के मूल गुणों को बतलाते हैं —

अष्टौ मूलगुणाः ॥१४॥

अर्थ—श्रावक के आठ मूल गुण हैं।

जिस प्रकार मूल (जड़) के बिना वृक्ष नही ठहर सकता उसी प्रकार गृहस्थ धर्म के जो मूल (जड है, जिनके बिना श्रावक धर्म स्थिर तथा उन्नत नहीं हो सकता, वे मूलगुण ८ हैं। पांच उदुम्बर फलों का तथा ३ मकार (मद्य मांस, मधु) के भक्षण का त्याग। ये आठ अभक्ष्य पदार्थों के त्याग रूप ८ मूल गुण हैं।

पेड़ों पर पहले फूल आते हैं फूल झड़ जाने पर उनके स्थान पर फल लगते हैं किन्तु बड़ (बरगद), पीपर, गूलर, ऊमर (अंजीर) और कठूमर वृक्षों के फल बिना फूल आये ही उत्पन्न हो जाते हैं, इन पांचों फलों में बहुत से त्रस जीव होते हैं, बहुतों में उड़ते हुए भी दिखाई देते हैं, इस कारण इन इन फलों के खाने से मांस भक्षण का दोष लगता है।

मद्य (शराब) मनुष्य के विवेक बुद्धि को नष्ट भ्रष्ट करने वाला नशीला पदार्थ है, इस के सिवाय उसमें त्रस जीव भी पाये जाते हैं, अतः मद्य दोनों तरह त्याज्य है।

दयालु धार्मिक गृहस्थ को मांस तो खाना ही नही चाहिए क्योंकि वह त्रस

जीवों की हिंसा से उत्पन्न होता है और उसमें सदा (कच्चे, पक्के, सूखे मांस में) अनन्तों जीव उत्पन्न होते रहते हैं।

मधु (शहद) मधु मक्खियों का फूलों से चूसे हुए रस का वमन (उल्टी, कय) है, अतः उसमें भी सदा अनेकों जीव उत्पन्न होते रहते है, इस कारण वह अभक्ष्य है।

कनड़ी टीकाकार मूलगुणों को निम्नलिखित रूप मे कहते है–

इदु सत्यं नुडियदुन्दय । वधूहरणमुयदि मद्य मांसं ।
मधुवें बिनितुमन्नु ळिवुदु । बुधसंदोहक्के मूल गुणमीएंदु ।।१११।

यानी—हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील का आंशिक त्याग रूप अणुव्रत तथा परिग्रह का परिमाण इन पांच अणुव्रतों के साथ मद्य, मांस, मधु का त्याग होना आठ मूलगुण है।

अन्य आचार्यों के मत में मूलगुण अन्य प्रकार भी बतलाये गये है— सात व्यसनों को तथा मिथ्यात्व (कुगुरु, कुदेव, कुधर्म की श्रद्धा) का त्याग रूप आठ मूलगुण हैं। तथा —

हिंसासत्यास्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदाः ।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिःग्रहिणामष्टमूलगुणाः ।।
मद्योदुम्बरपंचकामिषमधुत्यागः कृपा प्राणिनाम् ।
नक्तंभुक्तिविमुक्तिराप्तविनुतिस्तोयं सुवस्त्रस्रुतम्,
एतेऽष्टौ प्रगुणा गुणा गणधरैरागारिणां वर्णिताः ।
एकेनाप्यमुना विना भुवि तथा भूतो न गेहाश्रमी ।।

यानी—किसी आचार्य के मतानुसार पूर्वोक्त पांच अणुव्रत तथा मद्य, मांस, मधु का त्याग ये आठ मूलगुण हैं। दूसरे आचार्य के मत मे १—मद्यपान त्याग (शराब पीना,) २—पञ्चउदम्बर फलका त्याग, ३—मांस त्याग, ४—मधु त्याग, ५—जीवों की दया, ६—रात्रि में भोजन न करना, ७—वीतराग भगवान का दर्शन पूजन और ८—वस्त्र से छाना हुआ जल पीना, यह आठ मूलगुण गणधर देव ने गृहस्थों के बतलाये हैं। इनमें से यदि एक भी मूल गुण कम हो तो गृहस्थ जैन नहीं हो सकता।

अब श्रावकों के अणुव्रत बतलाते हैं:-

पञ्चाणुव्रतानि ।।१५।।

अर्थ—पांच अणुव्रत होते हैं। १—अहिंसा, २—सत्य, ३—अचौर्य, ४—ब्रह्मचर्य तथा ५—परिग्रह परिमाण।

किसी देवी देवता पर बलि चढ़ाने के लिए, श्राद्ध में पितरों के लिए या किसी औषधि के लिए अथवा किसी अन्य कारण से किसी त्रस जीव की संकल्प से हत्या नहीं करना **अहिंसा अणुव्रत** है।

स्वार्थ-वश या राग, द्वेष, मोह, लोभ, भय के कारण झूठ बोलने का त्याग करना **सत्य-अणुव्रत** है

जल मिट्टी के सिवाय किसी दूसरे व्यक्ति के किसी भी पदार्थ को बिना दिये नहीं लेना **अचौर्य अणुव्रत** है।

अपनी विवाहित स्त्री के सिवाय जगत की समस्त स्त्रियों से विषय-सेवन का त्याग **ब्रह्मचर्य अणुव्रत** है। इसका दूसरा नाम **स्वदार-सन्तोष** भी है।

धन, खेत, मकान, सोना, चाँदी, वस्त्र, आदि का अपनी आवश्यकतानुसार परिमाण करके अन्य परिग्रह का संचय न करना **परिग्रह परिमाण अणुव्रत** है।

अब गुणव्रतों को कहते हैं–

गुणव्रत त्रयम् ॥१६॥

अर्थ:–तीन गुणव्रत हैं। १–दिग्व्रत, २–देशव्रत, ३–अनर्थदण्ड व्रत।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ये चार दिशा, इन दिशाओं के कोने की चार विदिशाएं तथा ऊपर आकाश और पृथ्वी के नीचे, ऐसे ऊर्ध्व, अधः ऐसी दो दिशाएं और हैं। इन दशों दिशाओं में आने जाने के लिए दूरी का परिमाण जन्म भर के लिए करना **दिग्व्रत** है।

दिग्व्रत में घंटा दिन मास आदि समय तथा क्षेत्र का संकोच करके मुहल्ला, नगर, मकान आदि में आने जाने का नियम करना **देशव्रत** है। जैसे चातुर्मास में हम उपनगरों सहित दिल्ली नगर से बाहर न जावेंगे। इन दोनों व्रतों के कारण नियम किए हुए क्षेत्र से बाहर होने वाली हिंसा आदि पापों का अंश व्रती को नहीं लगता, अतः वहाँ अणुव्रत भी महाव्रत के समान होते हैं।

जिन कार्यों के करने में बिना कारण पाप बन्ध होता है ऐसे कार्यों का त्याग करना अनर्थदण्ड व्रत है। अनर्थदण्ड के पाँच भेद हैं:– १ हिंसा-प्रदान, २ पापोपदेश, ३ दुःश्रुति, ४ अपध्यान और ५ प्रमादचर्या।

तलवार, छुरी, भाला, धनुष, वाण, बन्दूक, चाकू, विष, अग्नि आदि हिंसा के उपकरणों का दूसरे लोगों को देना **हिंसा प्रदान अनर्थदण्ड** है। ये

पदार्थ दूसरों को देने से अपना प्रयोजन कुछ सिद्ध नहीं होता परन्तु उन पदार्थों से अन्य व्यक्ति हिंसा कर सकता है। इसके सिवाय कुत्ता, बिल्ली, नौला आदि हिंसक जानवरों को पालना भी इसी अनर्थदण्ड में सम्मिलित है।

खेती करने तथा बहुत आरम्भी व्यापार करने, जिन उद्योगों में जीव हिंसा अधिक होती हो ऐसे कार्यों के करने की सम्मति तथा उपदेश देना 'पापोपदेश' अनर्थदण्ड है।

किसी की विजय (जीत), किसी की पराजय (हार), किसी की हानि किसी का लाभ, किसी का वध, मरण, रोग, इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग आदि सोचना, विचारना, अपध्यान अनर्थदण्ड है। ऐसा करने से व्यर्थ पाप बन्ध हुआ करता है।

राग, द्वेष क्रोध, कामवासना, भय, शोक, चिन्ता दुर्भाव उत्पन्न करने वाली बातों का कहना, सुनना, सुनाना, आल्हा आदिक पुस्तकों का पढ़ना सुनाना, युद्ध की, तथा शिकार खेलने की बातें सुनना सुनाना दुःश्रुति अनर्थदण्ड है।

बिना प्रयोजन पृथ्वी खोदना, जल बखेरना, आग जलाना, हवा करना पेड़ पौधे आदि तोड़ना मरोड़ना आदि कार्य प्रमादचर्या अनर्थदण्ड हैं।

इसके सिवाय पाप-बन्ध-कारक बिना प्रयोजन के जो कार्य हैं वे सभी अनर्थदण्ड हैं।

शिक्षाव्रतानि चत्वारि ॥१७॥

अर्थ—शिक्षाव्रत चार हैं—१ सामायिक, २ प्रोषधोपवास, ३ भोगोपभोग परिमाण, ४ अतिथिसंविभाग।

जिनके आचरण करने से उच्च चारित्र धारण करने की शिक्षा मिलती है उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं।

सामायिकः—

समस्त इष्ट पदार्थों से रागभाव और अनिष्ट पदार्थों से द्वेष भाव छोड़ कर समताभाव धारण करना, आत्मचिंतन करना, परमेष्ठियों का चिन्तवन करना, वैराग्य भावना भाना सामायिक है।

शरीर शुद्ध करके, शुद्ध वस्त्र पहन कर एकान्त शान्त स्थान में मन वचन काय शुद्ध करके, सामायिक करने के समय तक पंच पापों का त्याग करके पहले लिखी हुई विधि के अनुसार प्रातः, दोपहर, शाम को सामायिक करना पहला शिक्षाव्रत है।

एरडिरवावर्तन प- ।
न्नेर्डिरदेरक मनर्दोर्थायदिवुवेरसा - ॥
दर्रिद त्रिसञ्जेयोळु नुत जिन - ।
वररं स्तुतिगेय्व मानवं सामयिकं ॥

अब यहां संस्कृत भाषा का सामायिक पाठ देते हैं, समायिक करते समय इसको पढ़ना चाहिये ।

॥ सामयिक पाठ ॥

सिद्धं सम्पूर्णभव्यार्थ–सिद्धेः कारणमुत्तमम् ।
प्रशस्तदर्शनज्ञानचारित्र–प्रतिपादनम् ॥१॥
सुरेन्द्रमुकुटाश्लिष्ट–पादपद्मांशुकेसरम् ।
प्रणमामि महावीरं लोकत्रितयमङ्गलम् ॥२॥
सिद्धवस्तुवचो भक्त्या, सिद्धान् प्रणमतां सदा ।
सिद्धकार्याः शिवं प्राप्ताः सिद्धिं ददतु नोऽव्ययाम् ॥३॥
नमोस्तु धुतपापेभ्यः सिद्धेभ्यः ऋषिपरिषदम् ।
सामायिकं प्रपद्येऽहं भवभ्रमणसूदनम् ॥४॥
समता सर्वभूतेषु, संयमे शुभभावना ।
आर्तरौद्रपरित्यागः तद्धि सामायिकं मतम् ।५।
साम्यं मे सर्वभूतेषु, वैरं मम न केनचित् ।
आशाः सर्वाः परित्यज्य समाधिमहमाश्रये ॥६॥
रागद्वेषान्ममत्वाद्वा हा मया ये विराधिताः ।
क्षाम्यन्तु जन्तवस्ते मे, तेभ्यो मृष्याम्यहं पुनः ॥७॥
मनसा, वपुषा, वाचा कृतकारितसंमतैः ।
रत्नत्रयभवं दोषं गर्हे निन्दामि वर्जये ॥८॥
तैरश्चं मानवं दैवमु पसर्गं सहेऽधुना ।
कायाहारकषायादि प्रत्याख्यामि त्रिशुद्धितः ॥९॥
रागं द्वेषं भयं शोकंप्रहर्षौत्सुक्यदीनता ।
व्युत्सृजामि त्रिधा सर्वामरतिं रतिमेव च॥१०॥
जीविते मरणे लाभेऽलाभे योगे विपर्यये ।
बंधावरौ सुखे दुःखे, सर्वदा समता मम ॥११॥

आमैव मे सदा ज्ञाने दर्शने चरणे तथा ।
प्रत्याख्याने ममात्मैव, तथा संसारयोगयोः ॥१२॥
एको मे शाश्वतश्चात्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः ।
शेषा बहिर्भवा भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥१३॥
संयोग मूला जीवेन प्राप्ता दुःख परम्परा ।
तस्मात् संयोग सम्बन्ध त्रिधा सर्वं त्यजाम्यहं ॥१४॥
एवं सामायिकं सम्यक् सामायिक मखण्डितम् ।
वर्ततां मुक्तिमानिन्या वशीचूर्णायितं मम ॥१५॥
शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः संगतिः सर्वदार्यैः,
सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम् ॥१५॥
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्त्वे ।
संपद्यन्तां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गं ॥१६॥
तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनम् ।
तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाणसंप्राप्तिः ॥१७॥
अक्खरपयथिहीणं मत्ताहीणं च जंमये भणियं ।
तं खमउ णाण देव य मज्झवि दुक्खक्खयं दिंतु ॥१८॥
दुक्खक्खओ कम्मक्खओ समाहिमरणं च बोहिलाहोय ।
मम होउ जगतबंधव जिणवर तव च रणसरणेण ॥१६॥

इति सामायिक पाठ

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण इन पांचों इन्द्रियों को अपने अपने विषय से रोककर अन्न, पान, खाद्य, लेह्य इन चार प्रकार के आहार को आठ पहर के लिए अष्टमी, चतुर्दशी पर्व दिनों में त्याग करना उपवास है। एक ही बार भोजन करना एक भुक्त या प्रोषध कहलाता है। प्रोषध (एकाशन) के साथ उपवास को प्रोषधोपवास कहते हैं, यानी अष्टमी, चतुर्दशी के दिन उपवास और एक दिन पीछे एक दिन पहिले एकाशन करना। चारों प्रकार का आहार त्याग कर के पानी को रखलेना इसे भी एकाशन कहते हैं। सब सरस आहार को त्याग कर अथवा नीरस आहार को लेना अथवा कांजी (माड़) या पानी लेकर अन्न भोजन १६ पहर का छोड़ना भी प्रोषधोपवास व्रत है।

अन्न, पान, गंध, पुष्प माला इत्यादि एक बार भोगे जाने वाली भोगवस्तु,

वस्त्र, आभूषण आदि उपभोग वस्तुओं को समय की मर्यादा करके त्याग करना कि इतनी देर अमुक पदार्थ हम ग्रहण नहीं करेगे, नहीं भोगेंगे, इसे भोगोपभोग परिमाण कहते हैं।

उसमें त्रसघात कारक, प्रमाद कारक, बहुबध कारक, अनिष्ट और अनुपसव्य पदार्थों का यमनियम करना चाहिये। जिन पदार्थों के खाने से त्रस जीवों का घात होता है वे त्रस घात कारक पदार्थ, मांस, मधु आदि हैं।

जैसे कहा है—

आमासु च पक्वासुच विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
उत्पत्तिर्जीवानांतज्जातीनां निगोदानाम् ॥
यः पक्कं वाऽपक्वांवा पलस्यखण्डं स्पृशेच्च।
हन्ति किलासौ खण्डं वहुकोटो नांहि जीवानाम् ॥

अर्थ—मांस की डली कच्ची हो या पक्की, (सूखी, अग्नि से भुनी) हो उसमें उसी जाति के निगोदितयो जीव सदा उत्पन्न होते रहते हैं। जो मनुष्य कच्चे, पके, सूखे को छूता है वह भी करोड़ों जीवोंकी हिंसा करता है-यानी-मांस छूते ही मांस के जीव मर जाते है।

प्रमाद या नशा करने वाले चरस, भांग, गांजा, शराब आदि पदार्थों का त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि इन पदार्थों के खाने पीने से नशा होता है जिस से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। मद्यपान करने वाले को जाति-भेद आदि विवेक नहीं रहता। शराब पीने के कारण शराबी को प्रमाद अधिक होता है, विषय वासना जाग्रत होती है। मद्य सेवन करने वाले को अपनी स्त्री या माता का भेदभाव नही होता। उसके लज्जा आदि सभी गुण नष्ट हो जाते हैं, उसके कामविकार बढ़ता जाता है (मद्य) पीने वाले किसी दोष से बच नहीं सकते। पंक्तिभोजन या गोष्ठी में बैठने योग्य नही रहते।

तुरन्त व्याही हुई गाय का दूध तथा जिन पेड़ों में दूध निकलता हो उनके फल (बरगद पीपर आदि) का दूध, शहद इत्यादि को सदा के लिए छोड़ देना चाहिये।

फूल, अचार, अदरक, प्याज, मूली की जड़, आलू, गाजर, आदि कंद चलितरस पदार्थ, यानी देर तक रखे रहने से जिन दाल साग आदि पदार्थों का रस बिगड़ गया हो, ऐसे पदार्थों के खाने से अनन्त जीवों का घात होता है। इसलिए इनको त्याग देना चाहिए।

क्योंकि इनमें जीवघात बहुत होता है और फल थोड़ा होता है अतः

ये 'बहुघात अल्पफल' वाली वस्तुयें छोड़ देनी चाहिये। बहुघात अल्पफल-दायक अन्य पदार्थ गीली हल्दी, सूरण, कन्द ताड, शकरकन्द गोभी, अरबी, इत्यादि में अनन्त जीव होते हैं, अतः इनके खाने से घात अधिक होता है। फल थोड़ा मिलता है। तथा दो अन्त मुहूर्त बाद के मक्खन का भी दयालु श्रावक को त्याग कर देना चाहिये

कहा भी है—

जो पदार्थ अपनी प्रकृति के विरुद्ध हों, जिनके खाने पीने से स्वास्थ्य बिगड़ जावे, अनेक तरह के रोग जिनसे उत्पन्न हों, ऐसे पदार्थ अनिष्ट कहलाते हैं, उनका त्याग कर देना चाहिये। जैसे खांसी के रोग वाले को बर्फी, हैजे वाले को जल तथा अतिसार रोग वाले को दूध अनिष्ट है।

जो पदार्थ सत्पुरुषों के सेवन करने योग्य न हों उन्हें अनुपसेव्य कहते हैं जैसे गाय का मूत्र आदि। ऐसे अनुपसेव्य पदार्थों का भी त्याग कर देना चाहिये।

इन ही अभक्ष्य पदार्थों के विषय में श्री समन्तभद्र आचार्य ने कहा है—

अल्पफलबहुविघतान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गबेराणि ।
नवनीतनिम्ब कुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥
यदनिष्टं तद् व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् ।
अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योगात् कृता भवति ।

यानी-बहुविघात, त्रसघात, मादक, अनिष्ट तथा अनुपसेव्य पदार्थों का अभिप्राय पूर्वक (समझ बूझकर) त्याग करना चाहिए।

अभक्ष्य पदार्थ त्याग कर देने पर जो पदार्थ खाने पीने योग्य (भोग्य) हैं तथा जो पदार्थ उपभोग (बार बार भोगने में आने वाले वस्त्र, भूषण, मोटर मकान आदि) करने योग्य हैं उनका भी शक्ति और आवश्यकता अनुसार **यम** तथा **नियम** रूप से त्याग करना चाहिए।

जन्म भर के लिये त्याग करना **यम** है मांस भक्षण, परस्त्री सेवन, वेश्या गमन, आदि महान कुकृत्यों का त्याग **यम** रूप से (जन्म भर के लिए) करना चाहिए।

दिन, पक्ष, मास, घड़ी घंटा आदि कुछ समय की मर्यादा से त्याग करना **नियम** कहलाता है।

इस तरह भोग्य उपभोग्य पदार्थों का यम नियम रूप से परिमाण करना और शेष का त्याग करना **भोगोपभोग परिमाण** व्रत है।

अतिथि संविभाग व्रत

• शुद्धात्मा की एकत्व भावना में लीन रहने वाले, राग, द्वेष विषयों से विरक्त, ऋद्धि से गर्व रहित, नीरस आहार करने वाले, चारों पुरुषार्थों के ज्ञाता, मोक्ष पुरुषार्थ करने वाले, चूल्हा, चक्की, ओखली, (खण्डिनी) बुहारी (प्रमार्जनी) तथा उदक कुम्भ (पानी भरना आदि) इन ५ सूना कार्यों के त्यागी इहलोक भय, परलोक भय अत्राणभय, अगुप्तिभय, मरणभय, वेदनाभय, आकस्मिकभय, इन सात प्रकार के भयों से रहित, पल्य, सागर, सूच्यङ्गुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगत्श्रेणी, लोक प्रतर, लोक पूर्ण ऐसे ८ प्रकार के प्रमाण के निपुण ज्ञाता, ९ प्रकार के ब्रह्मचर्य सहित, १० प्रकार संयम से युक्त तपस्वी को निर्दोष, आहार औषधि, उपकरण, आवास ऐसे चार प्रकार के दान देना वैयावृत्य हैं। उन पर आयी हुई आपत्ति को दूर करना, उनकी थकावट दूर करना, उनके पांव दबाना, पैर धोना, ये सब वैयावृत्य हैं। ये सब क्रिया श्रावकों के गृहस्थाश्रम के होने वाले पापों को धोने वाली हैं।

"गृहकर्मणापिनिचित कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानां
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि"

अर्थात्—गृहमुक्त अतिथियों की पूजा भक्ति गृहस्थों के गृह-कर्म से बंधने वाले कर्म को नष्ट कर देती है। जैसे जल रुधिर को धो देता है।

विधिद्रव्यदातृपात्रभेदात्तद्विशेषः।

यानी—दान करने की विधि, दान देने योग्य द्रव्य, दाता तथा पात्र (जिसको दान दिया जावे) इन चारों की विशेषता से दान तथा दान के फल में विशेषता आजाती है। दान करने से साक्षात् पुण्य कर्म का बन्ध होता है और परम्परा से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

कनडी श्लोक—

मनेगेळतरे सत्पात्रमि-
देन गभिमत फलमनोयलेळ्तंदुदुस-॥
न्मुनिरूपंददीकल्पा ।
वनिरुहमेनासिर्ददु रागरस संभ्रमदिं ॥११५॥

नवधा भक्ति

मुनि आदि पात्रों को दान नवधा (नौ प्रकार की) भक्ति से देना चाहिये।

१-प्रतिग्रह (अपने द्वार पर आये हुए मुनि को ' आइये, ठहरिये, अन्न, जल शुद्ध हैं, कहकर पडगाहना, ठहराना), २उ-च्च स्थान (घर में लेजाकर उन्हें ऊंच्चे स्थान कुर्सी तख्त आदि पर बिठाना), ३-पादोदक (उनके चरण धोना ४—उनकी अष्ट द्रव्य से पूजा करना. ५—उनको प्रणाम करना, ६—मनशुद्धि बतलाना, ७—वचन-शुद्धि बतलाना, ८—काय-शुद्धि बतलाना, और ९—भोजन शुद्धि बतलाना, ये नवधा भक्ति हैं।

मुनियों को ऐसा निर्दोष आहार पान आदि देना चाहिये जिससे उनके स्वाध्याय, ध्यान आदि में विघ्न न आने पावे।

पांच आश्चर्य

तीर्थंकर आदि विशेष पात्र को विधि पूवक आहार दान करने से पाँच प्रकार के आश्चर्य होते हैं—१—रत्न वर्षा २—पुष्पवर्षा ३—सुगन्धित वायु चलना, ४—देव दुन्दुभि बजना, ५—आकाश में देवों द्वारा जय जयकार होना।

दाता के गुण

सद्धाभत्तीतुट्ठीविण्णाणमलुद्धयाखमासन्ती,
जत्थेदे सन्तगुणा तं दायारं पसंसंति।

अर्थ—जिस दान करने वाले दाता में १—श्रद्धा, २—भक्ति, ३—संतोष, ४—विज्ञान ५—निर्लोभता, ६—क्षमा, ७—शक्ति, ये सात गुण होते हैं, उस दाता की सभी लोग प्रशंसा करते हैं।

नेरद त्रिशक्ति भक्तिद।
लरिदौदार्यं दयागुणं क्षमे एंबं॥
तुरगिद गुणवेळ रोळं।
नेरेदिर्दुद दावुदवुवे दातृ विशेषं॥११६॥

अर्थ—भेदाभेद रत्नत्रय के आराधक मुनि सुपात्र उत्तम पात्र कहलाते हैं। देशसंयत श्रावक मध्यम पात्र कहलाते हैं। असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं। इस तरह पात्र के तीन भेद हैं। चारित्राभास कुचारित्र वाले स्वभाव से पापी और मार्दव आदि गुणों से रहित, अपने मनमाने धर्म के अनुसार चलने वाले कुपात्र हैं। सप्त व्यसन में आसक्त, दम्भी हासप्रयुक्त कथा तथा प्रलाप करने वाले, हमेशा माया प्रपञ्च युक्त ये सभी अपात्र हैं। इनको दिया हुआ दान निष्फल तथा संसार का कारण है ऐसा जिनेंद्र भगवान ने कहा है। इसलिये कभी भी ऐसे अपात्रों को दान न देना चाहिये।

बेविगे परिद नीरिन ।
पाविगार्तेरद पालपय वुलिगिबं ॥
भाविसि माळपुपकृति ।
यवोलेळ्वुदा पात्र दानदाविषमतेयं ॥११७॥

अर्थ—इन अपात्रों को दान देने से जैसे नीम के पेड़ को मीठे पानी से सींचा जावे तो भी वह फल कड़ुवा देता है इसी तरह कुपात्रों की दिया हुआ दान संसार-भ्रमण का कारण होता है। इसलिये दयालु सम्यग्दृष्टीश्रावकों को अपने हित के लिये सत्पात्र को दान देना चाहिये।

कुपात्र दान से कुभोगभूमि में उत्पन्न होकर कुत्सित भोगों के अनुभव करने वाले होते हैं। अत. कुपात्र को त्यागकर सत्पात्र को दान देना ही इहलोक व परलोक में आत्म-कल्याण का कारण है। बालवृद्ध, गूंगा, बहरा व्याधि-पीड़ित दीन जीव को यथोचित वस्तु देना करुणा दान कहलता है। सत्पात्र को दान देने वाला सम्यग्दृष्टि जीव कल्पवासी देवों में जन्म लेकर संसार के भोगों को अनुभव कर कुछ समय के बाद मुक्त होता है। कुछ मार्दव आर्जव गुण-रहित मिथ्यादृष्टि जीव सत्पात्र को दान देने के कारण उत्तम, मध्यम,जघन्य भोग भूमि में उत्पन्न होकर और वहां के सुखानुभवकर पूर्व विदेह को जाते हैं।

पूर्व विदेह के पुष्करावती विषय सम्बन्धी सर्विय सरोवर के किनारे पर श्रीमती तथा बज्र जन्घ दोनों ने श्री सागरसेन मुनि को आहार दान दिया और उस समय आहार दान की अनुमोदना करने वाले व्याघ्र, सूकर, बन्दर और नेवला यह चार जीव भोगभूमि के सुख को प्राप्त हुये तथा उस बज्रजंघ की परम्परा से आदिनाथ भगवान के भव में उनके पुत्र होकर मुक्त होगये और श्रीमती का जीव अभ्युदय सुख-परम्परा को प्राप्त होकर राजा श्रेयांसकुमार हुआ उसने भगवान आदिनाथ को दान देकर दानतीर्थ की प्रवृत्ति की तथा सिद्धपद प्राप्त किया

इस भरत क्षेत्र सम्बन्धी आर्यखण्ड में मलयदेश के रत्न संचय पुर के शासक श्री सेण राजा व उनकी रानी सिहनन्दिता, आनंदिता, सत्यभामा ब्राह्मणी इन चारों ने अनंतगति और अदिजय नामक दो चारण मुनियों को दान दिया तथा उस दान का अनुमोदना की, जिसके फल से वे अनुपम सुख भोगी हो गईं।

सत्पात्र दान का फल—

ई दोरे युत्तम पात्र-। क्कादर दिदित्त दान फलमेनेयुं दा ॥
नोदयमिल्लिद नरपशु -। चादिनोळे बगेदुनोडेकुरिगळभावं ॥११८॥

ई दोरेयु पात्रमं पडे-। दार्द बडवं निधानमं पडेदवोलु -।।
त्यादिसिमुदमं मनदो -। ळ्साइर्रादेवित्त दानुमदु केवलमे ।।११९।।
सुक्षेत्रमागि केलसद -ध्यक्षतेयं पडेदुपददीमळे कोळदरोळ् ।।
निक्षिप्तमाववीजं- । साक्षात्फलमेंतु टेतद्दानफलं ।।१२०।।
भरतादि क्षितिपालकगु दितलोभाशक्तियिदादुदी ।
सिरि भिक्षातिगळार्गे कोटदु तिरियुत्तं बंदपपुण्यदों ।।
दिरविद सिरिनिल्कुमिल्लदोडे तांमुं पोकुमेंदंदु लो-।
भरे निप्पेग्गिके पात्रदानतेयशः पुण्र्यद्धियं ताळ्दिरे ।।१२२।।
परमानन्द दि वज्र जंघनरपं सत्पात्र दान क्रिया -।
निरतं सत्प्रियनुत्तरोत्तर कुरु श्री नाथ नादंदुतं ।
नरपाल प्रियकारिगळ् नकुलगोळांगुळशार्दूलसू -।
करिगळ् दानदोडंबडि पडेदुवा भोगोर्वियोळ् भोगमं ।।१२२।।
माडिद पात्रदान विभवं बिभवास्पद भोगभूमियोंळ् ।
माडिनिवासमं वसथमन्ते विभूषण तूर्य भाजनो -।
न्मीड सुदीप्ति दीप्तिवर भाजनपानद कल्प भूरु हुं -।
माडि मनोनुराग दोदवंप्रियवार वधू विराजितं ।१२३।
रतिवर रतिवेगाव्हायं । कृत सुकृत कपोल मिथुनमुत्तमपात्रं ।
नुत दानदोडंबडिकेयि । नतिशय सुखनिरतखचरदंपतियादर् ।
श्रीषेणं प्रियळायत । वेषंगतदोष निखिल विषयज सुखसं-।
तोषंसुधामृतरिंव । तोषाकरनागिपरम पदमं पडेदं ।।१२५।।
इस पात्रदान के फल से:—
उत्तमपात्रदान फलदिं निज कीर्ति विळास मादिशा-।
भित्तिगळं पळंचलेय सार सुखप्रद कल्प वृक्षस-।
धृत्तविभासि भोग भुवनास्पद देवविळासिनी महो-।
धृत्तपयोधरावसथ मोक्षसुखं निजहस्त संगतं ।१२६।
वित्तमदागदादोडमदा। दुचित मवादोडं गुणो-।
दात्तसहाय संपदमदागद वादोड मागदल्ते-।
त्तुत्तमपात्रिमन्तिनिदु मागळ्पूपुवळापहारिय-।
प्पुत्तमदानविदमबनन्त चतुष्टयमागदिक्कुमे ।१२७।

अर्दारंदी निरति चारा। स्पद मागिर लन्नदानमं माळ्केमहा-।
भ्युदय सुखमूलमं शिव-। प्रदमहिनिक्षिप्त वीजं भव्यजनं ।१२८।

अर्थ—इस तरह राजा और रानी ने दान देकर उसका उत्तम फल प्राप्त किया, जो मनुष्य दान नहीं करते उन मनुष्यों का जीवन बकरे के समान है, जो सदा घास पत्ते खाया करता है और किसी दिन बधिक (कसाई) की छुरी से मारा जाता है ॥११८॥

राजा श्रीषेण पात्रदान करने की भावना से वन को नहीं गया था, उसको तो अकस्मात् चारण मुनि सौभाग्य से प्राप्त हो गये, उनको दान देकर उसने जब श्रेष्ठ फल प्राप्त किया तो जो व्यक्ति पात्र दान के लिये सत्पात्रों को ढूंढने का श्रम करते हैं सत्पात्र मिल जाने पर उन्हें दान देकर सन्तुष्ट होते हैं, उनके फल के विषय में तो कहना ही क्या है ॥११९॥

जिस तरह भूमि को पत्थर आदि हटाकर शुद्ध कर लेने पर, उसमें खाद डालने के अनन्तर ठीक रीति से यदि बीज बोया जावे और आवश्यकतानुसार उसमें जल सींचा जावे तो क्या वह भूमि बिना फल दिये रहेगी ? अर्थात् नहीं । इसी तरह सत्पात्र को दिया हुआ दान अवश्य फल प्रदान करता है ॥१२०॥

भरत आदि चक्रवर्ती सम्राट लोभ कषाय या कंजूस होने के कारण नहीं हुए, वे उदारता से दान देने के कारण इतने बडे वैभवशाली हुए । भिखारी ने पहले भव में किसी को कुछ नही दिया, इसी कारण उसका जीवन भीख मांगते मांगते ही समाप्त हो जाता है । पुण्य कर्म के उदय से घन वैभव प्राप्त होता है और वह वैभव स्थिर रहता है तथा बढ़ता रहता है । इस कारण सत्पात्र को दान करते रहो ॥१२१॥

राजा बज्रजंघ और श्रीमती ने बड़ी भक्ति से मुनियों को दान किया जिसके फल से वे उत्तोरत्तर उन्नति करते हुए मुक्तिगामी हुए । उनके उस पात्र-दान को देख कर बन्दर, सिंह, शूकर और न्योले ने उस दान की अनुमोदना की । उस अनुमोदना से वे पशु भी भोगभूमि में गये तथा अन्त में मुक्तिगामी हुए ॥१२२॥

'पात्र को दान करने से भोग भूमि मे जन्म होता है जहाँ पर गहांग, भोजनांग, वस्त्रांग, माल्यांग, भूषणांग, तूर्यांग, भाजनांग,ज्योतिरंग, दीप्तिअंग पानांग्र इन १० प्रकार कल्पवृक्षों के द्वारा समस्त भोग उपभोग की सामग्री प्राप्त होती है तथा सुन्दर गुणवती स्त्रियां प्राप्त होती हैं ॥१२३॥

रतिवर तथा रतिवेगा नामक कबूतर कबूतरी ने सत्पात्र को दान देते

हुए देखा, उस दान की दोनों ने अनुमोदना की । उस दान-अनुमोदना के फल से वे दोनों भवान्तर में विद्याधर विद्याधरी हुए ॥१२४॥

राजा श्रीषेण तथा उनकी रानियों ने बहुत आनन्द से जीवन व्यतीत किया तथा सत्पात्र-दान के कारण वे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ फल प्राप्त करते रहे ॥१२५॥

सत्पात्रों को जिन्होंने दान किया, पहले तो उनकी कीर्ति समस्त दिशाओं में फैली, तदनन्तर दूसरे भव में उन्होंने भोगभूमि के सुखों का अनुभव किया। फिर वहां से स्वर्ग में जन्म पाकर दिव्य सुखों का देवागनाओं के साथ बहुत समय अनुभव किया । तदनन्तर मनुष्य भव पाकर मुक्ति प्राप्त की ॥१२६॥

पहले तो शुभकर्म के अभाव में धन नही मिलता, यदि धन मिल जावे तो सत्पात्र नही मिलता, यादि सत्पात्र मिल जावे तो पात्र दान करने की प्रेरणा करने वाले सहायक व्यक्ति नही मिलते । यदि पुत्र, स्त्री, मित्र आदि दान करने मे अनुकूल सहायक भी मिल जावे तो फिर सत्पात्रों को दान करने से अनन्त चतुष्टय प्राप्त होने में क्या सन्देह है ? अर्थात् कुछ नही ॥१२७॥

सत्पात्रों को आहार दान करने से महान अभ्युदय प्राप्त होता है । जिस तरह निर्दोष भूमि में बीज डालने से फल अवश्य मिलता है, इसी तरह भव्य द्वारा सत्पात्र को दिया हुआ दान अवश्य मोक्ष फल देता है ॥१२८॥

इस प्रकार जिनको संसार-रूपी दुख से जल्दी निकल कर निश्चित सुख पाना हो तो दाता के गुण सहित चार प्रकार का दान सदा देना चाहिये ।

संक्षेप में दाता के सात गुणों का खुलासा किया जाता है । दान-शासन तथा रयणसार आदि ग्रन्थों में दाता के सप्त गुणों का निम्न प्रकार वर्णन किया है—

कनड़ी श्लोक—

दाता का लक्षण

सदा मनःखेदनिदानमाना, न्वितोपरोधं गुणसप्तयुक्तः ।
त्रिकालदातृप्रमुदैहिकार्थी, नतंच दातारमुशन्ति संतः ॥

अर्थ—जो व्यक्ति दान कार्य में 'हाय ! जन्म भर कमाया हुआ धर्म मेरे हाथ से जाता है, इस प्रकार मन में खेद नहीं करता है, जो दान के बदले मे कुछ चाहता नहीं, अभिमान व पर-प्रेरणा से रहित होकर दान देता है और दाता के लिये सिद्धांत शास्त्र में कहे गये सप्तगुणों से युक्त है,जिसे भूत भविष्यत वर्तमान काल सम्बन्धी दाताओं के प्रति श्रद्धा है और जिसे ऐहिक सुख की इच्छा नहीं है आचार्यों ने उसी दाता की प्रशंसा की है ।

विनयवचनयुक्तः शांतिकांतानुरक्तो ।
नियतकरणवृत्तिः संघजातप्रसक्तिः ॥
शमितमदकषायः शांतसर्वान्तरायः ।
स विमलगुणविशिष्टो दातृलोके विशिष्टः ॥

अर्थ–जो विनय वचनयुक्त है, शांति का अनुरागी है। इन्द्रियों को जिसने वश में कर रखा है, जिसे जैन संघ में प्रसन्नता है, आठमद और कषाय को जिसने शांत किया है। एवं जिसके सर्व अन्तराय दूर हो गये हैं और निर्मल गुणों को धारण करने वाला है। उसे उत्तम दाता कहते हैं।

और भी कहते हैं।

वैद्या नृप्रकृतिर्यथानलविधिं ज्ञात्वैव रक्षन्ति तान् ।
सर्वेष्टा दशधरान्य लोभमतयः क्षेत्रं यथा कार्षिकाः ॥
गांधारार्थजना अवन्ति चयथा रक्षेयुरुर्वीश्वराः ।
नित्यं स्वस्थलवर्तिनो बुधचितो धर्मं च धर्माश्रितान् ॥

अर्थ–जिस प्रकार वैद्य रोगियों की प्रकृति वा उदराग्नि को जानकर और योग्य औषधि वगैरह देकर उनकी रक्षा करते हैं, जिस तरह किसान अपने खेत की रक्षा करते हैं, ग्वाले दूध के लिये गाय की रक्षा करते हैं, एवं राजा जिस तरह अपने राज्य की रक्षा करते है। उसी तरह धर्मात्मा लोग आहार दान द्वारा धर्म की तथा मुनि आदि धर्मात्माओं की रक्षा करते हैं।

औषध-दान–रोग दूर करने के लिये शुद्ध औषधि (दवा) प्रदान करना औषधदान है। मुनि आदि व्रती पुरुषों के रोग निवारण के लिये उनको प्रासुक औषध आहार के समय देना चाहिये, भोजन भी ऐसा होना चाहिये जो रोगवृद्धि में सहायक न होकर रोग शान्त करने में सहायक हो। अन्य दीन दुःखी जीवों का रोग दूर करने के लिए करुणा भाव से उनके लिए बिना मूल्य औषध बांटना, औषधालय खोलना, बिना कुछ लिये मुफ्त चिकित्सा करना औषधदान है। औषधदान में वृषभसेन प्रसिद्ध हुआ है।

ज्ञान-दान–मुनि व्रती त्यागी पुरुषों को स्वाध्याय करने के लिये शास्त्र प्रदान करना, ज्ञानाभ्यास के साधन जुटाना तथा सर्वसाधारण जनता के लिए पाठशाला स्थापित करना, स्वयं पढ़ाना, प्रवचन करना उपदेश देना, जिन वाणी का उद्धार करना, पुस्तकें बाँटना ज्ञानदान है। ज्ञान दान में कौण्डेश प्रसिद्ध हुआ है।

अभयदान मुनि आदि अनगार व्रतियों के ठहरने के लिये नगर के बाहरी प्रदेशों, वन, पर्वतों में तथा नगर पुर में मठ बनवाना, जिसमें कि जङ्गली जीवों से सुरक्षित रहकर वे ध्यान आदि कर सकें। आगन्तुक विपत्ति से उनकी रक्षा करना तथा साधारण जनता के लिए धर्मशाला बनवाना, विपत्ति में पड़े हुए जीव का दुःख मिटाना, भयभीत प्राणियों का भय मिटाना आदि अभयदान है। अभयदान में शूकर प्रसिद्ध हुआ है। इन प्रसिद्ध व्यक्तियों की कथा अन्य कथा ग्रन्थों से जान लेना चाहिये।

दान का फल

सौख्यमभयादाहुराहाराद्भोगवान् भवेत्।
आरोग्यमौषधाद्ज्ञेयं श्रुतात् स्यात् श्रुतकेवली ॥
गृहाणिनामता नैव तपोराशिर्भवादृशः।
सम्भावयति यो नैव पावनैः पादपांशुभिः ॥
देव धिष्ण्यमिवाराध्यमध्यप्रभृति यो गृहं।
युष्मत्पादरजःपातःधौतनिःशेषकल्पषः ॥

अर्थ—पाप कर्मों से निर्मुक्त, पवित्र पुण्य मूर्ति ऐसे तपस्वियों के पाद (चरण) में लगी हुई धूलि जिनके गृह में पड़ गई है (या ऐसे मुनियों ने जिनके गृह में प्रवेश किया है) वह गृह देव गृह से भी अधिक पवित्र समझना चाहिए। उस तपस्वी को झुककर नमस्कार करने से उत्तम कुल की प्राप्ति होती है। नवधा भक्ति पूर्वक आहार दान देने वाले दाता अनेक भोग और उपभोगों के भोगने वाले होते हैं। शास्त्र दान देने से जगत में पूज्य तथा अगले जन्म में उसी दान के फल से श्रुत केवली होता है। उत्तम सर्वांगों से सुन्दर शरीर वाला होता है, भक्ति से स्तुति करने वाले इस जन्म और पर-जन्म में धवल कीर्ति पाता है। तथा देवगति को प्राप्त होकर वहाँ के भोग भोग कर अन्त में मनुष्य लोक में आकर अत्यन्त सुखानुभव करता है फिर तपश्चरण करके कर्म क्षय करने के बाद मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है।

अभयदान से (सम्पूर्ण जीवों पर दया तथा अभय करने से) इस लोक में तथा परलोक में निर्भय होकर इह लोक में सुख पूर्वक शत्रु रहित अपना जीवन पूर्ण करता है अन्त में निर्वाण पद प्राप्त कर लेता है।

सप्त शीलानि ॥१८॥

अर्थ—सात शील इस प्रकार हैं।

तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत मिलकर सात शील होते हैं। पहिले

शिक्षाव्रतों और गुणव्रतों का वर्णन हो चुका है। जैसे बाड़ खेत की रक्षा करती है उसी तरह शील अहिंसा आदि व्रतों की रक्षा करते हैं।

अब अतिचार कहते हैं—

व्रतशीलेषु पंच पंचातिचाराः ॥१९॥

अर्थ—पांच व्रतों तथा ७ शीलों के ५-५ अतिचार होते हैं।

व्रतों में कुछ त्रुटि होना अतिचार है। उन अतिचारों को बताते हैं—

१—अहिंसाणुव्रत के ५ अतिचार हैं—

१—रस्सी आदि से पशुओं को बांधकर रखना २—उन्हें समय पर चारा पानी न देना, ३—डण्डे आदि से मारना, ४—उनकी नाक आदि छेदना, ५—अधिक बोझा लादना ये पांच अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं ?

२—सत्याणुव्रत के पांच अतिचार—

१ मिथ्यात्व का उपदेश देना, सुनना, २ स्त्री पुरुषों की एकांत में सुनी हुई बात को सुनकर प्रगट करना ३, कूट लेखादि या झूठे लेखादि बनावटी बहीखाते लिखना ४, किसी की रक्खी हुई धरोहर को घटा कर देना ५, किसी भी तरह की चेष्टा से मन्त्र आदि का प्रकट करना, ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं ?

३ अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार—

१ स्वयं चोरी न करके चोरी का उपाय बताना, २ चोरी का धन लेना, ३ नापने तोलने के बांट कमती ज्यादा रखना, ४ राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना, ५ अधिक मूल्य की वस्तु में कम मूल्य वाली वस्तु मिलाकर बेच देना; यह अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार हैं।

४ ब्रह्मचर्याणुव्रत के पांच अतिचार—

१ दूसरे का विवाह कराना, २ काम सेवन के लिए नियत अंगों के सिवाय अन्य अंगों से काम-क्रीड़ा करना, ३ काम की अधिक इच्छा रखना, ४ पति रहित स्त्रियों के घर आना जाना, ५ चुम्बन आदि में लालसा रखना, स्वदार संतोष व्रत के यह पांच अतिचार हैं। कहा भी है—

अन्यविवाहकरणानंगक्रीड़ाविटत्वविपुलतृष—
इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पंच व्यतीपाताः ॥

५ परिग्रह परिमाण अणुव्रत के पांच अतिचार—

१ गाय भैंस आदि का अधिक संग्रह करना २ धन आदि का अधिक संग्रह करना, ३ लाभ की इच्छा से अधिक भार लादना, ४ अन्य का ऐश्वर्य

देखकर अत्यन्त आश्चर्य करना ५ और दानादि में संकोच करना; यह परिग्रह परिमाण अणुव्रत के ५ अतिचार हैं ?

गुण व्रत के अतिचार

(१) पहाड़ टेकड़ी आदि पर, अथवा आकाश में (ऊर्ध्व दिशा में) इतने गज या इतने धनुष चढेंगे आदि का जो नियम किया हो (२) तथा खान, पानी आदि में इतने नीचे उतरेंगे, इससे अधिक नहीं जावेंगे इस प्रकार जो मर्यादा की हो, उस मर्यादा से बाहर अपने को कभी लाभादि होने पर चले जाना और लाभ के लालच में पड़ कर उस मर्यादा को उल्लंघन करना (३) पूर्व आदि आठों दिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन करना (४) इतनी दूर जावेंगे इस प्रकार जो मर्यादा की है उसको लाभ अधिक होता देख कर बढ़ा लेना, (५) की हुई मर्यादा को भूल जाना; ये पाँच दिग्व्रत के अतिचार हैं।

[१] मर्यादा किया हुआ जो क्षेत्र है, उसके बाहर से चीज को मंगाना, [२] मर्यादित क्षेत्र से बाहर नौकर आदि भेज कर काम कराना, [३] मर्यादा के बाहर अपनी ध्वनि के द्वारा यानी आवाज देकर सूचना देना, [४] अपनी मर्यादा के बाहर कंकड़ी आदि फेंक कर संकेत करना, [५] अपनी मर्यादा के बाहर अपना शरीर दिखाकर, इशारा आदि करके काम कराना रूपानुपात है। इस प्रकार ये पांच देशव्रत के अतिचार हैं।

१—**कन्दर्प**—हंसी मजाक की राग-उत्पादक बातें करना, २—**कौत्कुच्य**—शरीर की कुचेष्टा बनाकर हंसी मजाक करना, ३—**मौखर्य**—व्यर्थ बोलना, बकवाद करना, ४—**असमीक्ष्याधिकरण**—बिना देखे भाले, बिना सम्भालें हाथी घोड़े रथ मोटर आदि वस्तुऐं रखना, ५—**भोगोपभोगानर्थक्य**—भोग उपभोग के व्यर्थ पदार्थों का संग्रह करना, ये पांच अतिचार अनर्थदण्ड व्रत के है।

शिक्षा व्रत के अतिचार

सामायिक के अतिचार—१ **मनःदुःप्रणिधान**—सामायिक करते समय अपने मन में दुर्भाव ले आना, २—**वचनदुःप्रणिधान**—सामायिक के समय कोई दुर्वचन कहना, ३—**कायदुःप्रणिधान**—सामायिक में शरीर को निश्चल न रखकर हिलाना, डुलाना, ४—**अनादर** अरुचि से सामायिक करना, ५—**स्मृत्यनुपस्थान** सामायिक पाठ, मंत्र जाप आदि भूल जाना। ये सामायिक शिक्षा व्रत के ५ अतिचार हैं।

प्रोषधोपवास के अतिचार—१ उपवास के दिन जीव जन्तु बिना देखे

बिना शोधे स्थान पर टट्टी पेशाब करना, २ बिना देखे, बिना शोधे वस्तुओं को रखना उठाना, ३ बिना देखे, बिना शोधे विस्तर बिछाना, ४ अरुचि के साथ उपवास करना, ५ प्रोषधोपवास की क्रियाओं को भूल जाना। ये ५ अतिचार प्रोषधोपवास व्रत के हैं।

भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार—१ सचित्त आहार करना, २ सचित्त अचित्त पदार्थ मिला कर भोजन करना ३ सचित्त पदार्थ से संबन्धित (छुआ हुआ) आहार करना, ४ काम उद्दीपक प्रमाद-कारक गरिष्ठ भोजन करना, ५ कच्चा पक्का भोजन करना। ये ५ अतिचार भोगोपभोग परिमाण व्रत के हैं।

अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार—१ मुनि आदि को दिये जाने वाले अचित्त भोजन को किसी पत्ते आदि सचित्त वस्तु पर रख देना, २ अचित्त भोजन को पत्ते आदि सचित्त पदार्थ से ढक देना, ३ मुनि आदि के लिए आहार तैयार करके आहार कराने के लिए दूसरे व्यक्ति को कहना, ४ ईर्ष्या भाव से दान करना, ५ आहार दान कराने का समय चुका देना, ये ५ अतिचार अतिथि संविभाग व्रत के हैं।

कहा भी है कि:—

गृहकर्माणि सर्वाणि दृष्टिपूतानि कारयेत्।
द्रवद्रव्याणि सर्वाणि पटपूतानि कारयेत् ॥
आसनं शयनं मार्ग मनमन्यञ्च वस्तु यत्।
अदृष्टं तन्न सेवेत यथाकालं भजन्नपि ॥

अर्थ—घर के कार्य अच्छी तरह देख भालकर करने चाहिए, जल, दूध, काढ़ा, शर्बत आदि पतले बहने वाले पदार्थ वस्त्र से छानकर काम में लेने चाहिए। शयन (शैया-पलंग बिस्तर), आसन (बैठने का स्थान कुर्सी, तख्त, मूढ़ा, आदि) मार्ग (रास्ता) तथा और भी दूसरे पदार्थ हों उनको यथा समय बिना देखे भाले काम में न लेना चाहिए।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।
सत्यपूतं वदेद्वाक्यं मनःपूतं समाचरेत् ॥
मद्यपादिकगेहेषु पानमन्नं च नाचरेत्।
तदमत्रादिसम्पर्कं न कुर्वीत कदाचन ॥

कुर्वन् नाव्रतिभिः सार्द्धं संसर्गं भोजनादिकम् ।
प्राप्नोति वाच्यतामत्र परत्र च न तत्फलम् ॥

अर्थ—भूमि पर देख भालकर पैर रखना चाहिए, कपड़े से छान कर जल पीना चाहिए, वचन सत्य बोलना चाहिए, अपना मन शुद्ध करके चारित्र आचरण करना चाहिए, शराब, भंग आदि पीने वालों के घर खान पान नहीं करना चाहिए। ऐसे मनुष्यों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध भी नहीं रखना चाहिए। शुद्ध खान पान न करने वाले अव्रती लोगों के साथ भोजन आदि का सम्पर्क कभी न करे। क्योंकि ऐसा करने से इस लोक में निन्दा होती है और परलोक में शुभ फल नहीं मिलता।

कानड़ी श्लोक:—

व्रतहीनर संसर्ग, व्रतहीरित भुक्तं ।
व्रतहीनर पंक्ति-, उरिणसदागदमोथं ।१२६।

यानी—व्रती पुरुषों को व्रत-हीन पुरुषों के साथ संसर्ग नहीं रखना चाहिए, न उनके बर्तनों से अपने बर्तन मिलाने चाहिए, न व्रतहीन मनुष्यों के हाथ का बना भोजन करना चाहिए तथा न कभी अव्रती पुरुषों के साथ पंक्ति-भोजन करना चाहिए।

त्याज्य पदार्थ:—

चर्मपात्रेषु पानीयं स्नेहं च कुडुपादिषु ।
व्रतस्थो वर्जयेन्नित्यं योषितश्च व्रतोज्झिताः ।६।
वत्सोत्पत्तिं समारभ्य पक्षात्प्राग्दग्धदुग्धकम् ।
तद्दध्यादि परित्याज्यमाजं गव्यं च माहिषम् ।७।
नवनीतं प्रसूनं च शृङ्गवेरमसंस्कृतम् ।
पलाण्डुं लशुणं त्याज्यं मूलञ्च कलिङ्गकम् ।८।

अर्थ—चमड़े के बने हुए कुप्पे आदि में रक्खा हुआ घी, तेल आदि का व्रती पुरुष को त्याग कर देना चाहिए। व्रत रहित (विधर्मी) स्त्रियों का पाणिग्रहण न करना चाहिए।

बच्चा उत्पन्न होने से १५ दिन तक गाय, भैंस, बकरी का दूध, दही नहीं खाना चाहिए।

मक्खन (दो मुहूर्त पीछे का), फूल, अप्रासुक, अदरक, प्याज, लहसुन, मूल (मूली की जड़, गाजर आदि) और तरबूज (मांस-जैसा दिखाई देने के कारण) त्याग देना चाहिए।

मौनं सप्तस्थानम् ।२०।

अर्थ—सात स्थानों पर मौन रखना चाहिए, मुख से कुछ बोलना नहीं चाहिए।

मौन के सात अवसर—

हदनं मूत्रणं स्नानं पूजनं परमेष्ठिनाम् ।
भोजनं सुरतं वमनं स्तोत्रं मौनसमन्वितम् ।९।
मृष्टवाक् सुरनरेन्द्रसुखेशो बल्लभश्च कवितादिगुणानाम् ।
केवलद्युमणिबोधितलोको मौनसुव्रतफलेन नरः स्यात् ।१०।
दूरः कलत्रपुत्रादि वर्जनादिविवर्जितः ।
मौनहीनो भवेन्नित्यं घोरदुःखैकसागरः ।११।
अतिप्रसंगदहनाय तपसः प्रवृद्धये ।
अन्तरायस्कृता सद्भि व्रतबीजव्रतिक्रिया ।१२।

अर्थ—टट्टी करने, पेशाब करने, भगवान की पूजन करने, भोजन करने, मैथुन करने, कय (वमन) करने तथा भगवान की स्तुति करने के समय मौन रखना चाहिए। (पूजन करते समय तथा स्तोत्र पढ़ते समय अन्य कोई बात न करनी चाहिए, शेष टट्टी, पेशाब, भोजन, मैथुन और कय करते समय सर्वथा चुप रहना चाहिए)। मौन व्रत के फल से मनुष्य शुद्ध बोलने वाला, देव चक्रवर्ती राजा का सुख भोगने वाला, कविता आदि गुणों का प्रेमी, केवल ज्ञान से जगत को प्रकाश देने वाला होता है। पुत्र, स्त्री आदि के वियोग से रहित होता है। उक्त ७ अवसरों पर मौन न रखने वाला व्यक्ति घोर दुःख पाता है।

अति प्रसंग (अति मैथुन) को नष्ट करने के लिए तथा तप की वृद्धि के लिए व्रत को बीजभूत व्रती की मौन क्रिया है। मौन भङ्ग को बुद्धिमानों ने अन्तराय बतलाया है।

अन्तराय को कहते हैं:— भोजन के अन्तराय

अन्तरायं च ।२१।

अर्थ—भोजन करते समय मांस को देखना, मांस की बात सुनना, मन में मांस का विचार आना, पीप का देखना या पीप का नाम सुनना, रक्त का देखना या सुनना तथा भोजन करते समय थाली में मरा हुआ कीड़ा मकोड़ा आदि आ जाना भोजन का अन्तराय है। यानी-भोजन के समय मांस आदि देखने पर भोजन का अन्तराय समझकर भोजन करना छोड़ देना चाहिए।

कोई त्याग किया हुआ पदार्थ यदि थाली में आ जावे तो भोजन छोड़ देना चाहिए और उसी समय मुख शुद्धि कर लेना चाहिए।

यदि अपने बर्तन अन्य मांसभक्षक आदि लोगों के बर्तनों से छू जावें तो कांसे का बर्तन फेंक देना चाहिए, तांबे पीतल के बर्तन अग्नि से शुद्ध करने चाहिए। भोजन में यदि बाल आदि निकल आवे तो भी भोजन छोड़ देना चाहिए।

भोजन करने में लगे हुए दोष का प्रायश्चित्त गुरु से लेना चाहिए पर यदि गुरु न हों तो श्री जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा के सामने स्वयं प्रायश्चित्त ले लेना चाहिए। तथा—

अस्पर्श्याङ्गं विलोक्यापि तद्वचः श्रवणगोचरे।
भोजनं परिहर्तव्यं दुर्दर्शं श्रवणादपि॥

अर्थ—अस्पर्श्य (न छूने योग्य) अंग को देख लेने पर या उसका नाम सुन लेने पर तथा न देखने योग्य पदार्थ का नाम सुनने से भी भोजन छोड़ देना चाहिए।

होसं माडदवंगं-। प्रासुकमं दोळ्ववंगे परमयिगळा॥
वासदोळिप्पंगहं-। तुशासन दोळ्पेळ्दमुळुलवं नडेदपुदे।१३०।

यानी-रात्रि भोजन करने वाले, अशुद्ध भोजन करने वाले, विधर्मियों के घर रहने वाले क्या अर्हन्त भगवान के उपदिष्ट धर्म का आचरण कर सकते हैं? अर्थात् नहीं।

रात्रि भोजन त्याग-

अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये।
निशायां वर्जयेद्भुक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम्॥

अर्थ---अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए तथा मूलव्रत की विशुद्धि के लिए इस लोक परलोक में दुःखदायक रात्रि भोजन को छोड़ देना चाहिए।

पिपीलिकादयो जीवा भक्ष्यं तदपि कानिशि।
गिल्यन्ते भोक्तृभिः पुम्भिस्ते पुनः कवलैः सम।१५।
स्फुटितांघ्रिकरणादिनो ये काष्ठ तृणवाहकाः।
कुचेला दुष्कुलाः सन्ति ते रात्र्याहारसेवनात्।१६।
निजकुलैकमण्डनं त्रिजगदीशसम्पदम्।
भजतीह स्वभावतः त्यजति नक्तभोजनम्।१७।

अर्थ—जो मनुष्य रात को भोजन करते हैं वे भोजन के साथ चींटी आदि जीवों को खा जाते हैं। जो मनुष्य रात्रि भोजन करते हैं वे अन्य भव में लूले, लंगड़े, गूंगे, बहरे आदि अपांग, लकड़हारे, घसियारे, नीचकुली, मैले कुचेले मनुष्य होते हैं। जो मनुष्य रात्रि भोजन त्याग देता है वह अपने कुल के भूषण तथा तीन लोक की सम्पदा को प्राप्त करता है।

श्रावक धर्मश्चतुर्विध ।२२।

अर्थ—श्रावक का धर्म ४ प्रकार का है–१ दान, २ पूजा, ३ शील और ४ उपवास अपने तथा अन्य के उपकार करने के लिए जो आहार आदि पदार्थों का त्याग किया जाता है वह मौन ४ प्रकार का है–१ आहार, २ औषध, ३ ज्ञान और ४ अभय।

देवशास्त्र गुरु की विधि अनुसार ८ द्रव्यों से पूजन करना पूजा है।

अपने ग्रहण किये हुये व्रतों की रक्षा करना शील है।

अष्टमी चतुर्दशी पंचमी आदि को पंच इन्द्रियों के विषय, कषाय तथा चारों प्रकार के आहार का त्याग करना है। केवल जल ग्रहण करना अनुपवास (ईषत् उपवास-छोटा उपवास) है और एक बार भोजन करना एकाशन है।

जैनर नेरे जैनर केले। जैनर व्रतनिष्ठे जैन धर्म श्रवणं।
जैनप्रतिमाराधने। जैनगिकूडि वंदोडवने कृतार्थं ।१३१।

अर्थ—जैन कुल में जन्म लेकर मनुष्य भव सफल करने के लिए सदा जैन भाइयों की संगति करनी चाहिये, जैनों से मित्रता करनी चाहिए, जैन धर्म की श्रद्धा करनी चाहिए, जैन शास्त्रों का श्रवण करना चाहिये, जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा की आराधना करनी चाहिये।

जैनाश्रमाश्च ।२३।

अर्थ-१ ब्रह्मचारी, २ गृहस्थ, ३ वाणप्रस्थ और ४ भिक्षु।

विवाह करने से पहले ब्रह्मचर्य आचरण से रहना (विद्यार्थी जीवन) **ब्रह्मचारी आश्रम** है। विवाह करने के अनन्तर कुलाचार धर्माचार से रहना **गृहस्थाश्रम** है मुनि दीक्षा ग्रहण करने के पहले घर बार छोड़कर खण्ड वस्त्र धारण करके तपस्या करना **वाणप्रस्थ आश्रम** है। सब परिग्रह त्याग कर मुनि दीक्षा लेकर महाव्रत धारण करना **भिक्षु आश्रम** है।

ब्रह्मचारिण: पञ्चविधाः ।२४।

अर्थ-ब्रह्मचारी ५ प्रकार के होते हैं। १ उपनयन, २ अवलम्बन, ३

अदीक्षा, ४ गूढ तथा ५ नैष्ठिक ब्रह्मचारी।

यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण करके विद्याध्ययन करने वाले **उपनयन ब्रह्मचारी** है।

क्षुल्लक रूप से समस्त शास्त्रों का अध्ययन करने वाले (बाद में गृहस्थ-आश्रम में जाने वाले) **अवलम्ब ब्रह्मचारी** हैं।

व्रत का चिन्ह (जनेऊ आदि) धारण न करके समस्त शास्त्र पढ़कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले **अदीक्षा ब्रह्मचारी** है।

बाल्य अवस्था में गुरु के पास रहकर समस्त शास्त्रों का अभ्यास किया हो, संयम धारण किया हो फिर राज भय से, या परिवार की प्रेरणा से अथवा परिषह सहन न करने के कारण जो संयम से भ्रष्ट हो गया हो और बाद में गृहस्थ आश्रम में आ गया हो, वह **गूढ ब्रह्मचारी** है।

व्रत के चिन्ह (चोटी, जनेऊ, करधनी, श्वेतवस्त्र धारण करके ब्रह्मचर्य व्रत लेकर रहने वाले **नैष्ठिक ब्रह्मचारी** हैं।

आर्यषट् कर्माणि ।२५।

अर्थ–आर्य (गृहस्थाश्रमी श्रावक) के ६ कर्म हैं। १ इज्या (पूजा), २ वार्ता (धन-उपार्जन विधि), ३ दत्ति (दान), ४ स्वाध्याय (शास्त्र पढ़ना, सुनना) ५ संयम (जीवरक्षण तथा इन्द्रियों तथा मन का दमन), ६ तप, (उपवास एकाशन आदि वहिरंग, प्रायश्चित आदि अन्तरंग तप)।

तत्रेज्या दशविधा: ।२६।

अर्थ–पूजा १० प्रकार की है।

देव इन्द्रों के द्वारा किये जाने वाली अर्हन्त भगवान की पूजा **महामह** पूजा है।

इन्द्रों के द्वारा की जाने वाली पूजा **इन्द्रध्वज** पूजा है।

चारों प्रकार के देवों द्वारा की जाने वाली पूजा का नाम **सर्वतोभद्र** है।

चक्रवर्ती के द्वारा की जाने वाली पूजा का नाम **चतुर्मुख** पूजा है।

विद्याधरों के द्वारा होने वाली पूजा का नाम **रथावर्तन** पूजा है।

महामण्डलीक राजाओं के द्वारा की जाने वाली पूजा का नाम **इन्द्रकेतु** है।

मंडलेश्वर राजा जिस पूजा को करते हैं वह **महापूजा** है।

अर्द्ध मंडलेश्वर राजाओं द्वारा की जाने वाली पूजा का नाम **महामहिम** है।

नन्दीश्वर द्वीप में जाकर आषाढ़, कार्तिक, फागुन मास के अन्तिम दिनों में जो देव इन्द्र आदि पूजा करते हैं सो **आष्टान्हिकपूजा** है।

स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहन कर जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल, ये आठ द्रव्य लेकर मंदिर में प्रतिदिन पूजा करना **दैनिक पूजा** है।

अपनी शक्ति अनुसार द्रव्य खर्च करके मन्दिर बनवाना, प्रतिमा निर्माण कराना, प्रतिष्ठा कराना, मन्दिर की सुव्यवस्था करना, मंदिर की व्यवस्था के लिये जमीन, मकान, गांव आदि दान करना पूजा के उपकरण देना आदि दैनिक पूजा में सम्मिलित है।

अर्थानि षट्कर्माणि ॥२७॥

अर्थ—आर्य पुरुषों के धन-उपार्जन के ६ कर्म हैं। १ असि (सेना आदि में नोकरी आदि से अस्त्र शस्त्र द्वारा धन कमाना), २ मसि (लिखने पढ़ने के द्वारा आजीविका करना), ३ कृषि (खेती वाड़ी करना), ४ वाणिज्य (व्यापार करना) ५ पशु पालन (गाय, भैंस, घोड़ा आदि पशुओं का व्यापार करना), ६ शिल्प (वस्त्र बुनाना आदि कला कौशल से आजीविका करना)।

दत्तीश्चतुर्विधाः ॥२८॥

अर्थ–दत्ति (दान) चार प्रकार है—१ दयादत्ति, २ पात्रदत्ति, ३ समदत्ति, ४ सर्व दत्ति।

समस्त जीवों पर दया करना, दीन दुखी अनाथ प्राणियों को दया भाव से भोजन वस्त्र आदि देना **दयादत्ति** है।

रत्नत्रय धारक, संसार से विरक्त, संयम आराधक मुनि आर्यिका आदि को भक्तिभाव से शुद्ध निर्दोष आहार, औषध, शास्त्र, आवास देना और अपने आपको कृतार्थ मानना **पात्रदत्ति** है।

अपने समान सदाचारी धार्मिक योग्य वर को अपनी कन्या देना, साधर्मियों को भोजन कराना आदि **समदत्ति** है।

घर बार छोड़कर दीक्षा लेते समय या समाधि मरण के समय अपनी समस्त सम्पत्ति धर्मार्थ में दे डालना अथवा पुत्र आदि उत्तराधिकारी को प्रदान करना **सर्वदत्ति** है।

यह तीसरा आर्यकर्म है।

तत्वज्ञान का पढ़ना, पढ़ाना **'स्वाध्याय'** नामक चौथा आर्य कर्म है।

पांच अणुव्रतों का आचरण करना **'संयम'** नामक पांचवां आर्य कर्म है।

चारों प्रकार के आहार तथा विषय कषाय का परित्याग करना **अनशन या उपवास** तप है। एकग्रास, दो ग्रास क्रमसे घटाते बढ़ाते हुए चान्द्रायण आदि व्रत करना, भूख से कम भोजन करना **अवमौदर्य या ऊनोदर** तप है। घर, गली, मुहल्ला अथवा अन्य पदार्थों परिग्रह करने वाले आदि की अटपटी आखड़ी करना **व्रतपरिसंख्यान** तप है। घी, तेल, दूध, दही, खाड नमक छह रसों में से सब रसों का या १-२ आदि रस का त्याग करना **रसपरित्याग** तप है। एकान्त स्थान में, भूमि, तख्त, खाट आदि सोने आदि का नियम करना **विविक्त शयासन** तप है। कुक्कुट आसन, खड्गासन आदि आसन लगाकर, प्रतिमा योग आदि रूप से ध्यान करना **कायक्लेश** तप है। ये ६ बहिरंग तप हैं।

व्रत आदि में कुछ दोष लग जाने पर उसका दंड लेना गुरु से और गुरु न होने पर अर्हन्त प्रतिमा के समक्ष स्वयं दण्ड लेना **प्रायश्चित्त** तप है। आलोचना प्रतिक्रमण आदि भेद प्रायश्चित के हैं। सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय धारकों का विनय करना **विनय** तप है। आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि व्रती जनों की सेवा करना **वैयावृत्य** तप है। ज्ञानाभ्यास, शास्त्र पढ़ना पढ़ाना, सुनना, पाठ करना आदि **स्वाध्याय** तप है। पापों को बाहरी तथा अन्तरंग से छोड़ना **व्युत्सर्ग** तप है। पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ये ध्यान करने की चार पद्धति हैं उसके अनुसार चित्त को एकाग्र करना **ध्यान** तप है। ये ६ अन्तरङ्ग तप हैं। इस तरह ६ बहिरंग, ६ अंतरंग—समस्त १२ तप हैं। इनमें से प्रतिमा योग के सिवाय अन्य समय **कायक्लेश** तप गृहस्थ के लिए निषिद्ध हैं।

जिन स्त्री पुरुषों में देव शास्त्र गुरु की विनय, भक्ति, ज्ञान का अभ्यास, शास्त्र स्वाध्याय, दान शक्ति अनुसार व्रत नियम आदि नहीं हैं वे मनुष्य शरीर पाकर भी पशुओं के समान हैं।

ज्ञानव सत्परिणामं। दानव रूचि समय भक्ति तत्वविचारं।
जैनंगिविल्लादिर्दोडे। मौन दोळुण्वंते पशुवेदनेय निदाना।१३२।

अर्थ—जिस जैन धर्मानुयायी स्त्री पुरुष को विवेक नहीं, दान देने में रुचि नहीं, देव शास्त्र गुरु की भक्ति नहीं, तत्व का विचार नहीं, वह मौन पूर्वक घास चरने वाले पशुओं के समान हैं।

क्षत्रिया द्विविधाः ॥२१॥

अर्थ—क्षत्रिय के दो भेद हैं १ जाति क्षत्रिय, तीर्थ क्षत्रिय। ब्राह्मण,

क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारवर्ण हैं। इनमें से क्षत्रिय वर्णमें जन्म लेने वाले को जाति क्षत्रिय हैं। तीर्थङ्कर, नारायण, बलभद्र, चक्रवर्ती आदि महान पराक्रमी क्षत्रियतीर्थ क्षत्रिय होते हैं।

भिक्षुश्चतुर्विध: ॥३०॥

अर्थ—भिक्षु चार प्रकार के हैं—१ यति, २ मुनि, ६ अन्नगार, ४ देव-ऋषि (ऋषि)।

यतयो द्विविधाः ॥३१॥

अर्थ–यति के दो भेद हैं–१ उपशम श्रेणी आरोहक (उपशम श्रेणी चढ़ने वाले), २ क्षपक श्रेणी आरोहक (क्षपक श्रेणी पर चढ़ने वाले)।

मुनयस्त्रिविधाः ॥३२॥

अर्थ–मुनि तीन प्रकार के हैं–१ अवधिज्ञानी, २ मनःपर्ययज्ञानी, ३ केवलज्ञानी।

ऋषयश्चतुर्विधाः ॥३३॥

अर्थ–ऋषि चार प्रकार के हैं —१ ऋद्धि प्राप्त ऋषि (ऋद्धिधारी), २ ब्रह्मर्षि, ३ देवर्षि, ४ परमर्षि।

तत्र राजर्षयो द्विविधा: ॥३४॥

अर्थ–राजर्षि दो प्रकार के हैं—१ विक्रिया ऋद्धिधार, ३ अक्षीण ऋद्धिधारी

ब्रह्मर्षि द्विविध: ॥३५॥

अर्थ–ब्रह्मर्षि के दो भेद हैं—१ बुद्धि ऋद्धि धारक, २ औषध ऋद्धि-धारक। अकाश में गमन करने वाले देवर्षि हैं। अर्हन्त भगवान परमऋषि हैं।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः।
इत्याश्रमास्तु जैनानां सप्तांगाद्विनिसृताः ॥

अर्थ–जैनों के ४ आश्रम है—१ ब्रह्मचारी, २ गृहस्थ, ३ वानप्रस्थ और ४ भिक्षुक। ये सातवें उपासकाध्यय अंग से बतलाये गये हैं। (आश्रमों का लक्षण पीछे लिखा जा चुका है।)

दर्शन प्रतिमा से लेकर उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा तक श्रावक के १० भेद हैं। इनके उत्तरभंग ६६ होते हैं। इसका विवरण अन्य ग्रन्थ से जान लेना चाहिए।

श्रावक अपने गृहस्थाश्रम चलाने के लिये असिमसि आदि षट् कर्मों से अर्थ उपार्जन करता है, उससे वह जीव हिंसा से बचता रहता है। कदाचित कभी हिंसा उससे हो जावे तो पक्ष अष्टमी, चतुर्दशी आदि को उस दोष को दूर

करने के लिए प्रायश्चित आदि लेकर शुद्धि करता है। श्रावक स्वच्छन्द वृत्ति से चलकर प्राणि हिंसा नहीं करते हैं। यदि कभी उन से हिंसा होती है तो उसका प्रायश्चित लेते हैं। यदि कभी गृह-त्याग करने भावना होती है तो पुत्र को, पुत्र न हो तो अपने गोत्र के किसी सदाचारी बालक को दत्तक पुत्र बनाकर उस दत्तक पुत्र को अथवा अन्य भतीजे, भानजे आदि को अपनी समस्त सम्पत्ति सौंपकर उसको अपना उत्तराधिकारी बनाता है। उसको मीठे वचनों से समझाता कि "जिस तरह मैंने अब तक धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरुषार्थों का सेवन किया गृहस्थाश्रम, कुल मर्यादा, जातिमर्यादा तथा धर्ममर्यादा का पालन किया उसी तरह तू भी करना।" इस तरह समझा कर आप घर छोड़ मुनियों के चरणों में जाकर दीक्षा ले, धर्म सेवन करे।

मरण-निमित्त-ज्ञान

दाहिनी आंख की पुतली को सूर्य और बांयी आंख की पुतली को चंद्र कहते हैं। दोनों नेत्रों (आंखों) के ऊपरी निचलो पलकों के नेत्र को दो दो भाग कहते हैं।

१–बांयी आंख (चन्द्र) केऊपरी पलकको उंगली से दबाने पर यदि नीचे की वस्तुएं दिखाई न पड़ें तो समझना चाहिए कि छह मास के भीतर मृत्यु होगी।

२–यदि उंगली से नीचे की पलकें दबाने पर ऊपर की ज्योति काम न दे यानी–ऊपर की वस्तुएं दिखाई न दें तो समझना चाहिए कि तीन मास में मृत्यु होगी।

३–बांयी आंख के प्रारंभिक भाग (नाक के निकट) दबाने पर कान की ओर दिखाई न दे तो दो मास में मृत्यु होने की सूचना है।

४–यदि उस आंख के अंतिम भाग (कान की ओर से) को दबाने पर नाक की ओर ज्योति दिखाई न दे तो एक मास में मृत्यु समझनी चाहिये।

५–सूर्य आंख (दाहिनी आंख) के ऊपरी पलक को दबाने पर नीचे ज्योति दिखाई न पड़े तो समझना चाहिये कि १५ दिन में मृत्यु होगी।

६–उसी नेत्र के नीचे के पलक को दबाने पर ऊपर की ज्योति न दीख पड़े तो आठ दिन में मृत्यु होगी।

७–उसी नेत्र के अंतिम भाग (कान के पास वाले) को दबाने पर कान की ओर ज्योति दिखाई न दे तो ६ दिन में मृत्यु होगी।

८–इस नेत्र के मूल भाग (नाक के पास) को दबाने पर कान की ज्योति यदि दिखाई न दे तो एक दिन आयु शेष रही समझनी चाहिये।

श्री खंड निमित्त ज्ञान:—

सुचिर वृत्त होकर श्री भगवान पारसनाथ तीर्थङ्कर को अभिषेक और आठ द्रव्यों से पूजा करके दाहिना हाथ शुक्ल पक्ष और बांया हाथ कृष्ण पक्ष करके इस प्रकार से अपने मन में कल्पना करके दोनों हाथों में गोमूत्र लगाकर बाद में गरम पानी और दूध से धो डाले। इसके पश्चात् ठण्डे पानी से साफ धो लेना चाहिए। एक-एक अंगुली में तीन-तीन रेखा की गिनती से पांच अंगुली में १५ रेखा होती हैं। अंगूठे के पहले पर्व से लेकर कनिष्ठ अंगुली के पर्व तक पांच सात वार पंच नमस्कार से प्रत्येक में सात-सात वार अभिमंत्रित करके लगाया हुआ चंदन सूखने तक ठहर कर अंगूठे के पहले पर्व की प्रतिपदा आदि गिनतो करने से १५ पोटों में उसके कहीं पर काला दाग दिखाई दे तो उसी दिन उनकी मृत्यु समझना चाहिए। कर्म से गिनती करने पर जिस गिनती में पर्व का गिनते वह बिन्दी किस पर्व पर आयेगा जिस पर आवे इतना ही दिन उनके समाधि का दिन समझना चाहिए। जैसे कहा भी है।

लक्ष्यं लक्षण लक्षितेन मनसा सम शुद्ध भानोज्वेले।
क्षीणे दक्षिण पश्चिमोत्तरंपुरे षटत्रिद्विम संककम् ।।
छीद्रं पश्यति मध्यमे दश दिनम् धूमाकुलं तद्दिनम्।
कृष्णे सप्तदिनं सकंपनमथःपक्षे बिनिदृश्ताम् ।।१६।।

चन्द्र और सूर्य के निमित्त ज्ञान:—

भगवान श्री शान्तिनाथ तीर्थङ्कर को यथा विधि पूर्वक अभिषेक करके इस गंदोदक को प्रकाश में रखकर चन्द्र या सूर्य को उसी रखे हुए गंदोदक चंद्र या सूर्य को दक्षिण मुख होकर के देखना चाहिए। दक्षिण दिशा के तरफ यदि चन्द्रमा या सूर्य हानि दिखाई देता हो तो ६ माह उनकी आयु समझना चाहिए। यदि पश्चिम दिशा में मलीनता दिखाई पड़े तो तीन मास की उनकी आयु समझना चाहिए। यदि उत्तर दिशा में मलीनता दिखाई पड़े तो २ महीना और यदि पूरब में मलीनता दिखाई पड़े तो १ मास की उनकी आयु समझना चाहिए।

यदि बीच में छिद्र दिखाई पड़े तो १० दिन आयु समझना चाहिए।

यदि कांपते हुए दिखाई पड़े तो १५ दिन समझना चाहिए दोनों चन्द्र सूर्य बिम्ब काला दिखाई देता हो तो उनकी आयु सात दिन का समझना चाहिए

वृक्ष छाया आदि निमित्त ज्ञानः—

वृक्ष की छाया देखने वाले को यदि उसी छाया में वृक्ष की डाली टूटी हुई तथा भूत पिशाचादि दिखाई पड़े तो १० मास की आयु समझनी चाहिए ।१।

यदि सूर्य को देखने पर उसकी किरणें न दिखाई दें और अग्नि को देखने पर उसकी किरणें न दिखाई पड़ें तो उसकी आयु ११ मास समझना चाहिए ।२।

मूत्र और मल चांदी और स्वर्ण के रंग के समान यदि दिखाई पड़े तो, और स्वप्न में अथवा मन में कोई एक आदमी दिखाई पड़े तो ९ मांस उसकी आयु समझना चाहिए ।३।

शरीर स्वस्थ होने पर भी यदि क्षीण दिखाई पड़े तो, या अपने मन में कोई अमुक काम करने की इच्छा होने पर भी यदि दूसरा काम शुरू करदे तो उसकी आयु आठ मास की समझना चाहिए ।४।

जाते हुए व्यक्ति को देखने पर यदि जाने वाले व्यक्ति का पांव कटा हुआ दिखाई पड़े तो ७ मास की आयु समझना चाहिए ।५।

यदि काक दोनों पंखों से मारे तो अथवा बालू की वर्षा दिखाई पड़े तो, या अपनी छाया न मालूम होकर उसके विपरीत दिखाई पड़े तो ६ मास उसकी आयु समझना चाहिए ।६।

यदि काक सिर के ऊपर बैठा हुआ दिखाई पड़े तो, अथवा मांस खाने वाला पक्षी उसके ऊपर बैठा हुआ दिखाई पड़े तो उसकी आयु ५ मास की समझना चाहिए ।७।

यदि दक्षिण दिशा में बादल नहीं होते हुए भी बिजली दिखाई पड़े तो, अथवा पानी के अन्दर इन्द्र धनुष दिखाई पड़े तो उसकी आयु चार मास समझना चाहिए ।८।

यदि स्वप्न में चन्द्र और सूर्य के अन्दर छिद्र होकर दिखाई पड़े तो उसकी आयु तीन मास की समझना चाहिए ।९।

शरीर का वास मुर्दे के दुर्गंध ऐसा आभास हो, अथवा दांत गिरकर पड़े मालूम हों तो, अथवा गर्म पानी ठंडा दिखाई पड़े, या शरीर कोयले के समान रहे तो उसकी आयु दो मास की समझना चाहिए ।१०।

यदि पानी ऊपर से अपने शरीर पर गिर पड़े अथवा यदि कोई व्यक्ति

पानी से मारे या सबसे पहले स्पर्श अथवा हृदय में लगे तो उसकी आयु१ मास की समझना चाहिए।११।

गर्म पानीसे नहाये अथवा न नहाये यदि सिर पर से धुआं निकले तो उसकी आयु १ मास की समझना चाहिए।१२।

दर्द हुये बिना अथवा कुछ न गिरने पर भी यदि आंख से पानी निकले अथवा आंख निकल कर गिर जाये ऐसा प्रतीत हो, या कान सिकुड़ गया हो तो अथवा नाक मुड़ी हुई मालूम पड़े तो उसकी आयु १ मास की समझना चाहिए।१३।

दोपहर के समय अपनी छाया सूर्य के ऊपर दिखाई पड़े तो १२ मास आयु समझना चाहिए।१४।

पानी अथवा शीशी में यदि अपनी छाया नहीं दिखाई पड़े तो, अथवा मस्तक दो दिखाई पड़ें तो उसकी आयु ११ दिन की समझना चाहिए।१५।

मुख निस्तेज दिखाई पड़े और शरीर में दुंर्गध अथवा कमल के समान गन्ध, अथवा देवदारु गन्ध अगर गन्ध ऐसी सुगन्ध मालूम पड़े तो, अथवा चन्द्र, मण्डल की क्रान्ति निस्तेज दिखाई पड़े तो उसकी आयु १७ दिन की समझनी चाहिए।१६।

बिना कारण शब्द निकल पड़े तो, अथवा बर्तन के टूटने का शब्द सुनाई पड़े किन्तु दूसरे को वह शब्द न सुनाई पड़े अथवा बिना कारण हृदय व्याकुल हो या मूत्र-मल अपने खाने ऐसा प्रतीत हो और मल मूत्र का निरोध हो गया हो तो उसकी आयु आठ दिन की समझनी चाहिए।१७।

घर के दरवाजे के पास से निकलते समय में शरीर में दर्द मालूम पड़े और अन्दर जाने के समय में दर्द मालूम पड़े और मर्म स्थान में दर्द मालूम हो अथवा अपने शरीर में कोई पानी से मारे और यह अपने को न प्रतीत हो कि कच्चा पानी है या पक्का पानी तो, उसकी आयु सात दिन की समझनी चाहिए।१८।

जीभ काली और सूक्ष्म दिखाई पड़े तो, और बार-बार जंभाई आवे तो उसकी आयु चार दिन की समझनी चाहिए।१९।

यदि कान में शब्द सुनाई न पड़े तो उसकी आयु दो दिन की समझनी चाहिए।२०।

इस प्रकार संलेखना करने वाला गृहस्थ इन मरण-चिन्हों को देख लेता है। यहां पर कुछ कानडी श्लोक पुस्तक के विस्तार भय से

छोड़ दिये गये हैं। अब आगे संलेखना किस-किस अवसर में की जाती है। इसका वर्णन किया जाता है :—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसिरुजायाञ्च निःप्रतीकारे।
धर्मायतनु विमोचन-माहु संलेखना मार्याः ॥१॥

अर्थ—अर्थात् उपसर्ग दुर्भिक्ष वृद्ध अवस्था असाध्य रोग के हो जाने पर जो धर्म के लिए शरीर छोड़ा जाता है अर्थात् निश्चय और व्यवहार धर्म से आत्मा में लीन होकर शरीर को छोड़ना ही संलेखना है और यही शरीर छोड़ने का फल है। ऐसी निश्चय समाधि-विधि (मरण करने की विधि) श्री सर्वज्ञ देव ने कही है।

विषयेयन रमशंख्य भयसत्तम् गहत् सपतम् ग१रण स किलेस सेकंल्लेसोद।
उस्साहरणन् निरोदधौ क्षिज्जयेआऊ २

अर्थ—कदली घात से जो मरण होता है उसे अकाल मृत्यु या मरण कहते हैं। जैसे कि रक्त का क्षय हो जाने से, भय के कारण, शस्त्र प्रहार के कारण अथवा अधिक संक्लेश के कारण, श्वास के निरोध होने के कारण, आहार निरोध के कारण, जल में डूबने के कारण, अग्नि दाह के कारण, इत्यादि कारणों से जो मरण होता है इसको कदलीघात मरण कहते हैं। इसके अतिरिक्त आयु कर्म का क्रमशः क्षय हो जाने पर जो मरण होता है। उसे सविपाक मरण कहते हैं। अब आगे मरण के भेद को बतलाने के लिए सूत्र कहते है -

मरणं द्वित्रिचतुःपंचविधंवा॥३६॥

अर्थ - मरण दो तीन चार अथवा पाँच प्रकार का है।

१ नित्य मरण और स्तद्भव मरण यह दो प्रकार का है।

१ भक्तप्रत्याख्यान मरण, २ इंगिनी मरण, ३ प्रायोपगमन मरण; इस प्रकार मरण के तीन भेद हैं।

१ सम्यत्व मरण, २ समाधि मरण, ३ पंडित मरण और ४ वीर मरण प्रकार से मरणके चार भेद है।

१ बाल बाल मरण, २ बाल मरण, ३ बाल पंडित मरण, ४ पंडित मरण ५ पडित २ मरण इस प्रकार पंडित मरण के पांच भेद हैं।

आगे इस मरण का पृथक् रूप से कथन निम्न भांति है (१) पूर्वोपार्जित आयु कर्म की स्थिति पूर्ण करके जो मरण होता है वह नित्य मरण

है, इसे आवीचि मरण भी कहते हैं। जैसे तालाब के चारों ओर से बन्धा हुआ पानी यथाक्रम झरते-झरते काल क्रम से समाप्त हो जाता है, तथैव जीव गर्भाधान से लेकर आयु के अन्त तक क्रमशः आयु कर्म की स्थिति दिन प्रतिदिन घटते २ पूर्ण हो जाती है, यह आवीचि मरण है।

जन्मान्तर प्राप्ति होने वाला मरण तद्भव-मरण है।

शारीरिक वैय्यावृत्ति के साथ होने वाला समाधि मरण भक्त प्रत्याख्यान है।

स्वपरअपेक्षा से वैय्यावृति के बिना, स्वयं अपनी अपेक्षा भी न रखते हुए जो समाधि मरण होता है, वह इंगिनी मरण है।

स्वपर वैय्यावृत्ति की अपेक्षा से जो मरण किया जाता है, यह भक्त-प्रत्याख्यान मरण है प्रायोपगमन मरण का अन्यत्र वर्णन है।

(१) वात पित्त श्लेष्मादि शारीरिक दोषों से अति संक्लेश होने पर भी स्वधर्म और स्व-स्वभाव में अरुचि आदि न करके स्वधर्म और स्वभाव में तल्लीन होकर जो मरण होता है, वह सम्यक्त्व मरण है।

(२) सांसारिक कारणों से निवृत्ति-पूर्वक शारीरिक भार को त्याग करना समाधि मरण है।

(३) निवृत्ति-पूर्वक, स्वात्मतत्व भावना-सहित शरीर का त्याग कर देना पंडित मरण है।

(४) धैर्य्य और उल्लास के साथ, भेद-विज्ञान-पूर्वक शरीर त्याग करना वीर मरण है।

(१) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक चारित्र, और तप इन चार आराधनाओं से रहित मिथ्यादृष्टि जीव का जो मरण होता है, उसे बाल-बालमरण कहते है।

(२) सम्यग्दर्शन आराधना से युक्त जो असंयत सम्यग्दृष्टि का मरण होता है, उसे बाल-मरण कहते है।

(३) सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा एक देशचारित्र धारण करके जो देशव्रती मरण करता है, उसको बाल पंडित मरण कहते हैं।

(४) सम्यग्दर्शनादि चारों प्रकार की आराधनाओं सहित निरतिचार पूर्वक महाव्रती का मरण, पंडित मरण है।

(५) उसी भव में कर्मक्षय करके समय मात्र में लोकाग्रवासी होने वाले मरण को पंडित-पंडित मरण कहते हैं।

(१) सायुमरण (२) निरायुर्मरण, इस प्रकार भी दो भेद हैं।

आयुकर्म की वर्तमान स्थिति विनाश होते ही, जन्मान्तर के कारण भूत जन्मान्तरबंध मनुष्य आदि आयु स्थिति के योग्य, संसारी जीवों का मरण, सायुर्मरण है।

इसके भी दो भेद हैं, (१) निर्गुण सायुर्मरण (२) सगुण सायुर्मरण।

यति धर्म और श्रावक धर्म में उत्तरोत्तर आचरणपूर्वक अत्यन्त विशुद्ध चारित्र सहित होने वाले मरण को सगुणसायुर्मरण कहते हैं।

यति धर्म और श्रावक धर्म दोनों प्रकार की धार्मिक भावनाओं से शून्य जो मरण होता है उसे दुर्मरण यानी निर्गुण सायुर्मरण कहते हैं।

वर्तमान तथा भावी जन्म के सम्पूर्ण आयुकर्म को इंगिति करके, केवलज्ञानपूर्वक निर्वाण पद प्राप्त करने को निरायुर्मरण कहते हैं।

अब सल्लेखना की विधि का वर्णन करते हैं।

समाधि मरण के इच्छुक दिव्य तपस्वियों के लिए जिनागम में यह आदेश है कि समाधि मरण की विधि से परिपूर्ण ज्ञानी, अत्यन्त चतुर आचार्य, यदि पांच सौ कोस दूर हो, तो उन आचार्यदेव के निकट, मन्द-मन्द गति से ईर्यापथ शुद्धि पूर्वक पहुंचे। अपने समस्त दोषों को प्रगट करते हुए, आत्मनिन्दा, गर्हणा आदि आलोचना करके, अपने दोषों की निवृत्ति के लिए, उनके द्वारा दिये हुये प्रायश्चित्त को लेकर, अन्त में शारीरिक रोग और दुर्बलता आदि देखकर वह आचार्य, समाधि-मरण के इच्छुक तपस्वी की शेष आयु के समय को जान लेते हैं, पश्चात् वे सुचतुर आचार्य अपने मन में विचारते हैं कि "यह अपने कल्याण के लिए इच्छुक है, अतः इस भव्य को समाधि-मरण करादेना चाहिए। इस प्रकार सोच समझकर चार प्रकार के गोपुर सहित समचतुष्क एक आराधना मण्डप, गृहस्थों के द्वारा तैयार करवाते हैं, इसके बीच में, शुद्ध मिट्टी के द्वारा समचतुष्क अर्थात् चौकोर वेदी तैयार कर, पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर वीतराग सर्वज्ञ देव की मूर्ति को, पूजा अर्चना-पूर्वक स्थापित करके वेदी में समाधि के इच्छुक उस तपस्वी को, उस प्रतिमा के निकट मुख करके, पर्यङ्क अथवा एक पार्श्व पर बिठाकर, तोरण, भांति-भांति की ध्वजाएं, चन्दन, कालागुरु, दीप धूप, भृंगार कलश दर्पण, अठारह धान्य, मादल फल (बिजौरा) तीन छत्र, चँवर आदि मंगल द्रव्यों से पुण्य धाम को सुशोभित करे फिर अभीष्ट श्री भगवज्जिनेन्द्र देव के अभिषेक पूर्वक, पूजा अर्चादि से महान आराधना के पश्चात् आचार्य अपने संघ के निवासियों को बुलाकर मण्डप के पूर्व द्वार पर प्रथमानुयोग को पढ़ते हुए, सात मुनियों को नियुक्त कर देते हैं। इसी भांति

दक्षिण द्वार पर करणानुयोग पढ़ते हुए सात मुनियों को नियुक्त कर देते हैं। इसी तरह पश्चिम द्वार पर चरणानुयोग पढ़ते हुए सात मुनियों को नियुक्त कर देते हैं, इसी प्रकार उत्तर द्वार पर द्रव्यानुयोग पढ़ते हुए सात मुनियों को नियुक्त कर देते हैं। तत्पश्चात् वह आचार्य समाधिप्रिय उस मुनिराज के पास आकर इस प्रकार आदेश देते हैं कि तुम चारों प्रकार की आराधनाओं को पढ़ते रहो, इसके पश्चात् सात मुनियों को आदेश देते हैं कि तुम लोग चारों आराधनाओं को उनके पास पढ़ते रहो, इस प्रकार उनको नियत कर बाद में समाधि के इच्छुक मुनि को पथ्यपान आदि को देते हुए उनके मल मूत्र को निर्विघ्न-पूर्वक बाहर निकालने के लिए पुकार के सात मुनियों को नियुक्त कर देते हैं। तत्पश्चात् चारों दिशाओं का अवलोकन करने के लिए गांव के बाहर जाकर, क्षाम, डामर, परिचक्र, देश, काल, राष्ट्र, ग्राम, राज्यादि की स्थिति, सुस्थिति देखकर, अपने मन में उन दोनों की परिस्थिति को ठीक विचार कर, उपर्युक्त कथनानुसार उसकी देखभाल करने के लिए दो मुनियों को नियुक्त करते है। पश्चात् समाधि के इच्छुक मुनि के पास समाधि मरण की विधि जानकार एक मुनि को नियुक्त कर देते है। फिर षोडश भावनाएं, चौतीस अतिशय को, परम चिदानद स्वरूप वीतराग निर्विकल्प समाधिस्वरूप को सभी मुनिजन सुनाते रहते हैं, उसको वह उपयोग पूर्वक सुनते हुए, प्रयत्न पूर्वक गुरु निरुपित क्रम से शरीर को त्याग करूं, ऐसी भावना करता है। जैसे नौकर को जहां तहां नियुक्त कर देते है, वैसे ही आचार्य देव अपने शिष्य मुनियों को उनकी वैय्यावृत्ति अथवा चारों अनुयोग पढ़ने के लिए नियुक्त कर देते है। इसके बाद वह अपनी इच्छापूर्वक गत्यन्तर होने वाले मरण को करता है, इस तरह के मरण को भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

नो कर्म, द्रव्य कर्म और भाव कर्म इन तीनों कर्मों से रहित सहज शुद्ध केवल ज्ञान आदि अनन्त गुणों से सहित अभेद रत्नत्रयात्मक वीतराग निर्विकल्पक समाधि रूप समुत्पन्न हुए परमानन्द रूप, स्व-स्वभाव से च्युत न होते हुये समाधि में रत रहते है। इस प्रकार समाधि मे रत हुए मुनि के शरीर में कदाचित् शीत हो जावे तो शीत की बाधा को दूर करने के लिए उपचार तथा ज्यादा उष्ण हो जाने पर शीत की जाती है। अपने को जो इष्ट हो पल्यंक-आसन, मुक्तासन, या शय्या-आसन इनमे से कोई भी आसन निश्चय करके तत्कालोचित सम्पूर्ण क्रिया को करके तत्पश्चात्

निष्क्रिया-रूप शुद्धात्म भावना में अपने मन के परिणाम को प्रयत्न-पूर्वक आकर्षित करते हुए स्वपर-वैय्यावृत्ति की अपेक्षा न रखकर शरीर भार को छोड़ना इ गिनी मरण है।

१ पर्य्यंकासन, २ एक पार्श्वासन, ३ पादोपादान, इन तीनों में से किसी एक आसन को नियत करके चतुर्विंशति तीर्थंकरके गुणस्तवन, रूपस्तवन, और वस्तुस्तवन करते हुए आलोचना, प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त नियमादि दण्डकों में अपने वचन को स्थिर करके दर्शन विशुद्ध यादि षोडश भावनाओं को भाते हुए देव मनुष्य, तिर्यंच इन तीनों से होने वाले चेतनोपसर्ग, अशनिपात (अग्निपात) शिलापात, वज्रपात, भूपात, गिरिपात, वृक्षपात, वज्राग्नि दावाग्नि, विषभूमि, (नदी की बाढ) नदी पूर, जल वर्षण, शीतवात आतप इत्यादि से होने वाले अचेतनोपसर्ग और प्रबल अग्निपुटपाक से गलते हुए निर्मल कान्ति युक्त सोने के समान परम उपशान्त होते हुए निज परमात्म स्वरूप में अपनी परणति को अविचल वृत्ति से रखते हुए सम्यक सन्यसन रूप वीर शय्यासन को स्वीकार करके परवैंय्या वृत्ति की अपेक्षा बिना शरोर परित्याग करने को प्रायोपगमन मरण (प्रायोग मरण) कहते हैं। इन तीन प्रकार के मरण को पण्डित मरण कहते हैं।

तद्भव अर्थात् उसी भव में समस्त कर्मों को क्षय करके समय मात्र में लोकाग्रनिवासी होने वाले जीवों के मरण को पंडित मरण कहते हैं। अथवा पूर्व जन्म में बंधी हुई आयुकर्म की स्थिति विनाश को मरण कहते हैं। स्नेह, वैर, मोह आदि सब परिग्रह त्याग कर, वन्धु जन से क्षमा याचना करके, निःशल्य भाव से परस्पर क्षमा करते हुए, प्रिय वचन से समाधान पूर्वक, बन्धु जनों की सम्मति से, अपने गृह से बाहर निकलकर, मुनिजन के निवास में जाकर, अपने समस्त दोषों को आलोचन करके, शुद्धान्तरंग हो आमरण महाव्रत धारण करके, गुरु की अनुमति से चारों आराधना पूर्वक सस्तरण पर बैठकर पेय पदार्थ को छोड़ बाकी तीनों प्रकार के, आहारों को त्याग करके प्रत्याख्यान पूर्वक स्निग्धपान खरपान दोनों में से किसी एक का परिणामों की शान्ति निमित्त पान करे फिर आत्म शक्ति के विकास होने पर इस का भी त्याग कर देते हैं। इस प्रकार निरवधि प्रत्याख्यान रूप उपवास धारण करते हुए पंच परमेष्ठी को स्वात्म स्वरूप में स्थापित कर, मन को अपने अधीन कर सब प्रयत्न से, शीत, उष्ण, दशमंशम आदि परिषह को सहन करके दृढ पर्य्यंकासन से बैठकर, मुनि जनों के द्वारा पठित णमोकार मंत्र आदि को सुनते हैं। मंत्र इस तरह है

पण तीस सोल छप्पण, चदुदुग मेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णंच गुरूवएसेन ॥४॥

अरिहंता अशरीरा, आइरिया तह उवज्झाया मुणिणो ।
पढमक्खरनिप्पण्णो, ओंकारो पंच परमेट्ठी ।।५।।
अरहंत सिद्ध आइरिया, ऊवज्झायसाधु पंच परमेट्ठी ।
ते विहु चेत्तइ अदे तम्मा आराहुमे शरणं ।।६।।

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सब्ब साहूणं, इस पंच नमस्कार मंत्रके सर्वाक्षर ३५, अरिहंत, सिद्ध, आइरिया, उव ज्झाया, साहू इन सोलह अक्षरों को, "अरहंत सिद्ध" ऐसे छै अक्षरों को "अ सि, आ उ सा" इन पांच अक्षरों को "अ सि सा हू" इन चार अक्षरों को "आ सा" इन दो अक्षरों को, "अ" अर्हम् "ॐ" इस एकाक्षर को जिह्वा भ्र पर लाकर इस तरह धीरे धीरे भाते हुए, इसकी भावना की शक्ति भी कम हो जाने पर, बाह्य वस्तुओं से उपयोग हटाकर अपने निर्मल स्परूप को प्राप्त हो, शरीर भार को त्याग करना पंडित मरण है ।

पंचातिचाराः ३७।

अर्थ—जीविताशा, मरणाशंसा, भय, मित्रस्मृति और निदान ये पांच सल्लेखना के अतिचार हैं ।

(१) हम नित्य यह भावना करते रहें कि हमें समाधि मरण हो, यदि यह मरण अभी प्राप्त हो तो अति अच्छा है । अथवा अभी थोड़े दिन जीवित रहने की इच्छा करना और विचारना कि यदि इसी समय मृत्यु हो जाय तो में क्या करूंगा, यह विचार "जीविताशा" है । २-परीषह होने पर, परीषह सहन में असमर्थ होते हुए विचारना कि इससे तो मृत्यु हो जाए तो अति अच्छा है इस प्रकार सोच विचार करना मरणाशंसा है ।

३-इह लोक भय, परलोक भय, अत्राण भय, अगुप्ति भय, मरणभय, व्याधि भय, आगन्तुक भय, इस प्रकार सातों भयों से भयभीत होना सल्लेखना में भयातिचार है । ४—पुत्र, कलत्र, मित्र आदि बन्धुजनों का स्मरण करना, सो मित्र स्मृति है ।

५—इस प्रकार समाधि मरण करके, परलोक और इह लोक में धन, वैभव, ऐश्वर्य, आदि प्राप्त होने की भावना करना निदान नामक अतिचार है ।

इस प्रकार समाधि मरण के फल से, सौधर्म आदि कल्पों (स्वर्ग) में इन्द्र आदि पद के सुख सुधा रस को अनुभव करते हुए, मनुष्य भव में तीर्थंकर चक्रवर्त्यादि पद का अनुभव करके, जिन दीक्षा धारण कर समस्त घाति अघाति कर्म

विनाश करके नित्य, निरामय, निर्मल निर्विकार निजात्मस्वरूप में लीन रहूं, इस प्रकार की भावनाओं से संसार समुद्र से पार हो जाता है।

इस प्रकार श्रावकाचार का निरूपण हुआ आगे द्वादशानुप्रेक्षा का विवेचन करेंगे।

सारतरनात्मनतिनिस्सारतरं देहमेंब्ब निश्चलमतियिं ।
नारैवडेब सज्जगोळ बने धीरं तत्तनुवनुळिवपवडोकु पेररं ॥१६४॥

अर्थ—संसार में एक आत्मा ही सारभूत है और शरीर निस्सार है। ऐसी निश्चल बुद्धि-पूर्वक भावना से शरीर को त्यागने वाला व्यक्ति धीर पुरुष है ॥१६४॥

दूरिसदेनेनेडु कूळु । नीरमन ज्ञानविदमिरुळु पगलु ॥
सरतर परम सौख्यसु-। धारस भरितात्मतत्वम नेनेमनदोळ् ॥१६५॥

अर्थ—हे जीवात्मन् ! तू रात दिन अज्ञानवश अन्न-पानादिक खाद्य पेय पदार्थों का ध्यान करके अपनी आत्मा का अधःपतन न कर, किन्तु सारतर परम सौख्य सुधारस-भरित आत्म-तत्व का ध्यान कर ॥१६५॥

पट्टिर्के कुळिळ्कम । नेट्टने निद्रिर्कवोडल देसिदोडेंबरु ॥
दिट्ढनिजदल्लि निले हों- गट्टि सनें मुक्ति कन्नेगा मुनिमान्यं ॥१६६॥

अर्थ—उठते बैठते, सोते, जगते चलते तथा फिरते समय कभी भी शरीर का ध्यान न करके अपने निजात्मध्यान में मग्न रहने वाले प्रधान मुनि मोक्ष-रूपी कन्या के अधिपति होते हैं ॥१६६..

सुत्तितोळललासदेमनमं । मत्तदरोळिरलुमियदोय्य ने नंदी ॥
चित्तत्व दोळिरिसनिजा । यतं निर्बाध बोध सुखमप्पिनेगं ॥१६७॥

अर्थ—अपने मन को बाह्य विषय वासनाओं में न घुमाकर सदा अपने उपयोग में स्थिर करके निराबाध केवल ज्ञान होने पर्यन्त स्थिर रहो ॥१६७॥

भाविसु भाविसु भव्य म -। नोवचन शरीरदत्तणं मेदिसि चि-॥
द्भावमनेपिडिद निच्चं । भावनेयिदल्लदक्कुमे भवनाशं ॥१६८॥

अर्थ—हे भव्य जीव ! मन वचन काय की प्रवृत्ति बाहर की ओर से हटाकर अन्तर्मुख करो, तथा अपने चैतन्य भाव को ग्रहण करो। ऐसा किये बिना संसार की परम्परा नहीं टूटती ॥१६८॥

द्वादशानुप्रेक्षाः॥३८

अर्थ—वैराग्य जाग्रत करने के लिए चिन्तवन करने योग्य १२ भावनाएँ

है। १ अनित्य, २ अशरण, ३ संसार, ४ एकत्व, ५ अन्यत्व, ६, अशुचि, ७ आस्रव, ८ संवर, ९ निर्जरा, १० लोक, ११ बोधिदुर्लभ, १२ धर्म, ये १२ बारह भावनाओं के नाम हैं।

अद्धुवमसरणमेकत्तमण्णत्त संसारलोकमसुचितं।
आसव संवरणिज्जरधम्मं बोहिच्च चित्तेज्जो॥

घनबुद्‌बुद सदृशं बे-। वन तनुधनपुत्रमित्र वर्गं ध्रुवम-॥
ल्तनुपम चित्कायं ध्रुव। मेनगे निजात्मार्थभोंपे निजगुणनिरता॥

अर्थ—गांव, नगर, स्थान, चक्रवर्ती, इन्द्र, धरणीन्द्र-पद, शरीर, माता, पिता, पुत्र, स्त्री आदि सांसारिक पदार्थ इस जीव के लिये अनित्य हैं। शुद्ध अविनाशी आत्मा ही चिन्तवन करने योग्य है क्योंकि आत्मा ही नित्य है। यह **अनित्य** भावना है।

नरकादि चतुर्गतिसं-। सरण जनित दुःख सेवना समयदोळा-।
शरणं निनगे जिन धर्मं। शरणल्लदोडेंदु नेने निज गुण रत्ना॥२॥

हे जीवात्मन्! मनुष्य, देव, नरक, तिर्यञ्च इन चार गतिमय संसार में जन्म लेने वाले जीव को सदा दुख भोगते समय या मरते समय जल, पर्वत, दुर्ग (किला), देव, मंत्र, औषधि, हाथी, घोड़ा, रथ, सेना तथा धन, सुवर्ण, मकान, स्त्री, पुत्र, भाई आदि कोई भी शरण (रक्षक—बचानेवाला) नहीं है। केवल पंच परमेष्ठी द्वारा प्रतिपादित जैन धर्म तथा चैतन्य चमत्कार रूप अपना आत्मा ही शरण है। यह **अशरण** भावना है।

जनन मरणादि गतिसं-। जनित सुखासुखमनात्मरुचिवत्सेवा॥
जनित सुखममृत सुखमु-। मननुभविकुं जीवनोदे निज गुणरत्ना॥३॥

अर्थ—जन्मते, बढ़ते, मरते समय, शुभ अशुभ कर्म करते समय तथा उन कर्मों का फल भोगते समय, सुख दुख का अनुभव करने के समय केवल सिद्ध भगवान ही सुख शान्ति प्रदान करते हैं, अन्य माता, पिता, पुत्र, स्त्री आदि बन्धुवर्ग कोई भी जीव का सुख शान्ति नहीं देते, वे तो केवल भोजन करते समय एकत्र हो जाते हैं। यानी—वे केवल स्वार्थ के साथी हैं। ऐसा विचार करना **एकत्व** भावना है।

चिदगुणमल गुणनात्म द्रव्य-। दिंद भिन्नं समस्तगुण पर्यायं॥
सदसद्‌भूत व्यवहार-। दिंद मन्यमेनं पडगु निजगुण निरता॥४॥

अर्थ—ज्ञान दर्शन सुख वीर्य ही आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं, अतः

वे ही आत्मा के साथ सदा रहते हैं। इनके सिवाय अन्य कोई भी पदार्थ आत्मा के साथ नहीं रहता इस प्रकार विचार करना अन्यत्व भावना है।

जिन वचनंपुसियल्लें- । दुनंबिदंविडदे पंच संसार विदू- ॥
र ननात्म ननादरदिं । नेनेदोडे संसार मुंटे निजंगुण निरता ॥५॥

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव, इन पंच परावर्तन रूप संसार वन में, अनादिकालीन वासना से वासित मिथ्यात्व एवं अविरत-रूपी, गहन अन्धकार में रहने वाले, जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रतिपादित मार्ग को न देखते हुए, इधर उधर भटकते हुए अज्ञानी जीव-रूपी हिरणों को ज्ञानावरण आदि आठ कर्म रूपी व्याध (शिकारी) क्रुद्ध होकर घेरते हुए अपने दुर्मोह रूपी वाण से बीधते हैं। वह वाण भीतर घुसते ही उन संसारी जीव रूपी हिरणों को मूर्छित करके नीचे गिरा देता है। तब वह जीव आर्त रौद्र परिणामों से मर कर नरक आदि दुर्गति में जाते हैं। इस प्रकार विचार करके संसार से विरक्त होकर व्रतादि आचरण करने वाले जीवों को स्वपर-भेद-विज्ञान तथा निश्चल सहानुभूति रूप रत्नत्रयात्मक मोक्ष रूपी दुर्ग (किला) प्राप्त होता है। ऐसा चिन्तवन करना संसार भावना है॥

स्वीकृतरत्नतृतयं- । गाकाशाद्यखिळ वस्तु विरहित निजचि- ॥
ल्लोक मनालोकिसु वदे लोकानुप्रेक्षेयन्ते निजगुण निरना ॥६॥

अर्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये ६ द्रव्य जहां पाये जाते हैं वह लोक है, वह अकृत्रिम है तथा आदि अन्त (काल की अपेक्षा) रहित है। उस लोक के तीन भेद हैं, ऊर्ध्व, मध्य, अधः (पाताल)। नीचे से ऊपर की ओर सात, एक, पांच, एक राजू है, उत्तर दक्षिण में सब जगह ७ राजू मोटा है। १४ राजू ऊंचा है। घनोदधि, घन तथा तनुवातवलयों से बढ़ा हुआ, सब ओर से अनन्तानन्त लोकाकाश के मध्य में स्थित है। उसके अग्र भाग में सिद्ध क्षेत्र है। वह सिद्ध-क्षेत्र सर्व कर्म क्षय किये बिना किसी को प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार समझ करके उस सिद्ध क्षेत्र में पहुंचने के लिये उद्यम करना चाहिये। ऐसा विचार करना लोक भावना है।

शुचियेनिसिद वस्तुगळम- । शुचियेनिकुंमोदं लोडनेकायमनदरिं ॥
शुचियेनिसवु संहननं- । शुचि निजचित्तत्वमोंदे निजगुणमिरता ।.७॥

अर्थ—रज वीर्य से उत्पन्न, सप्त धातुमय इस शरीर के ९ द्वारों से दुर्गन्धित घृणित मैल बहता रहता है, इसमें अनेक प्रकार की व्याधियां भरी

हुई हैं, यह अनित्य है, एवं जीव के लिये कारावास (जेल) के समान है, गलन पूरण (गलने पूरे होने) स्वरूप है। इस तरह समस्त दुर्गुणों से पूर्ण इस शरीर रूपी घर में रहते हुए जीव को इसके साथ नष्ट न होना चाहिये। यह शरीर घुने हुए गन्ने के समान यद्यपि नीरस है फिर भी चतुर किसान जिस तरह उस घुने हुए गन्ने को खेत में बोकर बहुत से मीठे गन्ने पैदा कर लेता है, उसी तरह इस असार शरीर को अविनाशी (मोक्ष) फल पाने के उद्देश से तपस्या द्वारा कृश कर लेना चाहिये। ऐसा विचार करना अशुचि भावना है।

भववारिधि पोत्तमना- । स्रवरहितमनात्मतत्वभंभाविसुवं ।।
भवजलधियंदाटने- । सममं सप्तयुतयोगि निजगुणनिरता ।।८।।

अर्थ—जिस प्रकार गर्म लोहे का गोला यदि जल में रख दिया जाय तो वह अपने चारों ओर के जल को खींच कर सोख लेता है। इसी प्रकार क्रोध मान हास्य शोक आदि दुर्भावों से संतप्त संसारी जीव सर्वांग से अपने निकटवर्ती कार्माण वर्गणाओं को आकर्षित करके अपने प्रदेशों में मिला लेता है। विभावपरिणति के कारण जीव को यह कर्म आस्रव हुआ करता है। ऐसा विचार करना आस्रव भावना है।

परमात्म तत्वसेवा-। निरतं व्रतसमिति गुप्तरूप सकल सं- ।।
वरे युक्तं मुक्तिवधू- । वरनागपिरं विवेक निजगुणनिरता ।।९।।

अर्थ—जीव मे कर्मों के आगमन रूप मिथ्यात्व द्वार को सम्यक्त्व रूपी वज्र कपाट से बन्द कर देना चाहिये तथा हिंसादि पंच पाप रूपी कर्म आगमन द्वार को पंच अणुव्रत, महाव्रत, समिति के वज्र-कपाट द्वारा बन्द कर देना चाहिये। इस प्रकार चिन्तवन करना संवर भावना है।।९।।

परम तपश्चरणात्मक । निरंजन ध्यानदल्लि संवरेयिं ।।
निर्जरेयुदोरेकोंडोडमु- । क्तिरमापतियप्पुदरिदेनिजगुणनिरता ।।१०।।

अर्थ—विभाव परिणति द्वारा आत्म-प्रदेशों में दूध, जलके समान मिले हुए कर्म रूपी कीचड को व्रत चारित्र से युक्त भेद-विज्ञान रूपी जल से धो डालने का चिन्तवन करना निर्जरा भावना है।।१०।।

अमृत सुख निमित्तं दश- । धर्मसुमनमलगुणरत्नत्रय ।।
धर्ममुमंनेनेवने । निर्मलविवेकिनिजगुण निरता ।।११।।

अर्थ—रत्नत्रय से युक्त ११ प्रकार के गृहस्थ धर्म तथा १० प्रकार के

मुनि धर्म को जीव निरति चार वृत्ति से पालन न करे तो मोक्ष सुख प्राप्त होना असम्भव है। ऐसा समझ कर सदा धर्मानुरागी बने रहना धर्म भावना है ॥११॥

कुलकोटियोनिमुख सं- । कुलबोळु जात्यादि बोधि दुर्लभमदरि-॥
बलसबनेनेदुर्लभ बो- । धिलाभमं पडेदु बिडदे निजगुणनिरता ॥
आयदनिजशुद्धरत्न- । अयत्नमेलाभमेनलबोधि भाविसुगति ॥
शयमाबोधियनेय्दि सुबल्लि नि- । श्चयदसमाधियल्तेनिजगुणनिरता
॥१२॥

अर्थ—पृथ्वी जल, वनस्पति आदि अनन्त एकेन्द्रिय स्थावर जीवों से यह लोक भरा हुआ है, उन स्थावर जीवों में से निकल कर दोइन्द्रिय आदि होना कठिन है, दो इन्द्रियों से विकलेन्द्रिय होना महादुर्लभ है। विकलेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीव का शरीर पाना और भी अधिक कठिन है, पंचेन्द्रिय जीवों में पशु जीवों की संख्या प्रचुर है, अतः पशुओं से मनुष्य-भव पाना महाकठिन है। मनुष्य भी यदि हित अहित विवेक-रहित नीच म्लेच्छ कुल में जन्म लेते हैं। आर्यखण्ड के सत्कुल में उत्पन्न होना कठिन है। अच्छे कुल में उत्पन्न होकर अल्पायु, असुन्दर, इन्द्रिय-विकलता, पंचेन्द्रियों में लीनता का होना, कुसंग, और दरिद्रता सरल है, दीर्घायु, सुन्दर, पूर्णेन्द्रियां, धर्म में रुचि, सम्पत्ति, सत्संगति मिलना और भी कठिन है। सौभाग्य से यह सब सुयोग मिल भी जावें तो जैनधर्म का सुयोग मिलना महाकठिन है। कदाचित् सत्धर्म का योग भी मिल जावे तो रत्नत्रय की शुद्धता, तत्वश्रद्धा, तप करने का भाव, धर्म भावना, संसार शरीर भोगों से विरक्ति तथा समाधिमरण की एवं अंत में बोधि का प्राप्त होना महान दुर्लभ है। इस प्रकार चिन्तवन करना **बोधिदुर्लभ** भावना है ॥१२॥

इस प्रकार गृहस्थ धर्म का संक्षेप वर्णन हुआ।

यति धर्म

यतिधर्मो दशविधः ॥३६॥

अर्थ—मुनियों का धर्म १० प्रकार का है। [१] उत्तम क्षमा, [२] उत्तम मार्दव, [३] उत्तम आर्जव, [४] उत्तम शौच, [५] उत्तम सत्य, [६] उत्तम संयम, [७] उत्तम तप, [८] उत्तम त्याग, [९] उत्तम आकिञ्चन्य, तथा [१०] उत्तम ब्रह्मचर्य ये उन धर्मों के नाम हैं।

यदि कोई मनुष्य गाली दे, मुक्का लात डंडे आदि से मारे, तलवार, छुरा आदि से मारे अथवा प्राणरहित कर दे तो अपने मन में क्रोध भाव न लाकर, यों विचार करना कि मैं भेदात्मक तथा अभेदात्मक रत्नत्रय का धारक हूँ मुझे किसी ने गाली नहीं दी, न मुझे मारा, न शस्त्र से घायल किया और न मुझे कोई अपने चैतन्य प्राणों से पृथक् कर सकता है, ऐसी भावना का नाम **उत्तम क्षमा** है।

ज्ञान, तप, रूप आदि आठ प्रकार का अभिमान न करना, अपने अपमान होने पर भी खेद-खिन्न न होना तथा सन्मान होने पर प्रसन्न न होना **मार्दव धर्म** है।

मन वचन शरीर की क्रियाओं (विचार, वाणी और काम) में कुटिलता न आने देना **आर्जव धर्म** है।

किसी भी पदार्थ पर लोभ न करके अपना मन पवित्र रखना **शौच धर्म** है।

राग द्वेष मोह आदि के कारण झूठ न बोलना **सत्य धर्म** है। सत्य १० प्रकार है–१ जनपदसत्य-भिन्न भिन्न देशों में बोले जानेवाले शब्दोंका रूढि अर्थ मानना। जैसे पकाये हुए चावलों को '**भक्त**' कहना। २ सम्मतिसत्य-अनेक मनुष्यों की सम्मति से मानी गई बात सम्मति सत्य है, जैसे किसी गृहस्थ को महात्मा कहना। ३ स्थापना सत्य– अन्य पदार्थ में अन्य को मान लेना जैसे पाषाण प्रतिमा को भगवान मानना। ४ बिना किसी अपेक्षा के व्यवहार के लिए कोई भी नाम रखना **नाम सत्य** है जैसे इन्द्रसेन आदि। ५ **रूप सत्य**–किसी के शरीर के चमड़े का काला गोरा आदि रंग देखकर उसे गोरा या काला आदि कहना। ६ अन्य पदार्थ की अपेक्षा से अन्य पदार्थ को लम्बा, बड़ा छोटा आदि कहना **प्रतीत्य सत्य** है। ७ किसी नय की प्रधानता से किसी बात को मानना **व्यवहार सत्य** है जैसे आग जलाते समय कहना कि मैं रोटी बनाताहूं। ८ संभावना (हो सकने) रूप वचन कहना **संभावना सत्य** है। जसे इन्द्र जम्बू द्वीप को उलट सकता है। ९ आगमानुसार अतीन्द्रिय बातों को सत्य मानना **भाव सत्य** है। जैसे उबाले हुए जल को प्रासुक मानना। १० **उपमा सत्य** किसी की उपमा से किसी बात को सत्य मानना। जैसे गढ़े में रोम भरने आदि की उपमा से पल्य सागर आदि का काल प्रमाण। यह १० प्रकार का सत्य है।

मन वचन काय की शुद्धि द्वारा किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार

का कष्ट नहीं देना संयम धर्म है। संयम धर्म को निर्मल रखने के लिए भाव-शुद्धि, शरीर शुद्धि, विनय शुद्धि, ईर्यापथ शुद्धि, प्रतिष्ठापन शुद्धि, शयन सन शुद्धि वाक् शुद्धि तथा भिक्षा शुद्धि ये आठ प्रकार की शुद्धियां हैं।

अनशनादिक बहिरङ्ग तथा प्रायश्चित्त आदि अन्तरङ्ग तपों का आचरण करना तप धर्म है।

कः पूरयति दुःपूरमाशागर्तं चिरादहो।
चित्रं यत्क्षणमात्रेण त्यागेनैकेन पूर्यते ॥२२॥

अर्थ—कठिनाई से पूर्ण होने वाले इस आशा-रूपी गढ़े को संसार में कौन पूर्ण कर सकता है? अर्थात् कोई भी नहीं। किंतु यह बड़े आश्चर्य की बात है कि एक त्याग धर्म के द्वारा ही वह आशा का खड्डा क्षण-मात्र में पूर्ण हो जाता है।

जिस तरह हजारों नदियों के जल से समुद्र की तृप्ति नहीं होती, असंख्य वृक्षों की लकड़ी से जिस तरह अग्नि तृप्त नहीं होती, इसी प्रकार संसार के समस्त पदार्थों से भी मनुष्य की तृष्णा शान्त नहीं होती। ऐसा विचार करके परमाणु मात्र भी पर-पदार्थ अपने पास न रखकर उनका त्याग कर देना त्याग धर्म है।

अन्य पदार्थों की बात तो दूर है, अपना शरीर तथा शरीर से उत्पन्न हुआ पुत्र पौत्र आदि परिवार भी आत्मा का अपना नहीं है, ऐसा विचार करके किसी भी पदार्थ में ममत्व भाव न रखना आकिञ्चन्य धर्म है।

छक्करण चउविहिंदिकदकारिद अणुमोदय चेव
जोगे छग्घणमेत्तो बम्भाभंगाहु अक्खसंचारे ॥८॥

अर्थ—स्त्री, देवी, मादा पशु (तिर्यंचिनी) तथा अचेतन स्त्री (मूर्ति चित्र आदि) ४ प्रकार की स्त्रियों से स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र, कर्ण तथा मन इन ६ इन्द्रियों द्वारा, कृत, कारित, अनुमोदना तथा मन वचन काय योगों द्वारा (यानी ६ इन्द्रिय × ३ योग × ३ कृत कारित अनुमोदना = ५४ भंगों द्वारा × ४ प्रकार की स्त्रियां = २१६) विषयवासना का त्याग करके अपने आत्मा में रत रहना ब्रह्मचर्य धर्म है।

अष्टाविंशतिर्मूलगुणाः ॥४०॥

अर्थ—मुनियों के २८ मूलगुण होते हैं। ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रिय विजय, ६ आवश्यक, सात शेष गुण—१ स्नान का त्याग, २ दन्त धावन का

त्याग, ३ वस्त्र त्याग, ४ पृथ्वी पर सोना, ५ दिन में एक बार भोजन, ६ खड़े होकर भोजन करना और ७ केश लोंच; ये उन मूलगुणों के नाम हैं। मुनि चारित्र के मूल कारण ये २८ प्रकार के व्रत होते हैं।

५ महाव्रत

स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र, कर्ण, मन बल, वचन बल, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये संसारी जीव के १० प्राण हैं इनको मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदन, संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, चारों कषायों के १०८ भंगों (३ योग × ३ कृतकारित अनुमोदन × ३ संरम्भ समारम्भ आरम्भ × ४ क्रोध मान माया लोभ = १०८) से घात न करना **अहिंसा महाव्रत** है।

किसी काम को स्वयं करना कृत है, अन्य किसी के द्वारा कराना कारित है, किसी के किये हुए कार्य की सराहना (प्रशंसा) करना **अनुमोदना** है। किसी कार्यको करने का विचार करना **संरम्भ** है, कार्य करने की साधन-सामग्री जुटाना **समारम्भ** है तथा कार्य करनेका प्रारंभ करना **आरम्भ** है। इनके भंग निम्न प्रकार से बनने हैं—

[१] मन कृत संरम्भ, [२] मन कृत समारम्भ, [३] मन कृत आरम्भ, [४] मन कारित संरम्भ, [५] मन कारित समारम्भ, [६[मनकारित आरम्भ, [७] मन अनुमोदन संरम्भ, [८] मन अनुमोदन समारम्भ, [९] मन अनुमोदन आरम्भ। ये ९ भंग एक **मन योग** के हैं। इसी प्रकार ९ भंग वचन के हैं, ९ भंग काय के हैं। इस तरह तीनों योगों के २७ भंग होते हैं। ये २७ भंग क्रोध, मान, माया लोभ प्रत्येक कषाय के कारण हुआ करते हैं, अतः चारों कषायों के आश्रय से समस्त भंग १०८ होते हैं। ये १०८ भंग अनन्तानुबन्धी कषाय के है, इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषाय के भी १०८-१०८ भंग होते हैं, अतः चारों प्रकार की कषायों के आश्रय समस्त ४३२ भंग होते हैं।

इस प्रकार हिंसा के भेद प्रभेदों को समझकर समस्त हिंसा का त्याग करना **अहिंसा महाव्रत** है।

राग द्वेष के कारण होने वाले असत्य भाषण का त्याग करना **सत्य महाव्रत** है।

जल मिट्टी आदि पदार्थ भी बिना दिये ग्रहण न करना **अचौर्य महाव्रत** है।

संसार की समस्त स्त्रियों, देवियों आदि से २१६ प्रकार के अतिचार सहित विषयवासना का त्याग करना ब्रह्मचर्य महाव्रत है। २१६ अतिचार पीछे ब्रह्मचर्य धर्म के स्वरूप में बतला चुके हैं।

दश प्रकार का बहिरंग और १४ प्रकार अन्तरङ्ग परिग्रह त्याग कर अणुमात्र भी पर-पदार्थ ग्रहण न करना अपरिग्रह महाव्रत है।

जिस मार्ग पर मनुष्य, हाथी, घोड़े, गाय, बैल आदि पशु चलते रहते हों ऐसे मार्ग पर चार हाथ आगे की भूमि देखकर चलना ईर्या समिति है।

काम कथा, युद्ध कथा, कठोर वाणी आदि का त्याग करके हितकारक, परिमित, प्रिय तथा आगम-अनुकूल वचन बोलना भाषा समिति है।

मन कृत, मन कारित, मन अनुमोदित, वचन कृत, वचन कारित, वचन अनुमोदित, काय कृत, काय कारित, काय अनुमोदित, इन नौ कोटियों से शुद्ध भिक्षाचर्या से शुद्ध कुलीन श्रावक के घर, दाता को रंच मात्र भी दुख न देते हुए, राग द्वेष रहित होकर शुद्ध भोजन करना एषणा समिति है।

ज्ञान के उपकरण (शास्त्र) संयम के उपकरण (पीछी), शौच के उपकरण जल रखने के कमण्डलु को अच्छी तरह भूमि देखकर (प्रतिलेखन करके) रखना और देख भाल कर उनको उठाना आदान निक्षेपण समिति है।

जीव-जन्तु-रहित एकान्त स्थान में नगर के बाहर दूर प्रदेश में जहां दूसरों को बाधा न हो, वहां पर मलमूत्र करना प्रतिष्ठापन समिति है।

स्पर्शनेन्द्रिय सम्बन्धी इष्ट अनिष्ट विषयों में राग द्वेष का त्याग करना ११ वां मूल गुण है।

रसनेन्द्रिय के इष्ट अनिष्ट विषयों में राग द्वेष को त्याग कर देना १२ वां मूल गुण है।

घ्राणेन्द्रिय के इष्ट अनिष्ट विषयों में रागद्वेष को त्याग देना १३ वां मूल गुण है।

चक्षु इन्द्रिय के इष्ट अनिष्ट विषय में राग द्वेष को त्याग देना १४ वां मूल गुण है।

श्रोत्रेन्द्रिय विषय-सम्बन्धी इष्ट अनिष्ट विषयों में राग द्वेष का त्याग कर देना १५ वां मूल गुण है।

सर्व प्राणियों में समताभाव रखकर आत्मचिन्तन करना समता या सामायिक नाम का १६ वां मूल गुण है।

वस्तुस्तवन, रूपस्तवन, गुणस्तवनादिक से अरहंत परमेश्वर की स्तुति करना, यह स्तवन नामका १७ वां मूल गुण है। 17

देवता स्तुति करने मे अपनी शक्ति का न छिपाते हुए खडे होकर या बैठकर त्रिकरण-शुद्धिपूर्वक दोनों हाथ जोड़कर जो क्रिया करते हैं उस तरह करना स्तवन है। उस क्रिया का नाम लेकर कायोत्सर्ग पूर्वक सामायिक दंडक का उच्चारण करे, तीन बार आवर्त और एक शिरोनति करके दंडक के अन्त में कायोत्सर्ग कर पंच गुरुचरण कमल का स्मरण करके द्वितीय दंडक के आदि और अंत में भी इसी प्रकार करे। इस तरह बारह आवर्त और चार शिरोनति होते हैं। इसी तरह चैत्यालय प्रदक्षिणा में भी तीन-तीन आवर्त एक एक शिरोनति होकर चारों दिशा-सम्बन्धी बारह आवर्त चार शिरोमति होते हैं। जिन प्रतिमा के सामने इस प्रकार करने से दोष नही है।

दुवोणं दंज हाजादं बारसा वदमेवयं।
चदुस्सिर तिसुद्धि च किरिय कंमपउज्जये ॥

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ये क्रम से पुण्य तथा पापास्रव के कारण हैं। तो भी सम्यग्दृष्टि के लिये चैत्य चैत्यालय, गुरू के निषिधिकादि संस्थान क्रियाकांड करने योग्य है, ऐसा कहा गया है।

शंका—नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भव भाव ये पुण्यास्रव तथा पापास्रव के कारण हैं। जिन मंदिर, गुरु निषिधिका आदि बनवाने में, जिनेन्द्र-बिम्ब-निर्माण तथा पूजन आदि करने में आरम्भ करना पड़ता है, इस कारण ये क्रियाएं करने योग्य नहीं हैं।

समाधान—जिस कार्य मे थोडे से सावद्य (दोष) के साथ महान पुण्य लाभ हो वह कार्य करना उचित है। जैसे क्षीर सागर मे दो चार बूंद विष कुछ हानि नहीं करता, उसका अवगुण स्वयं नष्ट हो जाता है इसी प्रकार मंदिर प्रतिमा बनवाने, पूजन आदि करने में जो थोड़ा सा आरम्भ होता है वह मंदिर में असंख्य जीवों द्वारा धर्म साधन करने से वीतराग प्रतिमा के दर्शन पूजन से असंख्य स्त्री पुरुषों द्वारा भावशुद्धि, विशाल पुण्य उपार्जन करने में स्वयं विलीन हो जाता है, पुण्य रूप हो जाता है, अतः दोष नहीं है, थोड़ी सी हानि की अपेक्षा महान लाभ है। जिस तरह कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न, गरुड़, मुद्रा आदि अचेतन जड़ पदार्थ मनुष्यों को महान सुख सम्पत्ति प्रदान करते हैं, तथैव जिन-मंदिर, जिनप्रतिमा भी अचेतन होकर दर्शन भक्ति आदि करनेवाले को वीत-रागता, भाव शुद्धि, शान्ति आदि आत्मनिधि (निमित्त रूप से) प्रदान करते हैं,

J.U. Joshi

अतः जिन मंदिर बनवाना, प्रतिमा बसवाना, पूजन आदि क्रियायें हानिकारक न होकर लाभदायक हैं, एक बार का बनवाया हुआ मंदिर तथा प्रतिमा दीर्घकाल तक अगणित स्त्री पुरुषों को आध्यात्मिक शुद्धि, पुण्य कर्म संचय करने में सहायक हुआ करते हैं। अतः जिन मंदिर, जिन चैत्य, गुरु निषिधिका, शास्त्र निर्माण, पूजन, प्रक्षाल तीर्थ यात्रा आदि बहुत लाभदायक हैं।

इस कारण स्वाधीनता तथा प्रसन्नता के साथ दर्शन, पूजन आदि क्रिया करनी चाहिए, पराधीनता से दर्शन पूजन आदि धर्म-क्रिया नहीं करनी चाहिये तथा पूजन प्रक्षाल भी स्वयं करना चाहिए, अन्य मनुष्य के द्वारा न कराना चाहिए। एवं स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहन करके मंदिर में आना चाहिये। जल से अपने पैर धोकर मंदिर में निःसहि निःसहि निःसहि कहते हुये प्रवेश करना चाहिए।

तत्पश्चात् तीन प्रदक्षिणा देकर भगवान के सामने खड़े होकर ईर्या-पथस्तुति बोलना चाहिए। उसके बाद कायोत्सर्ग करके आलोचना करे। तदनन्तर 'चैत्य-भक्ति-कायोत्सर्गं करोमि' ऐसी प्रतिज्ञा करके चैत्य भक्ति पढ़नी चाहिए।

241 Songs

चैत्य भक्ति इस प्रकार है:

मानस्तंभाः सरांसि प्रमिलजललसत्खातिका पुष्पवाटी।
प्राकारो नाट्यशाला द्वितयमुपवनं वेदिकांतर्ध्वजाद्याः॥
शालः कल्पद्रुमाणां सुपरिवृतवनं स्तूपहर्म्यावली च।
प्राकारः स्फाटिकोंतर्नृसुरमुनिसभाः पीठिकाग्रे स्वयंभूः॥
वर्षेषु वर्षान्तरपर्वतेषु नंदीश्वरे यानि च मंदरेषु।
यावंति चैत्यायतनानि लोके सर्वाणि वंदे जिनपुंगवानाम्॥
अवनितलगतानां कृत्रिमाकृत्रिमाणां,
वनभवनगतानां दिव्यवैमानिकानां॥
इह मनुजकृतानां देवराजार्चितानां,
जिनवरनिलयानां भावतोहं स्मरामि॥
जंबूधातकिपुष्करार्द्धवसुधाक्षेत्रत्रये ये भवाः,
चंद्रांभोजशिखंडिकंठकनकप्रावृड्घनाभा जिनाः
सम्यग्ज्ञानचरित्रलक्षणधरा दग्धाष्टकर्मेन्धनाः,
भूतानागतवर्तमानसमये तेभ्यो जिनेभ्यो नमः॥

श्रीमन्मेरौ कुलाद्रौ रजतगिरिवरे शाल्मलौ जंबुवृक्षे ।
वक्षारे चैत्यवृक्षे रतिकररुचके कुंडले मानुषांके ।
इष्वाकारेऽञ्जनाद्रौ दधिमुखशिखरे व्यंतरे स्वर्गलोके ।
ज्योतिर्लोकेभिवंदे भुवनमहितले यानि चैत्यालयानि ॥
देवासुरेन्द्रनरनागसमर्चितेभ्यः, पापप्रणाशकरभव्यमनोहरेभ्यः ।
घंटाध्वजादिपरिवारविभूषितेभ्यः नित्यं नमो जगतिसर्वजिनालयेभ्यः ॥

इच्छामि भंते चेइभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, अहलोयतिरियलोयउड्ढ लोयम्मि किट्टिमाकिट्टिमाणि जाणि जिनचेइयाणि ताणि सव्वाणि तिसुवि लोयेसु भवणवाणविंतरजोइसियकप्पवासियत्ति चउविहा देवा सपरिवारा दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण, णिच्चकालं अच्चंति पुज्जंति वंदंति, णमंसंति, अहमवि इह संतो तत्थ संताइ, णिच्चकालं अच्चेमि पूजेमि वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं ।

इस तरह लघु चैत्यभक्ति पढ़ने के बाद खड़े होकर नौ बार णमोकार मन्त्र पढ़कर कायोत्सर्ग करे । तत्पश्चात् बहुत आनन्द प्रसन्नता से भगवान के मुख का दर्शन करना चाहिए । जिस तरह चन्द्रमाके उदय होने पर चन्द्रकान्त मणि से जल निकलने लगता है, इसी प्रकार भगवान का मुखचन्द्र देखते ही नेत्रों से आनन्द जल निकलना चाहिए । उस आनन्दाश्रु जल से भीगे हुए नेत्रों से अनादि भवों में दुर्लभ अर्हन्त परमेश्वर की महिमामयी प्रतिमा का हाथ जोड़कर मस्तक झुकाते हुए पुलकित मुख से अवलोकन करना चाहिए, अष्टांग अथवा पंचांग नमस्कार करना चाहिए । आदि अन्त में दण्डक करके चैत्य-स्तवन (प्रतिमा की स्तुति) करते हुए तीन प्रदक्षिणा देनी चाहिए । फिर बैठकर आलोचना करे ।

तदन्तर 'पंचगुरुभक्तिकायोसर्ग करोमि' रूप प्रार्थना करके खड़े होकर पंच परमेष्ठी की स्तुति करनी चाहिए । स्तुति इस तरह है—

श्रीमदमरेंद्रमुकुटप्रघटितमणिकिरणवारिधाराभिः ।
प्रक्षालितपदयुगलान्प्रणमामि जिनेश्वरान्भक्त्या ॥१॥
अष्टगुणैः समुपेतान्प्रणष्टदुष्टाष्टकर्मरिपुसमितीन् ।
सिद्धान्सततमनन्तान्तान्नमस्करोमीष्टतुष्टिसंसिद्ध्यै ॥२॥

साचारश्रुतजलधीन्प्रतीर्य शुद्धोरुचरणनिरतानाम् ।
आचार्याणां पदयुगकमलानि दधे शिरसि मेहम् ॥३॥
मिथ्यावादिमदोग्रध्वांतप्रध्वंसिवचनसंदर्भान् ।
उपदेशकान् प्रपद्ये मम दुरितारिप्रणाशाय ॥४॥
सम्यग्दर्शनदीपप्रकाशकामेयबोधसंभूताः ।
भूरिचरित्रपताकास्ते साधुगणास्तु मां पान्तु ॥५॥
जिनसिद्धसूरिदेशकसाधुवरानमलगुणगणोपेतान् ।
पंचनमस्कारपदैस्त्रिसंध्यमभिनौमि मोक्षलाभाय ॥६॥
एष पंचनमस्कारः सर्वपापप्रणाशनः ।
मंगलानां च सर्वेषां प्रथमं मंगलं भवेत् ॥ ७॥
अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायाः सर्वसाधवः ।
कुर्वन्तु मंगलाःसर्वे निर्वाणपरमश्रियम्॥८॥
सर्वान् जिनेंद्रचंद्रान् सिद्धानाचार्यपाठकान् साधून् ।
रत्नत्रयं च वंदे रत्नत्रयसिद्धये भक्त्या ॥९॥
पांतु श्रीपादपद्मानि पंचानां परमेष्ठिनाम् ।
लालितानि सुराधीशचूडामणिमरीचिभिः ॥१०॥
प्रातिहार्यैर्जिनान् सिद्धान् गुणैः सूरान् स्वमातृभिः ।
पाठकान् विनयैः साधून्योगांगैरष्टभिः स्तुवे ॥११॥

इच्छामि, भंते पंचगुरुभत्ति काउस्सग्गो तस्सालोचेउं अट्ठमहापाडिहेरसंजुत्ताणं अरहंताणं अट्ठगुणसंपण्णाणं उड्ढलोयमत्थयम्मि पइट्ठियाणं सिद्धाणं, अट्ठपवयणमउसंजुत्ताणं आयरियाणं आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं, तिरयणगुणपालणरयाणं सव्वसाहूणंनिच्च णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

इस प्रकार स्तुति करके पुनः तीस बार बैठकर आलोचना करना चाहिए। इस तरह इस स्तवन क्रिया के ६ भेद हैं—(१) आत्माधीनत्व (पराधीन होकर-अन्य की प्रेरणा से ऐसा न करते हुए, अपने उत्साह भक्ति से स्वाधीन रूप में स्तवन करना), (२) प्रदक्षिणा (जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा की परिक्रमा करना), (३) वार त्रय (तीन बार स्तुति आलोचना करना),

(४) निषण्णाक्य (तीन बार बैठकर क्रिया करना), ५ चतुःशिरोनति (चारों दिशाओं में घूमकर सिर झुकाकर नमस्कार करना), (६) द्वादश आवर्त चारों दिशाओं में तीन-तीन आवर्त—हाथ जोड़कर तीन बार घुमाना)।

देव-स्तवन के ३२ त्याज्य दोष—

भगवान की स्तुति करने में निम्न लिखित ३२ दोष हो सकते हैं उनको दूर करके निर्मल रूप से स्तुति करनी चाहिए। दोषों के नाम—

(१) विनाविश्वास के दर्शन करना, (२) कष्ट के साथ दर्शन करना, (३) एकदम भीतर घुसकर करना, (४) दूसरे को डराते हुए करना, (५) शरीर को डुलाते हुए करना, (६) मस्तक को ऊंचा उठाकर करना, (७) मन में कुछ और ही विचार करना, (८) मछली के समान चंचलता-पूर्वक दर्शन करना, (९) क्रोध से युक्त होकर करना, (१०) दोनों हाथों को प्रमाद से जमीन में टेककर दर्शन करना, (११) मुझे देखकर और लोग भी दर्शन करेंगे, इस भाव से करना, (१२) धन के अभिमान से करना, (१३) ऋद्धि गौरव के मद से करना, (१४) छिपकर अर्थात् अपने स्थान मे बैठे-बैठे दर्शन करना, (१५) संघ के प्रतिकूल होकर करना, (१६) मनमें कुछ शल्य रखकर करना, (१७) कातने के समान अर्थात् दुःख के समान दर्शन करना, (१८) किसी दूसरे के साथ बोलते हुए करना, (१९) दूसरे को कष्ट देते हुए करना, (२०) भृकुटि तानकर करना, (२१) ललाट की रेखाओं को तानकर करना, (२२) अपने अंगोपांग की आवाज करते हुए करना (२३) कोई आचार्यादि को आते हुए देखकर करना, (२४) अपने को वे देख न सकें ऐसे दर्शन करना, (२५) बेगार सी काटते हुए दर्शन करना, (२६) कोई उपकरण प्राप्त होने के बाद करना, (२७) उपकरण प्राप्त हो इस दृष्टि से करना, (२८) नियत समय से पहले ही दर्शन कर लेना, (२९) समय बीत जाने के बाद करना, (३०) मौन छोड़कर दर्शन करना, (३१) दूसरे किसी को इशारा करते हुए करना, (३२) यद्वा तद्वा गाना गाते हुए दर्शन करना। इन बत्तीस दोषों को टालकर दर्शन करना चाहिए।

श्री कुन्द-कुन्दाचार्य स्वामी का मूलाचार—

अणाढिदं च थद्धं च पविट्ठं परिपीडिदं।
दोलाइयमंकुसियं तहा कच्छवरिंगियं ॥१३०॥

अर्थ—अनादर दोष—आदर के बिना जो क्रिया—कर्म किया जाता है वह अनादृत नामक दोष है। स्तब्ध—विद्यादि गर्व से युक्त होकर जो कार्य

करता है उसको स्तब्ध दोष उत्पन्न होता है। प्रविष्ट दोष—पंचपरमेष्ठियों के प्रति निकट होकर कृतिकर्म करना प्रविष्ट दोष है। परिपीडित दोष—अपने दोनों हाथों से दो गोड़ों को स्पर्श करके क्रिया करना परिपीडित दोष है। दोलायितदोष–झूला के समान अपने को चला चलाकर क्रियाकर्म करना अथवा स्तुतियोग्य अर्हंतादि परमेष्ठियों की स्तुति और क्रिया कर्म संशय-युक्त होकर करना दोलायित दोष है। अंकुशित दोष—अंकुश के समान हाथ के अंगूठे बनाकर ललाट में रखना अंकुशित दोष है। कच्छपरिंगितदोष—बैठकरके कछवे के समान आगे चलना कच्छपरिंगित दोष है।

मच्छुव्वत्तं मणोदुट्ठं वेदिआबद्धमेव य।
भयसा चेव भयत्तं इड्ढिगारवगारवं ॥१३१॥

अर्थ— दोसवाड़ों के द्वारा वदना करना अथवा मच्छके समान कटि भाग से पलटकर वदना करना मत्सोद्वर्त नामक दोष है। मन से आचार्य के प्रति द्वेष धारण कर जो वन्दना करता है उसको मनो दुष्ट कहते है। अथवा संक्लेश मनसे वंदना करना मनो दुष्ट दोष होता है। वेदिकाकार से हाथों को आपस में बद्ध करना अथवा हाथ को पिंजड़े के समान कर दायें और बायें स्तन को पीड़ा करके अथवा दोनों गोड़ों को बद्ध करके वंदना करना वेदिका-बद्ध दोष है। मरणादिक सात भय से डर कर वंदना करना भय दोष है। जो गुरु आदि से भय धारण कर वंदना करता है वह बिम्य दोष है। चातुर्वर्ण्यसंघ मेरा भक्त होगा ऐसे अभिप्राय से वंदना करना ऋद्धिगारव दोष है। अपना महात्म्य आसनादिकों के द्वारा प्रगट करके अथवा रस के सुख के लिए वंदना करना गौरव वंदना दोष है

तेणिदं पडिणिद चावि पदुट्ठ तज्जिदं तथा।
सद्दं च हीलिदं चावि तहा तिवलिदकुंचिदं ॥१३२॥

अर्थ—स्तेनितिदोष–आचार्यादि को मालूम न पड़े ऐसे प्रकार से वंदना करना, दूसरे न समझ सकें ऐसी वंदना, कोठरी के अन्दर रहकर वंदना करना स्तेनित दोष है। प्रतिनिति दोष—देव गुरुआदिकों के साथ प्रतिकूलता धारण कर वंदना करना, प्रदुष्ट दोष-अन्यों के साथ वैर, कलहादिक करके क्षमा याचना न करते हुए वंदनादिक क्रिया करना तर्जित दोष— दूसरोंको भय उत्पन्न करके यदि साधु वंदन हो तो तर्जित दोष होता है। अथवा आचार्यादिकों द्वारा अंगुली आदि से भय दिखाने पर यदि साधु वंदना करेगा तो तर्जित दोष होता

है। अर्थात् यदि तुम नियमादिक क्रिया नहीं करोगे तो हम तुमको संघ से अलग करेंगे ऐसे क्रोध से डाटे जाने पर वंदना करना भी तर्जित दोष है। शब्द दोष— शब्द बोलकर मौन छोड़कर जो वंदनादिक है वह शब्द दोष है।

अथवा, शब्द, के स्थान में, सट्ठं, ऐसा भी पाठ है अर्थात् शाठ्यसे, मायाचारी से कपट से वंदना आदिक करना हिलित दोष है। आचार्य वचन के द्वारा परवश हो कर वंदनादिक करना त्रिविलित दोष है। कमर, हृदय और कंठ मोड़कर वंदना करना अथवा ललाट में त्रिवली करके वंदना करना कुंचित दोष है। सकुंचित किये हाथों से मस्तक को स्पर्श करके वंदना करना अथवा दो गोड़ों के बीच में मस्तक रखकर संकुचित होकर जो वंदना की जाती है वह कुंचित दोष है। इस प्रकार अतीत दोषों का परिहार कर निंदा और गर्हा से युक्त होकर त्रिकरण शुद्धि से करने-वाला प्रतिक्रमण १९ वां मूल गुण है।

प्रतिक्रमण के भेद

दैवसिक, रात्रिक, गोचरिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, संवत्सरिक, युगांतर प्रतिक्रम, ईर्यापथिक, केशलोचातिचार, संस्तारातिचार, पंचातिचार, सर्वाचार, सर्वातिचार और उत्तमार्थ ऐसे प्रतिक्रमण के अनेक भेद है।

अनागत दोषों का परिहार करने के लिये की जाने वाली प्रत्याख्यान क्रिया २० वां मूल गुण है।

शुभ परिणाम से अर्हंतादि परमेष्ठियों का स्मरण करना कायोत्सर्ग नामक २१ वां मूल गुण है। अर्थात् अंगुष्ठो में बारह अंगुल अंतर तथा एड़ियों में चार अंगुल का अंतर करके खड़ा होना तथा अपनी गर्दन को ऊंचा न कर समान वृत्ति से, रज्जु के आकार अपनी दोनों बाहुओं को लटकाकर खड़े होना चाहिये। अगर इस आसन से खड़े होने की शक्ति न हो तो पल्यंकासन में अपनी बांई जंघा पर दाहिनी जंघा को रखकर और जानुकडे पर वाम हाथ के ऊपर दाहिना हाथ रखकर ध्यान करना चाहिये अर्थात् पंच गुरु के गुण स्मरण पूर्वक जाप करना चाहिये। जैसे कि—

करणंगळु कुसिदिरे मन-।
मिरे नोसलोळु लोचनंगळुळ् ळरेदुगुळ्दो
प्पिरे दसनंदसनदोळों-।
दिरे मंद दरदंताचाल्यदंतिरे तनवुं ॥

इस तरह पंचगुरु को स्मरण पूर्वक जाप करना चाहिये और एक जाप निःश्वास पूर्वक मन में करना चाहिये

अब आगे कहे जाने वाली क्रियाओं के उच्छ्वास काल के नियम को बतलाते हैं—अहिंसा व्रत में अगर कोई अतिचार लग जाय तो एक सौ आठ जाप करना चाहिये। दैवसिक में १०८, रात्रिक में उसका आधा ५४ करना चाहिये और पाक्षिक में ३०० सौ, चातुर्मासिक में ४०० सौ, संवत्सरिक में ५०० सौ, गौचरिक में जाते समय तथा ग्राम से ग्रामांतर को जाते समय या अरहंत के दर्शन करते समय तथा किसी मुनि की निषिधिका का दर्शन करते समय, एवं उच्चार प्रश्न करते समय पच्चीस श्वासोच्छ्वास मात्र कायोत्सर्ग करना, ग्रन्थ प्रारम्भ में तथा उसकी परिसमाप्ति में, स्वाध्याय करते समय तथा निष्ठापन में, देवता स्मरण में जहां जहां इस प्रकार क्रिया हो वहां सत्ताईस उच्छ्वास जप मन ही मन में करना चाहिये।

तथा इसी तरह शीतोष्ण दंश-मशकादि परीषहों को सहन करते हुए त्रिकरण शुद्धि से जिन-प्रतिमा के समान कायोत्सर्ग में रहकर जो अनुष्ठान कहा हुआ है उसके प्रमाण के अंत में हलन चलन न करते हुए एकाग्रता से निरंजन नित्यानंद स्वरूप के समान धर्मशुक्ल का ध्यान स्मरण करना चाहिये।

कायोत्सर्ग के ३२ दोष

१—किसी दीवाल के सहारे खडे होना कुड्याश्रित नामक दोष है। २ वायु के द्वारा हिलती हुई लता के समान शरीर को हिलाते रहना लतावक्र नामक दोष है। ३ किसी खम्भे के सहारे खडे होना अथवा खम्भे के समान खड़े होना स्तंभावष्टंभ नामक दोष है। ४ शरीर के अवयवों को संकोच कर खड़े होना कुंचित नामक दोष है। ५ अपनी छाती को आगे निकालकर इस प्रकार खडे होना जिससे छाती दिखाई दे, वह स्तनेक्षा दोष है। ६ कोवे के समान इधर उधर देखते रहना काक नामक दोष है। ७ शिर को हिलाते जाना शीर्षकंपित नामक दोष है। ८ जिस बैल पर जुवा रक्खा जाता है वह जिस प्रकार अपनी गर्दन को आगे को लम्बी कर देता है उसी प्रकार जो गर्दन को आगे की ओर लम्बा करके खड़ा हो जाता है वह युगकंधर नामक दोष है। ९ कायोत्सर्ग में भृकुटियों का चलाते जाना भ्रूक्षेप नामक दोष है। १० मस्तक को ऊपर उठाकर कायोत्सर्ग करना उत्तरित नामक दोष है। ११ कायोत्सर्ग में उन्मत्त के समान शरीर को घुमाते रहना उन्मत्त नामक दोष है। १२ पिशाच के समान कांपते रहना पिशाच नामक दोष है। १३ पूर्व दिशा की ओर देखना। १४ अग्नि दिशा की ओर देखना। १५ दक्षिण दिशा की ओर देखना। १६ नैऋत्य दिशा की ओर देखना। १७ पश्चिम दिशा की

ओर देखना। १८ वायव्य दिशा की ओर देखना। १६ उत्तर दिशा की ओर देखना। २० ईशान दिशा की ओर देखना। इस प्रकार आठों दिशाओं की ओर देखना आठ दोष कहे जाते हैं। २१ गर्दन को नीचा करके खड़े होना ग्रीवानमन नामक दोष है। २२ गूंगे मनुष्य के समान मुख और नासिका को विकारों से इशारा करना मूक-संज्ञा नामक दोष है। २३ उंगलियों के द्वारा गिनना अंगुली चालन नामक दोष है। २४। थूकना निष्ठीव नामक दोष है। २५ लगाम लगाये हुये घोड़े के समान दाँतों को घिसना शिर को हिलाना आदि को खलिनित दोष कहते हैं। २६ भीलिनी के समान हाथों से गुद स्थानों को ढककर खड़े होना, शवरी गुदगूहन नामक दोष है। २७ कैथ के समान मुट्ठियों को बाँधकर खड़े होना कंपित मुष्ठि नामक दोष है। २८ गर्दन को ऊंची करके खड़ा होना ग्रीवोन्मत्त नामक दोष है। २९ अपने पैरों को साँकल से बंधे हुए के समान करके खड़े होना शृंखलित नामक दोष है। ३० मस्तक को रस्सी तथा माला आदि के सहारे रखकर खड़ा होना मालिकोद्वहन नामक दोष है। ३१ इधर उधर से शरीर का स्पर्श करना स्वांग-स्पर्श नामक दोष है। ३२ घोड़े के समान एक पैर को ऊंचा करके खड़े होना घोटकानवी नामक दोष है। इस प्रकार कायोत्सर्ग के बत्तीस दोष हैं। तथा इनके सिवाय और भी दोष हैं उनको छोड़कर कायोत्सर्ग करना चाहिये। यह इक्कीसवाँ मूल गुण है।

वस्त्र वल्कल पत्रादि से निर्ग्रन्थपने [अपनी नग्नता] को नहीं छिपाना वस्त्रत्याग तेईसवां मूलगुण है।

प्राणी तथा इन्द्रिय संयम के निमित्त स्नान न करना २४ वां मूलगुण है।

समान भूमि, शिला, लकड़ी का पाटा, घास की चटाई इत्यादि पर धनुष के आकार सोना २५ वाँ मूलगुण है।

अपनी उंगली के द्वारा दांतों को न घिसना २६ वां मूलगुण है।

खड़े होकर भोजन करना २७ वां मूल गुण है।

दिन में एक वार भोजन करना एकभुक्त नामक २८ वां मूलगुण है।

अब आगे पांच महा व्रतों को स्थिर करने के लिये उनकी पांच भावनाओं को बतलाते हैं—

अर्थ—वाग्गुप्ति १, मनोगुप्ति २, ईर्या समिति ३, आदाननिक्षेपण समिति ४, आलोकित पान भोजन ये पांच पांच अहिंसा व्रत की भावनायें हैं। १ क्रोध को त्यागना, २ लोभ को त्यागना, ३ हास्य को त्यागना, ४ भय

को त्यागना, ५ अनुवीचि भाषण ये सत्य व्रत की पांच भावनायें हैं। शून्यागार में रहना, दूसरे लोगों के छोड़ कर गये हुए स्थानों में रहना, दूसरे के आने जाने में बाधा पड़े ऐसे स्थानों में न रहना, भिक्षाशुद्धि, सद्धर्म में रुचि रखना अर्थात् हमेशा अचल रहना ये अचौर्यव्रत की पांच भावनायें हैं।

अब आहार में आने वाले ४६ दोषों को बतलाते हैं :—

उद्गम दोष १६ सोलह, उत्पाद दोष १६ सोलह, ऐषणा दोष दश, संयोजन दोष चार।

पहले उद्गम दोषों को कहते हैं :—उद्दिष्ट, अध्यवधि, पूति, मिश्र, स्थापित, बलि, प्राभृत, प्राविष्कृत, क्रीत, प्रामृष्य, परिवृत, अहित, उद्भिन्न, मालिकारोहण, आच्छेद्य और निःसृत, इस प्रकार ये सोलह उद्गम दोष कहलाते हैं। अब अनुक्रम से इसका वर्णन करते हैं—

छः कायिक जीवों को घात कर साधु के निमित्त तैयार किये हुये आहार को लेना, प्रासुक में अप्रासुक मिले हुये आहार को लेना, किसी पाखंडी के निमित्त तैयार किया हुआ आहार, अपने घर के बर्तन में बनाये हुये आहार को दूसरे बरतन में निकाल कर अर्थात् अलग निकाल कर अपने घर में या दूसरे के घर रक्खे हुये आहार को लेना, किसी बलि के निमित्त तैयार किये हुये आहार को लेना, समय को अतिक्रम करके लाये हुये आहार को लेना, अंधेरे में तैयार किये हुये आहार को लेना, बलि के निमित्त तैयार किये हुये आहार में से निकाल कर अलग रक्खे हुए आहार को लेना, अति पक्व किये हुये आहार को लेना, ठंडे आहार में गरम आहार को मिलाकर लेना, पहले से ही किसी ऊपर के स्थानों में अलग निकाल कर रक्खे हुये आहार को उतार कर लेना, कोई दाता अपने घर से आहार लाकर किसी दूसरे दाता के घर में रखकर कहे कि तुम्हारे घरमें यदि कोई साधु आ जाएँ तो आहार को देना क्योंकि मुझे फुरसत नहीं है इस तरह कहकर रक्खे हुए आहार को लेना, किसी बरतन में बहुत दिनों से बन्द कर रखे हुए बरतन को दाता के द्वारा तोड़कर आहार को लेना, अपने घमंड से दूसरे के ऊपर दबाव डालकर तैयार किये गये अन्न को लेना, दान मद के द्वारा तैयार किये गये अन्न को लेना, प्रधान दाताओं के द्वारा तैयार किया हुआ आहार लेना, अधिक मुनियों को आता देख भोजन बढ़ाने के लिये दाता द्वारा अपक्व पदार्थ मिलाये हुए आहार को लेना, ये सोलह उद्गम दोष हैं।

आगे उत्पाद दोष को कहते हैं—दाता के आगे दान ग्रहण करने से पूर्व

उसकी "तू दानियों में अग्रेसर है और तेरी जगत् में सर्वत्र कीर्ति फैल गई है," ऐसा कहना पूर्व-संस्तुति दोष है। और जो दाता आहार देना भूल गया हो उसको "तू पूर्व काल में महान दानपति था, अब दान देना क्यों भूल गया है, ऐसा उसको सम्बोधन करना यह भी पूर्व संस्तुति दोष है। कीर्ति का वर्णन करना और स्मरण करना यह सब पूर्व संस्तुति दोष है।

पश्चात्संस्तुति दोष—

आहारादिक ग्रहण करके जो मुनि दाता की "तू विख्यात दान-पति है, तेरा यश सर्वत्र प्रसिद्ध हुआ है" ऐसी स्तुति करता है उसको पश्चात्-संस्तुति दोष कहते हैं। किसी गांव के दाता को खबर देकर उसके यहां आहार करना, निमन्त्रण दोष है। ज्योतिष ग्रह आदि को बतलाकर आहार लेना, अपने आप ही अपनी कीर्ति ख्याति इत्यादिक कहकर आहार लेना, दाता के मन में दान देने की भावना उत्पन्न कराके आहार लेना; लाभ दिखाकर आहार लेना, मान करके आहार करना, माया से आहार करना, लोभ करके लेना, आहार के पहले दाता की प्रशंसा करके बाद में उसके घर में आहार लेना, भोजन करने के बाद दाता की स्तुति करके उसे अपने वश कर लेना, विद्या यन्त्र-मन्त्रादिक को देकर अपने वश कर लेना, केवल यन्त्र से अपने वश कर लेना, वैद्यक अर्थात् दवाई इत्यादिक दाता को बतला-कर आहार करना इत्यादि उत्पाद दोष है।

शंकित दोषः—

आहार पानादिक लेने वाले आहार में शंका करके आहार लेना शंकित दोष है। अप्रासुक पानी से बरतनादिक को धोकर उसमें अन्न परोस कर साधु को देना, अशन भात, रोटी आदिक, दही, दूध आदिक, खाद्य-लड्डू आदिक, स्वाद्य-एला, लवंग, कस्तूरी कंकोलादिक, "ये पदार्थ मेरे लिए भक्ष्य हैं अथवा अभक्ष्य है" ऐसा मन में संशय उत्पन्न होने पर यदि साधु आहार करेंगे तो उनको शंकित आहार नामक दोष होता है अथवा आगम में 'ये पदार्थ भक्ष्य हैं या अभक्ष्य हैं, ऐसा संशय-युक्त होकर जो साधु आहार करता है उसको शंकित दोष होता है।

प्रक्षिप्त दोषः—घी, तेल आदि, स्निग्ध पदार्थ से लिप्त हाथ से अथवा स्निग्ध तेलादिक से लिप्त कलछी अथवा पात्र से मुनियों को आहार देना प्रक्षिप्त दोषों से दूषित होता है। इस दोष का मुनि सदा त्याग करें। ऐसे आहार में सूक्ष्म सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते हैं।

निक्षिप्त दोष का स्वरूप: –

सचित्त पृथ्वी, सचित्त पानी, सचित्त अग्नि, सचित्त वनस्पति, बीज और त्रस जीव द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों पर रक्खा हुआ आहार मुनियों को ग्रहण योग्य नहीं है।

'सचित्तपृथ्व्यादिक के छः भेद हैं। अंकुर शक्ति योग्य गेंहू आदि धान्य को बीज कहते हैं।

हरित—अम्लान अवस्था के तृण, पर्ण आदि को हरित कहते हैं। इनके ऊपर स्थापन किया हुआ आहार निक्षिप्त दोष सहित होता है। अथवा अप्रासुक पृथ्व्यादिक कायों पर रक्खा हुआ आहार मुनियों को अयोग्य है।

पिहित दोष:—जो आहारादिक वस्तु सचित्त से ढकी हुई है अथवा अचित्त भोजन किसी वजनदार पदार्थ से ढका हुआ है उसके ऊपर का आवरण हटाकर मुनियों को देना पिहित दोष है।

धायक दोष:—

जो बालक को आभूषणादि से सजाती हैं, उसको दूध पिलाती हैं और धाय का काम करती हैं वे आहार दान में अयोग्य हैं, जो मद्यपान में लम्पट है, जो रोग से ग्रस्त है, जो मृतक को स्मशान रख आया है और जिसको मृतक का सूतक है, जो नपुंसक है, जो पिशाचग्रस्त है, अथवा वातादिक रोग से पीड़ित है, जो वस्त्रहीन है अथवा जिसके एक ही वस्त्र है, जो मल विसर्जन करके आया है तथा जो मूत्र करके आया है, जो मूर्छित है, जिसको वांति हुई है, जिसके शरीर से रक्त बह रहा है, जो आर्जिका है, अथवा जो लाल रंग के वस्त्र धारण करने वाली रक्त-पाटिका आदि अन्य धार्मिक संन्यासिका है, जो अंग मर्दनक-स्नान करती है, ऐसी स्त्री और पुरुष आहार देने योग्य नहीं हैं। अति वृद्धा हो, पान तमाकू खाई हो, क्रोध से आई हो, अंगहीन हो, या भींत का सहारा लेकर बैठी हो, उन्मत्ता हो, झाडू देते-देते आई हो, "यह अग्नि है" ऐसा अपने मुख से कहती हुई आ रही हो, दीवाल लीपती हो, है ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जाति के अलावा अन्य किसी के हाथ का भोजन दोषी समझकर आहार त्याग कर देना चाहिए।

आगे साधुओं के भोजनों के अन्तराय को कहते हैं—

मौनत्यागे शिरस्ताडे मार्गे हि पतिते स्वयम्।
मांसामेध्यास्थिरक्तादिसंस्पृष्टे शवदर्शने ॥४८॥

ग्रामदाहे महायुद्धे शुना दष्टेत्विदं पथि ।
सचित्तोदे करे क्षिप्ते शंकाया मलमूत्रयोः॥४६॥
शोणितमांसचर्मास्थिरोमविट्पूयमूत्रके ।
दलनं कुट्टनं छिदिर्दीपप्रध्वंसदर्शने ॥५०॥
ग्रोतौ स्पृष्टे च नग्नस्त्री-दर्शने मृतजंतुके ।
अस्पृश्यस्य ध्वनौ मृत्युवाद्ये दुष्टविरोधने ॥५१॥
कर्कशाक्रन्ददुश्शब्दे शुनकस्य ध्वनौ श्रुते
हस्तमुक्ते व्रते भग्ने भाजने पतितेऽथवा ॥५२॥
पादयोश्च गते मध्ये मार्जारमूषिकादिके ।
अस्थ्यादिमल-मिश्रान्ने सचित्तवस्तुभोजने ॥५३॥
आर्त्तरौद्रादिदुर्ध्याने कामचेष्टोद्भवेऽपि च ।
उपविष्टे पदग्लानात् पतने स्वस्य मूर्च्छया ॥५४॥
हस्ताच्च्युते तथा ग्रासेऽव्रतिना स्पर्शने सति ।
अयं मांसोऽस्ति संकल्पेऽन्तरायश्च मुनेः परे ॥५५॥

अर्थ—सिर ताडन करना, मौन का त्याग कर देना, मार्ग में गिर पड़ना, मांस हड्डी रक्तादि अपवित्र वस्तुओं का स्पर्श होना, मुर्दे को देखना, नगर व ग्राम में अग्नि लगने का हाल सुनना, भयंकर युद्ध की बातचीत सुनना, मार्ग में कुत्तों का कलह होना या उनके द्वारा काटना, भोजन के समय अपने हाथ में अप्रासुक पानी पड़ना, आहार के समय में मलमूत्र की शंका होना, रक्त मांस, चर्म, हड्डी केश, विष्टा खून तथा मूत्र आदि अपवित्र पदार्थों का स्पर्श होना, जिस घर में आहार हो उसमें चक्की चलना, धान कूटना, उल्टी हो जाना या दूसरों की उल्टी देखना, बिल्ली का स्पर्श होना कोई जीव मर जाना, चांडाल आदि के शब्दों को सुनना, नग्न स्त्री का दीख जाना, मृतक वाद्य सुनना, किसी दुखिया के करुण क्रन्दन या कर्कश शब्द सुनना, लड़ते हुए कुत्ते के शब्दों को सुनना, भोजन करते समय बन्धी हुई अंजुली छूट जाना, व्रत भंग होना, हाथ से नीचे पात्रों का गिरना, दोनों पैरों के बीच से चूहे-बिल्ली का निकल जाना, भोजन में हड्डी या कचरा आदि मल मिश्रित होना, बिना पका ही भोजन करना, या सचित्त पदार्थों में अचित्त पदार्थ मिलना, मनमें आर्त, रौद्र इत्यादि दुर्ध्यान का आ जाना, मन में काम वासना उत्पन्न होना, अशक्त होकर नीचे बैठ जाना, या मूर्छित होकर गिर पड़ना, हाथ से ग्रास गिर जाना, अव्रती

का स्पर्श होना तथा 'यह मांस है' ऐसा संकल्प हो जाना; आहार के ये ३२ अन्तराय हैं।

इनमें से यदि कोई एक भी अन्तराय आ जाय तो मुनियों को आहार नहीं ग्रहण करना चाहिए। इसके विषय में और भी कहा है कि:—

विण्मूत्राजिनरक्तमांसमदिरापूयास्थिवान्तीक्षणा-।
दस्पृश्यान्त्यजभाषणश्रवणतात् स्वग्रामदाहेक्षणात् ॥
प्रत्याख्याननिसेवनात् परिहरेद् भव्यो व्रती भोजने-
ऽप्याहारं मृतजन्तुकेशकलितं जैनागमोक्तक्रमम् ॥
कागामज्जाछद्दीरोहणरुहिरंचअंसुपादं च ।
जण्हू हेठा परिसंजण्हू वरिवदिक्कमो चेव ॥

ब्रह्मचर्य की भावना—(१) स्त्रियों के राग उत्पन्न-कारक कथाओं के कहने सुनने का त्याग, स्त्रियों के अंगोपाँगों के देखने का त्याग करना, पहले भोगे हुए इन्द्रिय-जन्य सुखों का स्मरण न करना, शरीर का संस्कार न करना इन्द्रिय मद-वर्द्धक खाद्य व पेय पदार्थों की अरुचि रखना; ये पांच नियम ब्रह्मचर्य व्रत के हैं।

गुप्तित्रयम् ॥४२॥

अर्थ—मन गुप्ति, वचन गुप्ति, तथा कायगुप्ति, ये तीन प्रकार की गुप्तियां है।

कालुस्स मोहसण्णा रागं दोसादिअसुहभावस्स ।
परिहारो मणगुत्तो ववहारणयादु जिण भणियं ॥१०॥
राज चोर भंडकहादिवयणस्स पावहेउस्स
परिहारो वचगुत्ती अलियादि एत्ति वयणंवा ॥ ११॥
छेदन बंधन मारण तहपसारणादीय ।
कायकिरियाणियट्टी णिद्दिठ्ठा कायगुत्तोति ॥१२॥
रागादिणियत्ति वा मनस्स जाणाहि तं मनोगुत्ति ।
अलियाणियत्ति वा मौनं वा होवि वचगुत्ती ॥१३॥
कायकिरियाणियत्ती काओ सग्गो सरीरगे गुत्ति ।
हिंसादिणियत्ति वा सरीरगुत्ती हवेदित्तो ॥१४॥

अष्टौ प्रवचनमातृकाः ॥४३॥

अर्थ—५ समिति तथा ३ गुप्ति ये ८ प्रवचनमातृका हैं।

चतुस्त्रिंशदुत्तरगुणाः ॥४४॥

अर्थ—२२ परीषह और १२ प्रकार के तप ये कुल ३४ उत्तर गुण कहलाते हैं।

द्वाविंशत् परिषहाः ॥४५॥

अर्थ—मोक्ष मार्ग के साधन में आने वाले कष्ट विघ्न बाधा परिषह हैं। वे २२ हैं।

उनके नाम ये हैं—(१) क्षुधा, (२) पिपासा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) दंशमशक, (६) नग्नता, (७) अरति, (८) स्त्री, (९) निषद्या, (१०) चर्या, (११) शय्या, (१२) आक्रोष, (१३) वध, (१४) याचना, (१५) अलाभ, (१६) रोग, (१७) तृणस्पर्श, (१८) मल, (१९) सत्कार पुरस्कार, (२०) प्रज्ञा, (२१) अज्ञान और [२२) अदर्शन।

ये २२ परिषह पूर्वोपार्जित कर्मों के उदय से होते हैं। किस कर्म के उदय से कौन सी परिषह होती है, इसका वर्णन करते है।

ज्ञानावरण कर्म के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान परिषह होती हैं। दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से अदर्शन परिषह तथा अन्तराय कर्म के उदय अलाभ परिषह होती है।

चारित्र मोहनीय के उदय से नग्न, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार पुरस्कार ये सात परिषह होती हैं। वेदनीय कर्म के उदय से क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमच्छर, चर्या, शय्या, वध, रोग तथा तृणस्पर्श, और मल ये ११ परिषह होती हैं।

प्रश्न—एक साथ एक जीव के अधिक से अधिक कितनी परिषह हो सकती हैं ?

उत्तर—शीत उष्ण इन दोनों में से एक होगी निषद्या, चर्या और शय्या इन तीन परिषहों में से एक परिषह होती है, शेष दो नहीं होतीं इस तरह तीन परिषहों के सिवाय शेष १९ परिषह एक साथ एक कालमें हो सकती हैं। सातवें गुणस्थान तक सभी परिषह होती हैं। अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में तथा सवेद अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में अदर्शन परिषह कम हो जाने के कारण २१ परिषह होती हैं। तदनन्तर ३ वेदों के नष्ट हो जाने पर अनिवृत्तिकरण के निर्वेद भाग में स्त्री परिषह न रहने के कारण तथा अरति परिषह न होने से १९ परिषह होती हैं। तत्पश्चात् मान कषाय के अभाव हो जाने पर नग्नता, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार पुरस्कार इन पांचों परिषहों

के कम हो जाने पर शेष अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में तथा सूक्ष्म-सांपराये, उपशान्तकषाये, क्षीणकषाय इन गुण स्थानों में १४ परीषह होती हैं।

ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म के नष्ट हो जाने के कारण १३वें गुण स्थान में प्रज्ञा, अज्ञान तथा अलाभ परीषह नहीं होती अतः शेष ११ परीषह होती हैं।

वेदनीय कर्म की सत्ता के कारण १३वें गुण स्थानवर्ती अरहन्त भगवान को ११ परीषह कही जाती है, किन्तु वास्तव में ये परीषह अनन्त बली, तथा अनन्त सुख सम्पन्न अरहन्त भगवान को रंच मात्र भी कष्ट नहीं दे सकती। जिस प्रकार औषधि द्वारा शुद्ध किया हुआ शंखिया आदि विष भी मारण शक्ति से रहित होकर खाने पर कुछ अनिष्ट नहीं करता इसी प्रकार मोहनीय कर्म के न रहने से वेदनीय कर्म भी अपना अनिष्ट फल देने योग्य नहीं रहता तथा वृक्ष की जड़ कट जाने के पश्चात् उसमें फल, फूल पत्ते आदि नहीं आते, बल्कि वह सूखकर नीरस हो जाता है इसी प्रकार मोहनीय कर्म के समूल नष्ट हो जाने पर वेदनीय कर्म भी शक्ति रहित नीरस हो जाता है। वह मोहनीय कर्म की सहायता न मिलने के कारण अपना कुछ भी फल नहीं दे पाता तथा जिस प्रकार आत्मध्यान निमग्न योगियों को शुक्ल ध्यान के समय वेद कर्मों की सत्ता रहने पर भी तथा लोभ कषाय और रति के रहते हुए भी मैथुन संज्ञा और परिग्रह संज्ञा नहीं होती, इसी प्रकार अरहन्त भगवान को अनन्तात्म सुख में निमग्न होने के कारण वेदनीय कर्म की परीषह दुःखदायी नहीं बन पाती।

वेदनीय अघाती कर्म है। इसलिए वह घाती कर्म की सहायता के बिना अपना फल नहीं दे सकता। वेदनीय कर्म का सहायक मोहनीय कर्म है। वह १३ वें गुण स्थान में समूल नष्ट हो जाता है। अतः वेदनीय कर्म असहाय हो जाने से अरहन्त भगवान को वह दुःख प्रदान नहीं कर सकता। इस कारण वास्तव में १३वें गुण स्थान में कोई भी परीषह नहीं होती।

नरक गति और तिर्यंच गति में सभी परीषह होती हैं। मनुष्य गति में भिन्न-भिन्न गुण स्थानों में यथायोग्य परीषह होती है। देव गति मे भूख, प्यास, नग्नता, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन ये १४ परीषह होती हैं।

इन्द्रियमार्गणा और कषाय मार्गणा में सभी परीषह होती हैं।

बारह तपः—

द्वादशविधंतपः ॥४६॥

अर्थ—तप १२ प्रकार के होते हैं। भेद अभेद रूप प्रकट होने में या कर्म

क्षय के मार्ग में विरोध न हो इस अभिप्राय से इच्छाओं को, रोकना [इच्छा निरोघस्तप:] तप' कहलाता है। वह तप अनशन, अवमोदय, वृत्तिपरिसंख्यान रस परित्याग, विविक्त शयनासन तथा कायक्लेश ये ६ बाह्य तप हैं और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये ६ प्रकार के अन्तरंग तप हैं। इस प्रकार दोनों मिलकर १२ प्रकार के तप हैं।

मन्त्र साधनादि किसी लौकिक स्वार्थ सिद्धि का अभिप्राय न रखकर तथा इन्द्रिय संयम की ख्याति की इच्छा न रखकर ध्यान स्वाध्याय एवं आत्म-शुद्धि के अभिप्राय से पचेंन्द्रियों के विषयों का तथा कषायों के त्याग के साथ जो चार प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है उसको **अनशन तप** कहते हैं। इसके नियत काल और अनियत काल ये दो भेद होते है।

नियतकाल—एकान्तर त्रिरात्रि, महारात्रि अष्टोपवास, पक्षोपवास, मासोपवास, चातुर्मासोपवास, षण्मासोपवास, संवत्सरोपवास इत्यादि काल मर्यादा को लिए हुए उपवास करना नियत कालोपवास है।

अनियत काल—समाधिमरण करने के समय आयु-पर्यन्त जो उपवास किया जाता है वह अनियत काल है।

अवमोदय—ध्यानाध्ययन में किसी प्रकार की बाधा न हो, इस अभिप्राय से भूख से कुछ कम आहार लेना **अवमोदर्य तप** है।

वृतपरिसंख्यान—इस प्रकार की वस्तु चर्या के समय मिले, अमुक व्यक्ति अमुक वस्तु लेकर खड़ा हो, या अमुक घर आदि की अटपटी आखड़ी लेकर चर्या के लिए निकलना **वृतपरिसंख्यान** कहलाता है। घी, दूध, दही आदि रसों में से किसी एक या सबका त्याग करना **रसपरित्याग व्रत** कहलाता है। पद्मासन, पल्यङ्कासन, वज्रासन' मकरमुखासन आदि आसनों से बैठना या एक पार्श्व दण्डासन मृतशय्यासनादि आसनों से अथवा शुद्धात्म ध्यानाध्ययन में किसी प्रकार का कोई विघ्न न हो ऐसे स्त्री पुरुष षण्ढ आदि से रहित एकान्त स्थान मे ध्यान करने के लिए बैठ जाना, **विविक्तशय्यासन** कहलाता है। निरुपाधि निजात्मभावना पूर्वक कंकड़ीली पथरीली जमीन में शरीर के मोह को छोड़कर कठिन तप करना **कायक्लेश तप** है।

कायक्लेश तप करने के कारण:—

शुभ ध्यानाभ्यास के लिए, दु:ख नाश के लिए, विषय सुख की निवृत्ति के लिए तथा परमागम की प्रभावना के लिए जो ध्यान किया जाता है उससे

सभी दु:ख द्वन्द्व मिटकर चित्त शुद्ध हो जाता है। अतः यह कायक्लेश तप प्रयत्न के साथ करना चाहिए।

प्रमादवश छोटे-मोटे दोष हो जाने से देश काल • तथा शक्ति संहनन आदि के अनुसार संयम पूर्वक उपवास आदि करना प्रायश्चित्त तप कहलाता है। सम्यक्त्वादि उत्तम गुणों से सुशोभित गुणी पुरुषों का विनय करना तथा उनके शरीरस्थ पीड़ा को दूर करने के लिए औषधिआदि उपचारों से स्वयं सेवा करना या दूसरों से कराना वैयावृत्य कहलाता है। द्रव्य क्षेत्र काल भाव की शुद्धि पूर्वक शास्त्र का स्वाध्याय करना तथा स्वाध्याय करानेवाले श्रुतगुरुओं की भक्ति भाव से पूजा तथा आदर सत्कार करना स्वाध्याय नामक तप कहलाता है। कर्म बन्धन के कारणभूत सभी दोषों को त्याग देना व्युत्सर्ग तप कहलाता है। बाह्य समस्त पर पदार्थों से मन को सर्वथा हटाकर केवल अपने शुद्धात्मा में एकाग्रता पूर्वक लीन रहना ध्यान तप है।

पंच पद का महत्त्व:—

श्री करमभोष्टसकल, सुखाकरमपवर्ग कारणं भवहरणं
लोकहित मन्मनडो—। के काग्रतेनिल्के निरुपमं पंचपदम् ।२००।
दशविधं प्रायश्चित्तानि ॥४७॥

अर्थ—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, उपस्थापना और श्रद्धान ऐसे प्रायश्चित्त के १० भेद हैं। इस प्रायश्चित्त को बुधजन प्रमाद परिहार के लिए, भावशुद्धि के लिए, मन की निश्चलता के लिए और मार्ग में लगे हुए दोषों के परिहार के लिए, संयम की दृढ़ता के लिए एवं चतुर्विधाराधन की वृद्धि के लिए निरन्तर करते रहते हैं। गुरु के द्वारा प्रश्न करने पर अपने मानसिक दोषों को एकान्त स्थान में स्पष्ट रूप से बतलाकर पाप क्षालनार्थ शिष्य जब अपने गुरु के संनिकट प्रायश्चित लेने को प्रस्तुत हो जाता है और उत्तम श्रावक जघन्य श्रावक ब्रह्मचारी क्षुल्लक ऐलक आर्यिका आदि गर्व तथा लज्जा का त्यागकर किए हुए पापों की आलोचना करता है तो उसका व्रत सफल होता है किन्तु यदि उपर्युक्त आलोचना न करके अपने पापों को छिपाता है तो उसके सभी व्रत व्यर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार जिसे स्वर्गापवर्ग की प्राप्ति करनी हो उसे विशुद्ध मन से गुरु के निकट अपने पापों को नष्ट करने के लिए प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न—मूल प्रायश्चित्त का भागी कौन है ?

उत्तर—पार्शस्थ, कुशील, संसक्त अवसन्न तथा मृगचारी ऐसे पांच मुनि स्वच्छन्द वृत्ति हैं। अब इनके लक्षण बतलाते हैं:—

वसतिका में प्रेम रखनेवाले, उपकरणों को एकत्रित करनेवाले, मुनि समुदाय में न रहनेवाले पार्शस्थ कहलाते हैं।

क्रोधादिकषायों से युक्त व्रत गुणों से च्युत संघ के अपाय के लिए वैद्य मन्त्र ज्योतिष द्वारा इधर उधरघूम फिरकर जीवन निर्वाह करने वाले कुशील कहलाते हैं।

रागादि सेवा में युक्त जिन वचन से अनभिज्ञ चारित्र भार से शून्य ज्ञानाचार से भ्रष्ट तथा करुणा में आलसी रहनेवाले संसक्त कहलाते हैं।

गुरुद्रोही स्वच्छन्दचारी, जिन वचन में दोष देखनेवाले अवसन्न कहलाते हैं।

जिन धर्म में बाह्यचरणी उन्मादी, महा अपराधी पार्श्वस्थ की सेवा करनेवाले मृगचारी आदि मुनियों को मूलछेद प्रायश्त्ति दिया जाता है।

आलोचनञ्च ॥४८॥

अकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन अव्यक्त, तत्सेवित ये प्रायश्चित के १० भेद हैं।

चतुर्विध विनयः ॥४९॥

अर्थ—ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय तथा उपचार, ये विनय के चार भेद हैं।

शुद्ध मन से मोक्ष मार्ग के लिए जो ज्ञान, ग्रहण, ज्ञान अभ्यासादि किया जाता है उसे ज्ञानविनय कहते हैं।

द्वादशांग, चतुर्दश प्रकीर्णकादि श्रुतज्ञान समुद्र में जितने भी अक्षर हैं उनके प्रति और पदों के प्रति निःशंकित रूप से पूर्ण विश्वास करना दर्शनविनय कहलाता है।

ज्ञान, विनय दर्शन, तप, वीर्य तथा चारित्र से युक्त होकर दुर्द्धर तपस्या में लीन तथा साधुओं की त्रिकरण शुद्धि पूर्वक विनय करना चारित्र-विनय है। प्रत्यक्ष उपचार विनय और परोक्ष उपचार विनय ये उपचार विनय के दो भेद हैं।

इसमें से आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक, गणाधरदि पूज्य परमऋषि

के निकट आकर विनय करना अथवा उनकी कुशलता पूछकर यथायोग्य सेवा करना ये शब्द विनय हैं।

मन वचन काय से सुशील योग्यता धर्मानुराग की कथा श्रवण करना तथा अर्हंदादि में प्रमाद व मानसिक दोषों को छोड़कर भक्ति करना गुरु वृद्ध सेवाभिलाषा आदि से सेवा करना या गुरु के वचन सर्वथा सत्य है यह विश्वास करके मन में कभी हीनता का भाव न लाना, कुल आदि धनैश्वर्य, रूप, जाति बल, लाभ वृद्धि आदि का अपमान न करना सदा सभी जीवों के साथ क्षमा-भाव को रखकर मैत्रीपूर्ण विश्वास रखकर देशकालानुकूल हितमित वचन बोलना सेव्य, असेव्य भाव्य अभव्यादि विवेकों का विचार पहले अपने मन में कर लेने के बाद प्रत्यक्ष प्रमाणित करना प्रत्यक्ष उपचार विनय है। आचार्य व मुनिवगैरह यदि पास न हों तो भी अपने हृदय में भक्ति रखना व नमस्कार करना यदि कदाचित् भूल भी जाएँ तो भी पश्चाताप करना आदि प्रोक्षविनय है।

इस भव और परभव के प्रति सांसारिक सुख की अपेक्षा न रखना अक्षय अनन्त मोक्ष यत्न की इच्छा करके ज्ञान लाभ व चरित्र की विशुद्धि से सम्यगाराधना की सिद्धि के लिए जो विनय करता है वह शीघ्र स्वात्मोपलब्धि लक्षण रूपी मोक्ष मार्ग (द्वार) में पड़े हुए अर्गल को तोड़कर मोक्ष महल में प्रवेश करता है।

दशविधानि वैयावृत्यानि ॥५०॥

यदि किसी गुणवान धर्मात्मा पुरुष को कदाचित् शरीर पीडा हो या दुष्परिणाम हों, तो उनकी वैयावृत्य (सेवा) करना धर्मोपदेश देकर सन्मार्ग में स्थिर करना तथा धर्म चर्चा सुनाना आदि वैयावृत्य कहलाता है। इस प्रकार वैयावृत्य के १० भेद हैं।

(१) आचार्य की वैयावृत्य, (२) उपाध्याय की वैयावृत्य, [३] कवल, चान्द्रायण आदि व्रतों के धारण करने से जिनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया है उन तपस्वी मुनि की वैयावृत्य करना [४] ऋतु ज्ञान शिक्षा तथा चारित्र शिक्षा में तत्पर शिष्य रूप मुनियों की वैयावृत्य करना, [५] विविध भांति के रोगों से पीड़ित मुनियों की वैयावृत्य करना, [६] वृद्ध मुनियों की शिष्य परम्परा [गण] मुनि जनों की वैयावृत्य करना, [७] आचार्य की शिष्य परम्परा रूप मुनियों [कुल] की वैयावृत्य करना, [८] चातुर्वर्ण्य संघ की वैयावृत्य करना, [९] नव दीक्षित साधुओं की वैयावृत्य करना तथा [१०]

आचार्यादि में समशील मनोज्ञ मुनियों की वैयावृत्य करना १० प्रकार का वैयावृत्य कहलाता है।

पंचविध स्वाध्यायः ॥५१॥

अर्थ—द्रव्य शुद्धि, क्षेत्र शुद्धि, काल शुद्धि तथा भावशुद्धि के साथ शास्त्र और श्रुतज्ञानी मुनियों की विनय करना स्वाध्याय है। बांचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये स्वाध्याय के पांच भेद हैं। करुणाभाव से दूसरे को पढ़ाना बांचना है। अपने ज्ञान का अभिमान न करके शंका निवारण के लिए अधिक ज्ञानी से प्रश्न करना शंका समाधान करना, कोई बात पूछना पृच्छना है।

पढ़े हुए विषयों को बारम्बार चिन्तन-मनन करना अनुप्रेक्षा है। पद अक्षर मात्रा व्यञ्जनादि में न्यूनाधिक न करके जैसे का वैसा पढ़ना, पाठ करना आम्नाय है। भव्य जीवों के हृदयस्थ अन्धकार को दूर करने के लिए जो उपदेश दिया जाता है वह धर्मोपदेश कहलाता है।

द्विविधो व्युत्सर्गः ॥५२॥

बाह्य और आभ्यन्तर भेद से व्युत्सर्ग दो प्रकार का है। बाह्य उपाधि-क्षेत्र घर गाय, भैंस, दासी, दास, सोना, चांदी, यान, शयनासन, कुप्य, भांड आदि १० प्रकार के हैं। इनका त्याग करना बाह्य व्युत्सर्ग है।

अन्तरंग उपाधि—मिथ्यात्व, वेदराग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया तथा लोभ ये १४ आभ्यन्तर उपाधि हैं। इनका त्याग करना आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है। व्युत्सर्ग के दो भेद हैं। उसमें जो जीवन पर्यन्त का त्याग है वह भक्त प्रत्याख्यानादि मरण के भेद से अनियत व्युत्सर्ग है। कुछ दिनों का नियम लेकर परिग्रह का त्याग करना नियत काल व्युत्सर्ग है और आवश्यकादि नित्य क्रिया, पर्वक्रिया व निषद्यादि क्रिया नैमित्तिक क्रियायें हैं।

इसके आगे छठवें बाह्य क्रिया काण्ड को कहते हैं:—

(कौनसी भक्ति कहां करनी चाहिए)

कार्य	भक्ति
जिनप्रतिमावन्दन	चैत्यभक्ति पंचगुरु भक्ति लघु सिद्धभक्ति
आचार्य वन्दना [गवासन से]	लघुआचार्य भक्ति

सिद्धांतवेत्ता आचार्य की वन्दना—सिद्ध, श्रुत आचार्य भक्ति

साधारण मुनियों की वन्दना—सिद्ध भक्ति

सिद्धांतवेत्ता मुनियों की वन्दना—सिद्धभक्ति,श्रुतभक्ति

स्वाध्याय का प्रारम्भ—	लघुश्रुत भक्ति आचार्य भक्ति
स्वाध्याय की समाप्ति—	लघुश्रुत भक्ति ।
आचार्य की अनुपस्थिति में पहले दिन उपवास वा प्रत्याख्यान ग्रहण किया हो तो दूसरे दिन आहार के समय	सिद्ध भक्ति पढ़कर उसका त्याग वा आहार के लिए गमन
आहार की समाप्ति पर अगले दिन के उपवास वा प्रत्याख्यान का ग्रहण करने में	सिद्ध भत्ति ।
आचार्य की उपस्थिति में आहार के लिए जाने जाने के पहले आहार के	लघुयोगि भक्ति, लघुसिद्ध भक्ति
अनन्तर प्रत्याख्यान वा उपवास की प्रतिज्ञा के लिए	लघुयोगि भक्ति लघुसिद्ध भक्ति
आचार्य वन्दना	– लघु आचार्य भक्ति
चतुर्दशी के दिन त्रिकाल वन्दना के लिए	चैत्य भक्ति, श्रुतभक्ति, पंचगुरु भक्ति । अथवा सिद्ध भक्ति चैत्य भक्ति, श्रुत भक्ति, पंचगुरु भक्ति, शांति भक्ति ।
नंदीश्वर पर्व में	—सिद्धभक्ति, नन्दीश्वर भक्ति, पंच गुरु भक्ति, शांतिभक्ति ।
सिद्धप्रतिमा के सामने तीथङ्कर के	— सिद्धभक्ति
जन्म दिन	— चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति पंचगुरु भक्ति अथवा सिद्ध भक्ति चैत्यभक्ति, पंचगुरु भक्ति, श्रुतभक्ति शांतिभक्ति ।
अष्टमी चतुर्दशी की क्रिया में अपूर्व चैत्य वन्दना वा त्रिकाल नित्य वन्दना के समय	चैत्यभक्ति, पंचगुरु भक्ति शांतिभक्ति ।
अभिषेक वन्दना—	सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरु भक्ति, शांतिभक्ति ।
स्थिरबिंबप्रतिष्ठा—	सिद्धभक्ति, शांतिभक्ति
जल बिंबप्रतिष्ठा के चतुर्थ अभिषेक में	सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचमहा गुरु भक्ति शांतिभक्ति ।

तीर्थकरों के गर्भ जन्म कल्याणक में—सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति शान्ति भक्ति।

दीक्षाकल्याणक	— सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति शांतिभक्ति।
ज्ञानकल्याणक	—सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योगि, शांति भक्ति।
निर्वाणकल्याण	— सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योगि, निर्वाण और शांतिभक्ति।
वीरनिर्वाण- सूयर्योदय के समय	— सिद्ध भक्ति, निर्वाण, पंचगुरु, शांति भक्ति।
श्रुतपंचमी	— बृहत्सिद्धभक्ति, बृहत्श्रुतभक्ति श्रुत-स्कंध की स्थापना, बृहत्वाचना, बृहत्-श्रुतभक्ति, आचार्य भक्ति पूर्वक स्वाध्याय, श्रुतभक्ति द्वारा स्वाध्याय की पूर्णता अन्त में शांति भक्ति कर क्रिया पूर्णता
श्रुतपंचमी के दिन गृहस्थों को	—सिद्ध, श्रुत, शांतिभक्ति
सिद्धांत वाचना=	सिद्ध, श्रुतभक्ति द्वारा प्रारम्भ श्रुतभक्ति आचार्यभक्ति कर वाचना अन्त में श्रुत और शांति भक्ति।
गृहस्थों को सन्यास के प्रारम्भ में	—सिद्ध, श्रुत, शांतिभक्ति।
गृहस्थों को सन्यास के अन्त में	—सिद्ध, श्रुत, शांति
वर्षायोग धारण करते समय	—सिद्ध, योगि, चैत्यभक्ति।
वर्षायोग धारण की प्रदक्षिणा में	—यावन्ति जिनचैत्यानि, स्वयम्भ स्तोत्र की दो स्तुति चैत्यभक्ति।
वर्षायोग स्वीकार करते समय	—गुरुभक्ति शान्ति भक्ति।
वर्षायोग समाप्ति में	—वर्षायोग धारण करने की पूर्णविधि
आचार्यपद ग्रहण करते समय	—सिद्ध, आचार्य शान्ति भक्ति।
प्रतिमायोग धारण करने वाले मुनि की वन्दना करते समय	सिद्ध, योगि, शान्ति भक्ति।

यदि चतुर्दशी की क्रिया चतुर्दशी के दिन न हो सके तो पौर्णिमा वा अमावस्या के दिन अष्टमी की क्रिया करे अर्थात् सिद्ध, श्रुत, चारित्र और शांति भक्ति पढ़े।

दीक्षा ग्रहण करते समय—	बृहत्सिद्ध भक्ति, लघु योगिभक्ति ।
दीक्षा के अन्त में—	सिद्धभक्ति ।
केशलोंच करते समय—	लघु सिद्धभक्ति, लघु योगिभक्ति ।
लोच के अन्त में—	सिद्धभक्ति ।
प्रतिक्रमण में—	सिद्ध, प्रतिक्रमण, वीरभक्ति, चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति ।
रात्रियोग धारण---	योगिभक्ति ।
रात्रियोग का त्याग—	योगिभक्ति ।
देव वन्दना में दोष लगने पर---	समाधिभक्ति ।
सामान्य ऋषि के स्वर्गवास होने पर उनके शरीर और निषद्या की क्रिया में	सिद्ध, योगि, शान्तिभक्ति ।
सिद्धांतवेत्ता साधु के स्वर्गवास में—	सिद्ध, श्रुत, योगि, शान्तिभक्ति ।
उत्तर गुणधारी साधु के स्वर्गवास होने पर	सिद्ध, चारित्र, योगि, शांतिभक्ति ।
उत्तरगुणधारी सिद्धान्तवेत्ता साधु के स्वर्गवास पर	सिद्ध, श्रुत चारित्र योगिशांति भक्ति
आचार्य के स्वर्गवास होने पर	— सिद्ध, योगि, आचार्य, शांतिभक्ति
सिद्धांतवेत्ता आचार्य के स्वर्गवास पर---	सिद्धश्रुत योगि आचार्य शांतिभक्ति
उत्तरगुणधारी आचार्य के स्वर्गवास पर	सिद्ध चारित्र योगि आचार्य शांति भक्ति ।
उत्तरगुणधारी सिद्धांत वेत्ता आचार्य के स्वर्गवास पर	सिद्ध, श्रुत, योगि, आचार्य शान्ति भक्ति ।
पाक्षिक प्रतिक्रमण में	---सिद्ध, चारित्र, प्रतिक्रमण, वीर भक्ति, चतुर्विंशतिभक्ति, चारित्रालोचना गुरुभक्ति, बृहदालोचना, गुरुभक्ति, लघुआचार्य भक्ति ।
चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में	"
वार्षिक प्रतिक्रमण में	"

दश भक्ति

अथ ईर्यापथशुद्धिः

निःसंगोऽहं जिनानां सदनमनुपमं त्रिः परीत्येत्य भक्त्या, स्थित्वा गत्वा निषद्योच्चरणपरिणतोऽन्तः शनैर्हस्तयुग्मम्। भाले संस्थाप्य बुद्ध्या मम दुरितहरं कीर्तये शक्रवन्द्यं, निन्दादूरं सदाप्तं क्षयरहितममुं ज्ञानभानुं जिनेन्द्रम् ॥ १ ॥ श्रीमत्पवित्रमकलंकमनन्तकल्पं, स्वायंभुवं सकलमंगलमादितीर्थम्। नित्योत्सवं मणिमयं निलयं जिनानां, त्रैलोक्यभूषणमहं शरणं प्रपद्ये ॥ २ ॥ श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम्। जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य, शासनं जिनशासनं ॥ ३ ॥ श्रीमुखालोकनादेव, श्रीमुखालोकनं भवेत्। आलोकनविहीनस्य, तत्सुखावाप्तयः कुतः ॥ ४ ॥ अद्याभवत्सफलता नयनद्वयस्य, देव ! त्वदीयचरणाम्बुजवीक्षणेन। अद्य त्रिलोकतिलक प्रतिभासते मे, संसारवारिधिरयं चुलुकप्रमाणं ॥ ५ ॥ अद्य मे क्षालितं गात्रं, नेत्रे च विमलीकृते। स्नातोऽहं धर्मतीर्थेषु, जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ ६ ॥ नमो नमः सत्वहितंकराय, वीराय भव्याम्बुजभास्कराय। अनन्तलोकाय सुरार्चिताय, देवाधिदेवाय नमो जिनाय ॥ ७ ॥ नमो जिनाय त्रिदशार्चिताय. विनष्टदोषाय गुणार्णवाय। विमुक्तिमार्गप्रतिबोधनाय, देवाधिदेवाय नमो जिनाय ॥ ८ ॥ देवाधिदेव ! परमेश्वर ! वीतराग ! सर्वज्ञ तीर्थंकर ! सिद्ध ! महानुभाव। त्रैलोक्यनाथ जिनपुंगव ! वर्द्धमान ! स्वामिन् ! गतोऽस्मि शरणं चरणद्वयं ते ॥ ९ ॥ जितमदहर्षद्वेषा जितमोहपरीषहा जितकषायाः। जितजन्ममरणरोगा जितमात्सर्या जयन्तु जिनाः ॥ १० ॥ जयतु जिनवर्द्धमानस्त्रिभुवनहितधर्मचक्रनीरजबन्धुः। त्रिदशपतिमुकुटभासुरचूडामणिरश्मिरंजितारुणचरणः ॥ ११ ॥ जय जय जय त्रैलोक्यकाण्डशोभिशिखामणे, नुद नुद नुद स्वान्तध्वान्तं जगत्कमलार्क नः। नय नय नय स्वामिन् शांतिं नितान्तमनन्तिमां, नहि नहि नहि त्राता लोकैकमित्र भवत्परः ॥ १२ ॥ चित्ते मुखे शिरसि पाणिपयोजयुग्मे, भक्तिं स्तुतिं विनतिमञ्जलिमञ्जसैव। चेक्रीयते चर्करीति चरीकरीति। यश्चर्करीति तव देव स एव धन्यः ॥ १३ ॥ जन्मोन्मार्जं भजतु भवतः पादपद्मं न लभ्यं, तच्चेत्स्वैरं चरतु न च दुर्देवतां सेवतां सः। अश्नात्यन्नं यदिह सुलभं दुर्लभं चेन्मुधास्ते, क्षुद्व्यावृत्त्यै कवलयति कः कालकूटं बुभुक्षुः ॥ १४ ॥ रूपं ते निरुपाधि-सुन्दरमिदं पश्यन् सहस्रेक्षणः, प्रेक्षाकौतुककारि कोऽत्र भगवन्नोपत्यवस्थान्तरम्। वाणीं गद्गदयन्वपुः पुलकयन्नेत्रद्वयं स्रावयन्, मूर्द्धानं नमयन्करौ मुकुलयंश्चेतोऽपि निर्वापयन् ॥ १५ ॥ त्रस्तारातिरिति त्रिकालविदिति त्राता त्रिलोक्या इति, श्रेयः सूतिरिति श्रियां निधिरिति श्रेष्ठः सुराणामिति। प्राप्तोऽहं शरणं शरण्यमगतिस्त्वां तत्त्यजोपेक्षणं। रक्ष क्षेमपद प्रसीद जिन किं विज्ञापितैर्गोपितैः ॥ १६ ॥ त्रिलोकराजेन्द्रकिरीटकोटिप्रभाभिरालीढपदारविन्दम्। निर्मूलमुन्मूलितकर्मवृक्षं, जिनेन्द्रचन्द्रं प्रणमामि भक्त्या ॥ १७ ॥ करचरणतनुविघातादटतो निहतः प्रमादतः प्राणी। ईर्यापथमिति भीत्या मुञ्चे तद्दोषहान्यर्थम् ॥ १७ ॥ ईर्यापथे प्रचलताऽद्य मया प्रमादादेकेन्द्रियप्रमुखजीवनिकाय-

बाधा। निर्वर्त्तिता यदि भवेद्युगांतरेक्षा, मिथ्या तदस्तु दुरितं गुरुभक्तितो मे ॥ १८ ॥ पडिक्कमामि भंते इरियावहियाए विराहणे अणागुत्ते, अइगमणे, णिग्गमणे, ठाणे, गमणे चंकमणे, पाणुग्गमणे बिज्जुग्गमणे, हरिदुग्गमणे, उच्चारपस्सवणखेलसिंहाणव वियडिय पइट्ठावणियाए, जे जीवा एइंदिया वा, बेइंदिया वा, तेइंदिया वा, चउरिंदिया वा, णोल्लिदा वा, पेल्लिदा वा, संघट्टिदा वा, संघादिदा वा, उद्दाविदा वा, परिदाविदा वा, पंचेंदियावप-किरिच्छिदा वा, लेसिदा वा छिंदिदा वा, भिंदिदा वा, ठाणदो वा ठाणचंकमणदो वा तस्स उत्तरगुणं तस्स पायच्छित्तकरणं तस्स विसोहिकरणं जाव अरहंताणं भयवंताणं णमोकारं करोमि तावक्कायं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि। "ॐ णमो अरहंताणं, णमोसिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं" ॥ जाप्यानि ॥ ९ ॥ ॐ नमः परमात्मने नमोऽनेकान्ताय शान्तये इच्छामि भंते इरयावहियस्स आलोचेउं पुव्वुत्तरदक्खिणपच्छिमचउदिसु विदिसासु विहरमाणेण, जुगंतरदिट्ठिणा, भव्वेण दट्ठव्वा, पमाददोसेण डवडवचरियाए पाणभूदजीवसत्ताणं एदेसिं उवघादो कदो वा कारिदो वा कारिंतो वा, समणुमणिदो वा तस्स मिच्छा मे दुक्कडं। पापिष्ठेन दुरात्मना जडधिया मायाविना लोभिना, रागद्वेषमलीमसेन मनसा दुष्कर्म यन्निर्मितम्। त्रैलोक्याधिपते, जिनेन्द्र भवतः श्रीपादमूलेऽधुना, निन्दापूर्वमहं जहामि सततं निवर्त्तये कर्म्मणाम् ॥ १ ॥ जिनेन्द्रमुन्मूलितकर्मबन्धं, प्रणम्य सन्मार्गकृतस्वरूपम्। अनन्तबोधादिभवं गुणौघ क्रियाकलापं प्रकटं प्रवक्ष्ये ॥ २ ॥ अथार्हत्पूजारंभक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेतं श्रीमत्सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्। णमो अरहन्ताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं। चत्तारि मंगलं, अरहन्ता मंगलं सिध्दा मंगलं, साहूमंगलं, केवलपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा, अरहन्ता लोगुत्मा, सिद्धालोगुत्तमा, साहूलोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरहन्ते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहूसरणं पव्वज्जामि। केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि। अड्ढाइज्जदीव-दोसमुद्देसु पण्णरसकम्मभूमिसु, जाव अरहन्ताणं, भयवंताणं, आदियराणं तित्थयराणं, जिणाणं, जिणोत्तमाण केवलियाणं, सिद्धाणं बुद्धाणं, परिणिव्वुदाणं, अंतयडाणं, पारयडाणं धम्माइरियाणं, धम्मदेसियाणं, धम्मणायगाणं धम्मवरचाउरंगचक्कवट्टीणं, देवाहिदेवाणं, णाणाणं दंसणाणं, चरित्ताणं, सदा करोमि, किरियम्मं। करेमि भंत्ते, सामायियं सव्वसावज्जजोगं पच्चक्खामि, जावज्जीवं तिविहेण मणसा-वचसा कायेण, ण करेमि णकारेमि करंतंपि ण समणुमणामि तस्स भंते अइचारं पडिक्कमामि, णिंदामि गरहामि जाव अरहताणं भयवंताणं, पज्जुवासं करेमि, तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि जीवियमरणे लाहालाहे संजोगविप्पजोगेय। बंधुरिसुहदुक्खादो समदा सामायियं णाम। त्थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवली अणन्तजिणे। णरपवरलोअमहिए, विहुयरयमले महप्पणे ॥ १ ॥ लोयस्सुज्जोययरे, धम्मंतित्थंकरे जिणे वंदे। अरहंते कित्तिस्से, चउवीसं चेव केवलिणो

॥ २ ॥ उसहमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च। पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ ३ ॥ सुविहिं च पुप्फयंतं; सीयल सेयं च वासुपुज्जं च। विमलमणंतं भयवं धम्मं संतिं च वंदामि ॥ ४ ॥ कुंथुं च जिणवरिंदं, अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं। वंदाम्यरिट्ठणेमिं तह पांस वड्ढमाणं च ॥ ५ ॥ एवं मए अभित्थुया विहुयरयमला पहीणजरमरणा। चउवीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ६ ॥ कित्तिय वंदिय महिया एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा। आरोग्गणाणलाहं, दिंतु समाहिं च मे बोहिं ॥ ७ ॥ चंदेहिं णिम्मलयरा, आइच्चेहिं अहियपहा सत्ता। सायरमिव गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ८ ॥

अथ श्रीसिद्ध भक्तिः

सिद्धानुद्धूतकर्मप्रकृतिसमुदायान्साधितात्मस्वभावान्, वंदे सिद्धिप्रसिद्ध्यै तदनुपमगुणप्रग्रहाकृष्टितुष्टः। सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुणगुणगणोच्छादि-दोषापहारान्, योग्योपादानयुक्त्या दृषद इह यथा हेमभावोपलब्धिः ॥ १ ॥ नाभावः सिद्धिरिष्टा न निजगुणहतिस्तत्तपोभिर्न युक्तेः, अस्त्यात्मानादिबद्धः स्वकृतजफलभुक् तत्क्षयान्मोक्षभागी। ज्ञाता दृष्टा स्वदेहप्रमितिरुपसमाहारविस्तार धर्मा, ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मा स्वगुणयुत इतो नान्यथा साध्यसिद्धिः ॥ २ ॥ स त्वन्तर्बाह्यहेतुप्रभवविमलराद्दर्शनज्ञानचर्या—, संपद्धेतिप्रघातक्षजदुरिततया व्यञ्जिताचिन्त्यसारैः। कैवल्यज्ञानदृष्टिप्रवरसुखमहावीर्यसम्यक्त्वलब्धि—, ज्योतिर्वातायनादिस्थिरपरमगुणैरद्भुतैर्भासमानः ॥ ३ ॥ जानन्पश्यन्समस्तं सममनुपरतं संप्रतृप्यन्वितन्वन्, धुन्वन्ध्वान्तं नितान्तं निचितमनुपमं प्रीणयन्नीश-भावम्। कुर्वन्सर्वप्रजानामपरमभिभवन् ज्योतिरात्मानमात्मा आत्मन्येवात्मनासौ क्षणमुपजनयन्सत्स्वयंभूः प्रवृत्तः ॥ ४ ॥ छिन्दन्शेषानशेषान्निगलवलकलीस्तैरन-न्तस्वभावैः, सूक्ष्मत्वाग्र्यावगाहागुरुलघुकगुणैः क्षायिकैः शोभमानः। अन्यैश्चा-न्यव्यपोहप्रवणविषयसंप्राप्तिलब्धिप्रभावै—, रूर्ध्वं व्रज्यास्वभावात्समयमुपगतो धाम्नि संतिष्ठतेऽग्र्ये ॥ ५ ॥ अन्याकाराप्तिहेतुर्न च भवति परो येन तेनाल्प-हीनः, प्रागात्मोपात्तदेहप्रतिकृतिरुचिराकार एव ह्यमूर्तः। क्षुत्तृष्णाश्वासकासज्वर-मरणजरानिष्टयोगप्रमेह-व्यापत्त्याद्युग्रदुःखप्रभवभवहतेः कोऽस्य सौख्यस्य माता ॥ ६ ॥ आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालं, वृद्धिह्रास-व्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वन्द्वभावम्। अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपममभितं शाश्वतं सर्वकालं, उत्कृष्टानन्तसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम् ॥ ७ ॥ नार्थः क्षुत्तृट्विनाशाद्विविधरसयुतैरन्नपानैरशुच्या नास्पृष्टेर्गन्धमाल्यैर्नहि मृदुशयनैर्ग्लानि-निद्राद्यभावात्। आतङ्कार्तेरभावे तदुपशमनसद्भेषजानर्थतावद्, दीपानर्थक्य-

वद्वा व्यपगततिमरे दृश्यमाने समस्ते ॥ ८ ॥ तादृक्सम्पत्समेता विविधनय-तपःसंयमज्ञानदृष्टि—चर्यासिद्धाः समन्तात्प्रविततयशसो विश्वदेवाधिदेवाः । भूता भव्या भवन्तः सकलजगति ये स्तूयमाना विशिष्टैः, तान्सर्वान्नौम्यनंतान्नि-जिगमिषुररं तत्स्वरूपं त्रिसन्ध्यम् ॥ ६ ॥ कृत्वा कायोत्सर्गं चतुरष्टदोषविर-हितं सुपरिशुद्धम् । अतिभक्तिसंप्रयुक्तो योवंदते स लघु लभते परमसुखम् ॥ १ ॥ इच्छामि भंते सिद्धिभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं सम्मणाणसम्मदंसण-सम्मचारित्तजुत्ताणं अट्ठविहकम्मविप्पमुक्काणं अट्ठगुणसंपण्णाणं उड्ढलोय-मच्छयमि पयट्ठियाणं तवसिद्धाणं णयसिद्धाणं संजमसिद्धाणं अतीताणागदवट्ट-माणकालत्तयसिद्धाणं सव्वसिद्धाणं सया णिच्चकालं अंचेमि वन्दामि पूजेमि णमंस्सामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिण-गुणसम्पत्ति होउ मज्भं ।

इति सिद्धभक्तिः

श्रीश्रुतभक्तिः

स्तोष्ये संज्ञानानि परोक्षप्रत्यक्षभेदभिन्नानि । लोकालोकविलोकनलोकित-सल्लोचनानि सदा ॥ १ ॥ अभिमुखनियमितबोधनमाभिनिबोधिकमनिंद्रिये-न्द्रियजम् । बव्हाद्यवग्रहादिककृतषट्त्रिंशत् त्रिशतभेदम् ॥ २ ॥ विविधर्द्धि-बुद्धिकोष्ठस्फुटबीजपदानुसारिबुद्ध्यधिकं । संभिन्नश्रोतृतया सार्धं श्रुतभाजनं वन्दे ॥ ३ ॥ श्रुतमपि जिनवरविहितं गणधररचितं द्व्नेकभेदस्थम् । अङ्गांगवाह्यभावितमनंतविषयं नमस्यामि ॥ ४ ॥ पर्यायक्षरपदसंघातप्रतिपत्ति-कानुयोगविधीन् । प्राभृतकप्राभृतकं प्राभृतकं वस्तुपूर्वं च ॥ ५ ॥ तेषां समा-सतोऽपि च विंशति भेदान्समश्नुवानं तत् । वन्दे द्वादशधोक्तं गंभीरवरशास्त्र-पद्धत्या ॥ ६ ॥ आचारं सूत्रकृतं स्थानं समवायनामधेयं च । व्याख्याप्रज्ञप्तिं च ज्ञातृकथोपासकाध्ययने ॥ ७ ॥ वंदेऽन्तकृद्दशमनुत्तरोपपादिकदशं दशावस्थम् । प्रश्नव्याकरणं हि विपाकसूत्रं च विनमामि ॥ ८ ॥ परिकर्म च सूत्रं च स्तौमि प्रथमानुयोगपूर्वगते । साद्धं चूलिकयापि च पंचविधं दृष्टिवादं च ॥ ६ ॥ पूर्वगतं तु चतुर्दशधोदितमुत्पादपूर्वमाद्यमहम् आग्रायणीयमीडे पुरुष-वीर्यानुप्रवादं च ॥ १० ॥ संततमहमभिवंदे तथास्तिनास्तिप्रवादपूर्वं च । ज्ञानप्रवादसत्यप्रवादमात्मप्रवादं च ॥ ११ ॥ कर्मप्रवादमीडेऽथ प्रत्याख्याननाम धेयं च ' दशमं विद्याधारं पृथुविद्यानुप्रवादंच ॥ १२ ॥ कल्याणनामधेयं प्राणावायं क्रियाविशालं च । अथ लोकबिंदुसारं वंदे लोकाग्रसारपदं ॥ १३ ॥ दश च चतुर्दश चाष्टावष्टादश च द्वयोद्विषट्कं च । षोडश च विंशतिं च त्रिंशतमपि

पंचदश च तथा ॥ १४ ॥ वस्तूनि दश दशान्येष्वनुपूर्वं भाषितानि पूर्वाणाम् । प्रतिवस्तु प्राभृतकानि विंशतिं विंशतिं नौमि ॥ १५ ॥ पूर्वान्तं ह्यपरान्तं ध्रुवमध्रुव च्यवनलब्धिनामानि । अध्रुवसंप्रणिधिं चाप्यर्थं भौमावयाद्यं च ॥ १६ ॥ सर्वार्थकल्पनीयं ज्ञानमतीतं त्वनागत कालम् । सिद्धिमुपाध्यं च तथा चतुर्दशवस्तूनि द्वितीयस्य ॥ १७ ॥ पंचमस्तुचतुर्थप्राभृतकस्यानुयोगनामानि । कृति. वेदने तथैव स्पर्शनकर्मप्रकृतिमेव ॥ १८ ॥ बंधननिबंधनप्रक्रममथाभ्युदयमोक्षौ: । संक्रमलेश्ये च तथा लेश्यायाः कर्मपरिणामौ ॥ १९ ॥ सातमसातं दीर्घं ह्रस्वं भवधारणीयसंज्ञं च । पुरुपुद्गलात्मनाम च निधत्तमनिधत्तमभिनौमि ॥ २० ॥ सनिकाचितमनिकाचितमथ कर्मस्थितिकपश्चिमस्कंधौ । अल्पबहुत्वं च यजे तद्द्वाराणां चतुर्विंशम् ॥ २१ ॥ कोटीनां द्वादशशतमष्टापंचाशतं सहस्राणाम् । लक्षत्र्यशीतिमेव च पंच च वंदे श्रुतिपदानि ॥ २२ ॥ षोडशशतं चतुस्त्रिंशत्कोटीनात्र्यशीतिलक्षाणि । शतसंख्याष्टासप्ततिमष्टाविंशतिं च पदवर्णान् ॥ २३ ॥ सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवं वंदना प्रतिक्रमणं । वैनयिकं कृतिकर्म च पृथुदशवैकालिकं च तथा ॥ २४ ।' वरमुत्तराध्ययनमपि कल्पव्यवहारमेवमभिवंदे । कल्पाकल्पं स्तौमि महाकल्पं पुंडरीकं च ॥ २५ ॥ परिपाट्या प्रणिपतितोऽस्म्यहं महापुंडरीकनामैव । निपुणान्यशीतिकं च प्रकीर्णकान्यंगबाह्यानि ॥ २६ ॥ पुद्गलमर्यादोक्तं प्रत्यक्षं सप्रभेदमवधिं च । देशावधिपरमावधिसर्वावधिभेदमभिवंदे ॥ २७ ॥ परमनसि स्थितमर्थं मनसा परिविद्य मंत्रिमहितगुणम् । ऋजुविपुलमतिविकल्पं स्तौमि मनःपर्ययज्ञानम् ॥ २८ ॥ क्षायिकमनन्तमेकं त्रिकालसर्वार्थयुगपदवभासम् । सकलसुखधाम सततं वंदेऽहं केवलज्ञानम् ॥ २९ ॥ एवमभिष्टुवतो मे ज्ञानानि समस्तलोकचक्षूंषि : लघु भवताज्ज्ञानर्द्धिज्ञानफलं सौख्यमच्यवनं ॥ ३० ॥ इच्छामि भंते । सुदभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्स आलोचेउं अंगोवगपइण्णए पाहुडयपरियम्मसुत्तपढमाणिओगपुव्वगयचूलिया चेव सुत्तत्थयथुइधम्मकहाइयं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ बोहिलाहो, सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

इति श्रुतभक्तिः

अथ श्रीचारित्रभक्ति

येनेन्द्रान्भुवनत्रयस्य विलसत्केयूरहारांगदान्, भास्वन्मौलिमणिप्रभाप्रविसरोत्तुंगोत्तमांगान्नतान् । स्वेषां पादपयोरुहेषु मुनयश्चक्रुः प्रकामं सदा, वंदे पञ्चतयं

तमद्य निगदन्नाचारमभ्यर्चितम् ॥ १ ॥ अर्थव्यंजनतद्द्वयाविकलताकालोपधा-प्रश्रयाः, स्वाचार्याद्यनपन्हवो बहुमतिश्चेत्यष्टधा व्याहृतम् । श्रीमज्ज्ञातिकुलेन्दुना भगवता तीर्थस्य कर्त्राऽञ्जसा, ज्ञानाचारमहं त्रिधा प्रणिपताम्युद्धूतये कर्मणाम् ॥ २ ॥ शंकादृष्टि-विमोहकांक्षणविधिव्यावृत्ति सन्नद्धतां, वात्सल्यं विचिकित्सनादुपरतिं, धर्मोपबृंहक्रियां । शक्त्याशासनदीपनं हितपथाद्भ्रष्टस्य संस्थापनं, वंदे दर्शनगोचरं सुचरितं मूर्ध्ना नमन्नादरात् ॥ ३ ॥ एकान्ते शयनोपवेशनकृतिः संतापनं तानवम्, संख्यावृत्तिनिबंधनामनशनं विष्वाणमर्द्धोदरम् । त्यागं चेन्द्रियदन्तिनो मदयतः स्वादो रसस्यानिशम्, षोढा बाह्यमहं स्तुवे शिवगतिप्राप्त्यभ्युपायं तपः ॥ ४ ॥ स्वाध्यायः शुभकर्मणश्च्युतवतः संप्रत्यवस्थापनम्, ध्यानं व्यावृतिरामयाविनि गुरौ वृद्धे च बाले यतौ । कायोत्सर्जनसत्क्रिया विनय इत्येवं तपः षट्विधं, वंदेऽभ्यंतरमन्तरंगबलवद्विद्वेषिविध्वंसनम् ॥ ५ ॥ सम्यग्ज्ञानविलोचनस्य दधतः श्रद्धानमर्हन्मते, वीर्यस्याविनिगूहनेन तपसि स्वस्य प्रयत्नाद्यतेः ॥ या वृत्तिस्तरणीव नौरविवरा लघ्वी भवोदन्वतो, वीर्याचारमहं तमूर्जितगुणं वंदे सतामर्चितम् ॥ ६ ॥ तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनोभाषानिमित्तोदयाः, पंचेर्यादिसमाश्रयाः समितयः पंचव्रतानीत्यपि । चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दृष्टं परैराचारं परमेष्ठिनो जिनपतेर्वीरं नमामो वयम् ॥ ७ ॥ आचारं सह पंचभेदमुदितं तीर्थं परं मंगलं, निर्ग्रंथानपि सच्चरित्रमहतो वंदे समग्रान्यतीन् ॥ आत्माधीनसुखोदयामनुपमां लक्ष्मीमविध्वंसिनीं, इच्छन्केवलदर्शनावगमनप्राज्यप्रकाशोज्वलाम् ॥ ८ ॥ अज्ञानाद्यदवीवृतं नियमिनोऽवर्तिष्यहं चान्यथा, तस्मिन्नर्जितमस्यति प्रतिनवं चैनो निराकुर्वति ॥ वृत्ते सप्ततयी निधिं सुतपसामृद्धिं नयत्यद्भुतं, तन्मिथ्या गुरु दुष्कृतं भवतु मे स्वं निंदितो निंदितम् ॥ ९ ॥ संसारव्यसनाहतिप्रचलिता नित्योदयप्रार्थिनः, प्रत्यासन्नविमुक्तयः सुमतयः शांतैनसः प्राणिनः । मोक्षस्यैव कृतं विशालमतुलं सोपानमुच्चैस्तराम्, आरोहन्तु चरित्तमुत्तममिदं जैनेंद्रमोजस्विनः ॥ १० ॥ इच्छामि भंते चारित्तभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्स आलोचेउं सम्मण्णाणजोयस्स सम्मत्ताहिट्ठियस्स सव्वपहाणस्स णिव्वाणमग्गस्स कम्मणिज्जरफलस्स खमाहारस्स पंचमहव्वयसंपण्णस्स तिगुत्तिगुत्तस्स पंचसमिदिजुत्तस्स णाणज्झाणणाहणस्स समया इव पवेसयस्स सम्मचारित्तस्स सया अंचेमि, पूजेमि वंदामि णमंसामि, दुक्खक्खओ कम्मक्खओ, बोहिलाहो सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

इति चारित्रभक्तिः

अथ योगभक्तिः

जातिजरोरुरोगमरणातुरशोकसहस्रदीपिताः, दुःसहनरकपतनसन्त्रस्तधियः प्रतिबुद्धचेतसः। जीवितमंबुबिंदुचपलं तडिदभ्रसमा विभूतयः, सकलमिदं विचिन्त्य मुनयः प्रशमाय वनान्तमाश्रिताः ॥ १ ॥ व्रतसमितिगुप्तिसंयुताः शमसुखमाधाय मनसि वीतमोहाः। ध्यानाध्ययनवशंगताः विशुद्धये कर्मणां तपश्चरन्ति ॥ २ ॥ दिनकरकिरणनिकरसंतप्तशिलानिचयेषु निःस्पृहाः। मलपटलावलिप्ततनवः शिथिलीकृतकर्मबन्धनः ॥ व्यपगतमदनदर्परतिदोषकषायविरक्तमत्सराः गिरिशिखरेषु चंडकिरणाभिमुखस्थितयो दिगंबराः ॥ ३ ॥ सज्ज्ञानामृतपायिभिः क्षान्तिपयः सिंच्यमानपुण्यकायैः। धृतसंतोषच्छत्रकैस्तापस्तीव्रोऽपि सह्यते मुनीन्द्रैः, ॥ ४ ॥ शिखिगलकज्जलालिमलिनैर्विबुधाधिपचापचित्रितैः, भीमरवैर्विसृष्टचण्डाशनिशीतलवायुवृष्टिभिः। गगनतलं विलोक्य जलदैः स्थगितं सहसा तपोधनाः, पुनरपि तरुतलेषु विषमासु निशासु विशंकमासते ॥ ५ ॥ जलधाराशरताडिता न चलन्ति चरित्रतः सदा नृसिंहाः। संसारदुःखभीरवः परीषहारातिघातिनः प्रवीराः ॥ ६ ॥ अविरतबहलतुहिनकणवारिभिरंघ्रिपपत्रपातनै-रनवरतमुक्तसीत्काररवैः परुषैरथानिलैः शोषितगात्रयष्टयः। इह श्रमणा धृतिकंबलावृताः शिशिरनिशाम्। तुषारविषमां गमयन्ति चतुःपथे स्थिताः ॥ ७ ॥ इति योगत्रयधारिणः सकलतपःशालिनः प्रवृद्धपुण्यकायाः। परमानंदसुखैषिणः समाधिमग्र्यं दिशंतु नो भदन्ताः ॥ ८ ॥ गिम्हेगिरिसिहरत्था वरिसायाले रुक्खमूलरयणीसु। सिसिरे वाहिरसयणा ते साहू वंदिमो णिच्चं ॥ १ ॥ गिरिकंदरदुर्गेषु ये वसंति दिगंबराः। पाणिपात्रपुटाहारास्ते यांति परमां गतिम् ॥ २ ॥ इच्छामि भंते योगिभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सआ लोचेउं अड्ढाइज्जदीवदोसमुद्देसु पण्णारसकम्मभूमीसु आदावणरुक्खमूलअब्भोवासठाणमोणविरासणेक्कपासकुक्कुडासणचउछपक्खखवणादियोगजुत्ताणं सव्वसाहूणं वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ कम्मक्खओ, वोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ॥

इति योगभक्तिः

—०—

अथ आचार्यभक्तिः

सिद्धगुणस्तुतिनिरतानुद्धतरुषाग्निजालबहुलविशेषान्। गुप्तिभिरभिसंपूर्णान् मुक्तियुतः सत्यवचनलक्षितभावान् ॥१॥ मुनिमाहात्म्यविशेषात् जिन-

शासनसत्प्रदीपभासुरमूर्तीन् ॥ सिद्धिं प्रपित्सुमनसो बद्धरजोविपुलमूलघातन-कुशलान् ॥ २ ॥ गुणमणिविरचितवपुषः षड्द्रव्यविनिश्चितस्य धातॄन्सततम् । रहितप्रमादचर्यान्दर्शनशुद्धान्—गणस्य संतुष्टिकरान् ॥ ३ ॥ मोहच्छिदुग्रतपसः प्रशस्तपरिशुद्धहृदयशोभनव्यवहारान् । प्रासुकनिलयाननघानाशाविध्वंसिचेतसो हतकुपथान् ॥ ४ ॥ धारितविलसन्मुण्डान्वर्जितबहुदंडपिंडमंडलनिकारन् । सकल परीषहजयिनः क्रियाभिरनिशं प्रमादतः परिरहितान् ॥ ५ ॥ अचलान्व्यपेत निद्रान्स्थानयुतान्कष्टदुष्टलेश्याहीनान् । विधिनानाश्रितवासानलिप्तदेहान्विनि-र्जितेंद्रियकरिणः ॥ ६ ॥ अतुलानुत्कुटिकासान्विविक्तचित्तानखंडितस्वाध्यायान् । दक्षिणभावसमग्रान्व्यपगतमदरागलोभशठमात्सर्यान् ॥ ७ ॥ भिन्नार्तरौद्रपक्षान्सं-भावितधर्मशुक्लनिर्मलहृदयान् ॥ ८ ॥ नित्यं पिनद्धकुगतीन्पुण्यान्गण्योदया-न्विलीनगारवचर्यान् । तरुमूलयोगयुक्तानवकाशातापयोगरागसनाथान् । बहुजन-हितकरचर्यानभवाननघान्महानुभावविधानान् ॥ ९ ॥ ईदृशगुणसंपन्नान्युष्मान्भवत्या विशालया स्थिरयोगान् विधिनानारतमग्रयान्मुकुलीकृतहस्तकमलशोभितशिरसा ॥ १० ॥ अभिनौमि सकलकलुषप्रभवोदयजन्मजरामरणबंधनमुक्तान् । शिवम-चलमनघमक्षयमव्याहतमुक्तिसौख्यमस्त्विति सततम् ॥ ११ ॥ इच्छामि भंते आइ-रियभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं सम्मणाणसम्मदसणसम्मयचारित्तजुत्ताणं पंचविहाचाराणाण आयरियाणं आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं, तिरयणगुणपालनरयाणं सव्वसाहूणं सयाअंचेमि, पूजेमि, बंदामि; णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो सुगइगमणं, समाहिमरणं जिनगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

इति आचार्य भक्तिः

अथ पंचगुरुभक्तिः

श्रीमदमरेन्द्रमुकुटप्रघटितमणिकिरणवारिधाराभिः । प्रक्षालितपदयुगलान्प्र णमामि जिनेश्वरान्भक्त्या । १ । अष्टगुणैः समुपेतान्प्रणष्टदुष्टाष्टकर्मरिपुसमि-तीन् । सिद्धान्सततमनन्तान्तान्नमस्करोमीष्टतुष्टिसंसिद्ध्यै ॥ २ ॥ साचारश्रुतज-लधीन्प्रतीर्य शुद्धोरुचरणनिरतानाम् । आचार्याणां पदयुगकमलानि दधे शिरसि मेऽहम् ॥ ३ ॥ मिथ्यावादिमदोग्रध्वान्तप्रध्वंसिवचनसंदर्भान् । उपदेशकान्प्रपद्य मम दुरितारिप्रणाशाय ॥ ४ ॥ सम्यग्दर्शनदीपप्रकाशका मेयबोधसंभूताः । भूरि-चरित्रपताकास्ते साधुगणास्तु मां पान्तु ॥ ५ ॥ जिन सिद्धसूरिदेशकसाधुवरानम लगुणगणोपेतान् । पंचनमस्कारपदैस्त्रिसन्ध्यमभिनौमि मोक्षलाभाय ॥ ६ ॥ एष

पञ्चनमस्कारः सर्वपापप्रणाशनः । मङ्गलानां च सर्वेषां प्रथमं मंगलं भवेत् ॥ ७ ॥ अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायाः सर्वसाधवः । कुर्वन्तु मंगलाः सर्वे निर्वाण-परमश्रियम् ॥ ८ ॥ सर्वान् जिनेन्द्रचन्द्रान्सिद्धानाचार्यपाठकान् साधून् । रत्नत्रयं च वंदे रत्नत्रयसिद्धये भक्त्या ॥ ९ ॥ पान्तु श्रीपादपद्मानि पञ्चानां परमेष्ठिनाम् । लालितानि सुराधीशचूडामणिमरीचिभिः ॥ १० ॥ प्रातिहार्यैर्जिनान् सिद्धान् गुणैः सूरीन् स्वमातृभिः । पाठकान् विनयैः साधून् योगांगैरष्टभिः स्तुवे ॥ ११ ॥ इच्छामि भंते पंचमहागुरुभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं अट्ठमहा-पाडिहेरसंजुत्ताणं अरहंताणं, अट्ठगुणसंपण्णाणं उड्ढलोयमत्थयम्मि पइट्ठियाणं सिद्धाणं, अट्ठपवयणमउसंजुत्ताणं आयरियाणं, आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं, तिरयणगुणपालणरयाणं सव्वसाहूणं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ बोहिलाहो, सुगइगमणं समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।

इति पंचगुरुभक्तिः

अथ तीर्थंकरभक्तिः

अथ देवसियपडिक्कमणाए सव्वाइच्चारविसोहिणिमित्तं पुव्वाइरियकमेण चउवीसतित्थयरभत्तिकाउस्सग्गं करेमि ॥ चउवीसं तित्थयरे उसहाईवीर-पच्छिमे वंदे । सव्वेसि मुणिगणहरसिद्धे सिरसा णमंसामि ॥ १ ॥ ये लोकेऽष्ट-सहस्रलक्षणधरा ज्ञेयार्णवांतर्गता–, ये सम्यग्भवजालहेतुमथनाश्चंद्रार्कतेजोधिकाः येसाध्विद्रसुराप्सरोगणशतैर्गीतप्रणुत्यार्चिताः, तान्देवान्वृषभादिवीरचरमान्भक्त्या नमस्याम्यहं ॥ २ ॥

नाभेयं देवपूज्यं जिनवरमजितं सर्वलोकप्रदीपम्, सर्वज्ञं संभवाख्यं मुनिगणवृषभं नंदनं देवदेवम् ॥ कर्मारिघ्नं सुबुद्धिं वरकमलनिभं पद्मपुष्पाभिगंधम्, क्षान्तं दांतं सुपार्श्वं सकलशशिनिभं चंद्रनामानमीडे ॥ ३ ॥ विख्यातं पुष्पदंतं भवभयमथनं शीतलं लोकनाथम्, श्रेयांसं शीलकोषं प्रवरनरगुरुं वासुपूज्यं सुपूज्यं । मुक्तं दान्तेन्द्रियाश्वं विमलमृषिपतिं सिंहसैन्यं मुनीन्द्रम्, धर्मं सद्धर्मकेतुं शमदमनिलयं स्तौमि शान्तिं शरण्यम् ॥ ४ ॥ कुंथुं सिद्धालयस्थं श्रमणपतिमरत्यक्तभोगेषु चक्रम् । मल्लिं विख्यातगोत्रं खचरगणनुतं सुव्रतं सौख्यराशिम् । देवेन्द्रार्च्यं नमीशं हरिकुलतिलकं नेमिचन्द्रं भवान्तम्, पार्श्वं नागेन्द्रवन्द्यं शरणमहमितो वर्द्धमानं च भक्त्या ॥ ५ ॥ इच्छामि भंते चउवीसतित्थयरभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सा लोचेउं, पंचमहाकल्लाणसंपण्णाणं अट्ठमहापाडिहेरसहियाणं चउ-

तीसअतिसयविसेससंजुत्ताणं, वत्तीसदेविंदमणिमउडमत्थयमहियाणं, बलदेववासुदेवचक्कहररिसिमुणिजइअणगारोवगूढाणं; थुइसयसहस्सणिलयाणं, उसहाइ—वीरपच्छिममंगलमहापुरिसाणं णिच्चकालं अंचेमि, पुज्जेमि, वंदामि णमंसामि दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

इति तीर्थंकर भक्ति

अथ शान्तिभक्तिः

न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन्पादद्वयं ते प्रजाः, हेतुस्तत्र विचित्रदुःखनिचयः संसारघोरार्णवः। अत्यन्तस्फुरदुग्ररश्मिनिकरव्याकीर्णभूमंडलो, ग्रैष्मः कारयतीन्दुपादसलिलच्छायानुरागं रविः ॥ १ ॥ क्रुद्धाशीर्विषदष्टदुर्जयविषज्वालावलीविक्रमो, विद्याभैषजमंत्रतोयहवनैर्याति प्रशांतिं यथा। तद्वत्ते चरणारुणांबुजयुगस्तोत्रोन्मुखानां नृणाम्, विघ्नाः कायविनायकाश्च सहसा शाम्यन्त्यहो विस्मयः ॥ २ ॥ संतप्तोत्तमकांचनक्षितिधरश्रीस्पर्द्धिगोरद्युते, पुंसां त्वच्चरणप्रमाणकरणात्पीडाः प्रयान्ति क्षयं। उद्यद्भास्करविस्फुरत्करशतव्याघातनिष्कासिताः। नानादेहिविलोचनद्युतिहरा शीघ्रं यथा शर्वरी ॥ ३ ॥ त्रैलोक्येश्वरभंगलब्धविजयादत्यंतरौद्रात्मकान्, नानाजन्मशतांतरेषु पुरतो जीवस्य संसारिणः। को वा प्रस्खलतीह केन विधिना कालोग्रदावानलान्न स्याच्चेत्तव पादपद्मयुगलस्तुत्यापगावारणम् ॥ ४ ॥ लोकालोकनिरन्तरप्रविततस्थानैकमूर्ते विभो! नानारत्नपिनद्धदन्डरुचिरश्वेतातपत्रत्रय। त्वत्पादद्वयपूतगीतरवतः शीघ्रं द्रवन्त्यामया, दर्पाध्मातमृगेंद्रभीमनिनदाद्वन्या यथा कुञ्जराः ॥ ५ ॥ दिव्यस्त्रीनयनाभिरामविपुलश्रीमेरुचूडामणे, भास्वद्बालदिवाकरद्युतिहरप्राणीष्टभामण्डल अव्याबाधमचिन्त्यसारमतुलं त्यक्तोपमं शाश्वतं, सौख्यं त्वच्चरणारविंदयुगलस्तुत्यैव संप्राप्यते ॥ ६ ॥ यावन्नोदयते प्रभापरिकरः श्रीभास्करो भासयं स्तावद्धारयतीह पंकजवनं निद्रातिभारश्रमम्। यावत्त्वच्चरणद्वयस्य भगवन्न स्यात्प्रसादोदयस्तावज्जीवनिकाय एष वहति प्रायेण पापं महत् ॥ ७ ॥ शांति शांतिजिनेन्द्रशांतमनसस्त्वत्पादपद्माश्रयात्, संप्राप्ताः पृथिवीतलेषु बहवः शान्त्यर्थिनः प्राणिनः। कारुण्यान्मम भाक्तिकस्य च विभो दृष्टिं प्रसन्नां कुरु, त्वत्पादद्वयदैवतस्य गदतः शांत्यष्टकं भक्तितः ॥ ८ ॥ शांतिजिनं शशिनिर्मलवक्त्रं शीलगुणव्रतसंयमपात्रं। अष्टशतार्चितलक्षणगात्रं नौमि जिनोत्तममम्बुजनेत्रम् ॥ ९ ॥ पञ्चममीप्सितचक्रधराणां पूजितमिन्द्रनरेन्द्रगणैश्च। शांतिकरं

गणशांतिमभीप्सुः षोडशतीर्थंकरं प्रणमामि ॥ १० ॥ दिव्य तरुः सुरपुष्प-सुवृष्टिदुन्दुभिरासनयोजनघोषौ ॥ आतपवारणचामरयुग्मे यस्य विभाति च मंडलतेजः ॥ ११ ॥ तं जगदर्चितशान्तिजिनेन्द्रं शांतिकरं शिरसा प्रणमामि । सर्वगणाय तु यच्छतु शान्ति मह्यमरं पठते परमां च ॥ १२ ॥ येऽभ्यर्चिता मुकुट-कुंडलहाररत्नैः, शक्रादिभिः सुरगणैः स्तुतपादपद्माः । ते मे जिनाः प्रवरवंश-जगत्प्रदीपाः, तीर्थंकराः सततशांतिकरा भवन्तु ॥ १३ ॥ सम्पूजकानां प्रति-पालकानां यतींद्रसामान्यतपोधनानाम् । देशस्य रास्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः करोतु शांति भगवान् जिनेंद्रः ॥ १४ ॥ क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान्धार्मिको भूमिपालः । काले काले च सम्यग्वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम् । दुर्भिक्षं चौरमारिः क्षणमपि जगतां मास्म: भूज्जीवलोके । जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि ॥ १५ ॥ तद्द्रव्यमव्ययमुदेतु शुभः स देशः, संतन्य तां प्रतपतां सततं स कालः । भावः स नन्दतु सदा यदनुग्रहेण, रत्नत्रयं प्रतपतीह मुमुक्षुवर्गे ॥ १५ ॥ प्रध्वस्तघातिकर्माणः केवलज्ञानभास्कराः । कुर्वन्तु जगतां शान्तिं वृषाभाद्या जिनेश्वराः ॥ १६ ॥ इच्छामि भंते शान्तिभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं पचमहाकल्लाणसंपण्णाणं, अट्ठमहापाडिहेरसहियाणं, चउतीसातिसयविसेससंजुत्ताणं वत्तीसदेवेदमणिमयमउडमत्थयमहियाणं, बलदेव-वासुदेवचक्कहररिसिमुणिजदिअणगारोवगूढाणं, थुइसयसहस्सणिलयाणं, उस-हाइवीरपच्छिममंगलमहापुरिसाणं णिच्चकालं अंचेमि, पुजेमि वंदामि, णमं-सामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिण-गुणसंपत्ति, होउ मज्झं ।

इति शांतिभक्तिः

अथ समाधिभक्तिः

स्वात्माभिमुखसंवित्तलक्षणं श्रुतिचक्षुषा । पश्यन्पश्यामि देव त्वां केवल-ज्ञानचक्षुषा । १ । शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः संगतिः सर्वदार्यैः, सद्वृतानां गुणगणकथा-दोषवादे च मौनम् । सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्वे, संपद्यंता मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गं । २ । जैनमार्गरुचिरन्यमार्गनिर्वेगता जिनगुणस्तुतौ मतिः । निष्कलंकविमलोक्तिभावनाः संभवन्तु मम जन्मजन्मनि । ३ । गुरुमूले यतिनिचिते चैत्यसिद्धांतवार्धिसद्घोषे । ममभवतु जन्मजन्मनि सन्यसनसमन्वितं मरणम् । ४ । जन्मजन्मकृतं पापं जन्मकोटिसमार्जितम् जन्ममृत्युजरामूलं हन्यते जिनवंदनात् । ५ । आबाल्याज्जिनदेवदेव भवतः

श्रीपादयोः सेवया, सेवासक्तविनेयकल्पलतया कालोद्ययावद्गतः। त्वां तस्याः फलमर्थये तदधुना प्राणप्रयाणक्षणे, त्वन्नामप्रतिबद्धवर्णपठने कण्ठोऽस्त्वकुण्ठो मम। ६। तव पादौ मम हृदये ममहृदयं तव पदद्वये लीनम्। तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाणसंप्राप्तिः। ७। एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम्। पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः। ८। पंच अरिंजयणामे पंचय मदिसायरे जिणे वंदे। पंच जसोयर णामिये पंचय सोमंदरे वंदे। ९। रयणत्तयं च वंदे, चव्वीसजिणे च सव्वदा वंदे पंचगुरूणं वंदे चारणचरणं सदा वंदे। १०। अर्हमित्यक्षरब्रह्मवाचकं परमेष्ठिनः। सिद्धचक्रस्य सद्बीजं सर्वतः प्रणिदध्महे। ११। कर्माष्टकविनिर्मुक्तं मोक्षलक्ष्मीनिकेतनम्। सम्यक्त्वादि-गुणोपेतं सिद्धचक्रं नामाम्यहम्। १२। आकृष्टिं सुरसंपदां विदधते मुक्ति-श्रियो वश्यता। उच्चाटं विपदां चतुर्गतिभुवां विद्वेषमात्मैनसाम्॥ स्तभं दुर्गमनं प्रति प्रयततो मोहस्य सम्मोहनम्-, पायात्पंचनमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता। १३ अनंतानन्तसंसारसंततिच्छेदकारणम्। जिनराजपदाम्भोजस्मरणं शरणं मम। १४। अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम। तस्मात्कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जिनेश्वर। १५। न हि त्राता नहि त्राता, न हि त्राता जगत्त्रये। वीतरागात्परो देवो न भूतो न भविष्यति। १६। जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्दिने दिने। सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु भवे भवे। १७। याचेऽहं याचेऽहं जिन तव चरणारविन्दयोर्भक्तिम्। याचेऽहं याचेऽहं पुनरपि तामेव तामेव। १८।

विघ्नौघाः प्रलयं यांति शाकिनीभूतपन्नगाः।
विषो निर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे॥ १९॥

इच्छामि भंते समाहिभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, रयणत्तयपरूपवपरमप्पज्झाणलक्खणं समाहिभत्तीये, णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, वंदामि णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

इति समाधिभक्तिः।

अथ निर्वाण भक्ति

विबुधपतिखगपनरपतिधनदोरगभूतयक्षपतिमहितम्। अतुलसुखविमलनिरुपमशिवमचलमनामयं हि संप्राप्तम्। १। कल्याणैः संस्तोष्ये पंचभिरनघं त्रिलोकपरमगुरुम्। भव्यजनतुष्टिजननैर्दुरवापैः सन्मतिं भक्त्या। २। आषाढ-

सुसितषष्ठयां हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते शशिनि। आयातः स्वर्गसुखं भुक्त्वा पुष्पोत्तराधीशः। ३। सिद्धार्थनृपतितनयो भारतवास्ये विदेहकुंडपुरे। देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान्संप्रदर्श्य विभुः। ४। चैत्यसितपक्षफाल्गुणि-शशांकयोगे दिने त्रयोदश्याम् जज्ञे स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने। ५। हस्ताश्रिते शशांके चैत्रज्योत्स्ने चतुर्दशीदिवसे। पूर्वाण्हे रत्नघटैर्विबुधेन्द्राश्चक्रुरभिषेकम्। ६। भुक्त्वा कुमारकाले त्रिंशद्वर्षाण्यनंतगुणराशिः। अमरोपनीतभोगान्सहसाभिनिबोधितोऽन्येद्युः। ७। नानाविधरूपचितां विचित्रकूटोच्छितां मणिविभूषाम्। चंन्द्रप्रभाख्यशिवकामारुह्य पुराद्विनिष्क्रान्तः। ८। मार्गशिरकृष्णदशमीहस्तोत्तरमध्यमाश्रिते सोमे। षष्ठेन त्वपराण्हे भक्तेन जिनः प्रवव्राज। ९। ग्रामपुरखेटकर्वटमटंबघोषाकरान्प्रविजहार। उग्रैस्तपोविधानैर्द्वाशिवर्षाण्यमरपूज्यः। १०। ऋजुकूलायास्तीरे शालद्रुमसंश्रितेशिलापट्टे। अपराह्णेषष्ठेनास्थितस्य खलु जृंभिकाग्रामे॥ ११॥ वैशाखसितदशम्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रितेचन्द्रे। क्षपकश्रेण्यारूढस्योत्पन्नं केवलज्ञानम्॥ १२॥ अथ भगवान् संप्रपद्दिव्यं वैभारपर्वतं रम्यम्। चातुर्वर्ण्यसुसंस्तत्राभूद्गौतमप्रभृति। १३। छत्राशोकौ घोषंसिंहासनदुंदुभीकुसुमवृष्टिम्। वरचामरभामण्डलदिव्यान्यन्यानि चावापत्॥ १४॥ दशविधमनगाराणामेकादशधोत्तरं तथा धर्मम्। देशयमानो व्यहरंस्त्रिंशद्वर्षाण्यथजिनेन्द्रः॥ १५॥ पद्मवनदीर्घिकाकुलविविधद्रुमखण्डमण्डिते रम्ये। पावानगरोद्यानेव्युत्सर्गेण स्थितः स मुनिः। १६। कार्तिककृष्णस्यान्ते स्वातीवृक्षे निहत्य कर्मरजः। अवशेष सप्राषद्व्यजरामरमक्षयं सौख्यम्। १७। परिनिर्वृतं जिनेन्द्रं ज्ञात्वा विबुधा ह्यथाशु चागम्य। देवतरुरक्तचन्दन कालागुरुसुरभिगोशीर्षैः। १८। अग्नीन्द्राज्जिनदेहं मुकुटानलसुरभिधूपवरमाल्यैः। अभ्यर्च्य गणधरानपि गता दिवं खं च वनभवने। १९। इत्येवं भगवति वर्धमान चंद्रे, यः स्तोत्रम् पठति सुसंध्ययोर्द्वयोर्हि। सोऽनंतं परमसुखं नृदेवलोके भुक्त्वांते शिवपदमक्षयं प्रयाति। २०। यत्राहंतां गणभृतां श्रुतपारगाणां, निर्वाणभूमिरिह भारतवर्षजानाम्। तामद्य शुद्धमनसा क्रियया वचोभिः, संस्तोतुमुद्यतमतिः परिणौमि भक्त्या। २१। कैलासशैलशिखरे परिनिर्वृतोऽसौ, शैलेशिभावमुपपद्य वृषो महात्मा। चंपापुरे च वसुपूज्यसुतः सुधीमान्, सिद्धिं परामुपगतो गतरागबंधः। २२। यत्प्रार्थ्यते शिवमयं विबुधेश्वराद्यैः, पाखंडिभिश्च परमार्थगवेषशीलैः। नष्टाष्टकर्मसमये तदरिष्टनेमिः, संप्राप्तवान् क्षितिधरे बृहदूर्जयन्ते। २३। पावापुरस्बहिरुन्नतभूमिदेशे, पद्मोत्पलाकुलवतां सरसां हि मध्ये। श्रीवर्द्धमानजिनदेव इति प्रतीतो, निर्वाणमाप भगवान्प्रविधूतपाप्मा। २४। शेषास्तु ते निजवरा जितमोहमल्ला, ज्ञानार्कभूरिकिरणैरवभास्यलोकान्। स्थानं परं निरवधारितसौ-

ध्यनिष्ठं, सम्मेदपर्वततले समवापुरीशाः । २५ । पावश्चतुर्दशदिनैर्विनिवृत्तयोग-षष्ठेन निष्ठितकृतिर्जिनवर्द्धमानः । शेषा विधूतघनकर्मनिबद्धपाशाः, मासेन ते यतिवरास्त्वभवन्वियोगाः । २६ । माल्यानि वाक्स्तुतिमयैः कुसुमैः सुहब्धान्यादाय मानसकरैरभितः किरंतः । पर्येम आहृतियुता भमवन्निशिद्याः, संप्रार्थिता वयमिमे परमां गतिं ताः । २७ । शत्रुंजये नगवरे दमितारिपक्षाः, पंडोः सुताः परमनिर्वृतिमभ्युपेताः । तुंग्यां तु संगरहितो बलभद्रनामा, नद्यास्तटे जितरिपुश्च सुवर्णभद्रः । २८ । द्रोणीमति-प्रवलकुंडलमेंढ्के च, वैभारपर्वततले वरसिद्धकूटे । ऋष्याद्रिके च विपुलाद्रिवलाहके च, विंध्ये च पौदनपुरे वृषदीपके च । २९ । सह्याचले च हिमवत्यपि सुप्रतिष्ठे, दंडात्मके गजपथे पृथुसारयष्टौ । ये साधवो हतमलाः सुगतिं प्रयाताः, स्थानानि तानि जगति प्रथिनान्यभूवन् । ३० । इक्षोर्विकाररसयुक्तगुणेन लोक, पिष्टोऽधिकां मधुरतामुपयाति यद्वत् तद्वच्च पुण्यपुरुषैः रुषितानि नित्यं, स्थानानि तानि जगतामिह पावनानि । ३१ । इत्यर्हतां शमवता च महामुनीनां, प्रोक्ता मयात्र परिनिर्वृतिभूमिदेशाः । ते मे जिनाजितभया मुनयश्च शांताः, दिश्यासुराशु सुगतिं निरवद्य सौख्याम् । ३२ । कैलाशाद्रौ मुनींद्रःपुरुरपदुरितो मुक्तिमाप प्रणूतः चम्पायां वासुपूज्यस्त्रिदशपतिनुतो नेमिरप्यूर्जयन्ते । पावायां वर्धमानस्त्रिभुवनगुरवो विंशतिस्तीर्थनाथाः, सम्मेदाग्रे प्रजग्मुर्दयतु विनमतां निर्वृतिं नो जिनेंद्राः । ३३ । गौर्गजोश्वः कपिः कोकः सरोजः स्वास्तिकः शशी । मकरः श्रीयुतो वृक्षो गंडो महिषशूकरौ । ३४ । सेधावज्रमृगाच्छगाः पाठीनः कलशस्तथा । कच्छपश्चोत्पलं शंखो नागराजश्च केसरी । ३५ । शातिकुन्थ्वरकौरव्य यादवो नेमिसुव्रतो । उग्रनाथौ पार्श्ववीरौ शेषा इक्ष्वाकुवंशजाः । ३६ । इच्छामि भंते परिणिव्वाभत्ति काउस्सगो कओ तस्सालोचेउं इमम्मि अवसप्पिणीये, चउत्थसमस्स पच्छिमे भाए, आउट्ठामासहीणे, वासचउक्कम्मि सेसकालम्मि । पावाये णयरीए, कत्तियमासस्स किण्हचउदसिए । रत्तीए सादीए णक्खत्ते, पच्चुसे भयवदो महदि महावीरो वड्ढमाणो सिद्धिं गदो । तीसुवि लोएसु, भवणवासियवाणवितरजोइसियकप्पवासियत्ति चउव्विहा देवा सपरिवारा दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण पुप्फेण दिव्वेण धूवेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण णिच्चकालं, अच्चंति, पूजंति, वंदंति, णमंसंति, परिणिव्वाणं, महाकल्लाणपुज्जं करंति, अहमवि इहसंतो तत्थ संताइयं णिच्चकालं अच्चेमि, पूजेमि, बंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति, होउ मज्झं ॥

इति निर्वाणभक्तिः

अथ नंदीश्वर भक्तिः

त्रिदशपतिमुकुटतटगतमणिगण- करनिकरसलिलधाराधौतक्रमकमलयुगलजिनपतिरुचिर--प्रतिबिंबवियलविरहितनिलयान् ॥ १ ॥ निलयानहमिह महसां सहसा प्रणिपतनपूर्वमवनौम्यवनौ । त्रैय्यां त्रय्या शुद्ध्या निसर्ग-शुद्धान्विशुद्धये घनरजसाम् ॥ २ ॥ भावनसुरभवनेषु द्वासप्ततिशतसहस्रसंख्याभ्यधिकाः । कोट्यः सप्त प्रोक्ता भवनानां भूरितेजसां भुवनानाम् ॥ ३ ॥ त्रिभुवनभूतविभूनां संख्यातीतान्यसंख्यगुणयुक्तानि । त्रिभुवनजननयनमनः --प्रियाणि भवनानि भौमविबुधनुतानि, ॥ ४ ॥ यावन्ति सन्ति कान्तज्योतिर्लोकाधिदेवताभि-नुतानि, कल्पेऽनेकविकल्पे कल्पातीतेऽहमिन्द्रकल्पानल्पे ॥ ५ ॥ विंशतिरथ त्रिसहिता सहस्त्रगुणिता च सप्तनवति प्रोक्ता, चतुरधिकाशीतिरतः पंचकशून्येन विनिहतान्यनघानि ॥ ६ ॥ अष्टापंचाशदतश्चतुःशतानीह मानुषे च क्षेत्रे । लोकालोकविभागप्रलोकनालोकसंयुजां जयभाजाम् ॥ ७ ॥ नवनव चतुःशतानि च सप्त च नवतिः सहस्रगुणिताः षट्च, पंचाशत्पंचवियत्प्रहताः पुनरत्र कोटयोऽष्टौ प्रोक्ताः ॥ ८ ॥ एतावंत्येव सतामकृत्रिमाण्यथ जिनेशिनां भवनानि, भुवनत्रितये त्रिभुवनसुरसमितिसमर्च्यमानसत्प्रतिमानि ॥ ९ ॥ वक्षाररुचककुंडलरौप्यनगोत्तारकुलेषुकारनगेषु । कुरुषु च जिनभवनानि त्रिशता-न्यधिकानि तानि षड्विंशत्या ॥ १० ॥ नन्दीश्वरसद्द्वीपे नंदीश्वरजलधिपरि-वृते धृतशोभे । चंद्रकरनिकरसन्निभरुन्द्रयशोविततदिङ्महीमंडलके ॥ ११ ॥ तत्रत्यांजनदधिमुखरतिकरपुरुनगवराख्यपर्वतमुख्याः प्रतिदिशमेषामुपरि त्रयोद-शेन्द्रार्चितानि जिनभवनानि ॥ १२ ॥ आषाढकार्तिकाख्ये फाल्गुणमासे च शुक्लपक्षेऽष्टम्याः आरभ्याष्टदिनेषु च सौधर्मप्रमुखविबुधपतयो भक्त्या ॥ १३ ॥ तेषु महामहमुचितं प्रचुराक्षतगंधपुष्पधूपैर्दिव्यैः । सर्वज्ञप्रतिमानां प्रकुर्वंतेसर्वहितम् ॥ १४ ॥ भेदेन वर्णना का सौधर्मः स्नपनकर्तृतामापन्नः परिचारकभावमिताः शेषेन्द्रा रुन्द्रचंद्रनिर्मलयशसः ॥ १५ ॥ मंगलपात्राणि पुनस्तद्देव्यो विभ्रति स्म शुभ्रगुणाढ्याः । अप्सरसो नर्तक्यः शेषसुरास्तत्र लोक-नाव्यग्रधियः ॥ १६ ॥ वाचस्पतिवाचामपि गोचरता संव्यतीत्य यत्क्रममाणम् । विबुधपतिर्विहितविभवं मानुषमात्रस्य कस्य शक्तिः स्तोतुम् ॥ १७ ॥ निष्ठा-पितजिनपूजाश्चूर्णस्नपनेन दृष्टविकृतविशेषाः । सुरपतयो नन्दीश्वरजिनभवनानि प्रदक्षिणीकृत्य पुनः ॥ १८ ॥ पंचसु मंदरगिरिषु श्रीभद्रशालनन्दनसौमनसम् । पांडुकवनमिति तेषु प्रत्येकं जिनगृहाणि चत्वार्येव ॥ १९ ॥ तान्यथ परीत्य तानि च नमसित्वा कृतसुपूजनास्तत्रापि । स्वास्पदमीयुः सर्वे स्वास्प-

वमूल्यं स्वचेष्टया संगृह्य ॥ २० ॥ सहतोरणसद्वेदीपरीतवनयागवृक्ष मानस्तंभ । ध्वजपंक्तिदशकगोपुरचतुष्टयत्रितयशालमंडपवर्यैः ॥ २१ ॥ अभिषेकप्रेक्षणिकाक्रीडनसंगीतनाटकालोकगृहैः । शिल्पिविकल्पितकल्पन-संकल्पातीतकल्पनैः समुपेतैः ॥ २२ ॥ वापीसत्पुष्करिणीसुदीर्घिका-अम्बुसंसृतैः समुपेतैः । विकसितजलरुहकुसुमैर्नभस्यमानैः शशिग्रहर्क्षैः शरदि ॥ २३ ॥ भृंगाराब्दककलशाद्युपकरणैरष्टशतकपरिसंख्यानैः प्रत्येकं चित्रगुणैः कृतझणझणनिनदविततघंटाजालैः ॥ २४ ॥ प्रवि-भ्राजंते नित्यं हिरण्मयानीश्वरेशिनां भवनानि । गंधकुटीगतमृगपति-विष्टररुचिराणि विविधविभवयुतानि ॥ २५ ॥ येषु जिनानां प्रतिमाः पंचशतशरासनोच्छ्रिताः सत्प्रतिमाः । मणिकनकरजतविकृता दिनकर-कोटिप्रभाधिकप्रभदेहाः ॥ २६ ॥ तानि सदा वंदेऽहं भानुप्रतिमानि यानि कानि च तानि । यशसां महसां प्रतिदिशमतिशयशोभाविभांजि पापविभंजि ॥ २७ ॥ सप्तत्यधिकशतप्रियधर्मक्षेत्रगततीर्थंकरवरवृष-भान् । भूतभविष्यत्संप्रतिकालभवान्भवविहानये विनतोऽस्मि ॥ २८ ॥ अस्यामवसर्पिण्यां वृषभजिनः प्रथमतीर्थकर्ताभर्ता । अष्टापदगिरिमस्तकग-तस्थितो मुक्तिमाप पापोन्मुक्तः ॥ २९ ॥ श्रीवासुपूज्यभगवान् शिवासु पूजासु पूजितस्त्रिदशानां । चम्पायां दुरितहरः परमपदं प्रापदापदा-मन्तगतः ॥ ३० ॥ मुदितमतिबलमुरारिप्रपूजितो जितकषायरिपुरथ जातः । बृहदुजयन्तशिखरे शिखामणिस्त्रिभुवनस्य नेमिर्भगवान् ॥ ३१ ॥ पावापुरवरसरसां मध्यगतः सिद्धिवृद्धितपसां महसां । वीरो नीरदनादो भूरिगुणश्चारुशोभमास्पदमगमत् ॥ ३२ ॥ सम्मद-करिवनपरिवृतसम्मेदगिरीन्द्रमस्तके विस्तीर्णे । शेषा ये तीर्थंकराःकी-र्तिभृतः प्रार्थितार्थसिद्धिमवापन् ॥ ३३ ॥ शेषाणां केवलिनां अशेष-मतवेदिगणभृतां साधूनां । गिरितलविवरदरीसरिदुरु वनतरुविटपिजल-धिदहनशिखासु ॥ ३४ ॥ मोक्षगतिहेतुभूतस्थानानि सुरेन्द्ररुन्द्रभक्ति-नुतानि । मंगलभूतान्येतान्यंगीकृतधर्मकर्मणामस्माकम् ॥ ३५ ॥ जिनपतयस्तत्प्रतिमास्तदालयास्तन्निषद्यकास्थानानि । ते ताश्च ते च तानि च भवन्तु भवघातहेतवो भव्यानाम् ॥ ३६ ॥ संधासु तिसृषु

नित्यं, पठेद्यदि स्तोत्रमेतदुत्तमयशसाम्। सर्वज्ञानां सार्धं, लघु लभते
श्रु तथरेडितं पदमनितम् ॥ ३७ ॥ दित्यं निःस्वेदत्वं निर्मलता क्षीरगौ-
रुधिरत्वं च। स्वाद्याकृतिसंहनने सौरूप्यं सौरभं
च सौलक्ष्यम् ॥ ३८ ॥ अप्रमितवीर्यता च प्रियहितवादित्व-
मन्यदमितगुणस्य, प्रथिता दशविख्याताः स्वातिशयधर्माः स्वयंभुवो
देहस्य ॥ ३९ ॥ गव्यूतिशतचतुष्टयसुभिक्षतागगनगमनमप्राणिवधः।
भुक्त्युपसर्गाभावश्चतुरास्यत्वं च सर्वविद्येश्वरता ॥ ४० ॥ अच्छायत्वम-
पक्ष्मस्पंदश्च समप्रसिद्धनखकेशत्वं। स्वातिशयगुणा भगवतो घातिक्षयजा
भवन्ति तेपि दशैव ॥ ४१ ॥ सार्वार्धमागधीया भाषा मैत्री च सर्वजनता-
विषया। सर्वर्तु फलस्तवकप्रवालकुसुमोपशोभिततरुपरिणामा ॥ ४२ ॥
आदर्शतलप्रतिमा रत्नमयीजायते मही च मनोज्ञा। विहरणमन्वेत्य-
निलः परमानंदश्च भवति सर्वजनस्य ॥ ४३ ॥ मरुतोऽपि सुरभीगंध-
व्यामिश्रा योजनांतर–भूभागं। व्युपशमितधूलिकंटकतृणकीटकशर्क-
रोपलं प्रकुर्वन्ति ॥ ४४ ॥ तदनु स्तनितकुमारा विद्युन्मालाविलास-
हासविभूषाः। प्रकिरन्ति सुरभिगंधि गंधोदकवृष्टिमाज्ञया त्रिदशपतेः
॥ ४५ ॥ वरपद्मरागकेसरमतुलसुखस्पर्शहेममदलनिचयम्। पादन्यासे
पद्मं सप्त पुरः पृष्ठतश्च सप्तभवंति ॥ ४६ ॥ फलभारनम्रशालि-
व्रीह्यादिसमस्तसस्यधृतरोमांचा। परिहृषितेव च भूमिस्त्रिभुवननाथस्य
वैभवं पश्यंती ॥ ४७ ॥ शरदुदयविमलसलिलं सर इव गगनं विराजते
विगतमलम्। जहति च दिशस्तिमिरिकां विगतरजः प्रभृतिजि-
ह्मभावं सद्यः ॥४८ ॥ एतेतेति त्वरितं ज्योतिर्व्यंतरदिवौकसाममृतभुजः।
कुलिशभृदाज्ञापनया कुर्वन्त्यन्ये समन्ततो व्याह्वानम् ॥ ४९ ॥ स्फुर-
वरसहस्रररुचिरं विमलमहारत्नकिरणनिकरपरीतम्। प्रहसितकिरण–
सहस्रद्युतिमंडलमग्रगामि धर्मसुचक्रम् ॥ ५० ॥ इत्यष्टमगलं च
स्वादर्शप्रभृति भक्तिरागपरीतैः। उपकल्प्यन्ते त्रिदशैरेतेऽपि निरुपमा–
तिशेषाः ॥ ५१ ॥ वैडूर्यरुचिरविटपप्रवालमृदुपल्लवोपशोभितशाखः।
श्रीमानशोकवृक्षो वरमरकतपत्रगहनवहलच्छायः ॥ ५२ ॥ मंदारकुंद-
कुवलयनीलोत्पलकमलमालतीबकुलाद्यैः। समदभ्रमरपरीतैर्व्यामिश्रा

पतति कुसुमवृष्टिर्नभसा ॥ ५३ ॥ कटकटिसूत्रकुंडलकेयूरप्रभृतिभूषितांगौ स्वंगौ । यक्षौ कमलदलाक्षौ परिनिक्षिपतः सलीलचामरयुगलम् ॥ ५४ ॥ आकस्मिकमिव युगपद्दिवसकरसहस्रमपगतव्यवधानम् । भामंडलमविभावितरात्रिंदिवभेदमतितरामाभाति ॥ ५५ ॥ प्रबलपवनाभिघातप्रक्षुभितसमुद्रघोषमंन्द्रध्वानम् । दंध्वन्वते सुवीणावंशादिसुवाद्यदुन्दुभिस्तालसमम् ॥ ५६ ॥ त्रिभुवनपतितलांछनमिंदुत्रय तुल्यमतुलमुक्ताजालम् । छत्रत्रयं च सुबृहद्वैडूर्यविक्लृप्तदंडमधिककमनोज्ञम् ॥ ५७ ॥ ध्वनिरपि योजनमेकं प्रजायते श्रोत्रहृदयहारिगंभीरः । ससलिलजलधरपटलध्वनितमिव प्रवितान्तराशावलयम् ॥ ५८ ॥ स्फुरितांशुरत्नदीधितिपरिविच्छुरितामरेंद्रचापच्छायम् । ध्रियते मृगेंद्रवर्यैः स्फटिकशिलाघटितसिंहविष्टरमतुलम् ॥ ५९ ॥

यस्येह चतुस्त्रिंशत्प्रवरगुणा प्रातिहार्यलक्ष्म्यश्चाष्टौ ।
तस्मै नमो भगवते त्रिभुवनपरमेश्वरार्हते गुणमहते ॥ ६० ॥

इच्छामि भंते, णंदीसरभत्ति काउस्सग्गो कओतस्सा लोचेउं णंदीसरदीवम्मि, चउदिसि विदिसासु अंजणदधिमुहरदिकरपुरुणगवरेसु जाणि जिणचेइयाणि ताणि सव्वाणि तीसुवि लोएसु भवणवासियवाणवितरजोइसिगकप्पवासियत्ति चउविहा देवा सपरिवारा दिव्वेहि गंधेहि, दिव्वेहि पुप्फेहि दिव्वेहि,धुव्वेहि दिव्वेहि चुण्णेहि, दिव्वेहि वासेहि, दिव्वेहि ण्हाणेहि आसाढकत्तिफागुणमासाणं अट्ठमिमाइं काऊण जाव पुण्णिमंति णिच्चकाअंचंति पूजंति, वंदंति, णमंसंति णंदीसरमहाकल्लाणं करंति अहमवि इह संतो तत्थ संताइं णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि वंदामि, णमस्सामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होऊ मज्झं ॥

इति नंदीश्वरभक्तिः

अथ चैत्यभक्तिः

श्रीगौतमादिपदमद्भुतपुण्यबंधमुद्योतिताखिलममोघमघप्रणाशम् । वक्ष्ये जिनेश्वरमहं प्रणिपत्य तथ्यं निर्वाणकारणमशेषजगद्धितार्थम्

॥ १ ॥ जयति भगवान् हेमाम्भोजप्रचारविजृम्भितावमरमुकुटच्छा-
योद्गीर्णप्रभापरिचुम्बितौ कलुषहृदया मानोद्भ्रान्ताः परस्परवैरिणः
विरतकलुषः पादौ यस्य प्रपद्य विशश्वसुः ॥ २ ॥ तदनु जयति
श्रेयान् धर्मः प्रवृद्धमहोदयः, कुगतिविपथक्लेशादसौ विपाशयति प्रजाः।
परिणतनयस्यांगोभावाद्विविक्तविकल्पितम् भएतु भवतस्त्रातृ त्रेधा
जिनेंद्रवचोऽमृतम् ॥ ३ ॥ तदनु जयताज्जैनी वित्तिः
प्रभंगतरंगिणी, प्रभवविगमध्रौव्यद्रव्यस्वभाव विभाविनी। निरुपम-
सुखस्येवं द्वारं विघट्य निरर्गलम्, विगतरजसं मोक्षं देयान्निरत्यय-
मव्ययम् ॥ ३ ॥ अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायेभ्यस्तथा च साधुभ्यः।
सर्वजगद्वंद्येभ्योनमोस्तु सर्वत्र सर्वेभ्यः ॥ ४ ॥ मोहादिसर्वदोषारि-
घातकेभ्यः सदा हृतरजोभ्यः ॥ विरहितरहस्कृतेभ्यः पूजार्हेभ्यो नमो-
ऽर्हद्भ्यः ॥ ५ ॥ क्षान्त्यार्जवादिगुणगणस् साधनं सकललोकहितहेतुं।
शुभधामानि धातारं वंदे धर्मं जिनेन्द्रोक्तम् ॥ ६ ॥ मिथ्याज्ञानतमोवृ-
तलोकैकज्योतिरमितगमयोगि। सांगोपांगमजेयं जैनं वचनं सदा वंदे
॥ ७ ॥ भवनविमानज्योतिर्व्यंतरनरलोकविम्बचैत्यानि। त्रिजगदभिवं-
दितानां त्रेधा वंदे जिनेन्द्राणाम् ॥ ८ ॥ भुवनत्रयेऽपि भुवनत्रयाधि-
पाभ्यर्च्यतीर्थकर्तृणां। वंदे भवाग्निशांत्यै विभवानामालयालीस्ताः
॥ ९ ॥ इति पंचमहापुरुषाः प्रणुता जिनधर्मवचनचैत्यानि। चैत्या-
लयाश्च विमलां दिशन्तु बोधिं बुधजनेष्टाम् ॥ १० ॥ अकृतानि कृतानि
चाप्रमेयद्युतिमन्ति द्युतिमत्सु मंदिरेषु। मनुजामरपूजितानि वंदे प्रति-
बिंबानि जगत्त्रये जिनानाम् ॥ ११ ॥ द्युतिमण्डलभासुराङ्गयष्टीः प्रतिमा
अप्रतिमा जिनोत्तमानाम्। भुवनेषु विभूतये प्रवृत्ता वपुषा प्राञ्जलिरस्मि
वंदमानः ॥ १२ ॥ विगतायुधविक्रियाविभूषाः प्रकृतिस्थाः कृतिनां
जिनेश्वराणां प्रतिमाः प्रतिमागृहेषु कान्त्या प्रतिमाः कल्मषशान्तयेऽभिवंदे
॥ १३ ॥ कथयन्ति कषायमुक्तिलक्ष्मी परया शांततया भवान्तकानाम्
प्रणम्यभीरु मूर्तिमंति प्रतिरूपाणि विशुद्धये जिनानाम् ॥१४॥ यदिदं मम सिद्धभ-
क्तिनीतं सुकृतं दुष्कृतवर्त्मरोधि तेन। पटुना जिनधर्म एव भक्तिर्भवताज्जन्मनि जन्मनि
स्थिरा मे ॥ १५ ॥ अर्हतां सर्वभावानां दर्शनज्ञानसंपदाम्। कीर्तयिष्यामि
चैत्यानि यथाबुद्धि विशुद्धये ॥ १६ ॥ श्रीमद्भवनवासस्था स्वयंभासुरमूर्तय।

बंदिता नो विधेयासुः प्रतिमाः परमां गतिम् ॥ १७ ॥ यावंति संति लोकेऽस्मिन्नकृतानि कृतानि च। तानि सर्वाणि चैत्यानि बंदे भूयांसि भूतये ॥ १८ ॥ ये व्यंतरविमानेषु स्थेयांसः प्रतिमागृहाः। ते च संख्यामतिक्रान्ताः संतु नो दोषविच्छिदे ॥ १९ ॥ ज्योतिषामथ लोकस्य भूतयेऽद्भुतसंपदः। गृहाः स्वयंभुवः संति विमानेषु नमामि तान् ॥ २० ॥ बंदे सुरकिरीटाग्रमणिच्छायाभिषेचनम्। याः क्रमेणैव सेवन्ते तदर्च्चाः सिद्धिलब्धये ॥ २१ ॥ इति स्तुतिपथातीतश्रीभृतामर्हतां मम। चैत्यानामस्तु संकीर्तिः सर्वास्रवनिरोधिनी ॥ २२ ॥ अर्हन्महानदस्य त्रिभुवनभव्यजनतीर्थयात्रिकदुरित प्रक्षालनैककारणमतिलौकिक कुहक तीर्थ मुत्तमतीर्थम् ॥ २३ ॥ लोकालोकसुतत्त्वप्रत्यवबोधनसमर्थदिव्यज्ञान—प्रत्यहवहत्प्रवाहं व्रतशीलामलविशालकूलद्वितयम् ॥ २४ ॥ शुक्लध्यानस्तिमितस्थितराजद्राजहंसराजितमसकृत्। स्वाध्यायमंद्रघोषं नानागुणसमितिगुप्तिसिकतासुभगम् ॥ २५ ॥ क्षान्त्यावर्तसहस्रं सर्वदयाविकचकुसुमविलसल्लतिकम्। दुःसहपरीषहाख्यद्रुततरङ्गत्तरंगभगुरनिकरम् ॥ २६ ॥ व्यमगतकषायफेनं रागद्वेषादिदोषशैवलरहितं। अत्यस्तमोहकर्दममतिदूरनिरस्तमरणमकरप्रकरम् ॥ २७ ॥ ऋषिवृषभस्तुतिमंद्रोद्रेकितनिर्घोषविविधविहगध्वानम्। विविधतपोनिधिपुलिनं सास्रवसंवरणनिर्जरानिःस्रवणम् ॥ २८ ॥ गणधरचक्रेन्द्रप्रभृतिमहाभव्यपुंडरीकैः पुरुषैः। बहुभिः स्नातुं भक्त्या कलिकलुषमलापकर्षणार्थममेयम् ॥ २९ ॥ अवतीर्णवतः स्नातुं ममापि दुस्तरसमस्तदुरितं दूरम्। व्यपहरतु परमपावनमनन्यजय्यस्वभावगंभीरम् ॥ ३० ॥ अताम्रनयनोत्पलं सकलकोपवन्हेर्जयात्। कटाक्षशरमोक्षहीनमविकारतोद्रेकतः। बिषादमदहानितः प्रहसितायमानं सदा। मुखं कथयतीव ते हृदयशुद्धिमात्यन्तिकीम् ॥ ३१ ॥ निराभरणभासुरं विगतरागवेगोदयात्, निरंबरमनोहरं प्रकृतिरूपनिर्दोषतः ॥ निरायुधसुनिर्भयं विगतहिंस्यहिंसाक्रमात्। निरामिषसुतृप्तिमद्विविधवेदनानां क्षयात् ॥ ३२ ॥ मितस्थितनखांगजं गतरजोमलस्पर्शनम्। नवांबुरुहचंदनप्रतिमदिव्यगंधोदयम् ॥ रवीन्दुकुलिशादिदिव्यबहुलक्षणालंकृतम्। दिवाकरसहस्रभासुरमपीक्षणानां प्रियम् ॥ ३३ ॥ हितार्थपरिपंथिभिः प्रबलरागमोहादिभिः, कलंकितमना जनो यदभिवीक्ष्य शोशुध्यते। सदाभिमुखमेव यज्जगति पश्यतां सर्वतः, शरद्विमलचन्द्रमण्डलमिवोत्थितं दृश्यते ॥ ३४ ॥ तदेतदमरेश्वरप्रचलमौलिमालामणिस्फुरत्किरण चुंबनीयचरणारविन्दद्वयम् ॥ पुनातु भगवज्जिनेन्द्र तव रूपमन्धीकृतम्, जगत्सकलमन्यतीर्थगुरुरूपदोषोदयैः ॥ ३५ ॥ मानस्तम्भाः सरांसि प्रविमलजलसत्खातिका पुष्पवाटी। प्राकारो नाट्यशाला द्वितयमुपवनं वेदिकांतर्ध्वजाद्याः ॥ शालः कल्पद्रुमाणां सुपरिवृतवनं स्तूपहर्म्यावली च। प्राकारः स्फा-

टिकोन्तर्नं सुरमुनिसभा पीठिकाग्रे स्वयंभूः ॥ ३६ ॥ वर्षेषु वर्षान्तरपर्वतेषु नंदीश्वरे यानि च मंदरेषु । यावन्ति चैत्यायतनानि लोके सर्वाणि बंदे जिनपुंगवानाम् ॥ ३७ ॥ अवनितलगतानां कृत्रिमाऽकृत्रिमाणां, वनभवनगतानां दिव्यवैमानिकानां । इह मनुजकृतानां देवराजार्चितानां, जिनवरनिलयानां भावतोऽहं स्मरामि ॥ ३८ ॥ जम्बूधातकिपुष्करार्द्धवसुधाक्षेत्रत्रये ये भवाश्चंद्रांभोजशिखंडिकंठकनकप्रावृड्घनाभा जिनाः सम्यग्ज्ञानचरित्रलक्षणधरा दग्धाष्टकर्मेन्धनाः । भूतानागतवर्तमानसमये तेभ्यो जिनेभ्यो नमः ॥ ३६ ॥ श्रीमन्मेरौ कुलाद्रौ रजतगिरिवरे शाल्मलौ जंबुवृक्षे, वक्षारे चैत्यवृक्षे रतिकररुचके कुंडले मानुषांके । इष्वाकारेऽजनाद्रौ दधिमुखशिखरे व्यंतरे स्वर्गलोके, ज्योतिर्लोकेऽभिबंदे भुवनमहितले यानि चैत्यालयानि ॥ ४० ॥ देवासुरेंद्रनरनागसमर्चितेभ्यः पापप्रणाशकरभव्यमनोहरेभ्यः । घंटाध्वजादिपरिवार विभूषितेभ्यो नित्यं नमो जगति सर्वजिनालयेभ्यः ॥ ४१ ॥ इच्छामि भंते चेइयभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं, अहलोयतिरियलोयउड्ढलोयम्मि किट्टिमाकिट्टिमाणि जाणि जिणचेइयाणि ताणि सव्वाणि तिसु वि लोएसु भवणवासियवाणवितरजोइसियकप्पवासियत्ति चउविहा देवा सपरिवारा दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण चुण्णेण, दिव्वेण वासेण, दिव्वेण ण्हाणेण, णिच्चकालं अंचंति, पुज्जंति, वंदंति, णमंसंति । अहमवि इह संतो तत्थ संताइ णिच्चकालं अंचेमि, पूजेमि, बंदामि, णमंसामि दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ बोहिलाहो, सुगइगमणं समाहिमरणं, जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं ।

इति चैत्यभक्तिः

अथ चतुर्दिग्वन्दना

प्राग्दिग्विदिगन्तरे केवलिजिनसिद्धसाधुगणदेवाः । ये सर्वर्द्धिसमृद्धा योगिगणास्तानहं बन्दे ॥ १ ॥ दक्षिणदिग्विदिगन्तरे केवलिजिनसिद्धसाधुगणदेवाः ये सर्वर्द्धिसमृद्धा योगिगणास्तानहं बन्दे ॥ २ ॥ पश्चिमदिग्विदिगन्तरे केवलिजिनसिद्धसाधुगणदेवाः । ये सर्वर्द्धिसमृद्धा योगिगणास्तानहं बन्दे ॥ ३ ॥ उत्तरदिग्विदिगन्तरे केवलिजिनसाधुगण देवाः । ये सर्वर्द्धिसमृद्धा योगिगणास्तानहं बन्दे ॥ ४ ॥

इति चतुर्दिग्वन्दना

---o---

परमानन्द स्वरूप मुक्ति की प्राप्ति सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मध्यान के बिना नहीं होती, इस कारण ध्यान का विवरण देते हैं—

ध्यानं चतुर्विधम् ॥५३॥

अर्थ—मन का एक ही विषय पर रुके रहना ध्यान है। उत्तम संहनन धारक बलवान पुरुष को उत्तम ध्याता कहते हैं। वह एक ही विषय का ध्यान अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक कर सकता है तदनन्तर मन अन्य विषय के चिन्तन पर चला जाता है। आत्मा अजीव आदि पदार्थ ध्येय [ध्यान के विषय] हैं। स्वर्ग मोक्ष आदि की प्राप्ति होना ध्यान का फल है।

ध्यान चार प्रकार का है [१] आर्त, [२] रौद्र, [३] धर्म, [४] शुक्ल।

आर्तं रौद्रं तथा धर्मं, शुक्लञ्चेतिचतुर्विधम्।
तत्राद्यं संसृतेःहेतू, द्वयंमोक्षस्य तत्परम् ॥१॥

अर्थ—ध्यान चार प्रकार का है-आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। इनमें से आर्त रौद्र ध्यान संसार भ्रमण के कारण हैं, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान मोक्ष के कारण हैं।

आर्तञ्च ॥५४॥

अर्थ—आर्तध्यान भी चार प्रकार का है-(१) इष्टवियोगज, (२) अनिष्ट संयोगज, (३) निदान (४) वेदना।

अमनोज्ञ असंप्रयोग, अनुत्पत्ति संकल्पाध्यवसान—यानी अनिष्ट पदार्थ का संयोग न हो, अनिष्ट पदार्थ मेरे लिए उत्पन्न न हो, इस प्रकार संकल्प तथा चिन्तवन करना। उत्पन्न विनाश संकल्पाध्यवसान-यानी-उत्पन्न हुए अनिष्ट पदार्थ के नाश होने का संकल्प करना तथा चिन्तवन करना। मनोज्ञ-अविप्रयोग अनुत्पत्ति-संकल्पाध्यवसान-यानी-अपने इष्ट पदार्थ का वियोग न होने पावे, ऐसा संकल्प तथा चिन्तन करना। उत्पन्न-अविनाश संकल्पाध्यवसान-यानी-इष्ट पदार्थ के मिलजाने (उत्पन्न होने) पर उसके विनाश न होने का संकल्प का चिन्तन करना।

दुखदायक पशुओं तथा शत्रु, मनुष्य एवं ५६८९९५८४ प्रकार के शारीरिक रोगों में से मुझे कोई भी रोग न हो इस प्रकार का चिन्तवन करना **अमनोज्ञ असंप्रयोग अनुत्पत्ति-संकल्पाध्यवसान** है।

अपने आपको अप्रिय-शत्रु, स्त्री, पुत्र, आदि के सम्बन्ध हो जाने पर

ऐसा विचार करना कि ये मर जावें, या इनका सम्बन्ध मुझसे छूट जावे ऐसा चिन्तन करना **उत्पन्न-विनाशसंकल्पाध्यवसान** है।

प्रिय पदार्थ—धन धान्य, सुवर्ण, भवन, शयन आसन, स्त्री आदि, हमें हीं मिले।' इस प्रकार दुःखरूप चिन्तवन करना **मनोज्ञ अप्रयोग-अनुत्पत्ति संकल्पाध्यवसान** है।

जो प्रिय पदार्थ (धन मकान स्त्री आदि) मुझे मिल गये हैं वे कभी नष्ट न होने पावें, सदा मेरे पास बने रहें, इस प्रकार का चिन्तवन करना **उत्पन्न-अविनाश-संकल्पा ध्यवसान** आर्त ध्यान है।

अन्य प्रकार से आर्तध्यान—

आर्तध्यानं चतुर्भेदमिष्ट वस्तु वियोगजम् ।
अनिष्ट वस्तुयोगोत्थं, किंच दृष्ट्वा निदानजम् ॥
किंचपीड़ाधिके जाते चिन्तां कुर्वन्ति येज्जडा: ॥
तस्यात्य जन्तु पापस्य, मूलमार्त सुदूरतः ॥

अर्थ—आर्तध्यान चार प्रकार का है १-इष्ट प्रिय पदार्थ के वियोग हो जाने पर दुख रूप चिन्तवन **इष्टवियोगज आर्तध्यान** है। २—अनिष्ट अप्रिय पदार्थ का संयोग हो जाने पर उसके छूटने का चिन्तवन करना **अनिष्टसंयोगज** आर्तध्यान है। ३-शरीर में अधिक रोग पीड़ा होने पर दुख चिन्तवन करना **वेदना** आर्तध्यान है। ४—आगामीकाल में सांसारिक विषयभोगों के प्राप्त होने का चिन्तवन करना **निदान** आर्तध्यान है।

इस भवन में जो अपने को स्त्री, पुत्र, धन, भवन आदि इष्ट प्रिय पदार्थ मिले हों उनके वियोग हो जाने पर मन व्याकुल दुखी हो जाता है, भगवान के दर्शन, पूजन, भक्ति, शास्त्र स्वाध्याय, सामायिक आदि में चित्त नहीं लगता, मन दुख में डुबा रहता है, इस का कारण यह **इष्टवियोगजन्य** आर्तध्यान है।

कुपुत्र, दुराचारिणी, कटुभाषिणी, असुन्दरी स्त्री, प्राणग्राहक भाई, दुष्ट पड़ोसी, दुष्ट सम्बंधी, शत्रु आदि अप्रिय अनिष्ट पदार्थ के मिल जाने पर चित्त में दुख बना रहता है, मन क्लेश में डूबा रहता है, सदा उनसे छुटकारा पाने की चिन्ता रहती है, धर्म कर्म में चित्त नहीं लगता इस कारण यह **अनिष्ट संयोगजन्य** आर्तध्यान है।

गेहूं आदि धान्य, सोना चांदी आदि पदार्थ संग्रह कर रक्खे हों। उनको मंहगा भाव हो जाने पर बेचने का, अकाल दुर्भिक्ष आदि होने का विचार करना, जिससे अधिक लाभ हो सके, वैद्य विचार करे कि रोग फैल जावें तो मुझे बहुत धन मिले, इत्यादि स्वार्थ साधन के बुरे विचार जब मन में आते हैं उस समय दान, पूजा, व्रत, स्वाध्याय सामायिक आदि धर्म कार्य में मन नहीं लगता इस कारण यह **निदान** आर्तध्यान है।

असाता वेदनीय कर्म के उदय से शिर, मुख, नाक, कान, गले, छाती, पेट, पेडू, अण्डकोश, पैर टांग आदि अंग उपांगों में ५६८९९५८४ तरह के रोग हो जाते है, उन रोगों से शरीर में बड़ी पीड़ा (वेदना) होती है उस समय मन किसी धर्म कार्य में नहीं लगता, सदा दुखी बना रहता है, इस कारण यह **वेदना** नामक आर्तध्यान है।

रौद्रमपिचतुर्विधञ्च ॥५५॥

अर्थ—और रौद्रध्यान भी चार प्रकार का है।

प्राणिनां रोदनाद्रौद्रः क्रूरःसत्वेषुनिर्घृणः।
पुमांस्तत्र भवं रौद्रं विद्धि ध्यानं चतुर्विधम् ॥
हिंसानन्दान्मृषानन्दात्स्तेयानन्दात्प्रजायते।
परिग्रहाणा मानन्दात्त्याज्यं रौद्रञ्च दूरतः ॥३२॥

अर्थ—अन्य जीवों को निर्दयता से, रुलानेवाला, रुद्रता—क्रूरता रूप जो ध्यान होता है वह **रौद्रध्यान** है। वह चार तरह का है १—हिंसा में आनन्द मानने से होनेवाला **हिंसानन्द,** २—असत्य बोलने में आनन्द मानने से होनेवाला **मृषानन्द,** ३—चोरी करनेमें आनन्द मानने से होने वाला **स्तेयानन्द** ४—परिग्रह संचय करने में आनन्द मानने से होनेवाला **परिग्रहानन्द** या '**विषयसंरक्षणानन्द** रौद्रध्यान होता है, ये ही उसके चार भेद हैं।

क्रूर परिणाम से किसी को क्रोधित होकर गाली देना, निग्रह करना, मारना या जान से मार डालकर आनन्द मानना **हिंसानन्द** कहलाता है। अपने ऊपर यदि कोई विश्वास करता हो तो भी उसके साथ विश्वासघात करके झूठ बोलकर आनन्द मानना **मृषानन्द** नामक रौद्रध्यान कहलाता है।

बलवान होने से किसी निर्बल निर्दोषी व्यक्तिको मिथ्या दोषी ठहराकर उससे दण्ड वसूल करना या दूसरे के द्रव्य को चुराकर आनन्द मनाना **स्तेयानन्द** रौद्रध्यान कहलाता है।

धन, धान्य, दासी, दास इत्यादि ग्रहण किये हुए अपने समस्त परिग्रहों के प्रति प्रगाढ़ प्रेम करते हुए ऐसी भावना करना कि यह सब हमारे हैं, इसे हमने संचय किया है, यदि मैं न रहूं तो ये सब नष्ट हो जायंगे और इनके नष्ट हो जाने से मैं भी नष्ट हो जाऊंगा, ऐसा सोचकर अत्यन्त मोह से संरक्षण करना **विषय संरक्षणानंद** चौथा रौद्रध्यान है।

इस प्रकार चारों रौद्रध्यानों में मन वचन कायपूर्वक कृत, कारित तथा अनुमोदना द्वारा आनन्द मानने के ९ भेद होते हैं। और उनमें से प्रत्येक चारों के मिलाने से ३६ होते हैं ये ध्यान अत्यन्त कृष्ण, नील तथा कापोत लेश्यावाले होकर मिथ्या दृष्ट्यादि पांच गुणस्थान वाले होते हैं। ये नरक गति बन्ध करनेवाले होते है। परन्तु बद्धायुष्य के बिना तीव्र संक्लेश परिणामी होने पर भी सम्यग्दृष्टि को नरकायु का बंध नही होता।

धर्मध्यानं दशविधम् ।५६।।

अर्थ—१—अपायविचय, २—उपायविचय, ३—जीव विचय, ४—अजीव विचय, ५—विपाक विचय, ६—विरागविचय, ७—भवविचय, ८—संस्थान विचय, ९—आज्ञाविचय और १०—कारण विचय ये धर्म ध्यान के १० भेद होते हैं।

१—संसार में मन, वचन काय से सम्पादन किए हुए अशुभ कर्मों के नाश होने का चिंतनमनन करना **अपायविचय** है। कहा भी है कि संसार में अनन्त दुःख हैं:—

तावज्जन्मातिदुःखाय ततो दुर्गतता सदा।
तत्रापि सेवया वृत्तिरहो दुःखपरम्परा॥

प्रथम तो जन्म ही दुःख के निमित्त होता है, फिर दरिद्रता और फिर उसमें भी सेवावृत्ति। अहो ! कैसी दुःख की परम्परा है।

२—प्रशस्त मन वचन काय के बिना अशुभ कर्मों का नाश कदापि नही हो सकता, ऐसा विचार करना **उपायविचय** है।

३—यह जीव ज्ञान-दर्शन उपयोगवाला है द्रव्यार्थिकनय से इसका अन्त नहीं अर्थात् यह चिर स्थायी है, कभी नष्ट नहीं होता। अपने द्वारा सम्पादित शुभाशुभ कर्मों का फल स्वयमेव भोगता है। अपने द्वारा प्राप्त किये हुए स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर को स्वयमेव धारण करता है, संकोच विस्तार तथा ऊर्ध्वगमन करने वाला भी आप ही है, कर्मों के साथ सदा काल से सम्बन्ध करनेवाला

भी आप ही है, कर्मों का क्षय करके मोक्ष जानेवाला भी आप ही है, अशुद्ध-निश्चयनय से चौदह गुण स्थान, चौदह मार्गणास्थान तथा चौदह जीव समास वाला भी आप ही है और आप ही अमूर्त्त स्वभाववाला भी है, इत्यादि प्रकार से जीव का चिन्तन करना **जीवविचय** धर्म ध्यान है।

४—अचेतन—पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पांचों के स्वरूप को निःशंकित भाव से अजीव जानकर दृढ़ विश्वास रखकर चिन्तवन करन **अजीवविचय** धर्म ध्यान है।

५. योग और कषायों से जो कार्माण वर्गणाएं आत्मा के प्रदेशों के साथ सम्बद्ध हो जाती हैं, उन्हें कर्म कहते हैं। कर्म ज्ञानावरण आदि ८ हैं। उन कर्मों का स्थापना, द्रव्य, भाव, मूल प्रकृति, उत्तर प्रकृति रूप से विचार करना अशुभ कर्मों का रस नीम, कांजीर, विष, हालाहल के समान उत्तरोत्तर अधिक दुखदायी तथा शुभ कर्मों का रस गुड़, खांड, और मिश्री अमृत के समान उत्तरोत्तर अधिक सुखदायी होता है, कर्म प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेश रूप से जीव के साथ रहते हैं। कषायों की मन्दता तीव्रता लता (बेल), दारु (लकड़ी), अस्थि (हड्डी) और शैल पत्थर के समान होती है, जिस-जिस योनि में यह जीव जाता है उस-उस योनि के उदय योग्य कर्म उदय में आकर अपना फल देते हैं, इस प्रकार कर्मों के विपाक (फल देने) का विचार करना **विपाक विचय** है।

६—यह शरीर अनित्य है, अशरण (अरक्षित) है, वातपित्त कफ दोषमय है, रस, रक्त, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा तथा वीर्य, इन सात धातुओं से भरा हुआ है, मूत्र, पुरीश (टट्टी) आदि दुर्गन्धित पदार्थों का घर है, इसके ९ छेदों से सदा मैल निकलता रहता है, इस शरीर का पोषण करने से आत्मा का अहित होता है, जिन विषय भोगों को यह शरीर भोगता है वे अंत में नीरस हो जाते हैं, विष, शत्रु, अग्नि, चोर आदि से भी बढ़कर शरीर के विषय भोग आत्मा को दुख देते हैं। इस तरह शरीर राग करने योग्य नहीं है, इससे विरक्त होकर इस शरीर से तप ध्यान संयम करना उचित है। इस प्रकार चिंतवन करना **विरागविचय** है।

७—सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त मिश्रयोनि, शीत उष्ण, शीत उष्ण मिश्र योनि, संवृत, विवृत, संवृत विवृत मिश्र योनि में (उत्पन्न होने के स्थान में) गर्भज जीव (मनुष्य, तिर्यंच) जरा नाल [जेर] के साथ या जरा नाल के बिना [पोतज] तथा अण्डे द्वारा उत्पन्न होते है, देव उपपाद शय्या पर उत्पन्न

होते हैं, नारकी मधु मक्खियों के छत्ते में छेदों के समान नरकों में उत्पन्न होते हैं, शरीर बनने योग्य पुद्गल वर्गणाओं का अनियत स्थान पर बन जानेवाले शरीर में जन्म लेनेवाले **सम्मूर्छन** जीव हैं। एक शरीर छोड़कर अन्य शरीर लेने के लिए एक समयवाली विग्रहगति छूटे हुए बाण के समान इषुगति होती है, एक मोड़े वाली दो समयक **पाणिमुक्त** गति, दो मोड़ तथा तीन समय वालो हल गति और तीन मोड़ वाली चार समय की विग्रह गति **गोमूत्रिका** गति होती है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के बिना यह जीव अनन्त संसार से भव धारण किया करता है, ऐसा चिन्तवन करना **भव निचय** धर्म ध्यान है।

८—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ और धर्म, इन बारह भावनाओं का चिन्तवन करना **संस्थानविचय** है।

अध्वुवमसरणमेकत्तमण्ण संसार लोकमसुचित्तं।
आसवसंवरणिज्जर धम्मंबोहिच्च चितेज्जो ॥७॥

इस गाथा का अर्थ ऊपर लिखे अनुसार है।

९—जीव आदि पदार्थ अतिसूक्ष्म है उन्हें क्षायोपशमिक ज्ञान द्वारा स्पष्ट नही जाना जा सकता। उन सूक्ष्म पदार्थों को केवली भगवान ही यथार्थ जानते है। अतः केवली भगवान की आज्ञा ही प्रमाण रूप है, ऐसा विचार करना **आज्ञाविचय** है। कहा भी है—

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया जीव अजीव आदि तात्विक बहुत सूक्ष्म है। उस कथन को हेतुओं [दलीलों] से खण्डित नहीं किया जा सकता। उस जिनवाणी को भगवान की आज्ञा रूप समझकर मान्य करना चाहिए क्योंकि सर्वज्ञ वीतराग स्वरूप जिनेन्द्र भगवान अन्यथा [गलत] नहीं कहते हैं।

१०—सूक्ष्म परमागम में यदि कहीं भेद प्रतीत हो तो उसे प्रमाण, नय निक्षेप, सुयुक्ति से दूर करना, स्वसमय भूषण [मण्डन], पर-समय दूषण [खण्डन] रूप से चिन्तवन करना **कारणविचय** धर्म ध्यान है।

ये दश प्रकार के धर्म ध्यान पीत, पद्म तथा शुक्ल लेश्या वाले के होते हैं,

असंयत सम्यग्दृष्टि, देश संयत, प्रमत्त तथा अप्रमत्त इन चार गुण स्थानों में होते हैं।

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान ने १—आज्ञाविचय [जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा या उनकी वाणी प्रामाणिक है, ऐसा चिन्तवन], २—कल्मष अपायविचय [पाप कर्म तथा सभी कर्म किस प्रकार नष्ट हों ऐसा चिन्तवन करना] ३—विपाकविचय (कर्मों के उदय फल आदि का चिन्तवन करना) और ४—संस्थानविचय (लोकाकाश का स्वरूप चिन्तवन करना) धर्मध्यान के ये ४ भेद भी बतलाये हैं।

धर्मध्यान दो प्रकार का भी है १— बाह्य, २—अंतरङ्ग। व्रत, तप, संयम, समिति आदि धारण करना, सामायिक, स्वाध्याय आदि करना बाह्य-धर्मध्यान है क्योंकि इस प्रकार के आचरण रूप धर्म ध्यान को बाहर से अन्य व्यक्ति भी जान सकते हैं।

स्वयं अन्तरङ्ग में शुद्धि लाकर धर्म आचरण करना अन्तरङ्ग धर्म-ध्यान है। अन्तरङ्ग शुद्धि के लिए माया, मिथ्यात्व और निदान ये तीन शल्य नहीं होनी चाहिए।

परस्त्री वांछारूप रागविकार तथा पर-वध, बन्धादि रूप द्वेष विकार जब हृदय में उत्पन्न हो जावें तब उन विकार भावों को दूर न करते हुए बाहरी आचरण को बनाये रखना, मन में यों विचार कर 'कि मेरा मन विकार किसी अन्य व्यक्ति को मालूम नहीं' उस विकार को मन में बनाये रखना माया शल्य है।

शुद्ध आत्म-स्वरूप को न जानकर आत्मस्वरूप में रुचि न करना तथा मिथ्यात्व भँवर में पड़कर सांसारिक सुख में रुचि करना मिथ्याशल्य है।

निज शुद्ध आत्मा से उत्पन्न हुए परम आनन्द अमृत का पान न करते हुए, दृष्ट (देखे) श्रुत (सुने) और अनुभूत (भोगे हुए) सांसारिक सुख का स्मरण करना, भविष्य में उसके मिलने की अभिलाषा करना निदानशल्य है।

इस प्रकार तीन शल्य रहित निर्विकार आत्म स्वरूप अमृत का अनुभव करना आत्मस्वरूप में रत रहना अन्तरङ्ग निश्चय धर्म ध्यान है।

प्रकारान्तर से धर्मध्यान का स्वरूप—

पिण्डस्थंच पदस्थंच रूपस्थं रूपवर्जितम्।
चतुर्धाध्यानमाम्नातं भव्यराजीव भास्करैः ॥३५॥

अर्थ—भव्यात्मा रूप कमलों को विकसित करनेवाले सूर्य के समान जिनेन्द्र भगवान ने ध्यान के पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ये चार भेद भी बतलाये हैं।

पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं, पिण्डस्थं, स्वात्मचिन्तनम् ।
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं, रूपातीतं निरञ्जनम् ॥३६॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं, स्फुरन्तं ज्ञानतेजसम् ।
गणैर्द्वादशभिर्युक्तं ध्यायेदर्हन्त मक्षयम् ॥३७॥

अर्थ—मन्त्र वाक्य में चित्तस्थिर करके ध्यान करना **पदस्थध्यान** है, अपने आतमा का चित्तन करना **पिण्डस्थध्यान** है, अर्हंत भगवान रूप चिद्रूप **रूपस्थध्यान** है और शरीर रहित सिद्ध स्वरूप का चिन्तन **रूपातीत** ध्यान है। शुद्ध (निर्मल) स्फटिक मणि के समान निर्मल परमौदारिक शरीरधारी स्फुरायमान (पूर्णविकसित) ज्ञान तेज वाले, १२ गणों (समवशरण के १२ प्रकार के श्रोताओं) से सहित अविनाशी अर्हंत भगवान का ध्यान करना चाहिए।

तारेगेयं क्षीराब्धिय । वारियोळिरदोरासि कंचिदंते योळसेवा ॥
कारद पंचपदंगळ । नारैदात्ति शुद्धमनदोळिरिसे पदस्थं ॥२०१॥

अर्थ—निर्मल क्षीर सागर में जिस तरह चन्द्रमा का निर्मल प्रतिविम्ब होता है उसी प्रकार अपने निर्मल मनमें पच परमेष्ठी के मन्त्र को शुद्ध धारण करना **पदस्थ** ध्यान है।

पळुकिन कोडदोळु सहजं । बेळगुवशशिकान्तदेसेव बिंबाकृतितं-॥
नोळगोळगे तोळगि बेळगुव । बेळगं निजमागि कंडोडदु पिंडस्थं ॥
॥२०२॥

अर्थ—जिस तरह निर्मल स्फटिक मणि के पात्र में निर्मल चन्द्र की कान्ति दिखाई देती है उसी प्रकार अपने निर्मल हृदय में शुद्ध आत्म-स्वरूप का प्रतिभासित होना **पिण्ड स्थध्यान** है।

द्वादशगणपरिवृतनं । द्वादशकोटियर्कतेज विभ्राजितनं ।
आदरदिं मनदोळ निलिसु-। वंदमेरूपस्थमप्प परमध्यानं ॥

अर्थ—बारह कोठों में बैठे हुए श्रोताओंवाले समवशरण में विराजमान, १२ करोड़ सूर्य चन्द्रों की प्रभा से भी अधिक प्रभाधारक अर्हंत भगवान का अपने हृदय में चिन्तन करना **रूपस्थध्यान** है।

सहज सुख सहजबोधं । सहजात्मकवेनिप काण्के एंबीनलबि ॥
सहजमेने नेलसिर्निबी । बहळतेयिददविनाश रूपातीतं ॥२०४॥

अर्थ—सहज (स्वाभाविक) सुख, सहजज्ञान, सहज आत्मदर्शन स्वभाव से ही मेरे पास है, इस प्रकार आत्मरत होकर पाप नाशक आत्मस्वरूप का चिन्तवन करना रूपातीतध्यान है।

श्रीकरमभिष्ट सकल । सुखाकर मपवर्गकारणं भवहरणं ॥
लोकहितं मन्मनदो-। ळेकाग्रतेनिल्के निरूपमं पंचपदं ॥२०५॥

अर्थ—सम्पत्तिशाली, समस्त इष्ट पदार्थ प्रदान करनेवाला, मोक्ष का कारण, चतुर्गति भ्रमण संसार दुख को नाश करनेवाला, तथा लोक का हितकारी पंच परमेष्ठी का मन्त्र सदा मेरे हृदय में रहे।

पंचपदं भवभवदोळ् । संचितपापमने केडिसलाक्कुमोघं ॥
पंचम गतिगिरदोय्गुं । पंचपदाक्षरदमहिमे साधारणमे ॥२०६॥

अर्थ—पंच परमेष्ठी का पद अनन्तानन्तकाल से संचित पापों को नष्ट करता है तथा पंचमगति मोक्ष को शीघ्र बुलाकर देनेवाला है। इस पंचपरमेष्ठी की महिमा का वर्णन कौन कर सकता है?

मारिरिपुवन्हि जलनृप, । चोर रुजाघोर दुःखमं पिंगिसुवो-॥
सारायद पंचपदद-। नोरिदमक्केमगेमुक्ति यप्पंनेवरं ॥२०७॥

अर्थ—भयानक रोग, चोर, शत्रु, अग्नि, जल, राजरोग आदि भयंकर दुखों का नाश करनेवाला सार भूत पंच नमस्कार मन्त्र कल्प वृक्ष के समान मेरे हृदय में विराजमान रहे।

भोंकने कळेगुं भवदुःख पंकमनुग्राहि शाकिनीग्रह भूता ॥
तंकमनसुरपिशाचा । शंकेयनखिळैक मंगळं पंचपदं ॥२०८॥

अर्थ—यह पंचणमोकार मन्त्र सागर रूपी कीचड़ को, नाश कर देता है, शाकिनी डाकिनी भूत पिशाच आदि को भगा देता है। समस्त मङ्गलों में उत्तम है।

आपोत्तु सद्भक्तियो-। ळीपंचपदाक्षरंगळं जपितियसुवं-॥
गापोत्तुं भवतापं । पापमुमेरे केट्टुमक्कियक्कु ममोघं ॥२०९॥

अर्थ—इसणमोकार मन्त्र को शुद्ध हृदय से जपनेवाले भक्त भव्य

पुण्यों की समस्त आपत्ति, संसार का सन्ताप, तथा समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं और अन्त में मोक्ष पद प्राप्त हो जाता है।

मंगळ कारण पंचप-। दंगळनपवर्गविरचित सोपा-।।
मंगळनक्षय मन्त्र प-। दंगळ नोदुवुनेरेय्यनिश्चळमतिर्यि ।।२१०।।

अर्थ—समस्त सुख के कारण, मोक्ष की सीढ़ी के समान पंच नमस्कार मन्त्र को सदा निश्चल मन से जपना चाहिए।

बलवद्भूत पिशाच राक्षस विषं व्याळ्बाधेयं पिंगुकुं ।
दळियिक्कुं रिपुराज चोर भयमंदुःखाग्रशोकंगळं ।।
गळियिक्कुं घळियिक्कुमेल्लदेशेयिंदोळ् पंजगन्मुख्यमं-।
गळमीपंचगुरुस्तवं शुकृति प्रत्यूहविध्वंसनं ।।२११।।

अर्थ—पंच परमेष्ठी के स्मरण से बलवान भूत पिशाच, राक्षस, विष, सर्प की बाधा नष्ट होती है और शत्रुभय, राजभय, चोरभय तथा अनेक प्रकार के अन्य दुखों का नाश होता है तथा समस्त कर्मों का ध्वंस करनेवाला है एवं समस्त संसार में उत्कृष्ट मङ्गलकारक है।

त्रैलोक्य क्षोभोमंत्र त्रिजगदधिपकृत्पंचकल्याणलक्ष्मी ।
साम्राज्याकर्षणमंत्रं निरुपमं परम श्रीवधूवश्यमंत्र ।।
वाक्सोमाव्हनमंत्रं त्रिभुवनजनसंमोह मन्त्रं ।
जिन्हाग्रे संततं पंचगुरुनमस्कार मंत्रंममास्तु ।।२१२।।

अर्थ—यह पंच नमस्कार मन्त्र तीन लोकों को कँपा देता है, तीन लोकों में सर्वोत्तम गर्भावतरण, जन्माभिषेक, दीक्षा कल्याणक, केवलज्ञान तथा लक्ष्मी को आकर्षण करके देनेवाला है। अनुपम उत्कृष्ट मोक्ष लक्ष्मी को वश में करके देनेवाला यह मन्त्र है। ज्ञानरूपी चन्द्रमा का उदय करनेवाला है। त्रिलोकवर्ती समस्त प्राणियों को मोहित करनेवाला है। ऐसा अतिशय शाली अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय सर्व साधु के नमस्कार रूप मन्त्र मेरी जीभ पर सदा निवास करे।

घनकर्म द्विधिमारणं प्रबल मिथ्यात्वोग्रहोच्चाटनं ।
कुनयाशीविषनिर्विषीकरणमापापास्रवस्तंभनं ।।
विनुतार्हद्र मिबल्ते सुरेंद्र मुक्तिळळना संमोहनं भारती-।
वनितावश्यमिदल्ते पंचपरमेष्ठि नाममंत्राक्षरं ।।२१३।।

अर्थ—पंच परमेष्ठी के नाम रूप मन्त्राक्षर अत्यन्त प्रबल कर्मशत्रु को नाश करनेवाले हैं, प्रबल मिथ्यात्व ग्रह को भगानेवाले हैं, दुष्ट कामदेव रूप सर्प के विष को निर्विष करनेवाले हैं, रागादि परपरिणति से होनेवाले कर्मास्रव को रोक देते हैं, इन्द्र धरणीन्द्र पदवी को प्रदान करनेवाले हैं, मोक्ष लक्ष्मी को मोहित करनेवाले हैं तथा सरस्वती को मुग्ध करनेवाले हैं।

आगे पदस्थ ध्यान का वर्णन करते हैं:—

पणतीससोलछप्पण चदुदुगमेगंच जवह झाएह।

परमेट्ठिवाचयाणं अण्णंचगुरूवएसेन ॥१०॥

पणतीस—णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं।

ऐसे पेंतीस अक्षरों का मंत्र है।

सोल—अरहंत-सिद्ध-आइरिय-उवज्झाय-साहू ऐसा सोलह अक्षर का मन्त्र है छ अरहंत सिसा तथा 'अरहंत सिद्ध' यह छै अक्षरों के मन्त्र हैं। **पण** अ सि आ उ सा यह पांच अक्षरों का मन्त्र है। **चदु** अ सि साहु या अरहंत यह चार अक्षरों के मन्त्र हैं। **दुरहं** असि तथा सिद्ध यह दो अक्षरों का मन्त्र है। **एगञ्च** अ अथवा हैं या ओम् ऐसे एक अक्षरों के मन्त्र, **जवह** जप करना चाहिए। **झाएह** धवलरूप में ललाटादि प्रदेश में स्थापना करके ध्यान करना चाहिए और **गुरूवएसेण** परम गुरु के उपदेशों से **परमेट्ठिवाचयाणं** परमेष्ठी वाचक को तथा **अण्णञ्च** लघु वृहत सिद्धिचक्र चिन्तामणि मंत्र के क्रमानुसार द्वादश सहस्र संख्या सहित पंच परमेष्ठी ग्रन्थ में कहे हुए मंत्र को निर्भर भक्ति से निर्वाण सुख की प्राप्ति के लिए सदा जपना तथा ध्यान करना चाहिए।

आगे अर्हं शब्द की व्याख्या करते हैं।

अकारः परमोबोधो रेफो विश्वावलोकदृक्।

हकारोऽनन्तवीर्यात्मा बिन्दुस्स्यादुत्तमं सुखम् ॥३८॥

अर्थ—'अर्हं' शब्द में 'अ' अक्षर परम ज्ञान का वाचक है, 'र' अक्षर समस्त लोक के दर्शक का वाचक है, ह अक्षर अनन्त बल का सूचक है बिन्दु (बिन्दी) उत्तम सुख का सूचक है।

ओं पंच परमेष्ठी वाचक कैसे होता है ?

अरहन्ता असरीरा आइरिया तह उवज्झया मुणिणो ।
पढमक्खरणिप्पण्णो ओंकारो पंचपरमेट्ठी ॥

अर्थ—अर्हंत परमेष्ठी का प्रथम अक्षर 'अ', अशरीरी (पौद्गलिक शरीर रहित सिद्ध परमेष्ठी) परमेष्ठी का आदि अक्षर 'अ' आचार्य परमेष्ठी का आदि अक्षर 'आ'; इन तीनों अ+अ+आ को मिलाकर सवर्ण स्वर सन्धि के नियम अनुसार तीनों अक्षरों का एक अक्षर 'आ' हो गया। उपाध्याय परमेष्ठी का प्रथम 'उ' है। पहले तीन परमेष्ठियों के आदि अक्षरों को मिलाकर जो 'आ' बना था उसमे 'उ' जोड़ देने पर (आ+उ) स्वर सन्धि के नियम अनुसार दोनों अक्षरों के स्थान पर एक 'ओ' अक्षर हो गया। पांचवे परमेष्ठी 'मुनि' का प्रथम अक्षर 'म्' है उसको चार परमेष्ठियों के आदि अक्षरों के सम्मिलित अक्षर 'ओ' के साथ मिला देने पर 'ओम्' बन जाता है। इस प्रकार 'ओम्' या ॐ शब्द पंच परमेष्ठियो का वाचक (कहने वाला) है।

इस प्रकार परमेष्ठी वाचक मन्त्रों का जाप करने से हृदय पवित्र होता है, जिह्वा (जीभ) पवित्र होती है। मन और वाणी के पवित्र हो जाने से पाप कर्म क्षय होते है, अशुभ कर्म पलटकर शुभ कर्म रूप हो जाते है, कर्मों की निर्जरा होती है, रागांश के साथ पंच जाप करने से पुण्य कर्मों का बन्ध होता है, शत्रु, अग्नि, चोर, राजा, व्यन्तर रोग आदि का भय नष्ट होता है, सुख सम्पत्ति और स्वास्थ्य प्राप्त होता है।

"पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ ध्यान के विषयभूत (ध्येय) 'अर्हंत' भगवान का स्वरूप कैसा है तथा उनका ध्यान किस प्रकार करना चाहिए अब यही बतलाते हैं—

अर्हन्त भगवान चार घाति कर्मरहित, भूख प्यास जन्म मरण आदि १८ दोष रहित, गर्भ जन्म आदि पांच कल्याणक सहित, सिंहासन, है छत्र आदि ८ प्रातिहार्यो से शोभायमान, ३४ अतिशयों से युक्त, सौ इन्द्रों से पूजनीय, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त बल मंडित, समवशरण से महत्वशाली, १२ गणों से युक्त, सर्व-भाषामयी दिव्यध्वनि द्वारा समस्त जनहितकारी, समस्त तत्व प्रदर्शक उपदेश देने वाले अपने सप्त धातु रहित परम औदारिक शरीर से करोड़ो सूर्य चन्द्र की प्रभा को भी फीकी करने वाले हैं। वे अर्हन्त भगवान सर्व पाप नाश करने वाले है। उनका ध्यान इस प्रकार करना चाहिये।

"घातिचतुष्टयरहितोऽहम्, अष्टादशदोषरहितोऽहम्, पंचमहाकल्याणक-सहितोऽहम्, अष्टमहाप्रातिहार्यविशिष्टोऽहम्, चतुस्त्रिंशदतिशय-समेतोऽहम्, शतेन्द्रवृन्दवन्द्यपादारविन्द - द्वन्द्वोऽहम्, विशिष्टानन्त - चतुष्टय-समवशरणादि रूपान्तरंगबहिरंगश्रीसमेतोऽहम्, परमकारुण्यरसोपेत-सर्वभाषात्मक-दिव्यध्वनि-स्वरूपोऽहम्, कोट्यादित्यप्रभासंकाशपरमौदारिक-दिव्यशरीरोहं, परमपवित्राऽहं, परममंगलोऽहं, त्रिजगद्गुरु स्वरूपोऽहं, स्वयम्भूरहं, शाश्वतोहं, जगत्त्रयकालत्रयव-र्तिसकल - पदार्थ - युगपदवलोकनसमर्थसकलविमलकेवलज्ञानस्वरूपोऽहं, विश-दाखण्डैक - प्रत्यक्षप्रतिभासमयसकलविमलकेवल-दर्शनस्वरूपोऽहं, अतीन्द्रिया-शयामूर्तानन्त सुख स्वरूपोहं, अवार्यवीर्यानन्त बलस्वरूपोहं, अचिन्त्यानन्त गुण स्वरूपोऽहं, निर्दोषपरमात्मस्वरूपोहं, सोहं।"

इत्यादि पदों द्वारा सविकल्प निश्चय भक्ति समझ कर निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान से स्वशुद्धात्मभाव अर्हन्त भगवान की आराधना भव्यजीवों को सदा करनी चाहिये, ऐसा श्री कुन्मुदेन्द आचार्य का अभिप्राय है।

स्वावलम्बी रूपातीत ध्यान के विषय रूप सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप बतलाते हैं:--

ज्ञानावरणादि मूलोत्तर रूप सकल कर्मों से मुक्त, सकल केवल-ज्ञानादि निर्मल गुणों से युक्त, निष्क्रिय टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वरूप किञ्चिदून अन्तिम चरम शरीर प्रमाण, अमूर्त, अखंड,शुद्ध चिन्मय स्वरूप, निर्ग्रन्थ सहजानन्द सुखमय शुद्ध जीव घनाकार स्वरूप, नित्य निरंजन निर्मलनिष्कलंक, ऊर्ध्वगति स्वभाववाले, उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य से संयुक्त तीनों लोकों के स्वामी, लोकाग्र निवासी, तथा त्रैलोक्य वंद्य श्री सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान करने वालों को नित्य सुख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार व्यवहार भक्ति करने के पश्चात् एकाग्रता पूर्वक भगवान का ध्यान इस प्रकार करना चाहिये।

"ज्ञानावरणादिमूलोत्तररूपसकलकर्मविनिर्मुक्तोऽहं, सकलविमल-केवलज्ञानादिगुणसमेतोऽहं, निष्क्रियटंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वरूपोऽहं, किंचिन्यूनान्त्य-चरमशरीरप्रमाणोऽहं, अमूर्तोऽहं, अखण्डशुद्धचिन्मूर्तोऽहं, निर्ग्रन्थसहजानन्द-सुखमयस्वरूपोऽहं, शुद्धजीवघनाकारोऽहं, नित्योऽहं, निरंजनोऽहम् जगत्त्रयपूज्योऽहं निर्मलोऽहं, निष्कलंकोऽहं, ऊर्ध्वगतिस्वाभावोऽहं लोकाग्रनिवासोऽहं, त्रिजगद्वंदितोऽहं, अनन्तज्ञानस्वरूपोऽहं, अनन्तदर्शन-स्वरूपोऽहं, अनन्तवीर्यस्वरूपोऽहं, अनन्तसुखस्वरूपोऽहं, अनन्तगुणस्वरूपोऽहं, अनन्तशक्तिस्वरूपोऽहं अनन्तानन्तस्वरूपोऽहं, निर्वेगस्वरूपोऽहं, निर्मोहि-

स्वरूपोऽहं, निरामयस्वरूपोऽहं, निरायुष्कस्वरूपोऽहं, निरायुधस्वरूपोऽहं, निर्नाम स्वरूपोऽहं, निर्गोत्रस्वरूपोऽहं, निर्विघ्नस्वरूपोऽहं निर्गति स्वरूपोऽहं, निरिन्द्रिय-स्वरूपोऽहं, निष्कायस्वरूपोऽहं, निर्योगस्वरूपोऽहं, निजशुद्धस्मरणनिश्चय-शुद्धोऽहं, परंज्योतिःस्वरूपोऽहं, निरंजनस्वरूपोऽहं, चिन्मयस्वरूपोऽहं, ज्ञानानन्द-स्वरूपोऽहं" इत्यादि निजशुद्धात्म गुणस्वरूप निश्चय सिद्धभक्ति है अर्थात् चित्स्वरूप में जो अविचल निर्विकल्प स्थान है वह निश्चय सिद्ध भक्ति कहलाती है। इस प्रकार सविकल्प निर्विकल्पस्वरूप भेदाभेद सिद्ध भक्ति की भावना के बल से त्रिविध प्रकार के राज्य सुखादि ऐहिक सुख संपत्ति तथा अन्त में निःश्रेयस सुख की प्राप्ति होती है।

चरम शरीर की अपेक्षा वीतराग निर्विकल्प निश्चय सिद्ध-भक्तिपूर्वक रूपातीत ध्यान उसी भव में कर्म क्षय करने वाला है, ऐसा समझकर निज परमात्मा की आराधना निरन्तर करनी चाहिये, ऐसा श्री योगीन्द्रदेव का अभिप्राय है।

रूपातीत ध्यान के सिवाय शेष तीन ध्यानों के विषयभूत श्री आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप बतलाते हैं-

निश्चय तथा व्यवहार नय से दर्शनाचार ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार, इन पांच आचारों का आचरण करने वाले, परमदयारस-परिणति से द्रव्य क्षेत्र काल भव भावरूप ससार सागर को पार करने के कारण रूप तथा पवित्र पात्ररूप, निज निरंजन चित्स्वभावप्रिय भव्यजीवों को पांच आचारों का आचरण कराने वाले, चातुर्वर्ण्य संघ के नायक ऐसे आचार्य परमेष्ठी को गुणानुराग से स्मरण करने वाले भव्यजीवों को भाव शुद्धि होती है, ऐसा समझ कर निम्नलिखित रूप से ध्यान करना चाहिये--

"व्यवहारनिश्चियपंचाचारपरमदयारसपरिणतिपंचप्रकारसागरोत्तरणकारणभूत पोतपात्ररूपनिजनिरन्जन - चित्स्वरूप - भावना - प्रिय-चातुर्वर्ण्य-संघनायकाचार्य - परमेष्ठि - स्वरूपोऽहं, निजनित्यानन्दैकतत्वभावस्वरूपोहं, सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वरूपोहं, दण्डभयखण्डिताखण्डचित्पिण्ड-स्वरूपोहं, चतुर्गतिसंसार-दू स्वरूपोहं, निश्चय-पंचाचार-स्वरूपोहं, भूतार्थषडावश्यकस्वरूपोहं, सप्तभय - विप्रमुक्त - स्वरूपोहं, विशिष्टाष्टगुणप्रष्टस्वरूपोहं, नवकेवलब्धिस्वरूपोहं, अष्टविधकर्म मलकलङ्करहितस्वरूपोहं, सप्तनयव्यतिरिक्तस्वरूपोहं, इत्यादि रूप से आचार्य परमेष्ठी का ध्यान करना अर्हंविकल्प निश्चय भावना है।

इस प्रकार निरंजन परम पारिणामिक भाव में अविचल होकर भावना करने वाले भव्यजीवों को कर्मक्षय होकर मोक्ष प्राप्त होती है, ऐसा श्री ब्रह्मदेव का अभिप्राय है ।

अब पदस्थादि ध्यान-त्रयके विषयभूत उपाध्याय परमेष्ठीका स्वरूप बतलाते हैं—

निश्चय व्यवहार सम्बन्धी कालाचार विनयाचार उपाधानाचार बहुमानाचार निन्हवाचार, व्यञ्जनाचार, अर्थाचार, औरव्यञ्जनार्थाचार ये आठ ज्ञानाचार हैं निःशंकित निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये ८ प्रकार के दर्शनाचार हैं, १२ प्रकार के बाह्य आभ्यन्तर तपाचार हैं, पांच प्रकार का वीर्याचार है, १३ प्रकार का चारित्राचार है, इस प्रकार के पंचाचार का आचरण शुद्धजीवद्रव्यस्वरूप छह द्रव्य, सात तत्व, ९ पदार्थ में सारभूत भेदाभेद रत्नत्रय के कारण भूत समयसार के बल से अनन्त चतुष्टयात्मक कार्य स्वरूप समयसार का उपदेश करने वाले उपाध्याय परमेष्ठी का स्मरण करने से मोक्ष का कारण रूप पुण्यवृद्धि होती है ऐसा समझ कर निम्नलिखित रूपसे उपाध्याय परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिये ।

'निश्चयव्यवहार—अष्टविधज्ञानाचार स्वरूपोहं, अष्टविधदर्शनाचारस्वरूपोहं, द्वादशतपाचारस्वरूपोहं, पंचविधवीर्याचारस्वरूपोहं, त्रयोदशचारित्राचारस्वरूपोहं, क्षायिकज्ञानस्वरूपोहं, क्षायिकदर्शनस्वरूपोहं, क्षायिकचारित्रस्वरूपोहं, क्षायिकसम्यक्त्वस्वरूपोहं, क्षायिकपंचलब्धिस्वरूपोहं, परमशुद्धचिद्रूपस्वरूपोहं, विशुद्धचैतन्यस्वरूपोहं, शुद्धचित्कायस्वरूपोहं, निज जीवतत्वस्वरूपोहं, शुद्धजीवपदार्थस्वरूपोहं, शुद्ध जीव द्रव्यस्वरूपोहं, शुद्धजीवास्तिकायस्वरूपोहं, इस प्रकार की भावना निश्चय सविकल्प आराधना है ।

इस प्रकार निर्विकल्प आराधना प्राप्त होती है ऐसा समझ कर अनन्त सुख की प्राप्ति के लिये निरुपाधि सहज आत्मतत्व के अनुष्ठान को करना चाहिये, ऐसा बालचन्द्र देव का अभिप्राय है ।

शुद्धचैतन्य विलास लक्षण निज आत्मतत्वरूचिरूप सम्यग्दर्शन में विचरण करना निश्चय दर्शनाचार है । निर्विकार परमानन्दरूप आत्मस्वरूप से भिन्न रागादि परभाव को भेद विज्ञान द्वारा पृथक जानना निश्चय सम्यग्ज्ञान है, उसी में लीन होना निश्चयज्ञानाचार है । शुद्ध आत्मभावना जनित स्वाभाविक सुख की अनुभूति में निश्चल होने वाली परिणति निश्चय सम्यक् चारित्र है, उसमें निरन्तर विचरना निश्चय चारित्राचार है । समस्त द्रव्यों की इच्छा के निरोध

से निर्मल निज-आत्मभावना का अनुष्ठान करना उत्तम तप है, उसमें सदा विचरण करना निश्चय तपाचार है। इस प्रकार चार आराधनाओं को अपनी शक्ति न छिपाकर आचरण करना वीर्याचार है। इन पंच आचारों में अग्रेसर होकर व्यावहारिक पंच आचारों से युक्त शुद्ध रत्नत्रयात्मक कारण समय सार के बल से अनन्त निश्चय मोक्ष मार्ग के चतुष्टयात्मक कार्य समयसार को वीतराग निर्विकल्प समाधि में लीन होकर साधन करने वाले सर्व साधु परमेष्ठी हैं उनका निर्मल भक्ति से स्मरण करने वाले भव्यजीवों को उनका स्मरण निज शुद्ध रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग का सहकारी कारण है, ऐसा समझकर निम्नलिखित रूप से ध्यान करना चाहिये।

अखण्डशुद्ध ज्ञानैकस्वरूपोहं,स्वाभाविकज्ञानदर्शनस्वरूपोहं अन्तरंग रत्नत्रयस्वरूपोहं, नयनिक्षेपप्रमाणविदूरस्वरूपोहं,सप्तभयविप्रमुक्तस्वरूपोहं अष्टविध कर्म निर्मुक्त स्वरूपोहं, अविचलशुद्धचिदानन्दस्वरूपोहं, अद्वैतपरमाल्हादस्वरूपोहं, इत्यादि सविकल्प गुणस्मरण से स्वशुद्ध आत्म स्वरूप में निश्चल अवस्थान होता है ऐसा समझ कर सर्व साधु पद की प्राप्ति के लिये स्वशुद्ध आत्मभावना विवेकी पुरुषों को सदा करते रहना चाहिये, ऐसा श्री कुमुदचन्द्र आचार्य का अभिप्राय है।

अब पांच परमेष्ठियों का स्वरूप कहते है—

सिद्ध भगवान साक्षात् परमेष्ठी (परम पद मे स्थित) है। अर्हन्त भगवान एक देश परमेष्ठी है। आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु को भी उस पद के साधन में तत्पर रहने के लिये तथा दुर्ध्यान दूर करने के लिये व्यवहार निश्चय, भेद अभेद ध्यान-सम्बन्धी पंचपरमेष्ठी की भक्ति आदि बहिरंग धर्मध्यान के बल से निश्चय धर्मध्यान की आराधना करते है। कहा भी है-

वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं वश्यचित्तता।
जितपरिषहत्वं च पंचैते ध्यानहेतवः ॥
निमित्तं शरणं पंच गुरवो गौणमुख्यता।
शरण्यं शरणं स्वस्य स्वयं रत्नत्रयात्मकम् ॥ ३९-४० ॥

अर्थ—वैराग्य,तात्त्विक ज्ञान, निर्ग्रन्थता (बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह रहितपना, मनको वश मे करना तथा परिषहों का जीतना, ये पांच ध्यान के कारण हैं, व्यवहार से पांच परमेष्ठी निमित्तभूत शरण (रक्षक) हैं किन्तु निश्चय नय से स्वयं रत्नत्रयमय अपना आत्मा ही शरण है।

व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग का कारण ज्ञान से ही प्राप्त होता है:-

स चमुक्ति हेतू विध्यध्याने यस्माव्द्वाप्यते द्विविधोऽपि ।
तस्मादभ्यस्यन्तु ध्यानं सुधियो सदाप्यपालस्यम् ॥
वज्रसंहननोपेताः पूर्वश्रुतसमन्विताः ।
दध्युः शुक्लमिहातीताः श्रेण्युपारोहणक्षमाः ॥ ४१-४२ ॥
तादृक् सामग्र्यभावे तु ध्यातुं शुक्लमिहाक्षमान् ।
धरायुगेनानुद्दिश्य धर्मध्यानं प्रचक्ष्महे ॥ ३४ ॥

अर्थ—धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग के कारण हैं इसलिये बुद्धिमान पुरुष उन ध्यानों का अभ्यास करें। जो मुनि वज्र ऋषभनाराच संहनन-धारक हैं, पूर्ण श्रुतज्ञानी हैं वे ही उपशम तथा क्षपक श्रेणी पर चढ़ने में समर्थ हैं और वे ही शुक्ल ध्यान कर सकते हैं। इस समय भरत क्षेत्र में उस प्रकार के संहनन आदि साधन सामग्री के न होने से मुनिगण शुक्ल ध्यान करने में असमर्थ हैं उनके उद्देश्य से धर्मध्यान को कहेंगे।

गाथा— जइणिमिसत्थुविकाइकयिणियअप्पेअणुवाऊ ।
अग्गिकणज्जेवकट्ठगिरिदहइसेसुविहाऊ ॥ १२ ॥

अर्थ—तृण काष्ठ पुंज को अग्नि की केवल एक छोटी सी चिनगारी भी जिस प्रकार क्षणभर में भस्म कर देती है उसी प्रकार वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान भावना के बल से निज शुद्धात्मा को निमिषार्ध समय में, (क्षण भर में) ही एकाग्रता से ध्यान करने से अनन्त भवों के एकत्रित किये हुये सकल कर्म मल नष्ट हो जाते हैं। इस पंचम काल के इस क्षेत्र में मोक्ष न होने पर भी परम्परा से मोक्ष होती है, ऐसा विश्वास रखकर निजात्म भावना करनी चाहिये। प्राचीन काल में भी भरत, सगर, राम तथा पांडवादिकों ने जिस प्रकार परमात्मभावना से संसार की स्थिति का नाश करके स्वर्ग पद प्राप्त किया था और वहां के सुखों का अनुभव करके अन्त में चयकर इस भरत क्षेत्र में आर्यखण्डस्थ कर्म भूमि में आकर जन्म लिया तथा पूर्व भव में भेदाभेद रत्नत्रय भावना संस्कार बल से मुनिदीक्षा ग्रहण करके पुनः शुद्धात्म भावना को भाकर आने वाले अनेक उपसर्गों को जीत कर मोक्ष सुख को प्राप्त किया। ऐसा समझकर भव्य जीवों को सदा अभ्युदयकारक शुद्धात्म--भावना को निरन्तर करते रहना चाहिये।

विषय कषाय आदि अशुभ परिणामों को दूर करने के लिये पंच परमेष्ठी आदि को ध्येय बनाकर प्रशस्त परिणाम करने के लिये सविकल्प ध्यान किया

जाता है। उस सविकल्प ध्यान के समय यदि कोई परिषह आजावे तो उस समय यदि वह अन्तरात्मा शारीरिक मोह को त्याग कर परिषह जन्य कष्ट की ओर से मानसिक वृत्ति हटाकर मन को आत्मचिन्तन में निमग्न करदे तो वही निश्चय ध्यान हो जाता है।

अरुहा सिद्धा आइरिया उवज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी।
तेवि हु चेत्तइ आदे तम्हा आदाहु मे सरणं॥

अर्थ—अर्हन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय सर्वसाधु ये पांच परमेष्ठी का आत्मा में चिन्तवन करना चाहिये क्योंकि आत्मा ही मुझे शरण है।

अर्हन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय सर्व साधु निश्चय नय से शुद्ध चिद्रूप में प्रवर्तन करने वाले हैं अतः हीनसंहनन, अल्पश्रुतज्ञानी, अल्प चारित्र वाले व्यक्तियों को भी अपने आत्मा को पंच परमेष्ठी रूप चिन्तावन करके ध्यान करना चाहिये।

भरहे पंचमकाले धम्मज्झाणं हवेइ णाणिस्स।
तं अप्पसहावठिदे णहु मण्णइ सोवि अण्णाणी॥

अर्थ--भरतक्षेत्र में इस पंचम कलिकाल में ज्ञानी के स्वात्म-स्थित हो जाने पर धर्म ध्यान होता है, ऐसा जो नही मानता है वह अज्ञानी है।

अंजलितियरणसुद्धा अप्पज्झाऊण।
अहइ इछुत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति॥
आर्तध्यानं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः।
धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेण्यां प्राग्वर्तिनाम्॥
यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमेन च।
श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्युक्तं तन्नावस्थां निषेधकम्॥
यत्राहुर्नहि कालोऽयं ध्यानस्वाध्याययोरिति।
अर्हन्मतानभिज्ञत्वं ज्ञापयन्त्यात्मनः स्वयम्॥

अर्थ--रत्नत्रय से शुद्ध व्यक्ति आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपद प्राप्त करते हैं फिर वहां से आकर मनुष्य भव पाकर मुक्ति प्राप्त करते है। जिनेन्द्र भगवान ने उपशम या क्षपक श्रेणी से पूर्ववर्ती मनुष्यों के धर्मध्यान बतलाया है, उनके आर्तध्यान और शुक्लध्यान का निषेध किया है। आगम में बतलाया गया है कि वज्र ऋषभनाराच संहनन वाले के उपशम श्रेणी, क्षपक श्रेणी शुक्लध्यान होता है। जो मनुष्य यह कहते हैं कि यह काल ध्यान और स्वाध्याय के योग्य नहीं है वह अपने आपको जैन सिद्धान्त की अनभिज्ञता प्रकट करते हैं।

ऐसा समझकर निम्नलिखित प्रकार ध्यान करना चाहिए।

"रागद्वेष,-क्रोध-मान - माया -लोभ,-पंचेन्द्रिय-विषय-व्यापार,-मनोवचन काय कर्म,-भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म, ख्याति,-पूजा, लाभ, दृष्ट-श्रुतानुरूप भोगकांक्षा-रूप-निदान,-माया-मिथ्यात्व - शल्यत्रय, - गार्वत्रय, - दंडत्रय-विभाव परिणाम-शून्योऽहं, निजनिरंजन-स्वशुद्धात्म-सम्यक्त्व - श्रद्धान-ज्ञानानुष्ठान-रूपा-भेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्प समाधि-संजात-वीतराग सहजानन्द - सुखानुभूति रूप मात्र-लक्षणेन स्वसंवेदन-ज्ञान-सम्यक्त्व-प्राप्त्याभरितावज्ञानेन गम्य - प्राप्त्या भरितावस्थोऽहं, निज - शुद्धात्मटंकोत्कीर्णज्ञानैक स्वभावोऽहं, सहज-शुद्ध-पारिणामिक-भावस्वभावोऽहं, सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहं, मदच्छलनिर्भयानन्दरूपो ऽहं, चित्कलास्वरूपोऽहं, चिन्मुद्रांकित-निर्विभागस्वरूपो ऽहं, चिन्मात्र - मूर्तिस्वरूपोऽहं, चैतन्यरत्नाकर . स्वरूपोऽहं, चैतन्य-रसरसायनस्वरूपो ऽहं, चैतन्य-चिन्हस्वरूपो ऽहं, चैतन्य-कल्याण-वृक्ष स्वरूपो ऽहं, ज्ञानपुञ्जस्वरूपो ऽहं, ज्ञानज्योतिःस्वरूपो ऽहं, ज्ञानामृतप्रभाव-स्वरूपो ऽहं, ज्ञानार्णवस्वरूपो ऽहं . निरुपमनिर्लेपस्वरूपो ऽहं, निरवद्य-स्वरूपो ऽहं, शुद्धचिन्मात्रस्वरूपो ऽहं,, शुद्धाखण्डैकमूर्तिस्वरूपो ऽहं, अनन्त-ज्ञानस्वरूपो ऽहं, अनन्त-शक्ति-स्वरूपो ऽहं सहजानन्दस्वरूपो ऽहं, परमा-नन्दस्वरूपो ऽहं , परमज्ञान - स्वरूपो ऽहं, सदानन्द स्वरूपो ऽहं चिदानन्द स्वरूपो ऽहं, निजानन्दस्वरूपो ऽ नित्यानन्द स्वरूपो ऽहं, निजनिरंजन स्वरूपो ऽहं, सहज सुखानन्द स्वरूपो ऽहं, नित्यानन्दमय स्वरूपो ऽहं, शुद्धात्म स्वरूपो ऽहं, परमज्योतिः स्वरूपो ऽहं स्वात्मोपलब्धि-स्वरूपो ऽहं, शुद्धात्मा-नुभूति स्वरूपो ऽहं, शुद्धात्म संवित्ति स्वरूपो ऽहं, भूतार्थ स्वरूपो ऽहं, परमार्थस्वरूपो ऽहं, निश्चयपंचाचार स्वरूपो ऽहं समयसार - समूह स्वरूपो ऽहं, अध्यात्मसार स्वरूपो ऽहं, परम मंगल स्वरूपो ऽहं, परमोत्तम स्वरूपो ऽहं, परमशरणोऽहं, परम केवल ज्ञानोत्पत्ति कारण स्वरूपो ऽहं, सकलकर्म क्षय कारण स्वरूपो ऽहं, परमाद्वैत स्वरूपो ऽहं, शुद्धोपयोग स्वरूपो ऽहं, निश्चय षडावश्यक स्वरूपो ऽहं, परम स्वाध्याय स्वरूपो ऽहं, परमसमाधि स्वरूपो ऽहं, परमस्वास्थ्य स्वरूपो ऽहं, परम भेदज्ञान स्वरूपो ऽहं, परम स्वसंवेदन स्वरूपो ऽहं, परम समरसीभाव स्वरूपो ऽहं, क्षायिक सम्यक्त्व स्वरूपो ऽहं, केवल ज्ञान स्वरूपो ऽहं, केवल दर्शन स्वरूपो ऽहं, अनन्त वीर्य स्वरूपो ऽहं, परम सूक्ष्म स्वरूपो ऽहं, अवगाहन स्वरूपो ऽहं, अगुरुलघु स्वरूपो ऽहं, अव्याबाध स्वरूपो ऽहं, अष्टविधकर्म रहितो ऽहं, निरंजन स्वरूपो ऽहं, नित्यो ऽहं, अष्टगुण सहितो ऽहं, कृतकृत्यो ऽहं,

लोकाप्रवास्य ऽ हं, अनुपमो ऽ हं, अचिन्त्यो ऽ हं, अतर्क्यो ऽ हं, अप्रमेय-स्वरूपो-ऽ हं, अविनाश स्वरूपो ऽ हं, शाश्वतो ऽ हं, शुद्ध स्वरूपो ऽ हं," इस प्रकार जगत्रय कालत्रय में इस मन्त्र का मनवचन काय कृत कारित अनुमोदन सहित शुद्ध मन से समस्त भव्य जीवों को ध्यान करना चाहिए "यही मेरा स्वरूप है" ऐसी भावना करना साक्षात् अभ्युदय निःश्रेयस सुख प्रदान करनेवाला निश्चय धर्म ध्यान होता है। इस ध्यान से अन्त में निःश्रेयस सुख की प्राप्ति होती है।

पुनः शक्तिनिष्ठ निश्चयनय से अनन्तगुण चिन्तामणि की खानि के समान स्वात्मतत्त्वादि पदार्थ परिज्ञान के लिए तत्त्व वेद में रत होकर आराधना करने की सद्भावना तथा उस परमात्म ज्योति रूपी तत्व का आदर के साथ सुनने की लालसा करना, उस परमात्मतत्व को भेद पूर्वक ग्रहण करने की शक्ति रखना, उस चित्यानन्द के स्वभाव को कालान्तर मे भी न भूलने की धारणा रखना, उस परम पारिणामिक भावना को सदा स्मरण करने की शक्ति, उस परमानन्दमय सहजानन्द परमात्मा को बारम्बार चिन्तन करने की स्मृति, उस परम भाव की भावना को निरन्तर ध्यान करने आदि की भावना रखना परमनिष्क्रिय टंकोत्कीर्ण ज्ञानैक स्वभाव नामक ध्यान है।

स्मृतिस्तत्वे सकृच्चिन्ता मुहुर्मुहुरनुस्मृतिः।

भावनास्तु प्रबन्धात्स्याद्ध्यानमेकाग्रनिष्ठित ॥४७॥

असंयते स्मृति देंशसंयतेऽनुस्मृतिः स्मृता।

प्रमत्ते भावना प्राहुर्ध्यानं स्यादप्रमत्तके ॥४८॥

अर्थ—तत्त्वका एक वार चिन्तवन करना स्मृति है, वार वार चिन्तवन करना अनुस्मृति है। विचार करना भावना भावना है और चित्त एकाग्र करना ध्यान है।

अर्थ—इनमें से असंयत में स्मृति, देश संयम में अनुस्मृति, प्रमत्तगुणस्थान में भावना, अप्रमत्त में ध्यान होता है। यह धर्मध्यान पीत, पद्म तथा तथा शुक्ल लेश्यावालों को होता है।

इति धर्मध्यानम्

शुक्लध्यानं चतुर्विधम् ॥५७॥

शुक्ल ध्यान के चार भेद हैं जो कि क्रमशः पृथक्त्व-वितर्क-वीचार, एकत्ववितर्क अवीचार, सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती तथा व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें पृथक्त्व का अर्थ 'अनेक प्रकार का है, वितर्क पूर्वक वाली श्रुतज्ञान के साथ जो रहता है। वीचार का अर्थ—ध्यान किये जाने वाला ध्येय द्रव्य, गुण, पर्याय, आगम वचन, मन वचन कायादिक का परिवर्तन होना है। अर्थात् जिस शुक्ल ध्यान में श्रुतज्ञान के किसी पद के अवलम्बन से योगों तथा

जीव पदार्थ एवं व्यञ्जन (पद) का परिवर्तन होता रहे वह पृथक्त्ववितर्क-वीचार है। विशेष विवरण इस प्रकार है:—

इस अन्त रहित संसार रूपी समुद्र को पार करने की कामना करनेवाले परम यतीश्वर के द्रव्य परमाणु भाव परमाणु आदि के अवलम्बन से शेष समस्त वस्तुओं की चिन्तादिक व्यापारों को छोड़ कर कर्म प्रकृति की स्थिति अनुभाग को घटाते २ उपशम करते हुये अधिक कर्म निर्जरा से युक्त मन वचन काय रूप तीनों योगों में से किसी एक योग में या द्रव्य से गुण में अथवा पर्याय में कुछ नय के अवलम्बन से श्रुतज्ञान रूपी सूर्य की ज्योति के बल से अन्तर्मुहूर्त का ध्यान करना, तत्पश्चात् अर्थान्तर को प्राप्त होकर अर्थात् गुण या पर्याय को संक्रमण करना पूर्व योग से योगान्तर को व्यंजन से व्यंजनान्तर को संक्रमण होता है उस शुक्लध्यान (पृथक्त्ववितर्कवीचार) के ४२ विकल्प होते हैं। वे इस प्रकार हैं:—

जीव के ज्ञानादि गुण, पुद्गल के वर्णादि गुण, धर्म द्रव्य के गत्यादि, अधर्मद्रव्य के स्थित्यादि, आकाश के अवगाहनत्व आदि गुण और कालद्रव्य के वर्तना इत्यादि गुण हैं। उन गुणों की प्रतिसमय परिवर्तनशील पर्यायें (अवस्थाएँ)होती हैं। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य की अपेक्षा अन्य द्रव्य द्रव्यान्तर या पदार्थान्तर है। प्रत्येक गुण की अपेक्षा अन्य सभी गुण गुणान्तर हैं और प्रत्येक पर्याय की अपेक्षा अन्य पर्यायें पर्यायान्तर हैं।

इस तरह अर्थ, अर्थान्तर, गुण, गुणान्तर, पर्याय, पर्यायान्तर इन छहों के योगत्रय संक्रमण से १८ भंग होते हैं। द्रव्त तथा भाव तत्त्व के गुण-गुणान्तर तथा पर्याय-पर्यायन्तर इन चारों में योगत्रय संक्रमण की अपेक्षा १२-१२ भंग होते है। ये सब मिल कर ४२ भंग होते हैं।

प्रश्न—एकाग्र चिन्ता निरोध रूप ध्यान में ये विकल्प कैसे होते हैं?

उत्तर—ध्यान करने वाला दिव्य ज्ञानी निज शुद्धात्म संवित्ति को छोड़ कर बाह्य चिन्तवन को तो नहीं करता, किन्तु फिर भी प्रारम्भ काल में ध्यान के अंश से स्थिर होता है। उसके अन्दर कुछ न कुछ विकल्प होता रहता है जिससे कि वह ध्यान पृथक्त्व वितर्क वीचार नामक प्रथम शुक्ल ध्यान होता है। उसमें पहले कहा हुआ द्रव्य भाव परमाणु का अर्थ इस प्रकार है कि:—

द्रव्य शब्द से आत्म द्रव्य कहा जाता है। उस के गुण-गुणान्तर तथा पर्याय, पर्यायान्तर इन चार में योगत्रय संक्रमण १२ भंग होते हैं।

परमाणु क्या है?

रागादि उपाधि रहित सूक्ष्म निर्विकल्प समाधि का विषय होने के कारण

इस द्रव्य परमाणु शब्द को कहा गया है। भाव शब्द से आत्म द्रव्य का स्वसंवेदन ज्ञान परिणाम से ग्रहण होता है। उसके लिये सूक्ष्म अवस्था इन्द्रिय मनोविकल्प ही विषय होने के कारण भाव-परमाणु सम्यक्त्व का व्याख्यान जानना चाहिए। इस ध्यान को पहले संहनन से युक्त उपशम श्रेणी के चारों गुणस्थान वाले करते हैं। उसका फल २१ चारित्र मोहनीय कर्मों का उपशम करना है तथा वज्र वृषभ नाराच संहनन वाले चरम-शरीरी अपूर्वकरणादि क्षीण कषाय के प्रथम भाग तक ही केवल क्षपक श्रेणी तक ध्यान करते हैं। अर्थात् वह ध्यान २१ चारित्र मोहनीय आदि कर्म क्षपण से होता है तथा वह शुक्लतर लेश्या वाला होता है। श्रेणीद्वय की अपेक्षा यह ध्यान स्वर्गापवर्ग गति का कारण होता है। और पूर्व श्रुत ज्ञानी के होता है। यथाख्यात शुद्ध संयम से सहित एवं शेष क्षीणकषाय के भाग में एकत्व से निर्विकार सहज सुखमय निज शुद्ध एक चिदानन्द स्वरूप में ही रत रहकर भावना करने वाले निरुपाधि स्वसंवेदन ज्ञान का अवलंबन कर श्रुताश्रित अर्थ व्यञ्जन के तथा योग के परिवर्तन से रहित होना एकत्व वितर्क अवीचार नामक दूसरा शुक्ल ध्यान है। अतएव पहले से असंख्यात गुणश्रेणी कर्म निर्जरा होती है। द्रव्य भाव स्वरूप ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय इन तीनों घाति कर्मों के नाश होने से शीघ्र ही नव क्षायिक लब्धिरूपी किरणों से प्रकाशित होने वाले सयोग केवली जिन भास्कर तीर्थंकर होते हैं। इसी तरह इतर कृत-कृत्य, सिद्ध-साध्य, बुद्ध-बोध्य, अत्यन्त अपुनर्भव, लक्ष्मी संगति से युक्त अचिन्त्य ज्ञान वैराग्य व ऐश्वर्य से युक्त अर्हन्त भगवान् तीन लोक के अधिपति होकर अभ्यर्चनीय व अभिवंद्य होकर दिव्य धर्मामृत सार से भव्य जन रूपी शस्य की वृद्धि करते हुये उत्कृष्ट से उत्कृष्ट पूर्व कोडाकोडी काल विहार करते है। अर्हन्त की ६ लब्धियाँ इस प्रकार हैं

अनन्तज्ञानदृग्वीर्यविरतिः शुद्धदर्शनम् ।
दानलाभौ च भोगोपभोगवानन्तमाश्रिता ।४६।

अर्थ—अनन्तज्ञान, दर्शन, वीर्य, चारित्र, दान, लाभ, भोग, उपभोग क्षायिक सम्यक्त्व ये ६ लब्धि होती हैं। इन ६ लब्धियों को प्राप्त कर लेने पर ही अर्हन्त परमेश्वर कहलाते हैं। तत्पश्चात् विहारादि क्रिया करते हैं। अन्तर्मुहूर्त्त की शेष आयु में संसार की (शेष ३ अघाति कर्मों की) स्थिति समान होने पर बादर मनो, वचन श्वासोच्छ्वास से बादर काययोग मे फिर उस से सूक्ष्म मनोवचन व उच्छ्वास मे आकर उसे भी नाश कर सूक्ष्म काय योग होता है। यही सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती नामक तीसरा शुक्ल ध्यान है। यदि किसी

की आयु की अपेक्षा वेदनीय, नाम, गोत्र कर्म की स्थिति अधिक होती है तो उसे आयु की स्थिति के समान करने के लिये समुद्घात (आत्म-प्रदेशों का कुछ अंश शरीर से बाहर निकलना) करते हैं।

प्रथम ही चार समय में क्रम से दण्ड, कपाट, प्रतर व लोक पूर्ण रूप आत्म-प्रदेशों को फैलाते हैं। यदि खड़े हों तो प्रथम समय में शरीर की मोटाई में और यदि बैठे हों तो शरीर से तिगुणी मोटाई में पृथ्वी के मूल भाग से लेकर ऊपर सात रज्जु तक आत्म प्रदेश दण्डाकार यानी दण्ड के रूप में प्राप्त होना दण्ड समुद्घात कहलाता है।

द्वितीय समय में यदि उनका मुख पूर्व दिशा में हो तो दक्षिण उत्तर में फैल जाता है, यदि उत्तराभिमुख हों तो पूर्व सूचित बाहुल्य सहित होकर विस्तार किये हुए प्रदेश से अत्यन्त सुन्दराकार को धारण करना कपाट समुद्घात कहलाता है।

तीसरे समय में वातवलयत्रय के बाहर के शेष सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त होने का नाम प्रतर है।

चौथे समय में लोक में परिपूर्ण व्याप्त होना लोक पूरण समुद्घात कहलाता है। इसमें एक एक समय में शुभ प्रकृति का अनुभाग अनन्तगुण हीन होता हुआ एक एक में स्थिति कांडक घात होता है।

उससे आगे अन्तर्मुहूर्त्त में एक ही स्थिति कांडक घात होता है। लोक-पूर्ण समुद्घात में आयु स्थिति तथा संसार स्थिति समान हो जाती है। शेष पांचवें समय मे वातावरण में न रहकर जीव प्रदेशों को संकोच करके प्रतर में आ जाता है। छठे समय में प्रतर को कपाट समुद्घात करता है, सातवें समय में कपाट को विसर्जन कर दण्ड समुद्घात रूप होता है, आठवें समय में दण्ड समुद्घात को संकोच कर जीवप्रदेश निज शरीर प्रमाण में आते है। इस प्रकार उपर्युक्त समुद्घातों को करके सयोग केवली गुणस्थान में चारों अघाती कर्मों की समान स्थिति होती है। तत्पश्चात् योग निरोध करने के पहले पूर्व के समान बादर मनवचन श्वासोच्छ्वासों को बादर कायिक योग से निरोध करने के पश्चात् बादरकाय योग सूक्ष्म मन वचन श्वासोच्छ्वास इत्यादि को सूक्ष्म काय योग से क्रमशः निरोधकरने से सूक्ष्मकाययोग से सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती नामक तीसरा शुक्ल ध्यान होता है। इसे उपचार से ध्यान भी कहते हैं क्योंकि ज्ञान लक्षण से रहित होने के कारण उस ध्यान के फल से सूक्ष्म काय योग होता है। उसको नाश करने के बाद अन्तर्मुहूर्त में अयोगी केवली

गुणस्थान होता है। पंच ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण समय अर्थात् अ इ उ ऋ लृ इन पांचु अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने समय उस गुण स्थान में निःशेष कर्म को निरास्रव करके सम्पूर्ण शील गुणों से समन्वित अपने द्विचरम समय में १३ प्रकृतियों को निर्विशेष रूप से नाश करता है। इस प्रकार शेष ८५ प्रकृति अयोगी केवली गुणस्थान में व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति नामक चौथे शुक्ल ध्यान से नाश होती हैं। इसे भी उपचार से ध्यान कहते हैं। इस ध्यान से सांसारिक समस्त दुःखों को नाश कर ध्यानरूपी अग्नि से निर्दग्ध सर्व कर्म मल रूपी ईंधन निरस्त करने के बाद नव जन्म होने के समान शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त होकर उसी समय लोकाग्र में स्थित होता है। यह अपने को स्वयमेव देखने और जानने योग्य आभ्यन्तर शुक्ल ध्यान का लक्षण है। गात्र, नेत्र परि-स्पन्द रहित, अनभिव्यक्त प्राणापान प्रचारित्व, नामक पर को देखने व जानने में आने के कारण ये शुक्ल ध्यान के बाह्य लक्षण होते हैं।

इस प्रकार कहे हुए धर्म, शुक्ल ध्यान को मुख्यवृत्ति से स्वशुद्धात्म द्रव्य ही ध्येय रूप होता है और शेष विकल्प गौण होते हैं। सिद्धान्त के अभिप्राय से दोनों विषयों में कोई विशेष भेद नहीं है। अतः धर्मध्यान सकषाय परिणाम होकर मार्ग में लगे हुए दीपक के समान अधिक समय तक नहीं टिकता। किन्तु शुक्लध्यान असंख्यात गुणे प्रकाश से मणि के समान सदा प्रकाशित रहता है। इन दोनों में केवल इतना ही भेद है।

षड् गुणस्थान पर्यन्त आर्त्त ध्यान और पंचम गुणस्थान पर्यन्त रौद्र ध्यान है, ये दोनों आगम में सर्वथा हेय माने गये है।

असंयत सम्यग्दृष्ट्यादि चतुर्थ गुणस्थान भूमि सम्बन्धी जो धर्म ध्यान है वह कारण रूप से उपादेय है। अपूर्वकरण आदि सयोगकेवली पर्यन्त वर्तने वाला शुक्ल ध्यान साक्षात् उपादेय है।

इस प्रकार शुक्ल ध्यान का वर्णन समाप्त हुआ।

आगे बारह प्रकार के तपों से उत्पन्न आठ प्रकार की ऋद्धियों को कहते हैं:-

अष्टौ ऋद्धयः ॥५८॥

अर्थ—१-बुद्धि ऋद्धि, २-क्रियाऋद्धि, ३-विक्रियाऋद्धि, ४-तपऋद्धि, ५-बलऋद्धि, ६-ऐश्वर्यऋद्धि, ७-रसऋद्धि तथा ८-अक्षीणऋद्धि ये ऋद्धियों के आठ भेद हैं।

बुद्धिरद्धास्य भेदा ॥५६॥

बुद्धि ऋद्धि के १८ भेद होते हैं। १-केवल ज्ञान, २-मनः पर्यय ज्ञान, ३-अवधिज्ञान, ४-बीज बुद्धि, ५-कोष्ठ बुद्धि, ६-पदानुसारी, ७-सम्भिन्न श्रोत्र, ८-दूरास्वादन ९-दूरस्पर्शनत्व. १०-दूरघ्राण, ११-दूरदर्शन, १२-दूरश्रवण, १३-दशपूर्व, १४-चतुर्दश पूर्व, १५-अष्टांगमहानिमित्त ज्ञान, १६-प्रज्ञाश्रवण, १७-प्रत्येक बुद्धि, १८-वादित्व ऐसे बुद्धि ऋद्धि के १८ भेद हैं।

समस्त पदार्थों को युगपत् जानना केवल ज्ञान है। २-पुद्गल आदि अन्य वस्तुओं को मर्यादा पूर्वक जानना अवधि ज्ञान है। ३-दूसरे के मन की बातों को जानना मनः पर्ययज्ञान है। ४-एक अर्थ से अनेक अर्थों को जानना बीज बुद्धि है। ५-जैसे कृषक अपने धान्यभंडार यानी गल्ले की कोठरी में से रक्खे हुए भांति भांति के बीजों को आवश्यकता पड़ने पर निकालता रहता है उसी प्रकार कोष्ठ बुद्धि धारक ऋद्धि धारी मुनि मुमुक्षु जीवों के अनेक प्रश्नों के उत्तर को अपनी बुद्धि द्वारा देकर सन्तुष्ट कर देते हैं। यह कोष्ठ बुद्धि है। ६- जिस प्रकार की शिक्षा मिली हो उसी के अनुसार कहना प्रतिसारी है। पढ़े हुए पदों के अर्थ को अपनी बुद्धि के अनुसार अनुमान से कहना अनुसारी है। पढ़े हुए पदों को आगे पीछे के अर्थ को अनुमान से कहना उभयानुसारी है। ये पदानुसारी के तीन भेद हैं।

७—बारह योजन लम्बे और ९ योजन चौड़े वर्ग में पड़ी हुई चक्रवर्ती की सेना की भाषा को पृथक् पृथक् सुनना या जानना संभिन्न श्रोत्र है। ८-पांच रसों में से किसी दूरवर्ती पदार्थ के १ रस को अपनी बुद्धि से जान लेना दूरास्वादन है। ९-दूरवर्ती पदार्थ के आठ प्रकार के स्पर्शों को जान लेना दूर स्पर्श है। १०— बहुत दूरवर्ती पदार्थ को देख लेना दूर दर्शन है। ११—बहुत दूरवर्ती पदार्थ की गन्ध को जान लेना दूर गंध घ्राण कहलाता है। १२—बहुत दूरवर्ती शब्द को सुन लेना दूर श्रवण है। १३-रोहिणी आदि ५०० विद्या देवता, अंगुष्ठ प्रसेन आदि ७०० क्षुल्लक विद्याओं को अचलित रूप से जानना तथा अचलित चारित्र के साथ दशपूर्व आदि को जानना दशपूर्व है। १४-चौदह पूर्वों को जानना चतुर्दश पूर्व है। १५—अन्तरिक्ष निमित्त, भौमनिमित्त, अंग निमित्त, स्वरनिमित्त व्यञ्जन निमित्त, लक्षण निमित्त, छिन्न निमित्त, स्वप्न निमित्त, ये अष्टांग निमित्त हैं। चन्द्र सूर्यादि ग्रह नक्षत्रों को देखकर नयनाङ्गादि को कहना अन्तरिक्ष निमित्त है। पृथ्वी के ऊपर बैठे हुये मनुष्य को देखकर नयनांग को कहना भौम निमित्त है। तिर्यञ्च मनुष्य आदि के रस और रुधिर आदि को देखकर

तथा उनके अंगों का स्पर्श करके शुभाशुभ फलों को कहना अंग निमित्त है। स्वर को सुन कर तदनुसार फलों को कहना स्वर निमित्त है। शरीर के ऊपर पड़े हुये काले तथा सफेद तिलों को देखकर उसके फल को कहना व्यञ्जन निमित्त है। शरीरस्थ सामुद्रिक रेखा में हल, कुलिश, द्वीप, समुद्र, भवन, विमान, बाण, पुर गोपुर, इन्द्रकेतु, शंख, पताका, मुशल, हय रवि, शशि, स्वस्तिक, दारु, कूर्म, अंकुश, सिंह गज, वृषभ, मत्स्य, छत्र शय्या, आसन, वर्द्धमान, श्रीवत्स, चक्र अनल कुम्भ ऐसे ३२ शुभलक्षणों को देखकर उसके शुभाशुभ फलों को कहना लक्षणनिमित्त है। शस्त्र कंटक मूसक आदि से होने वाले छिद्र को देख कर नया नयंग को कहना छिन्न निमित्त है। स्वप्न को देख सुनकर नयेयनयंग को कहना स्वप्ननिमित्त है।

१६—द्वादशांग चतुर्दश पूर्वों को विना देखे केवल श्रवण मात्र से ही उसके अर्थ को कहना प्रज्ञा श्रवणत्व है। १७—परोपदेश के बिना ही अपने संयमबल से संपूर्ण पदार्थों को जानना प्रत्येक बुद्धि है। १८—देवेन्द्रादि को वाद में हत-प्रभ करने वाली प्रतिभाशाली बुद्धि को वादित्व कहते हैं। इस प्रकार ऋद्धि बुद्धि के १८ भेद है।

क्रियाऋद्धिर्द्विविधा ।६०।

चारणत्व, आकाशगामित्व, ऐसे क्रिया ऋद्धि के दो भेद हैं। वह इस प्रकार है:—जल चारणत्व, जंघा चारणत्व, तन्तु चारणत्व, पत्र चारणत्व' फल-चारणत्व, पुष्प चारणत्व, आदि अनेक भेद चारणत्व के हैं। बैठकर या खड़े होकर पांव से चलते हुये अथवा पांव विन्यास से रहित गगनागमन करना आकाश-गामित्व है। —

विक्रियैकादशविधा ।६१।

विक्रिया ऋद्धि के १ अणिमा, २ महिमा, ३ लघिमा ४ गरिमा, ५ प्राप्ति, ६ प्राकाम्य; ७ ईशत्व; ८ वशित्व; ९ अप्रतिघात, १० अन्तर्धान, ११ काम-रूपित्व ये ग्यारह भेद हैं।

उनमें से छोटा शरीर बना लेना अणिमा, मोटा शरीर बना लेना महिमा लघु शरीर को बना लेना लघिमा, अपनी इच्छानुसार बड़ा शरीर बना लेना गरिमा जमीन मे रहते हुये भी अपनी उँगली से मेरु पर्वत को स्पर्श कर लेने की शक्ति प्राप्त कर लेना प्राप्ति, जिस प्रकार जमीन पर गमन किया जाता है उसी प्रकार पानी पर चलना प्राकाम्य, तीनों लोकों के नाथ बनने की शक्ति ईशत्व, सभी को वश कर लेना वशित्व, पर्वत की चोटी पर आकाश के समान चले जाना अप्रति-

बात, अदृश्य रूप हो जाना अन्तर्धान तथा एक ही बार में अनेक रूप धारण करके दिखाना काम-रूपित्व, विक्रिया ऋद्धि कहलाती है ।

तपः सप्तविधम् ।।६२।।

१ उग्रतप, २ दीप्त तप, ३ तप्त तप, ४ महातप, ५ घोर तप, ६ घोर वीर पराक्रम तप तथा ७ घोरगुणब्रह्मचर्य ये तप ऋद्धि के सात भेद होते हैं। उसमें उग्रोग्र तप, अनवस्थितोग्र तप ये तप के दो भेद होते हैं।

१ उपवास करके पारण करना और १ पारण करके २ उपवास करना, ३ उपवास करके पारण करना इसी प्रकार क्रमशः ११ उपवास तक बढ़ा घटा कर जीवन, पर्यन्त उपवास करते जाना उग्रोग्र तप कहलाता है ।

दीक्षा उपवास करने के पश्चात् पारण करके एकान्तर को करते हुये किसी भी निमित्त से उपवास करके ३ रात्रि तक उपवास करते हुये जीवन पर्यन्त बढ़ाते जाना अवस्थितोग्र तप कहलाता है । अनेक उपवास करने पर भी सुगंधितश्वास तथा शरीर की शोभा बढ़ते जाना दीप्त तप कहलाता है । तपे हुये लोहे के ऊपर पड़ी हुई जल की छोटी छोटी बूँदें जिस प्रकार जल जाती हैं उसी प्रकार ग्रहण किये हुये आहार तप के द्वारा मल व रुधिर न बन कर भस्म हो जाना या जल जाना तप्त तप है । अणिमादि अष्ट गुणों से शरीरादि की कान्ति, सर्वौषधि अनन्त बल तथा त्रिलोक व्यापकत्व आदि से समन्वित होने को महातप कहते हैं । वात, पित्त श्लेष्मादि अनेक प्रकार के ज्वर होने पर भी अन-शनादि करना घोर तप कहलाता है । ग्रहण किये हुये तप योग की वृद्धि करना तीनों लोक में बराबर शरीर को फैलाना तथा समुद्र को सुखा देना, जल, अग्नि शिलादि के द्वारा पानी बरसाने आदि की शक्ति प्रकट करना घोर वीर पराक्रम तप कहलाता है । अखंड ब्रह्मचर्य सहित तथा दुःस्वप्न आदि गुणों से युक्त होन घोर गुण ब्रह्मचर्य तप कहलाता है ।

बलस्त्रिधा ।६३।

मन, वचन तथा काय भेद से बल ऋद्धि तीन प्रकार की होती है । सो इस प्रकार है—महान अर्थागम को मन से चिन्तन करते रहने पर भी नहीं थकना मनोबल है, संपूर्ण शास्त्रों को रात दिन पढ़ते-पढ़ाते रहने पर भी न थकना वचन बल है तथा मासिक, चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक इत्यादि प्रतिमायोग में रहने पर भी किंचित्मात्र कष्ट न होना कायबल है ।

भेषजमष्टधा ।।६४।।

१ आमौषध ऋद्धि, २ क्ष्वेलौषध ऋद्धि, ३ खिल्लौषध ऋद्धि, ४ मलौ-

षध ऋद्धि, ५ विष्ठौषध ऋद्धि, ६ सर्वौषध ऋद्धि ७ आस्यमल ऋद्धि तथा ८वीं दृष्टि विष ऋद्धि ये औषध ऋद्धियां आठ प्रकार की होती हैं।

जिन महा तपस्वी के हाथ पांव के स्पर्श करने मात्र से रोग उपशम होने की शक्ति प्राप्त होती है उसे आमौषध ऋद्धि कहते हैं। किसी तपस्वी के निमित्त या उसके थूकके स्पर्श मात्र से ही व्याधि उपशम हो जाना खिल्लौषध ऋद्धि है। कुछ तपस्वी के पसीने से निकले हुये मल के द्वारा व्याधि उपशम होना जल्लौषध है। किसी के कान, दांत, नाक आदि के मल से व्याधि नष्ट हो जाना मल्लौषध है। और किसी तपस्वी के मल-मूत्रादि के स्पर्श हो जाने से रोग नष्ट हो जाना विष्टौषध कहलाती है। किसी तपस्वी के शरीर का स्पर्श करके आई हुई हवा से व्याधि नष्ट होना सर्वौषध है। किसी तपस्वी के मुख से निकलने वाली लार के द्वारा अमृत के समान व्याधि नष्ट हो जाना आस्यमल औषध है। किसी तपस्वी के देखने मात्र से विष या रोग नष्ट हो जाना दृष्ट विष ऋद्धि है। इस प्रकार आठ औषध ऋद्धियों का वर्णन किया गया।

आस्यविषत्व, दृष्टिविषत्व, क्षीरस्रवित्व, मधुस्रवित्व, आज्यस्रवित्व, अमृतस्रवित्व, ऐसे रस ऋद्धि के छै भेद है।

१ कोई तपोधारी साधु किसी निमित्त से किसी गृहस्थ की तरफ क्रोध दृष्टि से देखकर यदि कहे कि तू मर जा और उसके कहने से तुरन्त ही मर जाय तो इसे आस्यविषत्व कहते है। २-गुस्से के साथ किसी की तरफ देखते ही यदि वह मनुष्य तत्काल मर जाय तो इसका नाम दृष्टि-विष है। ३ महातप धारी मुनि के पाणिपात्र में नीर सा आहार रखने से वह आहार क्षीररूप में परिणत होजाय तो इसका नाम क्षीर-स्रव ऋद्धि कहते हैं। ४ और किसी महा तपस्वी के हाथ में नीरस आहार रख दें तो वह तुरन्त ही अन्न मधुर या मीठा हो जाय तो इसका नाम मधुस्रवित्व ऋद्धि है। ५ यदि तप धारी मुनियों के हाथ में शुष्क भोजन रख दिया जाय वह आहार तुरंत ही घृत के समान अत्यन्त स्वादिष्ट या सुगंधित रूप में परिणत हो जावे इसको आज्यस्रवित्व ऋद्धि कहते है। ६ किसी तपोधारी मुनि के हाथ में कडवा आहार भी रख दिया जाय तो वह आहार तुरन्त ही अमृत के समान हो जावे इसका नाम अमृतस्रवी ऋद्धि है।

अक्षीणऋद्धिर्द्विविधा ॥ ६६ ॥

१ अक्षीण महानसत्व, २ अक्षीणमहालयत्व ऐसे अक्षीण ऋद्धि के दो भेद हैं। तपधारी साधु के आहार होने के बाद शेष बचे हुये आहार में यदि चक्रवर्ती का कटक भी जीम ले तो भी आहार कम न होकर बढ़ते ही जावे इस का नाम अक्षीण महानसत्व है। मुनि जहां पर रहें उतने स्थान में

चक्रवर्ती का विशाल कटक भी आराम से रह जावे, यह अक्षीणमहालयत्व ऋद्धि है।

गाथा—बुद्धितवाविय अत्थिवियं वरणलद्धितहेव ओसहिया।
रसबल अक्खिणविपलद्धिओ सत्त पण्णत्ता॥ १६॥

पंचविधानिर्ग्रन्थाः ॥ ६७॥

पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ, और स्नातक ऐसे निर्ग्रंथ के पांच भेद हैं। उत्तर गुण की भावना से रहित मूल गुणों में कुछ न्यूनता रखने वाले को पुलाक कहते हैं। अखंडित ब्रह्मचर्य के धारी होते हुये भी शरीर तथा उपकरण संस्कार तथा यश विभूति में आसक्त तथा शबल चारित्र से युक्त रहने वाले मुनि को बकुश कहते हैं। संपूर्ण मूल गुणों से युक्त तथा अपने उपकरणादि में ममत्व बुद्धि रखकर उत्तर गुण से रहित मुनि को प्रतिसेवना कुशील कहते हैं। शेष कषायों को जीतकर संज्वलन कषाय मात्र से युक्त रहने वाले कषाय कुशील हैं। ये कुशील के दो भेद हैं। अन्तर्मुहूर्त्त के बाद केवल ज्ञानादि में रहने वाले क्षीणकषाय को निर्ग्रन्थ कहते हैं। ज्ञानावरणादि घाति कर्म क्षय से उत्पन्न हुई नव केवल लब्धि से युक्त सयोग केवली स्नातक होते हैं। ये पांचों मुनि जघन्य, मध्यम, उत्तम, उत्कृष्ट चारित्र भेदवाले होकर नैगम नयापेक्षा से पांच निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। जैसे अनेक वर्ण के सुवर्ण सोना ही कहलाते हैं। वैसे ही उपर्युक्त पांचों मुनि सम्यग्दर्शन भूषणादि से न्यूनाधिकता के कारण सर्व सामान्य होने से निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

पुलाक, वकुश, प्रतिसेवना कुशील इन तीनों को सामायिक और छेदोपस्थापना संयम होता है। कषाय कुशील को सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि तथा सूक्ष्म–सांपराय ये चार संयम होते हैं। निर्ग्रन्थ तथा स्नातक को यथाख्यात शुद्ध संयम एक ही होता है। श्रुतों में पुलाक बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि उत्कृष्ट से अभिन्नाक्षर दश पूर्व के धारी होते हैं। कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ चतुर्दश पूर्व के धारी होते हैं। जघन्य रूप से पुलाक का श्रुत और आचार वस्तु प्रमाण होता है। बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थ का श्रुत कम से कम अष्ट प्रवचनमातृका मात्र होता है। स्नातक अपगतश्रुत यानी केवली होते हैं। चारित्र की विराधना करना विराधना है। पुलाक मुनि दूसरों की जबर्दस्ती से पाँच मूलगुण तथा रात्रिभोजन त्याग में से किसी एक की प्रतिसेवना करता है। बकुश मुनि कोई तो अपने उपकरणोंकी तथा शरीर स्वच्छता सुन्दरता में रुचि रखते हैं और दूसरे बकुश मूलगुणों को सुरक्षित रखते हुए उत्तर गुणों की विराधना करते हैं।

प्रतिसेवना कुशील के उत्तर गुण में कुछ न्यूनता रहती है। पर शेष को प्रतिसेवना नहीं है। तीर्थको अपेक्षा सभी मुनि सभी तीर्थंकरों के समय होते हैं। द्रव्य भाव बिकल्प से लिङ्ग में दो भेद हैं। जितने भावलिंगी हैं वे सभी निर्ग्रन्थ लिंगी कहलाते है और द्रव्यलिंग मे कुछ विकल्प होता है। लेश्या में पुलाक को ऊपर की ३ लेश्याये होती है। प्रतिसेवना कुशील को ६ लेश्यायें होती हैं। कषाय कुशील को परिहार विशुद्धि और संयत को ३ लेश्यायें होती हैं। सूक्ष्मसापराय वाले तथा निर्ग्रन्थ स्नातक को शुक्ल लेश्या होती है। अयोग-केवली को लेश्या नही होती। उपपाद में पुलाक को उत्कृष्ट उपपाद अठारह सागरोपम स्थिति सहस्रार कल्प में होता है। आरणअच्युतकल्प में बकुश व प्रति-सेवना कुशील को २२ सागरोपम स्थिति होती है।

सर्वार्थ सिद्धि में कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ की ३३ सागरोपम स्थिति होती है। सौधर्म कल्प मे जघन्य उपपादकों को २ सागरोपम स्थिति होती है। स्नातक मुक्ति पाते है। संयम की अपेक्षा कषाय के निमित्त से संख्यात मे से सर्व जघन्य संयम लब्धि स्थान पुलाक और कषाय कुशील वाले को होती है। वे दोनों साथ साथ असंख्यात स्थान को प्राप्त होकर पुलाक रूप होते हे। कषाय कुशील मुनि ऊपर के असंख्यात संयम स्थानो को अकेले ही प्राप्त होते है उसके ऊपर कषाय कुशील, प्रतिसेवना कुशील तथा बकुश ये तीनो असख्यात गुणे स्थानो को प्राप्त होकर पुन. बकुश को प्राप्त होता है।

उसके ऊपर असख्यात सयम स्थान को पहुंच कर प्रतिसेवना कुशील होता है। वहां से ऊपर चलकर असख्यात संयम स्थान मे जाकर कषाय कुशील होता है। उसके ऊपर अकषाय स्थान है निर्ग्रन्थ मुनि समस्त कषाय त्याग करके संयम के असंख्यात स्थान प्राप्त करते है। पुनः उसके ऊपर एक स्थान स्नातक प्राप्त करते है वे निर्वाण पद को प्राप्त कर संयम लब्धि अर्थात् ६ लब्धि को प्राप्त कर लेते है।

आचारश्च ।६८।

ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार, वीर्याचार तथा चारित्राचार ये पाँच प्रकार के आचार हैं। पाँचो आचार काल शुद्धि विनय शुद्धि अवग्राहादि को कभी नहीं भूलते। शब्द और अर्थ ये दोनों आठ प्रकार के ज्ञानाचार तथा ८ प्रकार के नि:शंकादि दर्शनाचार को बढ़ाते वाले है।

जिस प्रकार संतप्त लोहे के ऊपर यदि थोड़ा सा जल डाल दिया जाय तो वह उसे तत्क्षण भस्म कर देने के पश्चात् भी गर्म बना रहता है उसी प्रकार

आप्त आगम तथा परम तपस्वी गुरु जन अज्ञान का नाश करके भी अपने स्व स्वरूप में स्थित रहते हैं। उनके विषय में शंका न करना निःशंका है।

निःकांक्षा—अस्थिर तथा अत्यन्त बाधक कर्मास्रव मार्ग को बढ़ाने वाले विषय सुखों की कांक्षा न रखकर अपने स्वरूप में स्थित रहना निःकांक्षा है। सुकाल में, सुक्षेत्र में बीज बोकर जिस प्रकार किसान अन्य चीज की इच्छा न रखकर उसकी रक्षा करते हुये वृद्धि करता है और फसल को बढ़ाता जाता है उसी प्रकार मुनिजन पापभीरु हो कर सदाचरण तथा आत्मोन्नति को बढ़ाते हुये इन्द्रादि कोभोगोपभोगों की आकांक्षा से रहित रहकर अपने आत्म स्वरूप में लीन रहते है धन, धान्य, महल मकान, इन्द्र नरेन्द्र तथा चक्रवर्ती पद आदि ऐहिक सुख क्षणिक हैं तथा मोक्षश्री की कामना करते रहने से वे स्वयमेव आ जाते है, अतः सम्यग्दृष्टी जीव उनकी लालसा न करके केवल शुद्धात्मा को ही आराधना करते हैं।

जिस प्रकार कुशल किसान केवल धान यानी फसल मात्र की कामना करके सुकाल, सुक्षेत्र में उत्तम बीज बोकर धान के साथ २ भूसा, पुआल तथा डंठल आदि अनायास ही प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार भव्य जीव केवल मोक्ष की सिद्धि के लिए प्रयत्न करते है पर इन्द्र धरणीन्द्र तथा नरेन्द्रादिक पद वे अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं। अतः इन्द्रियजन्य सुख क्षणिक और मोक्ष सुख शाश्वत है, ऐसा समझकर सम्यग्दृष्टि सदा शाश्वत सुख की ही इच्छा करते हैं। और निःकांक्ष भावना से सर्वदा आत्मस्वरूप में लीन रहते हैं।

निर्विचिकित्सा—

नर्यादिदमोप्पे रत्न-। त्रयदि कयिगेय्सि शोभि सुतिर्त।
शरीर दोळितुजुगु-। प्सेयनागि सदिर्प रुचिये निर्विचिकित्सं॥

संगति से गुणहीन वस्तु भी गुणवान मानी जाती है जैसे गुणहीन मिट्टी के वर्तन में घी या अमृत रहने से उसको भी गुणवान माना जाता है। उसी तरह यह शरीर अमंगल होने पर भी पवित्र शुद्ध रत्नत्रयात्मक शुचिभूत आत्मा के संसर्ग में रहने के कारण शुचि (पवित्र) माना गया है। अगर इस शरीर से घृणा की जाय तो शुद्धि की प्राप्ति नहीं हो सकती यदि शरीर के प्रति घृणा की जाय तो उसके साथ आत्मा की भी घृणा होती है। क्योंकि शरीर आत्म-प्राप्तिके लिए मूल साधन है। ऐसा समझकर रोगग्रस्त किसी धर्मात्मा या चतुः संघ के किसी महात्मा आदि को देखकर घृणा न करके शरीर से भिन्न केवल आत्मस्वरूप का विचार करना निर्विचिकित्सा अंग कहलाता है।

चौथे अमूढ़दृष्टि अंग का लक्षण:—

सच्चे देव, गुरु व शास्त्र के विपरीत पांचों पापों को बढ़ाने वाले एकान्त विपरीत, संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय ये पांच प्रकार के मिथ्यात्व हैं। इन्हीं पांचों मिथ्यात्वों में से स्वर्ग या मोक्ष का कारण मानकर जो कुदेवों के समक्ष मूक पशुओं का बलिदान किया जाता है वह पाप पंक में फंसाकर संसार बर्द्धन का कारण होता है। अतः उन पांचों पापों की मूढ़ता से रहित होकर वीतराग भगवान के द्वारा कहा हुआ मार्ग ही आत्मा का स्वभाव है तथा वही संसार से मुक्त करने वाला है, ऐसा निश्चय करके उसी में रत रहना अमूढ़-दृष्टि है।

वात्सल्य—

चातुर्वर्णंगळोळं- । प्रीति योळिदिरेदु कंडु धर्म सहायं ।
माता पितर निमेमगेंबुदु । भूतलदोळ् नेगळ्द धर्मवात्सल्य गुणं ॥२२२॥

गरीब-श्रीमन्त आदि का भेद-भाव न रखकर जिस प्रकार गाय व बछड़े का परस्पर में प्रेम रहता है उसी प्रकार चातुर्वर्ण्य धर्मात्माओं के साथ प्रेम करना वात्सल्य अंग है।

धर्म प्रभावना—

जिन शासन माहात्म्यं- । मनन वरतं तन्न शक्तियिं बेळगिकरं ।
मनद तमम कळचुवु- । दनुदिनमिदु शासनं प्रभावनेयक्कु॥२२३॥

भगवान जिनेश्वर की वाणी तथा आगम के द्वारा मिथ्या हिंसामयी अधर्म रूपी पर-समय के आवरण को दूर कर भगवान के शासन का प्रकाश करना, अपने तप के द्वारा देवेन्द्र के आसन को प्रकंपित कर देने वाले महा-तपस्वी के स्वसमय तथा उनके तप के महत्व को प्रकट कर जैन धर्म के महत्व को प्रकट करना, या समय समय पर भगवान जिनेन्द्र की पूजा, रथ यात्रा, कल्प वृक्ष पूजा, अष्ट पूजा या भगवान जिनेन्द्र देव का जन्मोत्सव, वीर जयन्ती आदि उत्सव करके धर्म की प्रभावना से मिथ्या आवरण को दूर करना, प्रभावना अंग है।

पूनांग वृष्टि भवसं- । तानाळरलुकदार देतेने मन्त्रं ।
तानक्षर मोंदिल्लदो- । डेनवु केडेसुगमें विषम विषवेदनेयं ॥२२४॥

इन अंगों में से एक भी अंग कम होने पर अनन्त दुःख तथा पशुगति में होने वाले छेदन, भेदन, ताडन, त्रासन, तापन, वियोग, संयोग, रोग, दुःख,

जन्म, मरण, जरा, मरण, शोक, भय, इत्यादिक दुःखों को उत्पन्न करने वाला संसार नाश नहीं हो सकता ।

जैसे मंत्रवादी के मंत्र में से यदि एक भी अक्षर कम हो जाय तो उस मंत्र से सर्प का काटा हुआ विष नहीं उतरता उसी तरह आठों अंगों में से यदि एक भी अंग कम हो जाय तो इह परलोक की सिद्धि को प्राप्त कर देने वाले पूर्ण सम्यग्दर्शन की सिद्धि नहीं हो सकती ।।२२४।।

अष्टांग दर्शनम- । मष्टदिय नष्ट गुण मनधिक स्थाना- ।
दृष्टातिशय विशेषम- । नष्ट महासिद्धि गुणमणी गुम मोघं ।२२५।

इस कुल में जन्म लेने के पश्चात् उत्तम गुण ही प्रधान हैं। संसार में आत्मा को मनुष्य, तिर्यञ्च, नारक गति, जाति, शरीर, स्त्री, पुं, नपुंसक वेद तथा नीच आदि कहना व्यवहार नय से कर्म की अपेक्षा है। शुद्धि-निष्ठ निश्चयनय से आत्मा शुद्ध तथा सिद्ध भगवान के समान है । अतः वास्तव में शुद्ध भावी नय की अपेक्षा से अनागत सिद्ध है । परन्तु सम्यक्त्व-पूर्वक ज्ञान चारित्रादि को प्राप्त करके यहाँ जीवात्मा सांसारिक बन्धनों को नाश करके पुन. सम्यक्त्वपूर्वक ज्ञान चारित्रादि को प्राप्त करके सिद्ध हो जाता है अर्थात् सांसारिक कीचड़ से मुक्त होकर ऊपर आ जाता है ।।२२५।।

दुरित दुपशम दिनायु- । सुर नक्कु धर्मदळिविनिनायक्कु ।।
सुरनुमेने धर्म दिदं । दोरकोंळ्ळदुदेन धर्म दिदळियदुदें ।।२२६।।

इस लिए समस्त सांसारिक जीवो को केवल एक धर्म ही निःश्रेयस परम अभ्युदयकारक आत्मिक सुख को देने वाला है और उस आत्मा को कर्मक्षय के निमित्त अर्थात् अपनी आत्मसिद्धि के लिये जब तक पूर्ण रूप से सामग्री प्राप्त न हो तब तक उन्हें उपर्युक्त गुणस्थानों पर चढ़ने की शक्ति नहीं प्राप्त हो सकतो अर्थात् सम्यक्त्व के बिना ऊपर के गुणस्थान नहीं प्राप्त कर सकता और जहां चौथा गुणस्थान भी नहीं वहां दर्शन मोहनीय का उपशम भी नहीं है । तो ऐसा गृहस्थ व्रती भी नहीं हो सकता और व्रत के अभाव से वह मोक्ष मार्ग से भी अधिक दूर रहता है । तथाच जो व्रत व सम्यक्त्व रहित बाह्य तप करने वाले साधु हैं उन्हें मोक्ष मार्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती । सम्यग्दृष्टि उत्तम गृहस्थ श्रावक सम्यक्त्व-रहित मुनि की अपेक्षा अणुव्रती दृष्टिगोचर होने पर भी क्रमशः शुद्धात्मा की प्राप्ति कर सकता है; जबकि सम्यक्त्वरहित महाव्रतधारी मुनिगण बाह्य तप के कारण आत्मसिद्धि की प्राप्ति न कर सकने के कारण दीर्घ संसारी होते हैं । अर्थात् विकलता सहित अणुव्रती व महाव्रती चाहे

कितना भी शास्त्र स्वाध्याय करके ज्ञानोपार्जन करें, या धर्माराधन करें, पर वे द्रव्यश्रुती अथवा मिथ्याज्ञानी ही कहलाते हैं। क्योंकि अभव्य भी अनेक शास्त्रों में पारंगत होकर ११ अंगशास्त्र के पाठी होकर बहुश्रुत कहलाते हैं और दुर्द्धर कायक्लेशादि तप करके उपरिम नवग्रैवेयक विमान तक भी जाते हैं; किन्तु पुनः वे वहां से लौटकर संसार की चतुर्गति में भ्रमण किया करते हैं। अर्थात् सम्यग्दर्शन से रहित होने के कारण उन्हें आत्मसिद्धि नहीं हो सकती। सम्यक्त्व रहित ज्ञान चारित्र की उत्पत्ति उसी प्रकार नहीं हो सकती जैसे कि—जहां पर बीज नहीं है वहां पर वृक्ष तथा फल पुष्पादि की उत्पत्ति त्रिकाल व त्रिलोक में कदापि नहीं हो सकती। अतः सम्यक्त्व को ही परम बन्धु तथा मिथ्यात्व को परम शत्रु समझकर प्रशम, संवेग, अनुकम्पा तथा आस्तिक्याभिव्यक्त लक्षण सहित संसार-लता मूल से विच्छेद करने वाले, त्रिकाल ज्ञान को प्राप्त करने वाले सम्यग्दर्शन की आराधना सर्व प्रथम करनी चाहिए। तथा यह सम्यग्दर्शन मोक्ष प्रासाद में आरोहण करने के लिए प्रथम सोपान के समान है, ऐसा समझकर दर्शन सहित सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञान चारित्र तथा तपाराधना करने के कारण पूज्य हो जाता है और संसार में रहकर भी वे भव्य जीव श्रुत भगवान के आठ गुणों के समान निजात्म शुद्धात्मा की आराधना करते हुए मोक्षरूपी द्वीपान्तर को जाने की इच्छा से चारित्ररूपी यान-पात्र पर चढ़कर मोक्ष स्थान को शीघ्राति-शीघ्र सिद्धि कर लेते हैं ॥२२६॥

नेगळ्दमल दर्शनये कठि कु निर्वाणराज्यिक राजलक्ष्मिय मनलुनं ।
बुगये निमत्तं प्रभृति गळ गलकेयभ्युदय दोळि्पनेसुवेय्दु–॥
गगतलेय्दुरि तपंगेय्देयमलसाग रोक्त धर्म दोळ्ने गळ्देम–।
दृग्भलमिल्लं मुक्ति श्रीललनेयुं अमरेंद्रलक्ष्मियुं कडुइरं ॥

इस सम्यक्त्व की महिमा से चतुर्गति के कारण बद्धायु को असंयत सम्यग्दृष्टि अप्रत्याख्यान कषाय के उदय होने पर नियमानुष्ठान से रहित होने पर भी इन्द्रिय-जन्य विषयों से सदासीन रहता है। तथा अग्रिम भव में इन्द्र धरणीन्द्र, चक्रवर्ती आदि पद प्राप्त करके मुक्ति लक्ष्मी का पति होता है।२२६।

विकलेंद्रिय जाति भावनवन ज्योतिष्कतिर्यग्नपुं–
सकनारीनटविन द्वःकुलसरुग्मुखांधनिर्भाग्यना–॥
रक हीनायुषकिषादि पदमंकको ळ्ळरेंदुमह–।
धिक सस्थानमल्लद व्रति गलुं सम्यक्त्व सामर्थ्यंद ॥२२७॥

सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दर्शन के प्रभाव से विकलेन्द्रिय, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी देवों में, पशुओं में, नपुंसकों में, स्त्रियों में तथा नीच कुलों में उत्पन्न नहीं होता, हीनांग, अधिकांग, हीनायुष्क नहीं होता।

वह अपर्याप्तक मनुष्य, कुभोगभूमिज, म्लेच्छ, बहिर्विरूपी, कुब्जक, वामन, पंगु, इत्यादि कुत्सित पर्याय में जन्म नहीं लेते तथा आयु समाप्त होने पर वहां से मरकर देवगति में, या सम्यक्त्व से पूर्व बान्धी हुई आयु की अपेक्षा नरक गति में रहकर पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त करके कर्म भूमि में उत्कृष्ट मानव पर्याय धारण करते हैं तथा अपने कर्मों की निर्जरा करके उसी भव से मोक्ष को चले जाते है। यदि वे उस भव में मोक्ष न जा सकें तो पुनः ८ भव तक मनुष्य तिर्यंगति आदि में रहकर अन्त में सम्यक्त्व ग्रहण करके महर्द्धिक देव होते हैं। तत्पश्चात् वहां से आकर उसी भव में अपने समस्त कर्मों का क्षय करके शीघ्र ही मोक्ष पद प्राप्त कर लेते हैं। २२७।

हलधर कुलधर गणधर। कुलिशधर सुधर्म तीर्थंकर चक्रधरा--॥
तेलकुसुमास्त्रधरसमु-। द्वलविद्याधरर लक्ष्मिसम्यक्त्वफलं।२२८।
दोर कोळ्ळूद सम्यक्त्वं। दोर कोंडडेगुडियु वछवणदोकुळियं॥
स्फुरितोरसाह परंपरे। निरंतरं भव्यग्रह दोळोरवल्वेडा॥२२९॥

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टि प्रशंसा तथा अन्य दृष्टि स्तवन ये सम्यग्दृष्टि के पांच अतिचार हैं। इन पांचों को टालकर सम्यग्दृष्टि अपने शुद्ध सम्यग्दर्शन की रक्षा करता है। इसलिए भगवान जिनेश्वर के वचनों का पूर्ण रूप से विश्वास करके इन अतिचारों से रहित सम्यग्दर्शन का पालन करना चाहिए।२२८-२२९।

आगे समाचार शब्द की चार प्रकार से निरुक्ति कहते हैं:—

राग द्वेष का अभाव रूप जो समताभाव है वह समाचार है, अथवा सम्यक् अर्थात् अतीचार रहित जो मूलगुणों का अनुष्ठान आचरण है, अथवा प्रमत्तादि समस्त मुनियों के समान अहिंसादि रूप जो आचार है वह समाचार है अथवा सब क्षेत्रों में हानि वृद्धि रहित कायोत्सर्गादि के सदृश परिणाम रूप आचरण समाचार है।

अब समाचार के भेद कहते हैं:—

समाचार अर्थात् सम्यक आचरण दो प्रकार का है-औधिक और पद-विभागिक। औधिक के दस भेद है और पदविभागिक समाचार अनेक तरह का है। औधिक समाचार के दस भेद निम्नलिखित हैं:—

इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छंदन, सनिमंत्रण और उपसंपत् इस तरह ये औधिक समाचार के दस भेद हैं।

आगे इनका विषय कहते हैं:—

सम्यग्दर्शनादि शुद्ध परिणाम वा व्रतादिक शुभ परिणामों में हर्ष होना अपनी इच्छा से प्रवर्तना, इच्छाकार है। व्रतादि में अतीचार होने रूप अशुभ परिणामों में काय वचन मन की निवृत्ति करना मिथ्या शब्द कहना मिथ्याकार है। सूत्र के अर्थ ग्रहण करने में 'जैसा आप्त ने कहा है वैसे ही है' इस प्रकार प्रतीति सहित 'तथेति' यानी–ऐसा ही है कहना तथाकार है। रहने को जगह से निकलते समय देवता गृहस्थ आदि से पूछकर गमन करना अथवा पापक्रियादिक से मन को रोकना आसिका है। नवीन स्थान में प्रवेश करते समय वहां के रहनेवालों से पूछकर प्रवेश करना अथवा सम्यग्दर्शनादि में स्थिरभाव रहना निषेधिका है। अपने पठनादि कार्य के आरम्भ करने में गुरु आदिक को वन्दना-पूर्वक प्रश्न करना आपृच्छा है। समान धर्म वाले साधर्मी तथा दीक्षा गुरु आदि गुरु इन दोनों से पहले दिये हुए पुस्तकादि उपकरणों को फिर लेने के अभिप्राय से पूछना प्रतिपृच्छा है। ग्रहण किये पुस्तकादि उपकरणों को देनेवाले के अभिप्राय के अनुकूल रखना छंदन है तथा नहीं लिए हुए अन्य द्रव्य को प्रयोजन के लिए सत्कार पूर्वक याचना अथवा विनय से रखना निमत्रण है। और गुरुकुल में (आम्नाय में) मैं आपका हूं, ऐसा कहकर उनके अनुकूल आचरण करना उपसंपत् है। ऐसे दस प्रकार औधिक समाचार हैं।

ऊपर दस प्रकार के औघिक समाचार का संक्षेप से वर्णन किया गया, अब पद-विभागी समाचार का वर्णन करते हैं :—

जिस समय सूर्य उदय होता है तब से लेकर समस्त दिन रात की परिपाटी में मुनि महाराज नियमादिकों को निरंतर आचरण करें, यह प्रत्यक्ष रूप पद विभागी समाचार जिनेन्द्र देव ने कहा है:—

आगे औघिक के दस भेदों का स्वरूप कहते हुए इच्छाकार को कहते हैं:—

संयम के उपकरण पीछी में तथा श्रुतज्ञान के उपकरण पुस्तक में और शौच के उपकरण कमंडल में, आहारादि में, औषधादि में, उष्णकालादि में, आतापन आदि योगों में, इच्छाकार करना अर्थात् मन को प्रवर्ताना चाहिए।

अब मिथ्याकार का स्वरूप कहते हैं:—

का व्रतादिक में मेरी पाप रूप पाप मैंने किया हो वह मिथ्या होवे ऐसे मिथ्या किये हुए पाप को फिर करने की इच्छा नहीं करता और मनरूप अंतरंग भाव से प्रतिक्रमण करता है उसी के दुष्कृत में मिथ्याकार होता है।

आगे तथाकार का स्वरूप कहते हैं :—

जीवादिक के व्याख्यान का सुनना, सिद्धान्त का श्रवण, परम्परा से चले आये मंत्रतंत्रादि का उपदेश और सूत्रादि के अर्थ में जो अर्हंत देव ने कहा है सो सत्य है, ऐसा समझना तथाकार है।

आगे निषेधिका व आसिका को कहते हैं :—

जलकर विदारे हुए प्रदेश रूप कन्दर, जल के मध्य में जलरहित प्रदेश रूप पुलिन, पर्वत के पसवाडे छेदरूप गुफा इत्यादि निर्जन्तु स्थानों में प्रवेश करने के समय निषेधिका करे। और निकलने के समय आसिका करे।

प्रश्न—कैसे स्थान पर करना चाहिए ? उसे कहते हैं:—

व्रतपूर्वक उष्णता का सहनारूप आतापनादि ग्रहण में, आहारादि की इच्छा में तथा अन्य ग्रामादिक को जाने में नमस्कार पूर्वक आचार्यादिकों से पूछना तथा उनके कथनानुसार करना आपृच्छा है।

आगे प्रतिपृच्छा को कहते हैं :—

किसी भी महान कार्य को अपने गुरु, प्रवर्तक, स्थविरादिक से पूछकर करना चाहिए उस कार्य को करने के लिए दूसरी बार उनसे तथा अन्य साधर्मी साधुओं से पूछना प्रतिपृच्छा है।

आगे छन्दन को कहते हैं :—

आचार्यादिकों द्वारा दिये गये पुस्तकादिक उपकरणों में, वन्दना सूत्र के छन्दन का अभिप्राय, अस्पष्ट अर्थ को पूछना आचार्यआदि की इच्छा के अनुकूल आचरण करना छन्दन है।

आगे निमंत्रणा सूत्र को कहते है :—

गुरु अथवा साधर्मी से पुस्तक व कमंडलु आदि द्रव्य को लेना चाहे तो उनसे नम्रीभूत होकर याचना करे। उसे निमंत्रणा कहते हैं।

अब उपसम्पत् के भेद कहते हैं :—

गुरुजनों के लिए मैं आपका हूं, ऐसा आत्मसमर्पण करना उपसम्पत्, है। उसके पांच प्रकार हैं विनय में, क्षेत्र में, मार्ग में, सुखदु:ख में और सूत्र में करना चाहिए।

अब विनय में उपसम्पत को कहते हैं:—

अन्यसंघ के आये हुए मुनियों का अंगमर्दन प्रियवचन रूप विनय करना, आसनादि पर बैठाना इत्यादि उपचार करना, गुरु के विराजने का स्थान पूछना, आगमन का रास्ता पूछना, संस्तर पुस्तक आदि उपकरणों का देना और उनके अनुकूल आचरणादिक करना विनयोपसम्पत है।

आगे क्षेत्रोपसम्पत् कहते हैं:—

संयम तप उपशमादि गुण व व्रतरक्षारूप शील तथा जीवनपर्यन्त त्यागरूप यम, काल के नियम से त्याग करने रूप नियम इत्यादिक जिस स्थान में रहने से बढें उत्कृष्ट हों उस क्षेत्र में रहना क्षेत्रोपसंपत् है।

आगे मार्गोपसंपत् कहते हैं:—

अन्य संघ के आये हुये मुनि तथा अपने स्थान में रहने वाले मुनियों से आपस में आने जाने के विषय में कुशल का पूछना कि 'आप आनन्द से आये व सुख से पहुंचे, इस तरह पूछना संयमतपज्ञान योग गुणों मे सहित मुनिराजों के मार्गोपसंपत् होता है।

आगे सुखदुःखोपसंपत् को कहते हैं:—

सुख दुःख युक्त पुरुषों को वसतिका आहार औषधि आदि से उपकार करना अर्थात् शिष्यादि का लाभ होने पर कमंडलु आदि देना व्याधि से पीड़ित हुये को सुखरूप सोने का स्थान बैठने का स्थान बताना, औषध अन्नपान मिलने का प्रकार बताना, अंग मलना तथा 'मैं आपका हूं आप आज्ञा करें, वह करूं, मेरे पुस्तक शिष्यादि आपके ही है,' ऐसा वचन कहना सुखदुःखोपसंपत् है।

आगे सूत्रोपसंपत् का स्वरूप कहते हैं:—

सूत्रोपसंपत् के तीन भेद है। सूत्र, अर्थ और उभय। सूत्र के लिये यत्न करना सूत्रोपसंपत्, अर्थ के लिए यत्न करना अर्थोपसपत् तथा दोनों के लिए यत्न करना सूत्रार्थोपसंपत् है। यह एक एक भी तीन तरह है-लौकिक, वैदिक और सामाजिक। इस प्रकार नौ भेद हैं। व्याकरण गणित आदि लौकिक शास्त्र हैं, सिद्धांत शास्त्र वैदिक कहे जाते है, स्याद्वादन्यायशास्त्र व अध्यात्मशास्त्र सामाजिक शास्त्र जानना।

आगे पदविभागिक समाचार को कहते हैं:—

वीर्य, धैर्य, विद्याबल उत्साह आदि से समर्थ कोई मुनिराज अपने गुरु से सीखे हुए सभी शास्त्रों को जानकर मन वचन काय से विनय सहित प्रणाम करके प्रमादरहित हुआ पूछे और आज्ञा मांगे तो वह पदविभागिक समाचार है।

गुरु से कैसे पूछे, यह बतलाते है?

हे गुरुदेव ! मैं आपके चरण कमलों के प्रसाद से सभी शास्त्रों में अन्य आचार्य की अपेक्षा पारगामी होना चाहता हूँ। इस प्रकार गुरु से ३-५ या ७ बार पूछना चाहिए। ऐसा करने से उत्साह और विनय मालूम पड़ता है। इस प्रकार अपने गुरुजनों से आज्ञा लेकर साथ में तीन या दो मुनियों को लेकर जाना चाहिए। इस प्रकार दस प्रकार के समाचारों का प्रतिपादन किया गया। जो व्यक्ति इन दश प्रकार समाचारों का पालन करते हुये अपने गुरु के प्रति श्रद्धा रखते हैं उनके विनय ज्ञान व वैराग्य की वृद्धि होती है तथा संसार, शरीर और भोग से निर्वेग व विकार रहित हेयोपादेय तत्त्वों में प्रवीणता प्राप्त हुआ करती हैं। अध्रुव आदि बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाओं में उनकी सदा भावना बनी रहती है और इसी के द्वारा उनके ऊपर आने वाले उपसर्गों को सहन करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार मुनियों के समाचार का संक्षिप्त वर्णन किया है

आर्यिकाओं का समाचार:—

आर्यिकायें परस्पर में अनुकूल रहती हैं। ईर्ष्याभाव नहीं करतीं, आपस में प्रतिपालन में तत्पर रहती हैं, क्रोध, वैर, मायाचारी इन तीनों से रहित होती हैं। लोकापवाद से, भयरूप लज्जा परिणाम व न्याय मार्ग में प्रवर्तने रूप मर्यादा, दोनों कुल के योग्य आचरण इन गुणों से सहित होती हैं।

शास्त्र पढ़ने में, पढ़े शास्त्र के पाठ करने में, शास्त्र सुनने में, श्रुत के चिंतवन में अथवा अनित्यादि भावनाओं में और तप विनय संयम इन सबमें आर्यिकायें तत्पर रहती हैं तथा ज्ञानाभ्यास शुभयोग में सदा संलग्न रहती हैं। जिनके वस्त्र विकार रहित होते हैं, शरीर का आकार भी विकार रहित होता है, शरीर पसेव व मल से लिप्त है तथा संस्कार (सजावट) रहित है। क्षमादि धर्म, गुरु आदि की संतान रूप कुल, यश, व्रत के समान जिनका आचरण परम विशुद्ध हो, ऐसी आर्यिकायें होती हैं।

जहां असंयमी न रहें, ऐसे स्थान में, बाधा रहित स्थान में, क्लेश रहित गमन योग्य स्थान में दो तीन अथवा बहुत आर्यिकाएं एक साथ रह सकती हैं।

आर्यिकाओं को बिना प्रयोजन पराये स्थान पर नहीं जाना चाहिये। यदि अवश्य जाना हो तो भिक्षा आदि काल में बड़ी आर्यिका से पूछकर अन्य आर्यिकाओं को साथ में लेकर ही जाना चाहिए।

आगे आर्यिकाओं को इतनी क्रियायें नहीं करनी चाहिये:—

आर्यिकाओं को अपनी वसतिका तथा अन्य घर में रोना नहीं चाहिये,

बालकादि को स्नान और भोजन नहीं कराना चाहिये। रसोई करना, सूत कातना, सोना, असि, मषि आदि छह कर्म करना, संयमी जनों के पैर धोना, साफ करना तथा राग-पूर्वक गीत इत्यादि क्रियायें नहीं करनी चाहिये।

आर्यिकायें भिक्षा के लिए अथवा आचार्यादिकों की वंदना के लिए तीन, पांच व सात मिलकर जावें। आपस में एक दूसरे की रक्षा करें तथा वृद्धा आर्यिका के साथ जावें।

आगे वंदना करने की रीति बतलाते हैं:—

आर्यिकायें आचार्यों को पांच हाथ दूर से, उपाध्याय को छह हाथ दूर से और साधुओं को सात हाथ दूर से गौ के आसन से बैठकर वंदना करती है तथा आलोचना अध्ययन स्तुति भी करती हैं।

जो साधु अथवा आर्यिका इस प्रकार आचरण करते हैं वे जगत में पूजा, यश व सुख को पाकर सप्त परम स्थान को प्राप्त करते हैं:—

अब आगे सप्त परमस्थान का वर्णन करते हैं।

सप्त परमस्थानानि ॥७०॥

१ सज्जातित्व, २ सद्गृहस्थत्व, ३ पारिव्राज्यत्व, ४ देवेन्द्रत्व, ५ चक्रवर्तित्व, ६ परमार्हन्त्य, ७ निर्वाणत्व ऐसे सात परम स्थान हैं।

देश, कुल, उत्तम जाति इत्यादि शुद्धि से युक्त उत्तम कुलमें जन्म लेकर सम्यग्दृष्टि होना सज्जातित्व है।

इसी तरह क्रम से वृद्धि को प्राप्त होकर सत्पद में आचरण करते हुए भगवान जिनेश्वर के कहे हुए उपासकाचार में निष्णात होकर श्रावकों में शिरोमणि होकर श्रावक धर्म के आचरण में उत्तरोत्तर वृद्धि करते रहना सद्-गृहस्थत्व है। उस गृहस्थ अवस्था से उदासीन होकर तथा संसार शरीर और भोग की निर्विघ्नता में परायण होकर अपनी संतान को समस्त गृहभार देकर के दिव्य तपस्वी के चरण कमलों में जाकर जातरूप धारण करना, बाह्याभ्यन्तर उत्कृष्ट तपों का आचारण करते हुये ११ अंग का पाठी होकर षोडश भावनाओं को भाता हुआ तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करके बुद्धि ऋद्धि, तपोऋद्धि, वैक्रियिक ऋद्धि, औषधि ऋद्धि, बल ऋद्धि, रस ऋद्धि तथा अक्षीण ऋद्धि इन सात ऋद्धियों को प्राप्त करके दीक्षा, शिक्षा, गण-पोषण आत्म संसार—संलेखना में काल को व्यतीत करते हुए उत्तमार्थ काल में चतुर्विध आराधना पुरस्कार पूर्वक समाधि विधि के साथ प्राणोत्सर्ग करना परिव्राजकत्व कहलाता है। इस फल से देव लोक में इन्द्ररूप में जन्म लेकर निजाम्बर भूषण माला आदि से सुशोभित

अत्यन्त दिव्य शरीर सहित, प्रमित जीवित मानसिक-आहारी, शुभ लक्षणों से समन्वित होकर विविध भांति के भोगोपभोगों को भोगना देवेन्द्रत्व कहलाता है। वहां से चयकर मृत्युलोक में जन्म लेकर तीन ज्ञान के धारी होकर सुरेन्द्रवंद्य गर्भावतरण, जन्माभिषेक कल्याण को प्राप्त होकर स्वाभाविक अतिशय सहित कुमार काल व्यतीत होने के अनन्तर षट्खण्ड पृथ्वी का अधिपति होना चक्रवर्तित्व है। उस चक्रवर्ती पद से जब विरक्त होते हैं तब लौकान्तिक देव आकर उन्हें सम्बोधित करते हैं। तत्पश्चात् सम्बोधन करते ही देवों द्वारा निर्मित शिविका में आरूढ़ होकर वन में जाकर दीक्षा धारण करते हैं। मूल और उत्तर गुणों में अपने छद्मस्थ काल को बिता कर शुक्ल ध्यान से चारों घातिया कर्मों को नष्ट करके अनन्त चतुष्टय को प्राप्त करके समवशरण लक्ष्मी से युक्त होना परमार्हन्त्य पद कहलाता है। पहले के चारों घातिया कर्मों को नष्ट करने से शेष चार अघाति कर्म दग्ध रज्जु के समान हो जाते है अघाति चतुष्टय अनायुष्य में समान न होने के कारण उसे समान करने के लिए दंड, कपाट, प्रतर तथा लोक पूर्ण समुद्घात करके, योग निरोध करके निःशेष कर्मों को नाश करके सम्यक्त्वादि आठ गुणों से युक्त होकर सिद्ध पद को प्राप्त करना, निर्वाणत्व परम स्थान कहलाता है। जो मनुष्य उपर्युक्त परम स्थानों की पूजा-आराधना करता है वह तीनों लोकों में वंदनीय होकर अन्त में शुद्ध रत्नत्रय का धारण करके शुद्धात्म यानी मोक्ष पद की प्राप्ति कर लेता है।

आगे चूलिका का वर्णन करते हैं —

प्रकीर्णका वार्ता वाक्यानामुक्तिरुक्तं प्रकीर्णकम् ।
उक्ता उक्ता मृतास्यन्दिविन्दुसाधनकोविदैः ॥

आगे आचार्य का लक्षण कहते हैं:-

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयःप्रव्यक्तलोकस्थितिः ।
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः ॥
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया ।
भूयाद्धर्मकथाप्रणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमृष्टाक्षरः ॥५२॥
श्रुतमविकलं शुद्धा वृत्तिः पर प्रतिबोधने ।
परपरिणतिरुरूद्योगो मार्गप्रवर्तनसद्विधौ ॥
बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुता स्पृहा ।
यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सस्तु गुरुः सताम् ॥५३॥

प्रणम्यतां गुरून्भक्त्या तस्यात्मानं समर्प्य सः ।
द्रव्यलिङ्ग प्रगृह्णीयाद् भावलिङ्गाभिवृद्धये ॥५४॥
दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चातुर्वर्ण्यविधोचिताः ।
मनोवाक्कायचेष्टाभिर्मताः सर्वेऽपि जन्तवः ॥५५॥
सकलं विकलञ्चेति द्वयं व्रतमुदीरितम् ।
तद्द्वयं हि त्रिवर्णार्थिः शूद्राणां विकलं व्रतम् ॥५६॥
अणुव्रतं पुरा धृत्वा पराव्रतमहोद्यताः ।
द्विजातयस्त्रिवर्णार्थाः शूद्रायेऽणुव्रतोचिताः ॥५७॥
सर्वज्ञदीक्षणे योग्या विप्रक्षत्रियवाणिजाः ।
कुलजातिविहीनानांन दीक्षा जिनशासने ॥५८॥
विप्रो वा क्षत्रियो विड् वा सम्पूर्णाक्षः शरीरकः ।
नातिबालो न वृद्धोऽयं निर्व्याधिश्च तपःक्षमः ॥५९॥
केवलज्ञानसंभूते अर्हत्सकलसंयमः ।
तस्योत्पत्तिस्त्रिवर्णोऽपि क्रियोच्छैर्गोत्रकर्मसु ॥६०॥
प्राज्ञो लोकव्यवहृतमतिना तेन मोहोज्झितेन ।
प्राग्विज्ञातसुदेशो द्विजनृपतिवणिग्वरणीः वर्णाङ्गपूर्णः ।
भूमिर्लोकाविरुद्धः स्वजनपरिजनोन्मोचितो वोतमोतः ।
चिन्नापस्माररोगाद्यपगत इति च ज्ञानसंकीर्तनाद्यैः ॥६१॥
देशकुलजाइसुद्धो विसुद्धमणवयनकायसंजुत्ता ।
लोगजुगुच्छारहिदो पुरिसो जिनरूपधारणे जोग्गो ॥६२॥
आचेलक्यव्रतं यच्च नोचानां मुनिपुङ्गवः ।
जिनाज्ञाया कृतिं कृत्वा पर्येति भवसागरम् ॥६३॥

द्रव्य लिङ्गी का लक्षण—

यस्य चोत्पाटितश्मश्रुकेशो हिंसादिवर्जितः ।
सद्रूपं निःप्रतीकारं यथाजातः स भुञ्चयेत् ।

भाव लिंगी—

नान्यादिनोप्याहं नान्नेनिशुर्मेदिनायतिः
वृषा सन्मतिर्भावलिङ्गः स्यात् नाग्न्याक्षजयधारिणा ।

लिंगद्वयमिदं चैव ज्ञानदृक्साम्यसंयतम् ।
मोक्षहेतुर्भवेत् पुंसां मूर्च्छारम्भाविवर्जितः ॥

स्त्री के संयम की अपूर्णता—

लोकद्वयापेक्षो हि धर्मः सर्वज्ञभाषितः ।
अतस्तस्मिन् कुतस्त्रीणां लिङ्गं सग्रन्थमिष्यते ॥
कर्मभूद्रव्यनारीणां नाद्यं संहननत्रयम् ।
वस्त्रादानचरित्रं च तासां मुक्तिकथा वृथा ।
तेनैव जन्मना नास्ति मुक्तिः स्त्रीणां हि निश्चयात् ।
तासां योग्यतपश्चिन्हं पृथक् वस्त्रत्वोपलक्षितम् ॥
एकमप्येषु दोषेषु विना नारी न वर्तते ।
गात्रसंवरणं चास्ति तस्याः संवरणं ततः ॥
चित्तस्रवोऽल्पशक्तिश्च रजःप्रस्खलनं तथा ।
स्त्रीषूत्पत्तिश्च सूक्ष्माणामपर्याप्तिनृणां भवेत् ॥
कक्षस्तनान्तर्देशे नाभौ गुह्ये च संभवः ।
सूक्ष्माणां च तथा स्त्रीणां संयमो नास्ति तत्वतः ॥
दर्शनं निर्मलं ज्ञानं सूत्रपाठेन बोधितम् ।
यद्यप्युग्राञ्चरेच्चर्या तथापि स्त्री न सिद्ध्यति ॥
यदि त्रिरत्नमात्रेण सा पुंसां नग्नता वृथा ।
तिरश्चामपि दुर्वारा निवार्णाप्तिर्रालिगता ॥
मुक्तेश्चेदस्ति किं तासां प्रतिमास्तवनान्यपि ।
क्रियन्ते पूज्यते तासां मुक्तेरस्तु जलांजलिः ॥
ततस्तद्योग्यमेवोक्तं लिंगं स्त्रीणां जिनोत्तमैः ।
तल्लिंगयोग्यचारित्रं सज्जातिप्रकटाप्तता ॥
देशव्रतानि तैस्तासां आरोप्यन्ते बुधैस्ततः ।
महाव्रतानि सज्जातिज्ञप्त्यर्थमुपचारतः ॥
पुव्वेयं वेयंता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा ।
सेसोदयेन वि तहा झाणवजुत्ता हु सिज्झंति ॥

जे—जो अर्थात् कोई, पुरिसा—पुरुष पुव्वेयंवेयंता—भाव पुरुष वेद को

अनुभव करनेवाले, खवगसेढिमारूढा—क्षपक श्रेणी चढे हुए, झाणवजुत्ताहु—निज शुद्ध निश्चयात्म-ध्यानोपयोग युक्त होकर, तेहु—वे, सिज्झन्ति सिद्ध पद को प्राप्त होते हैं, तहा—उसी तरह द्रव्य से पुरुष, सेसोदयेण—विभाव से स्त्री वेद नपुंसक वेद के उदय से युक्त परमात्मध्यानोपयोग में रत रहनेवाले मोक्षसिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। सकल विमल केवल ज्ञानी दर्शनानन्त-सुख वीर्यादिक के अधिपति ऐसे भगवान जिनेश्वर घाति कर्म के निरवशेष क्षय से प्राप्त हुए शुभ और शुद्ध ऐसे कर्म और नोकर्म के विशिष्ट वर्गणाओं के द्वारा होनेवाला कर्म नोकर्म आहार करते हैं, इसके अलावा जो चार प्रकार के आहार हैं वे केवली भगवान के नहीं हैं। द्रव्य स्त्री के तद्भव मोक्ष की प्राप्ति का अभाव है। ऐसा समझकर कभी इसके प्रति विवाद नहीं करना चाहिए। ऐसा समझकर सर्व संग परिग्रहसे रहित निर्ग्रंथ लिंग ही मोक्ष के लिए कारण है और स्वरूपोपलब्धि ही मुक्ति है और निज नित्यानन्दामृत सेवन ही मोक्ष फल है ऐसा निश्चय करना चाहिए।

नाना जीवो नाना कम्मं नाना विहोह बेलद्धि।
तम्हामयनविबादं सगपरसमयेषु वज्जज्जो ॥१९॥
जं अण्णाणी कम्मं खवेइ भवसहस्सकोडीहिं।
तण्णाणीतिय गुत्तो खवेइ उस्सासमेत्तेन ॥२०॥
कुशलस्सतसोणि उणसस्स संजमो समपरस्सविरग्गो।
सुदभावणस्स तिण्णि सुदभवाणं कुणहं ॥२१॥
समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुःखो पसंसणिदसमो।
समलेणुवकंच णाविय जीवियमरणो समो समणो २२।
एअग्गगदो समणा। ए एण्णानित्तिदेसु अट्ठेसु।
णत्थित्ती आगमदो आगम चेत्तो तदो छट्ठो ॥२३॥

श्रमण उत्तम पात्र है। तथाहि श्रमणाः सर्वेभ्यः ज्येष्ठाः वरिष्ठाः, शुद्धातिसमाधिनिष्ठत्वात् नित्यानित्यवस्तुविवेकित्वात् समसमाधिसंपन्नत्वात् अत्रामुत्र भोगकांक्षारहितत्वात् तत्वयाथोत्म्यैकवेदित्वात् युक्त्या विचारवत्त्वात् तत्त्वाध्यात्म-श्रवणाधिमत्वात् अनुक्त साधनं तदुक्त साधनं यथा संप्रतिपन्न योगी तदा चैते श्रमणाः। तस्मात्सर्वेभ्यः श्रेष्ठाः भवन्ति तथा श्रमणाः सर्वेभ्यः उत्कृष्टाः विशिष्टाश्च तत्त्वाध्यात्म्यप्रतिपादकत्वात्।

आगमचक्खू साहू इन्दियचक्खूणि सव्वभूदाणि ।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण संवदो चक्खू ॥२४॥

शास्त्रहीनश्च यो भिक्षुर्न चान्यश्च भवेदसौ ।
तस्याज्ञानस्य न ध्यानं ध्यानाभावान्न निर्वृतिः ॥७६॥

मुच्छालिनीमहिषहंससुखस्वभावाः
मार्जारकङ्कमलकाजलौकसाम्याः ॥
सच्छिद्रकुम्भपशुसर्पशिलोपमानाः ।
ते श्रावकाः भुवि चतुर्दशधा भवंति ॥२३३॥

आलस्यो मंदबुद्धिश्चसुखिनो व्याधिपीडिताः ।
निद्रालुः कामुकश्चेति, षडेते शास्त्रवर्जिताः ॥७७॥

असूयकत्वं सतताविचारो दुराग्रहः शक्तिविमाननंच ।
पुंसामिमे पंच भवन्ति दोषास्तत्त्वावबोधप्रतिबंधहेतुः ॥७८॥

अदुर्जनत्वं विनयो विवेकः, परीक्षणं तत्त्वविनिश्चयश्च ॥
एते गुणा पंच भवंति तत्त्य,
स्वात्मत्ववान्धर्म यथा परःस्यात् ॥७९॥

आचार्यपुस्तकसहायनिवासवलभः,
वाह्यस्थिताः पठनपंचगुणा भवन्ति ॥
आरोग्यबुद्धिविनयोद्यमशास्त्ररागः,
तेऽभ्यंतरा पठनपंचगुणा भवंति ॥८०॥

आचार्योपासनं श्रद्धा शास्त्रार्थस्य विवेचनम् ।
तत्त्रयाणामनुष्ठान श्रेयःप्राप्त्यै परे गुणाः ॥८१॥

पल्यङ्कासनगं सूरि-पादं नत्वा कृताञ्जलिः ।
सूत्रस्याध्ययनं कुर्यात् कक्षादिस्वांगमस्पृशन् ॥८२॥

क्रियाकलापमल्पाल्पसूत्रमाचार्यवर्णनम् ।
पठेदथ पुराणानि त्रैलोक्स्थितिवर्णनम् ॥८३॥

सिद्धांततर्कमङ्गाङ्गवाह्यं देवार्थदेशनम् ।
स्वीयशक्त्यनुसारेण भक्त्या स्वर्मोक्षकांक्षया ॥८४॥

बारसविहम्मि अब्भंतर वाहिरे कुशलविट्ठि ।
रावियथिएए वियहोहदि सज्जायसम्मत्तमोक्कम्मं ॥२५॥
बब्वाविक्कंलो पठेदि पुत्तंथ सिक्खलोयेरण ।
लसमाहि असज्झायं कलहं वा इंदियोगंच ॥२६॥
अष्टम्यामध्ययनं गुरुशिष्यद्वयवियोगमाहेति ।
कलहस्तु पौर्णिमास्यां करोति विघ्नं चतुर्दश्यां ॥८५॥
कृष्णाचतुर्दश्यां यदि अधीयते साधवोप्यमावास्यां ।
विद्योपवासविधयो विनाशवृत्ति प्रयांति सर्वंप्यचिरात् ॥८६॥
मध्याह्ने जिनरूपंनाशयति संध्ययोश्च व्याधिदं ।
मध्यमरात्रौ पठिते तुष्य तोपप्रियत्वमुपयान्ति ॥८७॥
अष्टमी हंत्युपाध्यायं शिष्यं हंति चतुर्दशी ।
विद्यां पंचदशी हंति सर्वंहि प्रतिपद्धरेत् ॥८८॥

इन श्लोकों का अर्थ सरल होने के कारण तथा ग्रन्थ बढ़ जाने के भय से छोड़ दिया गया है ।

इति श्री माघनंद्याचार्य विरचित शास्त्र सारसमुच्चय अन्तर्गत चरणानुयोग का कथन समाप्त हुआ ।

द्रव्यानुयोग

सिद्धान्नत्वा प्रवक्ष्यामि द्रव्यानुयोगसंज्ञकम् ।
मङ्गलादिप्रसिद्ध्यर्थं स्वात्मोत्थसुखसिद्धये ॥

अब इसके पश्चात् मंगलादि –प्रसिद्ध आत्म-सुख-सिद्धि के लिए सिद्धों को नमस्कार करके मैं द्रव्यानुयोग को कहूँगा ।

गम्भीरं मधुरं मनोहरतरं दोषव्यपेतं हितम् ।
कण्ठोष्ठादिवचोनिमित्तरहितं नो वातरोधोद्गतम् ॥
स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथकं निःशेषभाषात्मकम् ।
दूरासन्नसमं निरुपमं जैनं वचः पातु वः ॥

श्री जिनेन्द्र भगवान की वाणी गम्भीर, मधुर अत्यन्त मनोहर दोषरहित, हितकारी, कण्ठ ओष्ठ तथा तालु आदि की क्रियासे रहित, वायु से न रुकनेवाणी स्पष्ट, अभीष्ट वस्तु को कहने वाली और संसार की समस्त भाषाओं से परिपूर्ण

है। तथा दूर और समीप से ठीक सुनाई देनी वाली होती है, अतः ऐसी अनुपम जिन वाणी हम सबकी रक्षा करे।

सिद्धि बुद्धिर्जयो वृद्धिर्राज: पुष्टिस्तथैव च।
ओंकारश्चाथ शब्दश्च नान्दी मंगलवाचक: ॥

सिद्धि, बुद्धि, जय, वृद्धि, राजपुष्टि, ओंकार, अथ शब्द तथा नान्दी ये आठ मंगल-वाचक कहलाते हैं।

हेतौ निदर्शने प्रश्ने स्तुतौ कण्ठसमीकृते।
अनन्तैर्योऽधिकारस्ते मांगल्येतयिष्यते ॥

इस शास्त्र में कथित जो मंगलार्थ शब्द है वह अन्तराधिकाकार्थ निमित्त कहने से तथा मंगल निमित्त फल का परिणाम कर्त्ता है आदि अधिकारों को कहने के पश्चात् आचार्य को शास्त्र का व्याख्यान करना चाहिए। इस न्याय के अनुसार मंगलाचरण करने के बाद न्याय और नय को न जाननेवाले अज्ञानी जीवों के हितार्थ हेयोपादेय तत्वों का परिज्ञान कराने के लिए द्रव्यानुयोग को कहते हैं।

अथ षड् द्रव्याणि ॥१॥

अर्थ—चरणानुयोग कथन के पश्चात् जीव, अजीव, धर्म, अधर्म द्रव्य, आकाश और काल ये छः द्रव्य हैं। यहां प्रश्न उठता है कि इन छहों का नाम 'द्रव्य' क्यों पड़ा? उसका उत्तर यह है कि—

"द्रवतीति द्रव्यम्, द्रवति गच्छति परिणामं इति

यानी—अतीत अनन्तकाल में इन्होंने परिणमन किया है और वर्तमान तथा अनागत काल में परिणाम करते हुए भी सत्ता लक्षण वाले हैं, तथा रहेंगे उत्पाद व्यय ध्रौव्य से युक्त हैं, एवं गुण-पर्याय सहित होने के कारण इन्हें द्रव्य कहते हैं। उपर्युक्त तीनों बातों से पृथक द्रव्य कभी नहीं रहता।

अब द्रव्यों का लक्षण कहते हैं:-

१—ज्ञान दर्शन उपयोगी जीव द्रव्य है। २—वर्ण रस गंध स्पर्श से गलन पूरण स्वरूप होने के कारण पुद्गल द्रव्य है। ३—धर्म द्रव्य अमूर्त्त, अनादिनिधन, अगुरुलघुमय तथा लोकाकार है। अन्तरंग गमन शक्ति से युक्त जीव पुद्गलों के गमनागमन में बहिरंग सहकारी है। जैसे पानी मछली आदि जलचर जीवों के गमनागमन के लिए सहकारी कारण होता है उसी प्रकार धर्म द्रव्य बहिरंग सहकारी कारण होता है। वह अपना निज स्वरूप छोड़कर कभी पर-रूप नहीं होता। यह अर्थपर्याय है, व्यञ्जन पर्याय नहीं। 'अर्थ-पर्याय

से एक ही समय में उत्पत्ति विनाश वाला है, द्रव्य स्वरूप से नित्य है। अब अर्थ-पर्याय के स्वरूप को कहते हैं :—

एक ही समय में अगुरुलघु गुण के कारण परिणमनात्मक जो षड्वृद्धि हानि वृद्धि होती है सो अर्थ-पर्याय है :—

१—अनन्त भाग वृद्धि, २—असंख्यात भाग वृद्धि ३—संख्यात भाग वृद्धि, ४—संख्यात गुण वृद्धि, ५—असंख्यात गुण वृद्धि तथा ६—अनन्त गुण वृद्धि ये ६ प्रकार की षड् वृद्धि कहलाती हैं।

१—अनन्तभाग हानि, २—असंख्यात भाग हानि, ३—संख्यात भाग हानि, ४—संख्यात गुण हानि, ५—असंख्यातगुण हानि तथा अनन्त गुण हानि, ये षडहानियां हैं

अनाद्यनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम् ।
उन्मज्जन्तिनिमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ।।

इन्निदरसतत्वरूचियिं-। दिनिदिक्कु तत्व निर्नयं वळिकदरि-।।
विनिदात्मोत्थिक सुखमि । तिनिनिदे सेविसलुकि दरिनयसारतेपं ।२।

इस प्रकार द्रव्य गुण पर्याय से धर्मद्रव्य को कहा गया है। और इसी तरह अधर्म द्रव्य का भी कथन किया जाता है। गुणों से अन्तरंग स्थिति परिणत हुए जीव पुद्गल की स्थिति का अधर्म द्रव्य बहिरंग सहकारी कारण होता है जैसे अन्तरंग स्थिति परिणत होकर मार्ग मे चलनेवाले मनुष्यो के लिए वृक्षादि अपनी छाया देकर उन्हे ठहराने मे बाहिरंग सहकारी होते है।

गतिग स्थितिगंकारण-। मतिशर्यादि देरडुमल्ते धर्माधर्म ।।
मतिवंतररिदु भाविसे । श्रुतम दुसंचिरियागदिक्कु मेवगेयं ।।

अब आगे आकाश द्रव्य का लक्षण कहते है:— आकाश एक अखण्ड द्रव्य है, किन्तु यदि उसे परमाणुओं के द्वारा नापा जाय तो वह फैले हुए अनन्त परमाणुओं के बराबर होता है और सभी द्रव्यो को अवकाश देना आकाश द्रव्य का उपकार है। यहां पर शंका होती है कि एक ही आकाश में अनेक द्रव्य कैसे समा जाते हैं लोकाकाश के असख्यात प्रदेशों में अनन्त परमाणुओं तथा सूक्ष्म स्कन्धों का आवास होता है। यह कैसे है, इसे दृष्टान्त देकर समाधान किया जाता है।

जिस प्रकार मिट्टी के तीन घड़ों में से क्रमशः पृथक पृथक, एक को राख

से, दूसरे को पानी से और तीसरे को सुई से भर दिया जाय इसके बाद वे तीनों घड़े केवल एक राख के घड़े में ही समा जाते हैं, ऊँटनी के दूध से भरे हुए घड़े में शहद से परिपूर्ण दूसरा घड़ा भी समाविष्ट हो सकता है, चावल से भरे घड़े में दही का भरा हुआ घट समा सकता है तथा नागगद्यान अर्थात् तराजू में हजारों तोले स्वर्ण समाजाता है उसी प्रकार आकाश द्रव्य में अवगाहन शक्ति विद्यमान रहने के कारण वह अपने अन्दर असंख्यात प्रदेशी धर्माधर्म द्रव्यों को, अनन्त परमाणु वाले पुद्गल द्रव्य को तथा लोकाकाश प्रमाण गणना वाले कालाणु को गूढ़ रूप से अवकाश देने में समर्थ रहता है।

प्रदेश का लक्षण:—पुद्गल का परमाणु जितने आकाश में रहता है वह प्रदेश है। वह प्रदेश न तो अग्नि से जलने वाला, न पानी से भीगनेवाला, न वायु से सूखनेवाला तथा न कीचड़ में पड़कर सड़नेवाला है। न वज्र से टूटनेवाला है तथा प्रत्येक द्रव्य भी कभी नाश न होकर सदा स्थिर रहनेवाला है।

अवगहन शक्तियुळ्ळुदु । भुवनदोळारय् दुनोळ्हडाकाशयेन ।
सविशेषदिदमत्ताम-ावकाशंगोट्टडेदु द्रव्यं गलिगं ।४।

तात्पर्य यह है कि आकाश की अर्थपर्याय होती है, व्यञ्जन पर्याय नहीं, और अर्थपर्याय से वह एक ही समय में उत्पत्ति व विनाश सहित है। द्रव्यार्थिक नय से वह नित्य है। तथा धर्म अधर्म आकाश अपने में समान होकर काल से प्रवर्तते हैं। धर्मअधर्म तो केवल बाह्य उपचार वर्तते है। अर्थात् सभी द्रव्य आकाश द्रव्य में समाविष्ट हो जाते हैं आकाश अपने को स्वयमेव आधारभूत है। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाश में पूर्ण व्याप्त हैं। जैसे मकान के एक कोने में घड़ा रक्खा जाता है उस तरह धर्मअधर्म द्रव्य नही रहते, पर जैसे तिल में तेल पाया जाता है उसी प्रकार दोनों द्रव्य समस्त लोकाकाश में पाये जाते हैं।

शंका—यदि धर्मादि द्रव्यों का आकाश द्रव्य आधार है तो आकाश द्रव्य का आधार क्या है ?

समाधान—आकाश का आधार अन्य कोई नहीं, वह स्वयं ही अपना आधार है। वह सब से बड़ा है।

शंका—यदि आकाश अपना ही आधार है तो धर्मादि द्रव्यों को भी अपने आधार होना चाहिए, पर यदि धर्मादि द्रव्यों का आधार कोई अन्य द्रव्य है तो आकाश का भी कोई अन्य आधार होना चाहिए।

समाधान–आकाश द्रव्य का आधार अन्य कोई नहीं वह स्वयमेव अपना आधार है। आकाश के अन्दर अवगाहन देने की शक्ति है और वह सबसे बड़ा है। क्योंकि उसमें कभी किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आती।

शंका—लोक केवल १४ रज्जू प्रमाण है, परन्तु उसमें अनन्तानन्त अप्रमाणित जीव आ जाकर कैसे समाविष्ट हो जाते हैं। क्योंकि इस लोकाकाश में जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य तथा सिद्धादि अनत गर्भित है

समाधान–आकाश द्रव्य गमनागमन का कारण नहीं, बल्कि केवल अवगाहन का कारण है, अतः इसमें चाहे जितने द्रव्य आजायें पर इसमें कभी हानि वृद्धि नहीं होती (वैसे द्रव्य कम अधिक होते नहीं है।) इसका उदाहरण ऊपर दे चुके है।

अब कालद्रव्य के गुण पर्याय को कहते है:–

काल के दो भेद हैं–एक व्यवहार और दूसरा निश्चय। मुख्यकाल द्रव्यस्वरूप से अमूर्त अक्षय, अनादिअनिधन है और अगुरुलघुत्व गुण से अनन्त है। अकृत्रिम, अविभागी, परमाणु रूप है, प्रदेश प्रमाण से एक प्रदेशी है। अपने अन्दर अन्य प्रतिपक्षी नही, किन्तु वह स्वयमेव प्रदेशी है।

भावार्थ–प्रति समय छः द्रव्यों में जो उत्पाद और व्यय होता रहता है उसका नाम वर्तना है। यद्यपि सभी द्रव्य अपने अपने पर्याय रूप से स्वयमेव परिणमन करते रहते है, किन्तु उनका बाह्य निमित्त काल है। अतः वर्तना को काल का उपकार कहते हैं। अपने निज स्वभाव को न छोड़कर द्रव्यों की पर्यायों को बदलने को परिणाम कहते है। जैसे जीव के परिणाम क्रोधादि है और पुद्गल के परिणाम रूप रसादि हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन करने को क्रिया कहते हैं। यह क्रिया जीव और पुद्गल में ही पाई जाती है। जो बहुत समय का होता है उसे 'पर' कहते हैं और जो थोड़े दिनों का होता है उसे अपर कहते है। यद्यपि परिणाम आदि वर्तना के भेद है किंतु काल के दो भेद बतलाने के लिये उन सबका ग्रहण किया गया है। काल द्रव्य दो प्रकार का है–एक निश्चय और दूसरा व्यवहार काल। निश्चय काल का लक्षण वर्तना है और व्यवहार काल का लक्षण परिणाम आदि हैं। जीव पुद्गलों में होनेवाले परिणामों में ही व्यवहार काल घड़ी घंटा आदि से जाना जाता है। उसके तीन भेद हैं–भूत वर्तमान और भविष्य। इस घड़ी मुहूर्त दिन रात आदि काल के व्यवहार से निश्चयकाल का अस्तित्व जाना जाता है। क्योंकि मुख्य के होने से ही गौण का व्यवहार होता है। अतः लोकाकाश के प्रत्येक

प्रदेश में जो एक एक कालाणु स्थित है वही निश्चयकाल है और उसी के निमित्त से वर्तना आदि होते हैं।

एकप्रदेशियप्पुद-। नेकरिवंमुख्य काल मंलोकदोळि -॥

दीकाशदप्रदेशदो। ळेकदुर्वातसदो रलराशियतेरदिं ॥५॥

जीव आदि सभी द्रव्यों की उत्पत्ति विनाश रूप अर्थ-पर्याय उत्पन्न करना अगुरुलघु गुण है। अन्य वादी कहता है कि यदि ऐसा कहोगे तो जीव आदि द्रव्य रूप न होकर सदा पर्याय ही समझने चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है। जैसे पानी के अन्दर लहर उत्पन्न करने के लिए हवा निमित्त कारण है उसी प्रकार द्रव्य में पर्याय को उत्पन्न करने के लिए अन्य निमित्त कारण अपेक्षित है। इसीलिये वह अर्थ-पर्याय है, व्यञ्जन-पर्याय नहीं। अर्थ-पर्याय एक ही समय में उत्पत्ति व विनाश वाला है। द्रव्य रूप से नित्य है और विशेष रूप से वह परमार्थकाल कहलाता है। पुद्गल का परमाणु अपने प्रदेश पर मन्दगति से जितने काल में जाता है उतने काल को समय कहते हैं। परमाणु एक समय में तीव्रगति से १४ राजु जाता है यह व्यवहार काल है।

जैसे कोई मनुष्य मन्दगति से दिन में एक कोश जाता है कोई दूसरा व्यक्ति विद्या के प्रभाव से एक ही दिन में १०० (सौ) कोश जाता है यद्यपि पहले की अपेक्षा दूसरे की गति १०० दिन की है, किन्तु वह १०० दिन न कहकर १ ही दिन कहलाता है।

निश्चय काल—

जैसे वास्तविक सिंह के होने पर ही मिट्टी पत्थर आदि का व्यावहारिक (नकली) सिंह (मूर्ति चित्र) बनाया जाता है। असली इन्द्र (देवों का राजा) है तभी उसका व्यवहार मनुष्यों में भी नाम आदि रखकर किया जाता है, इसी प्रकार सूर्य चन्द्र आदि के उदय अस्त आदि की अपेक्षा से जो व्यवहार काल प्रयोग में लाया जाता है, उस व्यवहार काल का आश्रयभूत जो पृथक् पृथक् अणु रूप लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर स्थित कालाणु है वह निश्चय काल है। वह निश्चय काल ही प्रत्येक द्रव्य के प्रति-समय के पर्याय के परिवर्तन में सहायक कारण है। वह यद्यपि लोकाकाश में है किन्तु अलोकाकाश के पर्याय परिवर्तन में भी सहायक है जैसे कि कुम्हारके चक्र (चाक) के नीचे केवल मध्यभाग में रहने वाली कीली समस्त चक्र को चलाने में सहायक होती है।

निमित्तमंतरं तत्र योग्यता वस्तुनिश्चिता ।
बहिर्निश्चयकालस्तु निश्चितं तत्त्वदर्शिभिः ।२।
किम्पणवियेण बहुणा चे सिद्धागर वरागये कावे ।१।

प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमन में उपादान रूपसे आप ही अंतरंग उपादान कारण होता है। उस परिणमन में बहिरंग सहकारी कारण काल द्रव्य बतलाया है।

पंचास्तिकायाः ॥२॥

१ जीव, २ पुद्गल, ३ धर्म, ४ अधर्म और ५ आकाश इन पांचों द्रव्यों को अस्तिकाय कहते हैं। ये द्रव्य सदा विद्यमान (मौजूद) रहने के कारण 'अस्ति' कहलाते हैं और शरीर के समान बहुप्रदेशी होने के कारण 'काय' कहलाते हैं। अतः इन्हें अस्तिकाय कहते हैं।

एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं ।
उत्तं कालविजुत्तं णायव्वा पंच अत्थिकाया दु ॥

प्रत्येक जीव के, धर्म द्रव्य के तथा अधर्म द्रव्य के और लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश होते हैं। अलोकाकाश के अनन्त प्रदेश हैं। पुद्गल द्रव्य के संख्यात, असंख्यात, अनन्त प्रदेश है। काल द्रव्य पृथक् पृथक् अणु रूप होने से एक प्रदेशी है, अतः उसको 'काय' नहीं कहा गया। एक प्रदेशी पुद्गल परमाणु के अस्तिकायत्व का अर्थ यह है कि स्निग्ध रूक्ष गुण के कारण बहु-प्रदेशी होने की शक्ति उसमें रहने से वह उपचार से अस्तिकाय कहलाता है।

षड् द्रव्य पंचास्तिकाय की चूलिका को कहते हैं—

परिणामजीवमुत्तं सपदेसं एयखेत्तकिरियाय ।
णिच्चं कारणतवकं तासव्वगदमिद रम्हियपदेण ॥७॥

अर्थ.—परिणाम-स्वभाव विभाव पर्यायापेक्षा से जीव पुद्गल द्रव्य परिणामी हैं, शेष चार द्रव्य विभाव व्यंजन पर्याय भाव की मुख्यवृत्ति से अपरिणामी हैं।

व्यंजन पर्याय का लक्षण बताते हैः—

जो स्थूल, कुछकाल के स्थायी, वचन के विषय भूत तथा इन्द्रियज्ञानगोचर है वह व्यंजन पर्याय है जीव शुद्ध निश्चयनय से अनंत ज्ञान दर्शन भाव, शुद्ध चैतन्य प्राण सहित है। अशुद्ध निश्चयनय से रागादि विभाव प्राणों से और अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय से इन्द्रिय, बल, आयु उच्छ्वास इन चार प्राणों से आत्मा

जीता है, जी रहा है और जीवेगा। यह व्यवहारनयसे जीव का लक्षण कहा है पुद्गलादि अजीव द्रव्य हैं। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वाला होने के कारण पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा जीव मूर्तिक है, शुद्ध निश्चय नय से अमूर्त है। धर्म अधर्म आकाश काल द्रव्य ये अमूर्तिक हैं। जीवादि पांच द्रव्य पंचास्तिकाय होने से सप्रदेशी हैं। बहुप्रदेशि लक्षण कायत्व स्वभाव से काल द्रव्य अप्रदेशी है। द्रव्यार्थिक नय से धर्म अधर्म आकाश ये एक एक हैं शेष जीव पुद्गल काले अनेक हैं।

खेत्त—समस्त द्रव्य एक दूसरे को अवगाह देती हैं अतः समस्त द्रव्यों का क्षेत्र एक ही लोकाकाश है। किरियाय—क्षेत्र से क्षेत्रांतर गमन वाले होने के कारण जीव और पुद्गल क्रियावान हैं, धर्म, अधर्म, आकाश काल द्रव्य परिस्पंद के अभाव से निष्क्रिय हैं। णिच्चं—धर्म अधर्म आकाश निश्चय काल द्रव्य अर्थ-पर्याय की अपेक्षा से अनित्य तथा द्रव्यार्थिक नय से नित्य हैं। जीव और पुद्गल द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से नित्य हैं और अर्थपर्याय के अपेक्षा से अनित्य हैं।

उपकार की अपेक्षा पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल ये द्रव्य व्यवहार नय से तथा जीव शरीर, वचन, मन और प्राणापनादि अस्तित्व अवगाहना वर्तना आदि से एक दूसरे को कारण हैं, तथा आपस में स्व-पर सहायता करना जीवों का उपकार है। स्वामी धन आदि के द्वारा अपने सेवक का उपकार करता है, सेवक हित की बात कह कर और अहित से बचाकर स्वामी का उपकार करता है। इसी तरह गुरु उचित उपदेश देकर शिष्य का उपकार करता है और शिष्य गुरु की आज्ञा के अनुसार आचरण करके गुरु का उपकार करता है।

अनुपचरित असद्भुत व्यवहार नय से पांचों द्रव्यों को परस्पर उपकारी माना है। परन्तु शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से जीव पाप, पुण्य बंध मोक्ष और घट पटादिक का कर्त्ता नहीं है। अशुद्ध निश्चय नय से शुभाशुभ उपयोग में परिणत होकर पुण्य पाप बंध का कर्ता होकर सका भोक्ता है।

इसके सिवाय विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव वाला विशुद्ध आत्मद्रव्य सम्यक् 'श्रद्धान' ज्ञानानुष्ठान रूप अभेद रत्नत्रयात्मक शुद्ध उपयोग में परिणत होकर निज परमात्म-अवलम्बन स्वरूप मोक्ष का कर्ता है तथा उस स्व शुद्ध परमानन्द का भोक्ता है।

शुभाशुभ और शुद्ध उपयोग में परिणमन करने वाली वस्तु का कर्तृत्व और भोक्तृत्व इसी प्रकार समझना चाहिये।

पुद्गलादि पांच द्रव्यों को अपने अपने परिणामों में परिणमन होने ग
ही उन परिणमनों का कर्तृत्व माना गया है।

सव्वगदं—लोक व्याप्ति की अपेक्षा से धर्म अधर्म द्रव्य सर्वगत हैं। एक जीव की अपेक्षा से लोक-पूर्ण अवस्था के अलावा सर्वगत नहीं है, नाना जीव अपेक्षासे सर्वगत है। पुद्गल द्रव्य लोक व्यापी महास्कन्ध के अपेक्षासे सर्वगत है। शेष पुद्गल की अपेक्षा से सर्वगत नहीं है। नाना कालाणु द्रव्य की अपेक्षा से लोक में काल द्रव्य सर्वगत है। एक कालाणु द्रव्य की अपेक्षा से काल द्रव्य असर्वगत है।

इय्यरय्यिपय पयसो:—व्यवहार नय से सभी द्रव्य एक क्षेत्रावगाह से अन्योन्य प्रदेश में रहने वाले हैं। निश्चयनय से सब द्रव्य अपने अपने स्वरूप में रहते हैं।

अण्णोण्णं पविसंता दिंताउग्गासमण्णमण्णस्स ।
मेलंतावि य णिच्चं सगसगभावं ण विजहंति ।।४।।

इन छह द्रव्यों में शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध बुद्धैक स्वभाव गुण से समस्त जीव राशियां उपादेय हैं अर्थात् उसमें जितने भी भव्य जीवों का समूह है वे सभी उपादेय हैं और परम शुद्ध निश्चय नय से शुभ मन वचन काय तथा व्यापार रहित वीतराग चिदानन्दादि गुण सहित जिन सिद्ध सदृश निज परमात्म-तत्त्व वीतराग निर्विकल्प समाधि काल में साक्षात् उपादेय है। शेष द्रव्य हेय हैं।

खादिपंचकनिर्मुक्तं कर्माष्टकविवर्जितम् ।
चिदात्मकं परंज्योति वन्दे देवेन्द्रवंदितम् ।।

सप्ततत्त्वानि ।।३।।

१ जीव, २ अजीव, ३ आस्रव, ४ बन्ध, ५ संवर, ६ निर्जरा तथा ७ मोक्ष इन सातों को तत्त्व कहते हैं। वस्तु के स्वभाव को तत्त्व कहते है हैं। जीव-तत्त्व अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से द्रव्य-प्राणों से, अशुद्ध निश्चय नय से रागादि अशुद्ध भाव प्राणों से और शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से शुद्ध भाव-प्राण से त्रिकाल में जीने वाला जीव है। एकेन्द्रियादि में कर्मफल का अनुभव करने वाली कर्म फल-चेतना, त्रसकाय में अनुभव करने वाले जीवों के कर्म चेतना कहते हैं। और सिद्ध भगवान् के समान आत्मा को शुद्ध अनुभव करने वाली ज्ञान-चेतना है। इस तरह चेतना तीन प्रकार की हैं। अथवा भवादि समय रूपोपपाद योग, पर्याप्ति

तथा अपर्याप्ति ऐसे एकान्तानुवृद्धि योगरूप, भव का अन्त करने योग, परिणाम योग, ऐसे योग के तीन भेद हैं। विकल्प रूप मनो वचन काय रूप योगत्रय है, पुनः बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा के भेद से आत्मा तीन प्रकार का है। जीव समास, मार्गणा और गुणस्थान की अपेक्षा से भी तीन प्रकार है।

जीव तत्व, २ पुद्गलादि पंचद्रव्य अजीव तत्त्व, ३ शुभाशुभ कर्मागम द्वार रूप आस्रव तत्त्व, ४ जीव और कर्म इन दोनों के अन्योन्यानुप्रवेशात्मक बंध तत्त्व, ५ व्रत समिति गुप्ति आदि द्वारा कर्मास्रव रोकने वाला संवर तत्त्व, ६ सविपाक रूप से कर्ममल को पिघलाने वाला निर्जरा तत्त्व, ७ स्व-शुद्धात्म-तत्त्व भावना से सकल कर्मों से निर्मुक्त होना मोक्षतत्त्व है।

इन सभी फलों का कारणभूत होने के कारण सर्व प्रथम जीव तत्त्व का ग्रहण किया गया है। उसका उपकारी होने के कारण तत्पश्चात् अजीव का विधान किया है। तद्भव विषय होने के कारण उसके बाद आस्रव का ग्रहण किया गया है। उसी के अनुसार कर्मों द्वारा बन्ध होने के कारण उसके बाद बन्ध का ग्रहण किया गया है। आस्रव का निरोध होने के कारण बंध के बाद संवर कहा गया है और संवर के निकट ही निर्जरा का विधान किया गया है जोकि बन्ध की विरोधी है तथा अंत में सकल कर्म मलों का नाश होकर कर्मों से मुक्त हो जाने के कारण अंत में मोक्षतत्त्व को कहा गया है। इसी का नाम निज निरंजन शुद्धात्म उपादेय मोक्ष है।

नव पदार्थाः ॥४॥

उपर्युक्त सात तत्त्वों में यदि पाप और पुण्य इन दोनों को मिला दिया जाय तो नौ पदार्थ हो जाते हैं, सो इस प्रकार हैं:-

१ जीव पदार्थ, २ अजीव पदार्थ, ३ आस्रव पदार्थ, ४ बंध पदार्थ, ५ पुण्य पदार्थ, ६ पाप पदार्थ, ७ संवर पदार्थ, ८ निर्जरा पदार्थ और ९ वां मोक्ष पदार्थ है। इनका पदार्थ नाम इसलिए पड़ा कि ये ज्ञान के द्वारा परिच्छेद होने में समर्थ हैं।

जीव, पुद्गल के संयोग से होने वाले आस्रव, बंध, पुण्य और पाप ये चार पदार्थ हेय होते हैं। उन दोनों के अलग होने से संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये तीन पदार्थ उपादेय होते हैं।

चतुर्विधो न्यास ॥५॥

नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव ऐसे न्यास (निक्षेप) के चार भेद हैं। इनके निमित्त से जीवादि को जाना जाता है। जात्यादि निमित्तान्तर निरपेक्ष नाम

रखनेको नाम कहते है। काष्ठ, पाषाण, पुस्तक, चित्र कर्मादि में यह अमुक वस्तु है, ऐसा निश्चय करना स्थापना है। गुण पर्याय से युक्त को द्रव्य कहते हैं। वर्तमान पर्यायोपलक्षित द्रव्य को भाव कहते है। इसका भेद इस प्रकार है।

१—नाम जीव, २-स्थापना जीव, ३-द्रव्य जीव, तथा ४-भाव जीव, ये चार प्रकार के हैं। संज्ञा रूप से जीव का व्यवहार नाम जीव है। सद्भाव तथा असद्भाव भेदों में आकार सहित काष्ठ पाषाण प्रतिमा में यह हाथी आदि है, इस प्रकार स्थापना करना सद्भाव स्थापना है तथा शतरंज के गोटे आदि में यह हाथी आदि है, ऐसा कहकर स्थापना करना असद्भाव स्थापना जीव है। द्रव्य जीव दो प्रकार है, आगम द्रव्य जीव और नो आगम द्रव्य जीव। जीव पर्याय में उपयोग रहित जीव आगम द्रव्य जीव है।

नो आगम द्रव्य जीव तीन प्रकार का है। जाननेवाले का (ज्ञायक) शरीर, न जाननेवाला शरीर, इन दोनों से रहित। उसमें जाननेवाला शरीर आगत, अनागत तथा वर्तमान से तीन प्रकार का है।

भाव जीव दो प्रकार का है नो-आगम भाव जीव और आगम भाव जीव इसमे नो आगमभाव जीव को समझकर उपयोग से युक्त आत्मा आगम-भाव जीव है, नो आगम भाव जीव के दो भेद है। उपयुक्त और तत्परिणत। उसमें जीव आगम के अर्थ में उपयोग सहित जीव उपयुक्त कहलाता है। केवल ज्ञानी को तत्परिणत कहते हैं। इसी तरह अन्य पदार्थों मे भी नाम निक्षेप विधि से योजना की गई है।

द्विविधं प्रमाणम् ॥६॥

प्रमाण दो प्रकार है परोक्ष और प्रत्यक्ष। शरीर इन्द्रिय प्रकाश आदि के अवलम्बन से पदार्थों को अस्पष्ट जानना परोक्ष प्रमाण है। स्व-आत्मशक्ति से स्पष्ट जानना प्रत्यक्ष प्रमाण है।

पंच सज्ज्ञानि ७॥

मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय ज्ञान तथा केवल ये पांच सम्यग्ज्ञान हैं। इन्हीं के द्वारा सामान्य विशेषात्मक वस्तु को संशय, विमोह, विभ्रम रहित होकर ठीक जानने के कारण तथा निरंजन सिद्धात्म निज तत्व, सम्यक् श्रद्धान जनित होने के कारण इसे सम्यग्ज्ञान कहा गया है।

त्रीणिकुज्ञानानि ॥८॥

कुमति, कुश्रुत, विभंग ऐसे तीन कुज्ञान हैं। कड़वी तुम्बी के पात्र में रक्खे हुए दूध को बिगाड़ने के समान होने के कारण मिथ्या दृष्टि के उपर्युक्त ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाते हैं। पहले के कहे हुए ३ सम्यग्ज्ञानो कोमिथ्य त्व

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, तथा लोभ कषाय के निमित्त होने से अज्ञान कहते हैं। इन आठ ज्ञानों में मति, श्रुत, कुमति, तथा कुश्रुत, ये ४ परोक्ष प्रमाण हैं। अवधि, मनः--पर्यय, विभंग--अवधि ये तीन एक देश प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष प्रमाण है और आत्म-स्वभाव गुण है। शेष ज्ञान विभाव गुण हैं। उसमें तीनों अज्ञान हेय हैं। क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान चतुष्टय परम्परा से उपादेय हैं, क्षायिक केवल ज्ञान ज्ञान साक्षात उपादेय है।

मतिज्ञानं त्रिशतषट्त्रिंशद्भेदम् ॥९॥

मति ज्ञान के तीन सौ छत्तीस (३३६) भेद हैं।

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध, ये मतिज्ञान के ही नामान्तर है, क्योंकि ये पांचों ही मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं।

विशेषार्थ—इन्द्रिय और मन की सहायता से जो अवग्रह आदि रूप ज्ञान होता है उसे मति कहते हैं। न्याय शास्त्र में इस ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है, क्योंकि लोक व्यवहार में इन्द्रिय से होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष माना जाता है। परन्तु वास्तव में तो पराधीन होने से यह ज्ञान परोक्ष ही है। पहले जानी हुई वस्तु को कालान्तर में स्मरण करना स्मृति है। जैसे पहले देखे हुए देवदत्त का स्मरण करना 'यह देवदत्त' यह स्मृति है। संज्ञा का दूसरा नाम प्रत्यभिज्ञान है। वर्तमान में किसी वस्तु को देखकर पहले देखी हुई वस्तु का और वर्तमान वस्तु का जोड़ रूप ज्ञान होना प्रत्यभिज्ञान है। न्याय शास्त्र में प्रत्यभिज्ञान के अनेक भेद बतलाये हैं, जिनमें चार मुख्य हैं—एकत्व प्रत्यभिज्ञान, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, तद्विलक्षण प्रत्यभिज्ञान और तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान। किसी पुरुष को देखकर 'यह वही पुरुष है जिसे पहले देखा था' ऐसा जोड रूप ज्ञान होना एकत्व प्रत्यभिज्ञान है। वन में गवय (रोभ) नामक पशु को देखकर ऐसा ज्ञान होना कि यह गवय मेरीगौ के समान है, यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। भैंस को देखकर 'यह भैंस मेरी गौ से विलक्षण है' ऐसा जोड़ रूप ज्ञान होना तद्विलक्षण प्रत्यभिज्ञान है। निकट की वस्तु को देखकर पहले देखी हुई वस्तु के स्मरण-पूर्वक ऐसा जोड़ रूप ज्ञान होना कि इससे वह दूर है, ऊँची है या नीची है, इत्यादि ज्ञान को तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

चिन्ता का दूसरा नाम तर्क है। 'जहां अमुक चिन्ह होता है वहां उस उस चिन्हवाला भी होता है' ऐसे ज्ञान को चिन्ता या तर्क कहते हैं। न्याय-शास्त्र में व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं और साध्य के अभाव में साधन के

अभाव को तथा साधन के सद्भाव में साध्य के सद्भाव को व्याप्ति कहते हैं। जैसे, 'अग्नि के न होने पर धुआं नहीं होता और धुआं के होने पर अग्नि अवश्य होती है' यह व्याप्ति है और इसको जाननेवाले ज्ञान को तर्क प्रमाण कहते हैं। और जिस बात को सिद्ध किया जाता है उसे साध्य कहते हैं और जिसके द्वारा सिद्ध किया जाता है उसे साधन कहते हैं। साधन से साध्य के ज्ञान को अभिनिबोध कहते हैं। इसका दूसरा नाम अनुमान है। जैसे कहीं धुआं उठता देखकर यह जान लेना कि वहां आग है, क्योंकि वहां धुआं उठ रहा है, यह अभिनिबोध है। ये सब ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं।

वह मतिज्ञान पांचों इन्द्रियों और अनिन्द्रिय (मन) की सहायता से होता है।

आगे मतिज्ञान के भेद बतलाते हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार मतिज्ञान के भेद हैं। इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होते ही जो सामान्य ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं। दर्शन के अनन्तर ही जो पदार्थ का ग्रहण होता है वह अवग्रह है। जैसे चक्षु से सफेद रूप को जानना अवग्रह है। अवग्रह से जाने हुए पदार्थ में विशेष जानने की इच्छा होना ईहा है। जैसे यह सफेद रूप वाली वस्तु क्या है? यह तो बगुलों की पंक्ति सी प्रतीत होती है, यह ईहा है। विशेष चिन्हों के द्वारा यथार्थ वस्तु का निर्णय कर लेना अवाय है। जैसे, पखों के हिलाने से तथा ऊपर नीचे होने से यह निर्णय करलेना कि यह बगुलों की पंक्ति ही है, यह अवाय है। अवाय से जानी हुई वस्तु को कालान्तर में भी नहीं भूलना धारणा है।

आगे इन अवग्रह आदि ज्ञानों के और भेद बतलाने के लिए उनके विषय बतलाते हैं:—

बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त, ध्रुव, और इनके प्रतिपक्षी अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त, अध्रुव, इन १२ पदार्थों का मतिज्ञान होते है। अथवा अवग्रह आदिसे इन बारहोंका ज्ञान होता है। बहुत वस्तुओं के ग्रहण करने को बहुज्ञान कहते हैं। जैसे सेना या वनको एक समूह रूप में जानना बहुज्ञान है। और हाथी घोड़े आदि या आम, महुआ आदि अनेक भेदों को जानना बहुविध है। वस्तु के एक भाग को देखकर पूर्ण वस्तु को जान लेना अनिःसृत ज्ञान है। जैसे ताल में डूबे हुए हाथी की सूंड को देखकर हाथी को जान लेना। शीघ्रता से जाती हुई वस्तु को जानना क्षिप्र ज्ञान है। जैसे, तेजी से चलती हुई रेलगाड़ी को या उसमें बैठकर बाहर की वस्तुओं को जानना।

बिना कहे भी अभिप्राय को जान लेना अनुक्त ज्ञान है। बहुत काल तक जैसा का तैसा निश्चल ज्ञान होना या पर्वत इत्यादि स्थिर पदार्थ को जानना ध्रुव ज्ञान है। अल्पका अथवा एकका ज्ञान होना अल्प ज्ञान है। एक प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान होना एकविधज्ञान है। धीरे धीरे चलते हुए घोड़े वगैरह को जानना अक्षिप्र ज्ञान है। सामने विद्यमान पूरी वस्तु को जानना निःसृत ज्ञान है। कहने पर जानना उक्त ज्ञान है। चंचल बिजली इत्यादि को जानना अध्रुव ज्ञान है। इस तरह बारह प्रकार का अवग्रह, बारह प्रकार का ईहा, बारह प्रकार का अवाय और बारह प्रकार का धारणा ज्ञान होता है। ये सब मिलकर ज्ञान के ४८ भेद होते हैं। तथा इनमें से प्रत्येक ज्ञान पांच इन्द्रियों और मन के द्वारा होता है। अतः ४८ को ६से गुणा करने पर मतिज्ञान के २८८ भेद होते हैं।

ये २८८ भेद अर्थावग्रह की अपेक्षा से हैं। पदार्थ को ऐसा स्पष्ट जानना, जिस के बाद ईहा, अवाय, धारणा ज्ञान हो सकें वह 'अर्थावग्रह, है। जो अवग्रह अस्पष्ट रूप हो जिस पर ईहा अवाय धारणा ज्ञान न हो सके वह व्यञ्जनाग्रह है। व्यञ्जनावग्रह चक्षु इन्द्रिय तथा मनके द्वारा नहीं होता है, शेष चार इन्द्रियों (स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण) से १२ प्रकार के पदार्थों का होता है, अतः व्यञ्जनावग्रह के १२x४ =४८ भेद है।

इस तरह अर्थावग्रह की अपेक्षा मतिज्ञान के २८८ और व्यञ्जनावग्रह की अपेक्षा ४८ भेद होते हैं, दोनों मिलकर (२८८+४८=३३६) ३३६ भेद मतिज्ञान के होते हैं।

व्यञ्जनावग्रह यदि बार बार होता रहे तो वह अर्थावग्रह हो जाता है फिर उसके ऊपर ईहा अवाय धारणा ज्ञान हो जाते हैं। जैसे मिट्टी के कोरे प्याले में पहले १०-५ बूंद जल डाला जावे तो वह तत्काल सूख जाता है किन्तु लगातार जल बूंदें पड़ती रहें तो वह प्याला गीला हो जाता है।

द्विविधं श्रुतम् ॥१०॥

श्रुतज्ञान मतिज्ञान-पूर्वक होता है, मतिज्ञान के बिना श्रुतज्ञान नहीं होता। श्रुतज्ञान के दो भेद हैं अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक।

सूक्ष्म लब्धि-अपर्याप्तक निगोदिया जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में स्पर्शन इन्द्रिय मतिज्ञान पूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है वह 'पर्याय' नामक श्रुत ज्ञान है, उससे कम श्रुतज्ञान किसी जीव को नहीं होता, श्रुतज्ञान का क्षयोपशम भी इससे कम नहीं होता, अतः यह 'पर्याय' श्रुतज्ञान नित्य-उद्घाटित

मध्यम पद

(सदा निरावरण रहने वाला) है। यदि इस ज्ञान पर भी कर्म का आवरण होता तो वह निगोदिया जीव ज्ञान-शून्य जड हो जाता।

विशेष इतना है कि सूक्ष्म लब्धिअपर्याप्तक निगोदिया जीव अन्तर्मुहूर्त में सम्भव अपने ६०१२ भवों में भ्रमण करके अन्तिम अपर्याप्त शरीर को तीन मोड़ों द्वारा ग्रहण करने वाले जीव के प्रथम मोडे के समय वह सर्व-जघन्य पर्याय नामक श्रुतज्ञान होता है। इसको **'लब्ध्यक्षर'** भी कहते हैं। लब्धिका अर्थ श्रुतज्ञान और अक्षर का अर्थ **'अविनश्वर'** है। यानी—यह जघन्य श्रुतज्ञान कभी नष्ट नहीं होता।

इस जघन्य श्रुतज्ञान (पर्याय ज्ञान) के ऊपर अनन्त भाग वृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, सख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि, अनन्त गुण वृद्धि रूप ६ प्रकार की वृद्धियां असंख्यात वार (असंख्यात लोक प्रमाण) होने पर **'अक्षर'** श्रुतज्ञान होता है। पर्याय श्रुतज्ञान से अधिक और अक्षर श्रुत ज्ञान से कम जो श्रुतज्ञान के बीच के असंख्यात भेद हैं वे सब **'पर्यायसमास'** कहलाते है। इस तरह पर्याय और पर्याय समास ये दो श्रुतज्ञान अनक्षरात्मक हैं। शेष ऊपर के सब ज्ञान अक्षरात्मक है। पर्यायज्ञान अक्षर ज्ञान के अनन्तवें भाग प्रमाण है।

अक्षर श्रुतज्ञान सम्पूर्ण अक्षरात्मक श्रुतज्ञान का मूल है। अक्षर ज्ञान के ऊपर एक एक अक्षर ज्ञान की वृद्धि होते होते जब संख्यात अक्षर रूप वृद्धि हो जाती है तब **'पद'** नामक श्रुतज्ञान होता है। अक्षर ज्ञान से ऊपर और पद ज्ञान से कम बीच के सख्यात भेद **'अक्षर समास'** नामक श्रुत-ज्ञान है।

पद शब्द के तीन अर्थ हैं—१ अर्थपद, २-प्रमाण पद, ३-मध्यम पद। 'पुस्तक पढ़ो, भोजन करो' आदि अनियत अक्षरों के समूह रूप किसी अभि-प्राय विशेष को बतलाने वाला **'अर्थ पद'** होता है। क्रिया रूप (तिन्ङत) और अक्षर-समूह तथा सज्ञारूप (सुबन्त) अक्षर समूह पद भी इसी अर्थ-पद में गर्भित हैं। विभिन्न छन्दों के ८ आदि नियत अक्षर समूह रूप प्रमाण पद होता है जैसे 'नमः श्री वर्द्धमानाय'।

तथा १६३४८३०७८८८ सोलह अरब चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी अक्षरों का एक मध्यम पद होता है। श्रुतज्ञान में इसी मध्यम पद को लिया गया है।

एक पद के ऊपर एक एक अक्षर की वृद्धि होते होते जब संख्यात हजार पदों की वृद्धि हो जावे तब 'संघात' नामक श्रुतज्ञान होता है। संघात श्रुतज्ञान से कम और पद से अधिक जितने श्रुतज्ञान हैं वे '**पद समास**' कहलाते हैं। संघात श्रुत ज्ञान चारों गति में से किसी एक गतिका निरूपण करने वाले अपुनरुक्त मध्यम पदों का समूह रूप होता है।

संघात श्रुतज्ञान के ऊपर एक एक अक्षर की वृद्धि होते होते जब संख्यात हजार संघात की वृद्धि हो जावे तब चारों गतियों का विस्तार से वर्णन करने वाला '**प्रतिपत्ति**' नामक श्रुतज्ञान होता है। संघात और प्रतिपत्ति ज्ञान के बीच के भेद '**संघातसमास**' कहलाते हैं।

प्रतिपत्ति श्रुत ज्ञान के ऊपर अक्षर अक्षर की वृद्धि होते होते जब संख्यात हजार प्रतिपत्ति की वृद्धि हो जाती है तब चौदह मार्गणाओं का विस्तृत विवेचन करने वाला '**अनुयोग**' नामक श्रुतज्ञान होता है। प्रतिपत्ति और अनुयोग के बीच के जितने भेद हैं वे '**प्रतिपत्ति समास**' कहलाते हैं।

अनुयोग ज्ञान के ऊपर पूर्वोक्त रूप से वृद्धि होते होते जब संख्यात हजार अनुयोगों की वृद्धि हो जाती है तब '**प्राभृत प्राभृतक**' नामक श्रुतज्ञान होता है। अनुयोग और प्राभृत प्राभृतक ज्ञान के बीच के भेद **अनुयोग समास** कहलाते हैं।

इसी प्रकार अक्षर अक्षर की वृद्धि होते होते जब चौबीस प्राभृत प्राभृतक की वृद्धि हो जाय तब '**प्राभृत**' ज्ञान होता है। दोनों के बीच के भेद **प्राभृत प्राभृतक समास** हैं।

बीस प्राभृतप्रमाण '**वस्तु**' नामक श्रुतज्ञान होता है। प्राभृत और वस्तु के बीच के भेद **प्राभृत समास** हैं।

वस्तु ज्ञान में पूर्वोक्त रूप से वृद्धि होते होते दश आदि १९५ एक सौ पिचानवें वस्तु रूप वृद्धि होती है तब **पूर्व** नामक श्रुतज्ञान होता हैं। वस्तु और पूर्व के मध्यवर्ती श्रुतज्ञान वस्तु समास कहलाते हैं।

पूर्व ज्ञान से वृद्धि होते होते पूर्ण श्रुतज्ञान के मध्यवर्ती भेद **पूर्वसमास** कहलाते हैं। इस तरह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के १८ भेद हैं। इसको ही भावश्रुत भी कहते हैं।

अक्षरात्मक श्रुतज्ञान द्वादश (बारह) अंग रूप है उसमें समस्त एक

अरब बारह करोड़ तिरासी लाख अट्ठावन हजार पांच ११२८३५८००५ मध्यम पद हैं। जिसका विवरण निम्नलिखित है –

१—आचारांग में १८००० अठारह हजार पद हैं, इसमें मुनिचर्या का वर्णन है।

२—सूत्रकृतांग में ३६००० छत्तीस हजार पद हैं, इसमें सूत्र रूप व्यवहार क्रिया, स्वसमय आदि का विवेचन है।

३—स्थानांग में ४२००० पद हैं, इसमें समस्त द्रव्यों के एक से लेकर समस्त संभव विकल्पों का वर्णन है।

४—समवायाङ्ग में १६४००० पद हैं, इसमें समस्त द्रव्यों के पारस्परिक सादृश्य का विवरण है।

५—व्याख्या प्रज्ञप्ति में २२८००० पद हैं, इसमें ६० हजार प्रश्नों के उत्तर हैं।

६—ज्ञातृ कथा में ५५६०० पद हैं इसमें गणधर आदि की कथाऐं तथा तीर्थंकरों का महत्व आदि बतलाया गया है।

७—उपासकाध्ययन में ११७०००० पद हैं, इसमें श्रावकाचार का वर्णन है।

८—अन्तःकृतदशांग में २३२८००० पद हैं, इसमें प्रत्येक तीर्थंकर के समय के १०-१० मुनियों के तीव्र उपसर्ग सहन करके मुक्त होने का कथन है।

९—अनुत्तरौपपादिक दशांग में ९२४४००० पद हैं इसमें प्रत्येक तीर्थंकर के समय में १०-१० मुनियों के घोर उपसर्ग सहन कर विजय आदि अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने का कथन है।

१०—प्रश्न व्याकरण में ९३१६००० पद हैं, इसमें नष्ट मुष्टि चिन्ता आदि प्रश्नों के अनुसार हानि लाभ आदि बतलाने का विवरण है।

११—विपाक सूत्र में १८४००००० पद हैं इसमें कर्मों के फल देने का विशद विवेचन है।

१२—दृष्टिवाद में १०८६८५६००५ पद हैं इसमें ३६३ मिथ्यामतों का वर्णन तथा उनका निराकरण का वर्णन है। इसके पांच भेद हैं, परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका।

परिकर्म में गणित के करण सूत्र है, इसके पांच भेद हैं–१ चन्द्रप्रज्ञप्ति, २—सूर्यप्रज्ञप्ति, ३–जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, ४—चन्द्रसागर प्रज्ञप्ति, ५—व्याख्या प्रज्ञप्ति। चन्द्रसम्बन्धी समस्त विवरण चन्द्रप्रज्ञप्ति में है, उसके ३६०५००० छत्तीस लाख पांच हजार पद हैं। सूर्य प्रज्ञप्ति में सूर्य विमान सम्बन्धी समस्त

विवरण है उसमें ५०३००० पांच लाख तीन हजार पद हैं। जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति में जम्बू द्वीप- सम्बन्धी समस्त वर्णन है इसमें ३२५००० तीन लाख पच्चीस हजार पद हैं। द्वीपसागर प्रज्ञप्ति में अन्य द्वीपों तथा सागरों का विवेचन है इसमें ५२३६००० पद हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति में भव्य, अभव्य, अनन्तर सिद्ध, परम्परा सिद्ध आदि का कथन है उसमें ८४३६००० पद हैं।

दृष्टिवाद के दूसरे भेद सूत्र में ३६३ मिथ्या मतों का पक्ष प्रतिपक्ष रूप से वर्णन है, इसमें ८८००००० पद हैं। प्रथमानुयोग में त्रेसठ शलाका पुरुषों का वर्णन है। इसमें ५००० पद हैं। पूर्व के १४ भेद हैं, उसमें समस्त ९५५००००००५ पचानवें करोड़ पचास लाख पांच पद हैं। जिनका विवरण नीचे लिखे अनुसार है।

१—उत्पाद पूर्व में एक करोड़ पद हैं, इसमें प्रत्येक द्रव्य के उत्पाद व्यय ध्रौव्य का वर्णन है।

२—अग्रायणी पूर्व में ७०० नय तथा दुर्नय, पंचास्तिकाय आदि का वर्णन है, इसमें ९६ लाख पद है।

३—वीर्य प्रवाद में ७० सत्तर लाख पद हैं, इसमें आत्म वीर्य, पर वीर्य गुणवीर्य आदि का विवेचन है।

४—अस्तिनास्ति प्रवाद में सप्त भंगी का कथन है इसमें ६० लाख पद हैं।

५—ज्ञान प्रवाद में एक कम एक करोड़ पद हैं, इसमें समस्त ज्ञानों का समस्त विवरण है।

६—सत्य प्रवाद पूर्व में शब्द उच्चारण, दस प्रकार का सत्य वचन, असत्यवचन, भाषा आदि का वर्णन है, इसमें एक करोड़ छः पद हैं।

७—आत्मप्रवाद में २६ करोड़ पद हैं, इसमें आत्मा का समस्त विवरण है।

८—कर्म प्रवाद में एक करोड़ अस्सी लाख पद हैं, इसमें कर्मों से सम्बन्धित समस्त कथन है।

९—प्रत्याख्यान पूर्व में द्रव्य क्षेत्र काल संहनन आदि की अपेक्षा त्याग समिति गुप्ति आदि का विवेचन है। इसमें ८४ लाख पद हैं।

१०—विद्यानुवाद पूर्व में एक करोड़ दसलाख पद हैं। इसमें अंगुष्ठ सेना आदि ७०० अल्प विद्याओं तथा रोहिणी आदि ५०० महाविद्याओं, मन्त्र-तन्त्र आदि का विवरण है।

११—कल्याणवाद पूर्व में तीर्थंकरों के ५ कल्याणकों, षोडश भावना आदि का वर्णन है, इसमें २६ करोड़ पद हैं।

१२—प्राणवाद में १३ करोड़ पद हैं, इसमें आठ प्रकार के आयुर्वेद आदि वैद्यक आदि का विवरण है।

१३—क्रिया विशाल पूर्व में संगीत छन्द आदि पुरुषों की ७२ कला, स्त्रियों के ६४ गुण आदि का वर्णन है। इसमें ९ करोड़ पद हैं।

१४—त्रिलोक बिन्दु सार में १२ करोड़ ५७ लाख पद हैं। इसमें लोक का, मोक्ष का स्वरूप, ३६ परिकर्म आदि का वर्णन है।

दसचोद्दस अट्ठट्ठारस बारस सयं दोस पुव्वेसु।
सोलसवीसंतीसं पण्णरस वत्थु ॥५
एएंमि पुव्वाणं एवदिओ वत्थुसंग हो भणिओ।
णाणं तुव्वासेणं दसदस वत्थू पणिवदाणि ॥६॥
एक्केक्कम्मिय वत्थू वीसं कोसं पाहुडा भणिया।
विसमसमाहिय वत्थू पुव्वे पुण पाहुडेहिं समा ॥७
पुव्वाणं वत्थुसयं पंचाणउदि हवति वत्थूणि।
पाहुड तिण्णि सहस्सा नवयसया चोद्दसाणं तु ॥८॥

अर्थ—चौदह पूर्वों की क्रमशः १०-१४-८-१८-१२-१६-२०-३०-१५-१०-१०-१०-१०-१२ वस्तु (अधिकायेंर) यानी समस्त १९५ वस्तु होती हैं एक एक वस्तु के २०-२० प्राभृत (प्रकरण) होते हैं, अतः १४ पूर्वों के समस्त प्राभृत ३९०० होते हैं।

दृष्टिवाद का पांचवां भेद चूलिका है उसके ५ भेद हैं—जलगता, २-स्थलगता, ३ मायागता, ४ आकाशगता और ५ रूपगता।

जलगता में जल में गमन, जल स्तम्भन के मंत्र तंत्र आदि का वर्णन है। स्थलगता में मेरु कुलाचल, भूमि आदि में प्रवेश करने, शीघ्र गमन, आदिक सम्बन्धी मन्त्र तन्त्र आदि का वर्णन है। आकाशगता में आकाश गमन आदि के मन्त्र तन्त्र आदि का कथन है। मायागता में इन्द्रजाल सम्बन्धी मन्त्र तन्त्र आदि का कथन है। रूपगता में सिंह आदि के अनेक प्रकार के रूप बनाने का वर्णन है। इन पांचों चूलिकाओं के १०४९४६००० पद हैं।

चतुर्दश प्रकीर्णकानि ॥१२॥

अर्थ—अङ्गबाह्य श्रुतज्ञान के १४ भेद हैं। १—सामायिक, २—

चतुर्विंशतिस्तव, ३—वन्दना, ४—प्रतिक्रमण, ५—वैनयिक, ६—कृतिकर्म ७—दशवैकालिक, ८—उत्तराध्ययन, ९—कल्पव्यवहार, १०—कल्पाकल्प, ११—महाकल्प, १२, —पुण्डरीक, १३—महापुण्डरीक और १४—निषिद्धिका।

१ साधुओं के समताभाव रूप सामायिक का कथन करनेवाला सामायिक प्रकीर्णक है।

२ चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन की विधि विधान बतलाने वाला प्रकीर्णक चतुर्विंशतिस्तव है।

३ पंचपरमेष्ठी की वन्दना करनेवाला शास्त्र 'वन्दना' प्रकीर्णक है।

४ दैवसिक, पाक्षिक, मासिक आदि प्रतिक्रमण का विधान करनेवाला प्रतिक्रमण प्रकीर्णक है।

५ दर्शन, ज्ञान, चारित्र, और उपचार विनय का विस्तार से विवेचन करनेवाला वैनयिक प्रकीर्णक है।

६ दीक्षा आदि देने का विवरण जिस शास्त्र में हो वह कृतिकर्म है।

७ द्रव, पुष्पित आदि १० अधिकारों द्वारा मुनि के भोज्य पदार्थों का विवरण जिसमें पाया जाता है वह दशवैकालिक है।

८ उपसर्ग तथा परिषह सहन करने आदि का विधान उत्तराध्ययन प्रकीर्णक में है।

९ जिसमें दोषों के प्रायश्चित्त आदि का समस्त विवरण है वह कल्पव्यवहार है।

१० सागार अनागार के योग्य, अयोग्य आचार का जिसमें विवेचन पाया जाता है वह कल्पाकल्प प्रकीर्णक है।

११ दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण, संलेखना आदि ६ काल का जिसमें कथन पाया जाता है वह महाकल्प है।

१२ भवनवासी आदि देवों में उत्पन्न होने योग्य तपश्चरण आदि का विवरण जिसमें है वह पुण्डरीक है।

१३ भवनवासी आदि देवों की देवियों की उत्पत्ति के योग्य तपश्चर्या आदि का विधिविधान महापुण्डरीक में है।

१४ स्थूल सूक्ष्म दोषों का संहनन शरीर बल आदि के अनुसार प्रायश्चित्त आदि का विधान जिसमें है वह निषिद्धिका है।

त्रिविधमवधिज्ञानम ॥१३॥

देशावधि, परमावधि तथा सर्वावधि ये अवधि ज्ञान के तीन भेद हैं। रूपी द्रव्यके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा से जानना अवधिज्ञान है। यह अवधि ज्ञानावरण, वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। इसमें देशावधि के भवप्रत्यय तथा गुण प्रत्यय ये दो भेद होते हैं। उसमें देव और नारकी के उत्पन्न होने वाला अवधि ज्ञान भव-प्रत्यय है तथा तीर्थंकर परम देव के सर्वाङ्ग से प्रगट होने वाला गुण-प्रत्यय ज्ञान है। विशुद्धि के कारण गुणवान मनुष्य और तिर्यञ्च की नाभि के ऊपर रहने वाले शंखादि चिन्हों में उत्पन्न होता है। उसके छै भेद हैं—अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित।

सूर्य के प्रकाश के समान अवधिज्ञानी के साथ जाने वाला अनुगामी है, जो ज्ञान जिस क्षेत्र में उत्पन्न हुआ हो, वहां से चले जाने पर छूट जावे, साथ न जावे, इसे अननुगामी कहते हैं। शुक्ल पक्ष की चन्द्रमा के समान सम्यक्-दर्शनादि विशुद्ध परिणामों से उत्पन्न होकर वहां से आगे असंख्यात लौक तक निरन्तर बढ़ने वाला वर्द्धमान है। कृष्ण पक्ष की चन्द्रमा के समान सम्यग्दर्शन-आदि में संक्लेश परिणामों की वृद्धि के योग से असंख्यात भाग कम होते जाना हीयमान कहलाता है। जैसे सूर्य समयानुसार घटता बढ़ता रहता है उसी प्रकार ज्ञानमें घटती बढ़ती होना अनवस्थित कहलाता है। परमावधि तथा सर्वावधि ये दो अवधि ज्ञान चरम शरीर देहधारी उत्कृष्ट संयमीके होते हैं वह जघन्य मध्यम उत्कृष्ट से युक्त होता है और एकदेक्ष प्रत्यक्ष से जानता है।

द्विविधो मनःपर्ययश्च ॥१४॥

ऋजुमति और विपुलमति ये मनःपर्याय ज्ञान के दो भेद हैं। मनःपर्यय ज्ञान ज्ञानावरणके क्षयोपशम से और वीर्यान्तरायके क्षयोपशम से उत्पन्न होने के कारण अपने मन के अवलम्बन से होने वाले ईहामति-ज्ञानपूर्वक अन्य के मन में रहने वाले मूर्त्त वस्तु को ही एक देश प्रत्यक्ष से विकल्प रूप से जानता है। जो ऋजुमति है वह ऋजु अर्थात् मन, वचन काय के अर्थ को सरलता से जानने वाला है, वह कालान्तर में छूट जाता है। वक्रावक्र अन्य मनुष्य के मन, वचन, काय के प्रति अर्थ को जानना विपुलमति ज्ञान है जो कि सदा स्थिर रहता है। यह ज्ञान परम संयमी मुनि के होता है।

क्षायिकमेकमनन्तं त्रिकालसर्वार्थयुगपदवभासम् ।
सकल सुखधाम सततं वंदेऽहं केवलज्ञानम् ॥४॥
सुदकेवलं च णाणं दोण्णिवि सरिसाणि होंति बोधादो ।
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं ॥६॥

कुज्ञान-अनुपचरित अशुद्ध सद्भूतव्यवहारनय से मिथ्याश्रद्धान वाले जीव के कुमति, कुश्रुत विभंग ज्ञान ये तीनों कुज्ञान होते हैं। जगत्त्रय व कालत्रयवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् अवलोकन समर्थ केवल ज्ञान उपादेय है, अन्य ज्ञान हेय हैं।

नव नयाः ॥१५॥

अर्थ—नय नौ होती हैं। १ द्रव्यार्थिक, २ पर्यायार्थिक, ३ नैगम, ४ संग्रह, ५ व्यवहार, ६ ऋजुसूत्र, ७ शब्द, ८ समभिरूढ और ९ एवंभूत।

प्रमाण द्वारा जाने गये पदार्थ के एक अंश को जानने वाला ज्ञान 'नय' है। जिस तरह समुद्र में से भरे हुए घड़े के जल को न तो समुद्र कह सकते हैं क्योंकि समुद्र का समस्त जल घड़े के जलसे बहुत अधिक है और न उस घड़े के जल को 'असमुद्र' कह सकते हैं क्योंकि वह जल है तो समुद्र का ही। इसी प्रकार नय को न तो प्रमाण कह सकते हैं क्यों कि वह प्रमाण के विषयभूत पदार्थ के एक अंश को जानता है और न उसे अप्रमाण ही कह सकते हैं क्योंकि वह है तो प्रमाण का ही एक अंश।

द्रव्य को विषय करने वाला द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय को जानने वाला पर्यायार्थिक नय है।

द्रव्यार्थिक नय के १० भेद हैं—१ पर-उपाधि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय। जैसे संसारी जीव सिद्ध के समान शुद्ध हैं। २ सत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय, जैसे जीव नित्य है। ३ भेद कल्पना निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय, जैसे द्रव्य अपने गुणपर्याय स्वरूप होने से अभिन्न है। ४ पर उपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय; जैसे-आत्मा कर्मोदय से क्रोध मान आदि भावरूप है। ५ उत्पाद व्यय सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय, जैसे- एक ही समय में द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप है। ६ भेद कल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय, जैसे आत्मा के ज्ञान दर्शन आदि गुण है। ७ अन्वय द्रव्यार्थिक नय-जैसे द्रव्य गुणपर्याय-स्वभाव है। ८ स्वचतुष्टय ग्राहक द्रव्यार्थिक —जैसे स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा द्रव्य है। ९ पर चतुष्टय ग्राहक द्रव्यार्थिक—जैसे पर द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा द्रव्य नहीं है। १० परमभाव ग्राहक द्रव्यार्थिक – जैसे आत्मा ज्ञान-स्वरूप है।

पर्याय मात्र को ग्रहण करने वाले पर्यायार्थिक नय के ६ भेद हैं—

१ अनादि नित्य पर्यायार्थिक—जैसे सुमेरु पर्वत आदि पुद्गल पर्याय नित्य हैं। २ सादिनित्य पर्यायार्थिक नय—जैसे सिद्ध पर्याय नित्य है। ३ उत्पाद व्यय ग्राहक पर्यायार्थिक नय—जैसे पर्याय क्षण क्षण में नष्ट होती है। ४ सत्तासापेक्ष पर्यायार्थिक नय—जैसे पर्याय एक ही समय में उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप है। ५ पर उपाधि निरपेक्ष शुद्ध पर्यायार्थिक नय—जैसे संसारी जीवों की पर्याय सिद्ध भगवान के समान शुद्ध है। ६ पर उपाधि सापेक्ष अशुद्ध पर्यायार्थिक नय—जैसे संसारी जीवों के जन्म, मरण होते हैं।

संकल्प मात्र से पदार्थ को जानने वाला नैगम नय है। उसके तीन भेद हैं १ भूत, २ भावी और ३ वर्तमान।

भूत काल में वर्तमान का आरोपण करना भूत नैगम नय है जैसे दीपावली के दिन कहना कि 'आज भगवान महावीर मुक्त हुए हैं। भविष्य का वर्तमान में आरोपण करना भावी नैगम है जैसे अर्हन्त भगवान को सिद्ध कहना। प्रारम्भ किये हुए कार्य को सम्पन्न हुआ कहना वर्तमान नैगम है जैसे—चूल्हे में अग्नि जलाते समय यों कहना कि मैं चावल बना रहा हूं।

पदार्थों को संगृहीत (इकट्ठे) रूप से जानने वाला संग्रह नय है। इस के दो भेद हैं—१ सामान्य संग्रह-जैसे समस्त पदार्थ द्रव्यत्व की अपेक्षा समान हैं परस्पर अविरोधी हैं। २ विशेष संग्रह जैसे-समस्त जीव जीवत्व की अपेक्षा समान हैं परस्पर अविरोधी हैं।

संग्रह नय के द्वारा जाने गये विषय को विधि-पूर्वक भेद करके जानना व्यवहार नय है। इसके दो भेद हैं १ सामान्य व्यवहार-जैसे पदार्थ दो प्रकार के हैं १ जीव, २ अजीव। २ विशेष व्यवहार नय—जैसे जीव दो प्रकार के हैं १ संसारी, २ मुक्त।

वर्तमान काल को ग्रहण करने वाला ऋजुसूत्र नय है। इसके भी दो भेद हैं—१ सूक्ष्म ऋजुसूत्र, जैसे पर्याय एक समयवर्ती है। २-स्थूल ऋजुसूत्र जैसे मनुष्य पशु आदि पर्याय को जन्म से मरण तक आयु भर जानना।

संख्या, लिंग आदि का व्यभिचार दूर करके शब्द के द्वारा पदार्थ को ग्रहण करना, जैसे विभिन्न लिंगवाची दार, (पु०), भार्या (स्त्री), कलत्र (न०) शब्दों के द्वारा स्त्री का ग्रहण होना।

एक शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी किसी प्रसिद्ध एक रूढ अर्थ को ही शब्द द्वारा ग्रहण करना। जैसे गो शब्द के (संस्कृत भाषा में) पृथ्वी, वाणी

कटाक्ष, किरण, गाय आदि अनेक अर्थ हैं फिर भी गो शब्द से गाय को ही जानना।

शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार उसी क्रिया में परिणत पदार्थ को उस शब्द द्वारा ग्रहण करना एवंभूत नय है। जैसे गच्छति इति गौः (जो चलती हो सो गाय है) इस व्युत्पत्ति के अनुसार चलते समय ही गाय को गो शब्द द्वारा जानना एवंभूत नय है।

नय की शाखा को उपनय कहते हैं। उपनय के ३ भेद हैं—१ सद्भूत व्यवहार नय, २ असद्भूत व्यवहार नय, ३ उपचरित असद्भूत व्यवहार नय।

सद्भूत व्यवहार नय के दो भेद हैं—१ शुद्ध सद्भूत व्यवहार—जो शुद्ध गुण गुणी, शुद्ध पर्याय पर्यायी का भेद कथन करे, जैसे सिद्धों के केवल ज्ञान दर्शन आदि गुण हैं। २ अशुद्ध सद्भूत व्यवहार—जो अशुद्ध गुण गुणी तथा अशुद्ध पर्याय पर्यायी का भेद वर्णन करे, जैसे—संसारी आत्मा की मनुष्य आदि पर्याय हैं।

असद्भूत व्यवहार नय के ३ भेद हैं—१ स्वजाति असद्भूत व्यवहार-जैसे परमाणु बहु प्रदेशी है। २ विजाति असद्भूत व्यवहार-जैसे मूर्ति मतिज्ञान मूर्तिक पदार्थ से उत्पन्न होता है, ऐसा कहना। ३ स्वजाति विजाति असद्भूत व्यवहार—जैसे ज्ञेय (ज्ञान के विषय भूत) जीव अजीव (शरीर) में ज्ञान है, क्यों कि वह ज्ञान का विषय है, ऐसा कहना।

उपचरित असद्भूत व्यवहार नय के भी ३ भेद हैं—१ स्वजाति उपचरित असद्भूत व्यवहार—जैसे पुत्र स्त्री आदि मेरे हैं। २ विजाति उपचरित असद्-भूत व्यवहार नय-जैसे मकान वस्त्र आदि पदार्थ मेरे हैं। ३ स्वजाति विजाति उपचरित असद्भूत व्यवहार नय-जैसे नगर, देश मेरा है। नगर में रहने वाले मनुष्य स्वजाति (चेतन) हैं, मकान वस्त्र आदि विजाति (अचेतन) हैं।

नय के दो भेद और भी किये हैं-१ निश्चय, २ व्यवहार।

जो अभेदोपचार से पदार्थ को जानता है वह निश्चय नय है। जैसे आत्मा शुद्ध बुद्ध निरञ्जन है

जो भेदोपचार से पदार्थ को जानता है वह व्यवहार नय है। जैसे जीव के ज्ञान आदि गुण हैं।

प्रकारान्तर से इन दोनों नयों का स्वरूप यों भी बताया गया है—

जो पदार्थ के शुद्ध अंश का प्रतिपादन करता है वह निश्चय नय है, जैसे जो अपने चेतना प्राणसे सदा जीवित रहता है वह जीव है।

जो पदार्थ के मिश्रित रूप का प्रतिपादन करता है वह व्यवहार नय है। जैसे जिसमें इन्द्रिय (५) बल (३) आयु और श्वास उच्छ्वास ये यथायोग्य १० प्राण पाये जाते हैं या जो इन प्राणों से जीता है वह जीव है।

नय आंशिक ज्ञानरूप हैं, अतः वे तभी सत्य होती हैं जबकि वे अन्य नयों की अपेक्षा रखती हैं। यदि वे अन्य नय की अपेक्षा न रक्खें तो वे मिथ्या नय हो जाती हैं।

कहा भी है—

निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तुतोर्थकृत्।

यानी—अन्य नयों की अपेक्षा न रखने वाली नय मिथ्या होती हैं, जो नय अन्य नयों की अपेक्षा रखती हैं वे सत्य नय होती हैं, उनसे ही पदार्थ की सत्य सिद्धि होती है।

नयानां लक्षणं भेदं वक्ष्ये नत्वा जिनेश्वरम्।
दुर्नयारितमोनाशं मार्तण्डं जगदीश्वरम्॥५॥
नयो वक्तुर्विवक्षा स्याद् वस्त्वशेषं प्रवर्तते।
द्विधासौ भिद्यते मूलाद् द्रव्यपर्यायभेदतः॥६॥
नैगमः संग्रहश्चेति व्यवहारर्जुसूत्रकौ।
शब्दसमभिरूढैवंभूता नव नयाः स्मृताः॥७॥
सद्भूतासद्भूतौ स्यातामुपचारतोऽप्यसद्भूताः।
इत्युपनयास्त्रिभेदाः प्रोक्तास्तथैव तत्त्वज्ञैः॥८॥
द्रव्यार्थि दशविधं स्यात्पर्यायार्थो च षड्विधः।
नैगमस्त्रिविधस्तत्र संग्रहश्च द्विधा मतः॥९॥
व्यवहारर्जुसूत्रौ च प्रत्येको द्विविधात्मकः।
शब्दसमभिरूढैवंभूतानां नास्ति कल्पना॥१०॥
सद्भतश्च नयो द्वेधाऽसद्भूतस्त्रिविधो मतः।
उपचारात् सद्भूतः प्रोक्तः सोपित्रैविध्यमाभजेत्॥११॥
सर्वपारनयभेदानां भेदाः षड्त्रिंशदीरिताः।
एतन्निगद्यते तेषां स्वरूपव्याप्तिलक्षणम्॥१२॥

पुनरध्यात्मभाषयानयावभ्यरन्त्य तत्र तावस्मालनयोद्योनिश्चयो व्यवहारश्च आभेदसोपचारतया वस्तुनिश्चेता इति निश्चयः। भेदोपचारतया वस्तुव्यवह-

तमिति । यः सोपाधिविषयोऽशुद्ध-निश्चयः, यथा मतिज्ञानादयो जीवयिते । व्यवहारो द्विविधः—सद्भूतव्यवहार असद्भूतव्यवहारस्तत्रैव वस्तुविषयः सद्भूतव्यवहारोऽभिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारो द्विविध उपचारितानुपरितभेदात् तत्र सोपाधिकगुणिविषय उपचरित सद्भूत व्यवहारः । यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः । निरुपाधिगुणगुणिभेदविषयानुपचरित सद्भूतव्यवहारः । यथा जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणाः । असद्भूतो व्यवहारोद्विविधः: उपचरितानुपचरितभेदास्तत्र संक्लेशरहितवस्तु सम्बन्ध - विषय-उपचरितासद्भूतव्यवहारः । यथा जीवस्य धनधान्यमित्यादि । संक्लेशरहित वस्तु-सम्बन्ध-विषयः अनुपचरितसद्भूतव्यवहारः । यथा जीवस्य शरीरमिति । एवमध्यात्मभाषया षण्णयाः ।

समस्त जीव शुद्ध बुद्धैकस्वभाव वाले हैं ऐसा कहना शुद्ध निश्चय नय है । केवलज्ञानादि शुद्ध गुण जीव सम्बन्धो कहना अनुपचरित सद्भूतव्यवहार नय है । मतिज्ञानादि विभावगुण जीवसम्बन्धी हैं, उपचरित सद्भूत व्यवहार नयसे शरीरादि जोवसम्बन्धी कहे जाते हैं, अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नयसे । ग्राम-आदि उपचरित सद्भूत नयसे जीव-सम्बन्धी कहे जाते हैं ।

गाथा

जावदिया वयणविहा तावदिया चेव होंति णयवादा
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ॥१२॥
प्रमाणनयनिक्षेपैर्योऽर्थानभिसमीक्ष्यते ।
युक्तत्यम्भायुक्तिवदाति तस्यायुक्त च युक्तिवत् ॥१३॥
ज्ञानं प्रमाणमित्याहु रूपयो न्यासमुच्यते ।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थःपरिग्रहः ॥१४॥

स्वात्मोपलब्धि के विरुद्ध अनात्मोपलब्धि है । इसको यहां संक्षेप से दिग्दर्शन कराते हैं ।

स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव यह अन्तरङ्ग स्वचतुष्टय है । पर (अन्य) द्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव ये बहिरंग हेतु है । इसको यहां दृष्टान्त से बतलाते हैं ।

हेमपाषाण (खान से निकला हुआ पत्थर से मिला हुआ सोना) स्वद्रव्य है । उस हेमपाषाण के अपने प्रदेश उसका स्वक्षेत्र है । उसकी अतीत अनागत पर्याय उसका स्वकाल है । उसके क्रिया-परिणत वर्तमान निजी परिणमन स्वभाव है । स्वर्णशलिका (जिसके द्वारा उसको शुद्ध किया जाता है) बकस्पति

उसका परद्रव्य है। मूस (कुठाली–जिसमें डालकर उसे शुद्ध सुवर्ण बनाया जाता है; उस हेमपाषाण का पर-क्षेत्र है। रात दिन आदि परकाल है। रसवादी (नियारिया–सोना शुद्ध करने वाला सुनार आदि) की परिणति हेमपाषाण का पर-भाव है।

इसी प्रकार अनाद्यनिधन चैतन्य-स्वभाव जीव स्वद्रव्य है। लोकप्रमाण उसके प्रदेश आत्मा के स्वक्षेत्र हैं। आत्मा के अतीत अनागत पर्याय स्वकाल हैं। विशुद्ध अतिशय से युक्त वर्तमान पर्याय आत्मा का स्वभाव है। उत्तम संहनन, (शरीर) आत्मा का पर-द्रव्य है। १५ कर्मभूमियाँ इस आत्मा (कर्मभूमिज मनुष्य) का परक्षेत्र हैं। यह दुःषमा पंचमकाल आत्मा का पर.काल है। और तत्वोपदेश से परिणत आचार्य आदि पर-भाव हैं।

इस प्रकार स्वचतुष्टय परचतुष्टय का यह संक्षेप विवरण है।

सप्तभङ्गी ॥१६॥

अर्थ—वस्तु कथन करने की सात भंग (तरह) होते हैं उसीको सप्त भंगी कहते हैं। उनके नाम ये हैं—१-स्यात्अस्ति, २—स्यान्नास्ति, ३—स्यादस्तिनास्ति ४—स्यादवक्तव्य, ५–स्यादस्ति अवक्तव्य, ६-स्यान्नास्ति अवक्तव्य, ७—स्यादस्ति-नास्ति अवक्तव्य।

कहा भी है

एकस्मिन्नविरोधेन प्रमाणनयवाक्यतः।
सदादिकल्पना या च सप्तभंगीति सा मता ॥१५॥

यानी—एक पदार्थ में परस्पर अविरोध (विरोध न करके) रूप से प्रमाण अथवा नय के वाक्य से सत् (है) आदि की जो कल्पना की जाती है वह सप्तभंगी है।

स्यात् अव्यय पद है इसका अर्थ कथंचित् यानी 'किसी अपेक्षा से' है।

प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा है, यह स्यादस्ति (स्यात् अस्ति) है। जैसे-दिल्ली नगर अपने स्वरूप से है।

प्रत्येक पदार्थ अन्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं है, यह स्यान्नास्ति (स्यात् नास्ति) भंग है। जैसे—दिल्ली नगर बम्बई की अपेक्षा नहीं है।

प्रत्येक पदार्थ एक ही समय में क्रम से अपनी अपेक्षा है और अन्य की अपेक्षा नहीं है। यह स्यादस्तिनास्ति भंग है। जैसे—दिल्ली नगर अपनी अपेक्षा से है और बम्बई की अपेक्षा नहीं है।

पदार्थ का स्वरूप अपनी तथा अन्य की अपेक्षा से एक साथ कहना चाहें तो किसी भी शब्द द्वारा नहीं कह सकते, इस कारण पदार्थ युगपत् (एक साथ) अस्तिनास्ति रूप न कहे जाने के कारण स्यात् अवक्तव्य (न कहे जा सकने योग्य) है। जैसे दिल्ली युगपत् अपनी तथा बम्बई की अपेक्षा किसी भी शब्द से नहीं कही जा सकती।

पदार्थ अपने रूप से है और अपने तथा अन्य की अपेक्षा युगपत् कहा भी नहीं जा सकता यह स्यादस्ति-अवक्तव्य है। जैसे दिल्ली अपने रूप से तो है परन्तु इसके साथ युगपत् स्व-पररूप से अवक्तव्य भी है।

पदार्थ अन्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं है इसके साथ ही युगपत् स्व-पर की अपेक्षा अवक्तव्य है, यह स्यात् नास्ति अवक्तव्य भंग है। जैसे दिल्ली नगर बम्बई की अपेक्षा नहीं है और युगपत् अपनी तथा बम्बई की अपेक्षा न कहे जा सकने के कारण अवक्तव्य भी है।

पदार्थ क्रम से अपनी अपेक्षा से है तथा अन्य की अपेक्षा से नहीं हैं एवं युगपत् स्व-पर की अपेक्षा से अवक्तव्य है। जैसे दिल्ली अपनी अपेक्षा से है, बम्बई की अपेक्षा से नहीं है तथा युगपत् स्व-पर की अपेक्षा अवक्तव्य है।

सप्तभङ्गी की ये सातों भंगें कथंचित् (किसी एक दृष्टिकोण से) की अपेक्षा तो सत्य प्रमाणित होती हैं इसी कारण इनके साथ स्यात् पद लगाया जाता है, यदि इनको स्यात् न लगाकर सर्वथा (पूर्ण रूप से) माना जावे तो ये भगें मिथ्या होती हैं। कहा भी है।

सर्वेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते ॥

इसका अर्थ ऊपर लिखे अनुसार ही है।

इस प्रकार स्यात् पद लगाकर सात भंगों के कहने के सिद्धान्त को ही 'स्याद्वाद' कहते हैं।

पंच भावाः ॥१७॥

अर्थ—जीव के असाधारण (जीव के सिवाय अन्य किसी द्रव्य में न पाये जाने वाले) भाव पांच हैं। १—औपशमिक, २—क्षायिक, ३—क्षायोपशमिक ४—औदयिक और ५—पारिणामिक।

औपशमिको द्विविधः ॥१८॥

अर्थ—जो भाव कर्मों के उपशम होने से (सत्ता में बैठ जाने से) जो कुछ

समय के लिए निर्मल होते हैं सो औपशमिक भाव हैं। उनके दो भेद हैं १ सम्यक्त्व, २ चारित्र।

अनादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी क्रोध, मान माया लोभ इन पांच प्रकृतियों तथा सादि मिथ्या-दृष्टि के मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक प्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ इन सात कर्मों के उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व होता है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ के सिवाय चारित्र मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों के उपशम होने से उपशम चारित्र (ग्यारहवें गुणस्थान में) होता है।

क्षायिको नवविधः ॥१९॥

कर्मों के सर्वथा क्षय हो जाने पर जो आत्मा के पूर्ण शुद्ध भाव होते हैं वे क्षायिक भाव हैं। क्षायिक भाव के ९ भेद हैं। १ ज्ञान (केवल ज्ञान), २ दर्शन (केवल दर्शन), ३ क्षायिक दान, ४ क्षायिक लाभ, ५ क्षायिक भोग, ६ क्षायिक उपभोग, ७ क्षायिक वीर्य (अनन्त बल), ८ क्षायिक सम्यक्त्व और ९ क्षायिक चारित्र।

ये क्रम से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय (५ तरह का) तथा दर्शन, चारित्र मोहनीय के क्षय हो जाने से प्रगट हो जाते हैं।

अष्टादशविधः क्षायोपशमिकः ॥२०॥

अर्थ—कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदयाभाव रूप क्षय (उदय होते हुए भी फल न देना), अन्य बद्ध सर्वघाती स्पर्द्धकों का सत्ता में उपशम तथा देशघातीस्पर्द्धकों के उदय होने पर जो भाव होते हैं उन्हें क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। उनके १८ भेद हैं—

१—मतिज्ञान, २—श्रुतज्ञान, ३—अवधिज्ञान, ४—मनपर्यय ज्ञान, ५—कुमति ६—कुश्रुत, ७—कुअवधि, ८—चक्षुदर्शन, ९—अचक्षु दर्शन, १०—अवधिदर्शन, ११—दान, १२—लाभ, १३—भोग, १४—उपभोग, १५—वीर्य, १६—सम्यक्त्व, १७—चारित्र और १८—संयमासंयम।

पहले के ७ भेद ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से, उसके बाद के ३ भेद दर्शनावरण के क्षयोपशम से, फिर आगे के ५ भाव अन्तराय के क्षयोपशम से और अन्तिम तीन भेद क्रम से दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय (प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानावरण) के क्षयोपशम से होते हैं।

औदयिकमेकविंशतिर्भेदः ॥२१॥

जो भाव कर्मों के उदय से होते हैं वे औदयिक भाव हैं, संक्षेप से उनके २१ भेद हैं।

१—मनुष्यगति, २—देवगति, ३—तिर्यञ्चगति, ४—नरकगति, ५—क्रोध, ६—मान, ७—माया, ८—लोभ, ९—पुरुषवेद, १०—स्त्री वेद, ११—नपुंसकवेद; १२—मिथ्यात्व, १३, अज्ञान, १४—असंयम, १५—असिद्ध, १६—कृष्ण, १७—नील, १८—कापोत, १९—पीत २०—पद्म, २१—शुक्ल (लेश्या)। ये नाम कर्म, मोहनीय, कर्म ज्ञानावरण, तथा सर्व सामान्य कर्मों (असिद्ध) के उदय होने से होते हैं।

पारिणामिकस्त्रिविध : ॥२२॥

आत्मा के जो स्वाधीन स्वाभाविक (कर्म-निरपेक्ष) भाव होते हैं वे पारिणामिक भाव हैं। उसके ३ भेद हैं। १—जीवत्व, २—भव्यत्व, ३—अभव्यत्व। चेतनामयत्व जीवत्व है। मुक्त हो सकने की योग्यता भव्यत्व है और मुक्ति प्राप्त न हो सकने योग्य की योग्यता अभव्यत्व है।

गुणजीवमार्गणस्थानानि प्रत्येकं चतुर्दशः ॥२३॥

अर्थ—गुणस्थान, जीवस्थान और मार्गणा ये तीनों प्रत्येक १४-१४ प्रकार के हैं।

मिच्छोसासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरता पमत्त इदरो अपुव्व अणियट्ठ सुहुमो य।
उवसंतखीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य।
चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा॥

अर्थ—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली, अयोग केवली, ये १४ गुणस्थान हैं।

मोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम से तथा योगों के कारण जो जीव के भाव होते हैं उनको गुणस्थान कहते हैं।

शुद्ध बुद्ध अखण्ड अमूर्तिक, अनन्तगुण-सम्पन्न आत्मा का तथा वीतराग सर्वज्ञ अर्हंत भगवान प्ररूपित तत्व, द्रव्य, पदार्थ, अर्हंतदेव, निर्ग्रन्थ गुरु तथा जिनवाणी की श्रद्धा न होना, मिथ्यात्व गुणस्थान है। यह मिथ्यात्व कर्म के उदय से होता है एकान्त, विपरीत, विनय, संशय, अज्ञान रूप भाव इस गुणस्थानवर्ती के होते हैं।

अनन्तानुबन्धी - सम्बन्धी क्रोध पत्थर पर पड़ी हुई लकीर के समान दीर्घकाल तक रहनेवाला, मान पत्थर के स्तम्भ के समान न झुकनेवाला, एक दूसरे में गुंथी हुई बांस की जड़ों के समान कुटिल माया और मजीठ के रंग के समान अमिट लोभ होता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व - वाले व्यक्ति के जब इनमें से किसी भी कषाय का उदय हो जावे तब उसका सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है किन्तु (कम से कम) एक समय और अधिक से अधिक ६ आवली काल प्रमाण जबतक मिथ्यात्व का उदय नहीं हो पाता उस बीच की दशा में जो आत्मा के परिणाम होते हैं वह सासादन गुणस्थान है। जैसे कोई मनुष्य पर्वत से गिर पड़ा हो किन्तु जब तक पृथ्वी पर न पहुंच पाया हो।

सम्यगमिथ्यात्व के उदय से जो सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के मिले हुए मिश्रित परिणाम होते हैं जैसे दही और खांड मिला देने पर एक विलक्षण स्वाद होता है जिसमें न दही का स्वाद आता है, न केवल खांड का ऐसे ही मिश्रगुणस्थान वाले के न तो मिथ्यात्व रूप ही परिणाम होते हैं, न केवल सम्यक्त्व रूप परिणाम होते हैं किन्तु दोनों भावों के मिले हुए विलक्षण परिणाम हुआ करते हैं। इस गुणस्थान में न तो कोई आयु बन्धती है और न मरण होता है, जो आयु पहले बांध ली हो उसी के अनुसार सम्यक्त्व या मिथ्यात्व भाव प्राप्त करके मरण होता है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ तथा मिथ्यात्व, सम्यक मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति इन सात प्रकृतियों के उपशम होने से, क्षय होने से या क्षयोपशम होने से जो उपशम, क्षायिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है किन्तु अप्रत्याख्यानावरण के उदय से जिसको अणुव्रत भी नहीं होता वह अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान है। यानी—व्रत रहित सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान वाला होता है। इस गुणस्थान-वाला सांसारिक भोगों को विरक्ति के साथ भोगता है।

सम्यग्दृष्टि जीव को जब अप्रत्याख्यानावरण कषाय, जिसका क्रोध पृथ्वी की रेखा के समान होता है, के क्षयोपशम से अणुव्रत धारण करने के परिणाम होते हैं तब उसके देशविरत नामक पांचवा गुणस्थान होता है। यह पांच पापों का एक देश त्याग करके ११ प्रतिमाओं में से किसी एक प्रतिमा का चारित्र पालन करता है।

दंसणवय सामाइय पोसह सचित्तराइभत्ते य।
बम्भारम्भपरिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदो य॥

यानी—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तविरक्त, रात्रि-भोजन-त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग ये पांचवें गुणस्थान वाले की ११ प्रतिमाएं (श्रेणियां) हैं, इनका स्वरूप पीछे चरणानुयोग में लिख चुके हैं।

धूलिकी रेखा के समान प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि का क्षयोपशम हो जाने पर जब महाव्रत का आचरण होता है किन्तु जल रेखाके समान क्रोधादि वाली संज्वलन कषाय तथा नोकषायों के उदय से चारित्र में मैल रूप प्रमाद भी होता रहता है, तब छठा प्रमत्त गुणस्थान होता है। ४ विकथा (स्त्रीकथा, भोजन कथा, राष्ट्र कथा, अवनिपाल कथा), चार कषाय [क्रोध मान माया लोभ], ५ इन्द्रिय तथा नींद और स्नेह ये १५ प्रमाद हैं।

महाव्रती मुनि जब संज्वलन कषाय तथा नोकषाय के मंद उदय से प्रमाद रहित होकर आत्मनिमग्न ध्यानस्थ होता है तब अप्रमत्त नामक सातवां गुणस्थान होता है। इसके दो भेद हैं। १—स्वस्थान अप्रमत्त [जो सातवें गुणस्थान में ही रहता है, ऊपर के गुणस्थानों में नहीं जाता, २—सातिशय-जो ऊपर के गुणस्थानों से चढ़ता है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ के सिवाय चारित्र मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों के उपशम करने के लिए अथवा क्षय करने के लिए श्रेणी चढ़ते समय जो प्रथम शुक्लध्यान के कारण प्रतिसमय अपूर्व परिणाम होते हैं वह अपूर्वकरण नामक आठवां गुणस्थान है।

अपूर्वकरण गुणस्थान में कुछ देर [अन्तर्मुहूर्त] ठहरकर अधिक विशुद्ध परिणामोंवाला नौवां अनिवृत्ति गुणस्थान होता है। इसमें समान समयवर्ती मुनियों के एक समान ही परिणाम होते हैं। इस गुणस्थान में ६ नोकषायों का तथा अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान-आवरण कषाय सम्बन्धी क्रोध मान माया लोभ और संज्वलन क्रोध मान माया, इन २० चारित्र मोहनीय कर्म प्रकृतियों का उपशम या क्षय होकर केवल स्थूल संज्वलन लोभ रह जाता है। इस गुणस्थान का समय भी अन्तर्मुहूर्त है।

तदनन्तर उससे अधिक विशुद्ध परिणामोंवाला सूक्ष्मसाम्पराय नामक १० वां गुणस्थान होता है, इसमें स्थूल संज्वलन लोभ सूक्ष्म हो जाता है।

उपशम श्रेणी चढ़ने वाले मुनि १०वें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त रहकर तदनन्तर संज्वलन सूक्ष्म लोभ को भी उपशम करके ११वें गुणस्थान उपशान्त मोह में पहुंच जाते हैं। यहां पर उनके विशुद्ध यथाख्यात चारित्र हो जाता है,

राग द्वेष क्रोध आदि विकार नहीं रहते, वीतराग हो जाते हैं। परन्तु अन्तमुहूर्त पीछे ही उपशम हुआ सूक्ष्म लोभ फिर उदय हो जाता है तब उपशांत मोहवाले मुनि उस ११वें गुणस्थान से भ्रष्ट होकर क्रम से १०वें, ९वें, ८वें आदि गुणस्थानों में आजाते हैं।

जो मुनि क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हैं वे १०वें गुणस्थान से सूक्ष्म लोभ का भी क्षय करके क्षीणमोह नामक १२वें गुणस्थान में पहुँच जाते हैं। वहां उन्हें वीतराग पद विशुद्ध यथाख्यात चारित्र सदा के लिए प्राप्त हो जाता है। उन्हें उस गुणस्थान से भ्रष्ट नहीं होना पड़ता।

८वें से ११वें गुणस्थान तक वाली उपशम-श्रेणी तथा ८वें गुणस्थान से १२वें गुणस्थान तक [११वें गुणस्थान के सिवाय] क्षपकश्रेणी का काल अन्तमुंहूर्त है और उन प्रत्येक गुणस्थान का काल भी अन्तमुंहूर्त है। अन्तमुंहूर्त के छोटे बड़े अनेक भेद होते हैं।

दूसरे शुक्लध्यान एकत्ववितर्क अवीचार के बल से १२वें गुणस्थान वाला वीतराग मुनि जब ज्ञानावरण और दर्शनावरण अन्तराय कर्म का भी समूल क्षय कर देता है तब अनन्तज्ञान [केवल ज्ञान], अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य प्रगट होता है, यह सयोग केवली नामक तेरहवां गुणस्थान है। मोहनीय कर्म के नष्ट होने से अनन्तसुख होता है। इस तरह केवली अर्हन्त भगवान अनन्त चतुष्टय-धारक सर्वज्ञ वीतराग होते हैं। उनके भाव मन योग नहीं रहता। काययोग के कारण उनका विहार होता है और वचन-योग के कारण उनका दिव्य उपदेश होता है। दोनों कार्य इच्छा बिना स्वयं होते हैं।

आयु कर्म समाप्त होने से कुछ समय पहले जब योग का निरोध भी हो जाता है तब १४ वां अयोग केवली गुणस्थान होता है। अ इ उ ऋ लृ इन पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतना समय इस गुणस्थान का काल है। इस गुणस्थान में शेष समस्त अघाति कर्मों का नाश करके मुक्त हो जाते हैं।

मुक्त हो जाने पर द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित होकर सिद्ध अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार [अमूर्तिक] में हो जाते हैं। और आत्मा के समस्त गुण विकसित हो जाते हैं। तदनन्तर एक ही समय में ऊर्ध्व गमन करके लोक के अग्रभाग में पहुंचकर ठहर जाते हैं। फिर उनको जन्म मरण आदि नहीं होता। अनन्तकाल तक अपने परम विशुद्ध स्वाधीन सुखानुभव में निमग्न रहते हैं।

१४ जीव समास

समस्त संसारी जीवों को जो संक्षेप से बतलाने की विधि है उसको 'जीवसमास' कहते हैं। (समस्यन्ते संक्षिप्यन्ते जीवाः येषु यैर्वा ते जीवसमासाः) जीवसमास के १४ भेद हैं—

१ एकेन्द्रिय सूक्ष्म पर्याप्त, २ एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त, ३ एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त, ४ एकेन्द्रिय बादर अपर्याप्त, ५ दोइन्द्रिय पर्याप्त, ६ दोइन्द्रिय अपर्याप्त, ७ तीनइन्द्रिय पर्याप्त, ८ तीन इन्द्रिय अपर्याप्त, ९ चार इन्द्रिय पर्याप्त, १० चार इन्द्रिय अपर्याप्त, ११ पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्त, १२ पंचेन्द्रिय संज्ञी अपर्याप्त, १३ पंचेन्द्रिय असंज्ञी पर्याप्त, १४ पंचेन्द्रिय असंज्ञी अपर्याप्त।

पर्याप्ति अपर्याप्ति जीवों का स्वरूप आदि आगे कहा जायगा, अतः यहां पर नहीं देते।

जिनके द्वारा समस्त जीवों को ढूंढा जावे, उनकी खोज की जावे [मृग्यन्ते जीवाः यासु याभिर्वा ताः मार्गणाः] उनको मार्गणा कहते हैं, वे १४ हैं — १४ मार्गणा

गइ इंदियं च काये जोए वेए कषायणाणे य।
संजमदंसणलेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥

यानी—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार ये १४ मार्गणाएं हैं।

द्विविधमेकेन्द्रियम् ॥२४॥

अर्थ—एकेन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—१ बादर, २ सूक्ष्म।

बादरसुहुमुदयेण य बादरसुहुमा हवंति तद्देहा।
घादसरीरं थूलं अघाददेहं हवे सुहुमं ॥१३॥
तद्देहमंगुलस्स य असंखभागस्स विंदमाणं तु।
आधारे थूलाओ सव्वत्थ णिरंतरा सुहुमा ॥१४॥

Read

यानी—बादर नाम कर्म के उदय से बादर और सूक्ष्म नाम कर्म के उदय से सूक्ष्म शरीर होता है। जो शरीर दूसरे को रोके तथा दूसरे द्वारा रुके वह बादर शरीर है। जो शरीर दूसरे से न रुके तथा स्वयं दूसरे को न रोके वह सूक्ष्म शरीर है। अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण उन बादर सूक्ष्म जीवों का शरीर होता है। बादर एकेन्द्रिय जीव किसी के आधार से रहते हैं किन्तु सूक्ष्म जीव सब जगह हैं, बिना आधार के रहते हैं।

विकलत्रयम् ॥१५॥

अर्थ—विकलेन्द्रिय जीवों के ३ भेद हैं—

१—दोइन्द्रिय, २—तीन इन्द्रिय, ३—चार इन्द्रिय। जिनके स्पर्शन रसना इन्द्रिय होती हैं वे दो इन्द्रिय जीव हैं जैसे जोंक शंख सीपी। जिनके स्पर्शन रसना, घ्राण होती है वे तीन इन्द्रिय जीव है जैसे खटमल जू आदि। जिनके स्पर्शन रसना घ्राण और चक्षु होती है वे चार इन्द्रिय जीव हैं जैसे—मक्खी मच्छर आदि।

एकेन्द्रिय जीव स्पर्शनइन्द्रिय से अधिकसे अधिक चार सौ धनुष (४ हाथ का एक धनुष) दूरवर्ती पदार्थ को जान सकता है। दो इन्द्रिय ८०० धनुष, तीन इन्द्रिय १६०० धनुष और चार इन्द्रिय जीव ३२०० धनुष दूर के पदार्थ को स्पर्शन इन्द्रिय से जान सकते है। दो इन्द्रिय जीव रसना इन्द्रिय द्वारा ६४ धनुष दूरवर्ती पदार्थ को जान सकता है, तीन इन्द्रिय जीव १२८ धनुप और चार इन्द्रिय जीव २५६ धनुष दूर तक रसना इन्द्रिय से जान सकता है। तीन इन्द्रिय जीव सौ धनुष दूरवर्ती पदार्थ को घ्राण से जान सकता है, चारइन्द्रिय जीव २०० दो सौ धनुष दुर के पदार्थ को घ्राण से जान सकता है। चार इन्द्रिय जीव चक्षु इन्द्रिय से अधिक से अधिक २९५४ योजन दूरवर्ती पदार्थ को देख सकता है।

पंचेन्द्रिया द्विविधाः ॥२६॥

अर्थ—पंचेन्द्रिय जीवों के दो भेद हैं—१ संज्ञी, २ असंज्ञी। जो मन द्वारा शिक्षा, क्रिया, आलाप (शब्द का संकेत) ग्रहण कर सके वे संज्ञी हैं। जैसे देव मनुष्य नारकी, हाथी, घोड़ा, सिंह, कुत्ता, बिल्ली आदि। जो शिक्षा क्रिया आलाप ग्रहण करने योग्य मन से रहित होते है वे असंज्ञी है। चार इन्द्रिय तक सब असंज्ञी होते है पंचेन्द्रियों में जलका सर्प और कोई कोई तोता असंज्ञी होता है।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपनी स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन्द्रिय द्वारा चार इन्द्रिय जीव से दुगुना दूरके पदार्थ को जान सकता है। उसको कर्णइन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय ८००० धनुप दूर का है।

संज्ञी पंचेन्द्रिय की स्पर्शन, रसना घ्राण इन्द्रियों का उत्कृष्ट विषय ९-९ योजन दूरवर्ती है, कर्ण इन्द्रिय का १२ योजन का है और नेत्र इन्द्रिय का ४७२६३ ७/२० योजन है।

षट् पर्याप्तयः ॥२७॥

अर्थ—पर्याप्ति (शक्ति) ६ है।

आहारसरीरिंदिय पज्जत्ती आणपाणभासमणो।
चत्तारि पंच छप्पिय एइंदियवियलसण्णीणं॥

यानी—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये ६ पर्याप्तियां हैं। एकेन्द्रिय जीव के पहली ४ और दो इन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय तक के जीवों के मन के सिवाय शेष ५ तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय के ६ पर्याप्ति होती हैं। एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर जिन नोकर्म वर्गणाओं से बनता है (जैसे गर्भाशय में रजवीर्य) उन वर्गणाओं को खल (गाढ़ा कठोर) तथा रस रूप कर देने की शक्ति को आहार पर्याप्ति कहते हैं। खल भाग को हड्डी रूप करने तथा रस भाग को खून बनानेरूप शक्ति को शरीर पर्याप्ति कहा गया है। इन्द्रिय रूप रचना की शक्ति को इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वास लेने निकालने की शक्ति को श्वास-उश्वास पर्याप्ति, वचन रूप शक्ति को भाषा पर्याप्ति तथा द्रव्यमनरूप बनाने की शक्ति को मन पर्याप्ति कहते हैं।

ये पर्याप्तियां अन्तर्मुहूर्त में पूर्ण हो जाती हैं, जिन जीवों की पर्याप्तियां पूर्ण हो जाती हैं वे पर्याप्तक कहे जाते हैं। जिनकी पर्याप्तियां पूर्ण नहीं होतीं; अधूरी होती है वे अपर्याप्तक होते हैं। अपर्याप्तक जीव दो प्रकार के हैं—१ निर्वृत्यपर्याप्तक—जिनकी पर्याप्तियां अधूरी हों किन्तु अन्तर्मुहूर्त में अवश्य पूर्ण होने वाली हों। २ लब्ध्यपर्याप्तक— जिनकी सभी पर्याप्तियां अधूरी रहती हैं, पूर्ण होने से पहले ही जिनका मरण हो जाता है। शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो जाने पर जीव पर्याप्तक माना जाता है। सभी पर्याप्तियों का प्रारम्भ एक साथ होता है किन्तु पूर्णता क्रम से होती जाती है।

दश प्राणाः ॥२८॥

अर्थ—प्राण १० होते है।

पंचिवि इंदियपाणामणवचिकाएसु तिण्णि बलपाणा
आणापाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दसपाणा ॥२३॥
इंदियकायाऊणिय पुण्णापुण्णेसु पुण्णगे आणा।
बीइंदियादिपुण्णे बचोमणो सण्णिपुण्णेव ॥२४॥
दस सण्णीणं पाणा सेसागूणंतिमस्स वेऊणा।
पज्जत्तेसिदरेसु य सत्त दुगे सेसगेगूणा ॥२५॥

यानी—स्पर्शन, रसन, घ्राण, नेत्र, कर्ण ये पांच इन्द्रियां, मनबल, वचन बल, काय बल, श्वासोश्वास और आयु ये १० प्राण होते हैं। इद्रिय, काय और आयु ये तीन प्राण सभी पर्याप्त, अपर्याप्त जीवों के होते हैं, श्वासोश्वास पर्याप्त जीव के ही होता है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के १०प्राण होते हैं, असंज्ञी पंचेन्द्रिय

के मन के बिना ९ प्राण होते हैं। चार इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और दो इन्द्रिय जीवों के क्रम से एक-एक इन्द्रिय कम होते जाने से ८, ७, ६ प्राण होते हैं। एकेन्द्रिय जीवके रसना इन्द्रिय और वचन बल न होनेसे चार प्राण ही होते हैं। अपर्याप्तक संज्ञी असंज्ञी पंचेन्द्रिय के मन बल, वचन बल और श्वासोश्वास के बिना शेष ७ प्राण होते हैं। शेष चार इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, एकेन्द्रिय जोवों के एक-एक इन्द्रिय कम होते जाने से क्रम से ६-५-४-३ प्राण होते हैं।

चतुरस्त्रः सञ्ज्ञाः ॥२९॥

अर्थ—जिनसे व्याकुल होकर जीव दोनों भवों में दुख पाते हैं उन्हें संज्ञा कहते हैं। संज्ञा ४ हैं—१ आहार (भोजन करने की इच्छा) २ भय, ३ मैथुन (काम वासना) ४ सांसारिक पदार्थों से ममता रूप परिग्रह।

णट्ठपमाए पढमा सण्णा णहि तत्थ कारणभावा।
सेसा कम्मत्थित्ते णुवयारेणत्थि णहि कज्जे ॥२६॥

यानी—असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा से होने वाली आहार संज्ञा छठे गुणस्थान तक होती है, उसके आगे अप्रमत्त आदि गुणस्थानों में आहार संज्ञा नहीं होती। शेष तीन संज्ञाएं वहां उनके कारण-भूत कर्मों की सत्ता होने से उपचार से मानी गई हैं, कार्यरूप नहीं होती हैं, अन्यथा उन अप्रमत्तादि गुण-स्थानों में शुक्लध्यान नहीं हो सकता।

गतिश्चतुर्विधा ॥३०॥

अर्थ—गति चार प्रकार की है—१ नरकगति, २ तिर्यञ्च गति, ३ मनुष्य गति और ४ देव गति।

गति नाम कर्म के उदय से होने वाली पर्याय को तथा चारों गतियों में गमन करने के कारण को **गति** कहते हैं। जीव एक शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर में गति नाम कर्मके उदय से जाता है, वहां पहुंचने पर गति नाम कर्म आत्मा को उस पर्याय रूपमें रखता है।

पंचेन्द्रियाणि ॥३१॥

अर्थ—इन्द्रिय पांच हैं—१ स्पर्शन (चमड़ा त्वचा), २ रसना (जीभ), ३ घ्राण (नाक), ४ नेत्र (आंख) और ५ कर्ण (कान)।

आत्मा जिसके द्वारा मतिज्ञान से जानता है या जो आत्मा के चिन्ह हैं (इन्द्रः आत्मा, तस्य लिंगं-चिन्हं-इन्द्रियम्) उसे इन्द्रिय कहते हैं। शरीरमें जो आंख नाक कान जीभ आदि हैं वह द्रव्येन्द्रिय हैं, उन स्थानों पर जो जानने की शक्ति है वह भाव-इन्द्रिय है।

स्पर्शन इन्द्रिय अपने-अपने शरीर के आकार होती है उससे हलका, भारी, रूखा, चिकना, कड़ा, नर्म, ठंडा, गर्म ये ८ तरह के स्पर्श जाने जाते हैं।

रसना इन्द्रिय से खट्टा, मीठा, कड़वा, कषायला, चर्परा ये पांच रस जाने जाते हैं उसका आकार खुरपा के समान है।

घ्राण इन्द्रिय से सुगन्ध दुर्गन्ध का ज्ञान होता है इसका आकार तिल के फूलके समान है।

चक्षु इन्द्रिय से काला पीला नीला लाल सफेद तथा मिश्रित रंगों का ज्ञान होता है इसका आकार मसूर की दाल के समान है।

कर्ण इन्द्रिय से अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक शब्द सुने जाते हैं इसका आकार गेहूँ की नाली के समान है।

षड् जीवनिकायाः ॥३२॥

अर्थ—संसारी जीव छह निकाय (समुदाय) रूप हैं-१ पृथ्वी कायिक, २ जलकायिक, ३ अग्निकायिक, ४ वायुकायिक, ५ वनस्पतिकायिक और ६ त्रस काय।

पृथ्वी रूप शरीर वाले पृथ्वीकायिक जीव हैं जैसे पर्वत आदि, खनिज पदार्थ (सोना चांदी आदि) पृथ्वीकायिक हैं। इनका आकार मसूर की दाल के समान है।

जलरूप शरीर वाले जलकायिक जीव हैं जैसे जल, ओले, बर्फ आदि। इनका आकार जल की बूंद के समान है।

अग्नि रूप शरीर वाले जीव अग्निकायिक होते हैं। जैसे आग, बिजली आदि इनका आकार खड़ी हुई सुइयों के समान है।

वायु रूप जीव वायुकायिक हैं जैसे हवा। इसका आकार ध्वजा के समान है।

वनस्पति रूप शरीर जिनका होता है वे वनस्पतिकायिक हैं जैसे पेड़-पौधे, बेल आदि। इनके आकार अनेक प्रकार के हैं।

दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक जीव त्रस होते हैं।

एकेन्द्रिय जीवों में सबसे बड़ी अवगाहना कमल की है जो कि एक हजार योजन का है। दो इन्द्रिय जीवों में बारह योजन का शंख, तीन इन्द्रियों में तीन कोश की ग्रैष्मी (चींटी), चार इन्द्रियों में एक योजन का भौंरा और पंचेन्द्रियों एक हजार योजन का स्वयम्भूरमण समुद्रवर्ती राघव मत्स्य सबसे बड़ी

अवगाहनावाला है। ये उत्कृष्ट अवगाहना वाले पहले चार जीव स्वयम्भूरमण [अंतिम] द्वीप में होते हैं।

किन्हीं आचार्य के मतसे पृथ्वीकायिक वनस्पतिकायिक तथा विकलत्रय जीवों के सासादन गुण-स्थान भी होता है। सासादन गुणस्थान में भी मरण होता है।

त्रिविधो योगः ॥३३॥

अर्थ-मन वचन तथा शरीर की क्रिया से जो आत्मा में हलन-चलन होती है जिससे कि कार्माण वर्गणाओं का आकर्षण [आस्रव] होता है वह योग है, उसके तीन भेद हैं—१ मन, २ वचन, ३ काय।

मनयोग के ४ भेद हैं—१ सत्य, २ असत्य, ३ उभय [सत्य असत्य मिश्रित रूप] ४ अनुभय [जिसे न सत्य कह सकें, न असत्य]।

वचन योग भी चार प्रकार का है—१ सत्य, २ असत्य, ३ उभय, ४ अनुभय।

काय योग [शारीरिक योग] ७ प्रकार हैं—१ औदारिक [मनुष्य पशुओं का शरीर], २ औदारिक मिश्र [अधूरा-अपर्याप्त औदारिक शरीर] ३ वैक्रियिक [देव नारकी शरीर] ४ वैक्रियिक मिश्र [अधूरा वैक्रियिक शरीर], ५ आहारक [आहारक ऋद्धिधारक मुनि के मस्तक से प्रगट होने वाला शरीर] ६ आहारक मिश्र [अपर्याप्त आहारक शरीर] ७ कार्माण काययोग [विग्रह गति में]। इस तरह योग के १५ भेद हैं।

पंचदशविधाः ॥३४॥

अर्थ-योग १५ तरह के हैं। सत्य मन, असत्य मन, उभयमन, अनुभय मन, ऐसे मनोयोग के चार भेद है। सत्य वचन, असत्य वचन, सत्यासत्य वचन, और अनुभय ये वचन के चार भेद है। औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र, और कार्माण काययोग ये काय योग के सात भेद हैं। ये सब मिलकर १५ योग होते हैं। इनमें असत्य उभय वचन सैनी पचेन्द्रिय पर्याप्तक के मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर क्षीण-कषाय पर्यन्त होते हैं। सत्य मन, सत्य वचन, अनुभय मन अनुभव वचन संज्ञो पर्याप्तक से लेकर सयोग केवली तक होता है। औदारिक काय योग स्थावर काय से लेकर सयोग केवलो तक होता है। औदारिक मिश्र योग मिथ्यादृष्टि, सासादन पुंवेद, असंयत, कपाट सयोगी इन चार गुणस्थानों में होता है। वैक्रियिक में पहले चार गुणस्थान, वैक्रियिक मिश्र में तीन (मिश्र

के सिवाय पहल चार) गुणस्थान होते हैं। आहारक तथा आहारक मिश्र के अन्तर्मुहूर्त्त काल प्रमत्त गुणस्थान होता है। कार्माणयोग के औदारिक मिश्र के समान चार गुणस्थान होते हैं।

वेदस्त्रिविधः ॥३५॥

पुंवेद, स्त्री वेद तथा नपुंसक वेद ये तीन प्रकार के वेद होते हैं।

नवविधो वा ॥३६॥

१—द्रव्य पुरुष-भाव पुरुष, २—द्रव्य पुरुष-भाव स्त्री, ३—द्रव्य पुरुष-भाव नपुंसक, ४—द्रव्य स्त्री-भाव स्त्री, ५—द्रव्य स्त्री-भाव पुरुष, ६—द्रव्य स्त्री-भाव नपुंसक, ७—द्रव्य नपुंसकभाव-नपुंसक, ८—द्रव्य नपुंसक भाव-पुरुष तथा ९ वां द्रव्य नपुंसक भाव स्त्री ये ९ भेद होते हैं। इनमें से प्रथम के तीन भेद वाले को कर्म क्षय की अपेक्षा से घटित करना चाहिए।

पुरिसिच्छिसण्ढवेदोदयेन पुरिसिच्छिसंण्ढओ भावे।
णामोदयेन सव्वे पायेण समा कहिं विसमा॥
वेद्यतेइति वेदः, अथवा आत्मप्रवृत्तेः संमोहात्पादो वेदः।
आत्मप्रवृत्तेणधुदुवन सम्मोहोत्पादो वेदः॥

घास की अग्नि के समान पुंवेद है, उपले (कंडे) की अग्नि के समान स्त्री वेद है तथा तपी हुई ईंटों के भट्टे की आग के समान नपुंसक वेद है। नारकी तथा सम्मूर्छन जीवों के नपुंसक वेद होता है। देवों में नपुंसक नहीं होते। शेष सब जीवों में तीनों वेद होते हैं और मिथ्यात्व गुणस्थान से अनिवृत्ति करण गुणस्थान तक वेद रहता है।

चतुःकषायाः ॥३७॥

क्रोध, मान, माया तथा लोभ ये चार प्रकार के कषाय होते हैं। और विशेष के भेद से अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया लोभ ये १६ कषाय होते हैं।

सम्मत्तदेससयलचरित्त जहखादचरणपरिणामे।
घादंति वा कसाया चउसोल असंखलोगमिदा॥२८॥
सिलभूमिक उदरेखा सिल अत्थिदारुलता दवस्सेमे।
सस्सलेयणि मुत्तिलक्ख कुसुंभ हरिद्दसमा॥२९॥

यानी—अनन्तानुबन्धी कषाय स्वरूपाचरण चारित्र तथा सम्यक्त्व का,

अप्रत्याख्यानावरण देश चारित्र का, प्रत्याख्यानावरण सकल चारित्र का और संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्र का घात करता है। तीव्र मन्द मध्यम आदि भेदों से कषायों के असंख्यात भेद हैं। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान आदि का क्रोध क्रम से पत्थर की रेखा समान, पृथ्वी की रेखा समान, धूल की रेखा समान और पानी की रेखा समान है। अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायों का मान क्रम से पत्थर, हड्डी, लकड़ी तथा बेंत के समान है। चारों कषायों की माया क्रम से बांस की जड़ के समान, मेंढे के सींग के समान, गाय के मूत्र समान तथा खुरपे के समान है। अनन्तानुबन्धी आदि का लोभ क्रम से मजीठ के रंग समान, गाड़ी के पहिये के मैल (ओंगन) के समान, कुसुम के रंग समान तथा हल्दी के रंग के समान होता है।

अष्टज्ञानानि ॥३८॥

मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान तथा मनः पर्ययज्ञान ये चार ज्ञान क्षोयपशम के निमित्त से होते हैं। केवल ज्ञान ज्ञानावरण के क्षय से होता है। ये पांचों ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं। कुमति कुश्रुत और विभंग ये तीन ज्ञान अज्ञान कहलाते हैं। इस प्रकार ज्ञान मार्गणा के आठ भेद होते हैं सैनीपंचेन्द्रिय पर्याप्त को विभंग ज्ञान मिथ्यात्व तथा सासादन गुणस्थान में होता है।

मिश्र गुणस्थान में सत्ज्ञान अज्ञान मिश्रितरूप में तीन ज्ञान होते हैं। मति श्रुत तथा अवधिज्ञान असंयत सम्यग्दृष्टि को होता है। मनःपर्यय ज्ञान प्रमत्त-संयत से क्षीण कषाय गुणस्थान तक होता है।

केवल ज्ञान केवली तथा सिद्ध भगवान में होता है।

सप्त संयमाः ॥३९॥

१ सामायिक, २ छेदोपस्थापना, ३ परिहार विशुद्धि, ४ सूक्ष्मसांपराय, ५ यथाख्यात, ६ देशसंयत ७ असंयम ये संयम सात प्रकार के हैं।

किस कषाय से कौन सा संयम होता है सो बतलाते हैं—बादर संज्वलन कषाय के उदय से पहले के तीन बादर संयम होते हैं। सूक्ष्म संज्वलन लोभ से सूक्ष्म साम्पराय संयम होता है। समस्त मोहनीय कर्म के उपशम तथा क्षय से यथाख्यात संयम होता है।

समस्त सावद्य योग का एक देश रूप से त्याग करना सामायिक चारित्र है। सामायिक चारित्र से डिगने पर प्रायश्चित्त के द्वारा सावद्य व्यापार में लगे हुए दोषों को छेद कर पुनः संयम धारण करना छेदोपस्थापना नामक चारित्र है। अथवा समस्त सावद्य योग का भेद रूप से त्याग करना छेदोपस्थापना चारित्र

है। अर्थात् मैंने समस्त पाप कार्यों का त्याग किया यह सामायिक चारित्र रूप है और मैंने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह का त्याग किया वह छेदोपस्थानाचारित्र का रूप है। जिस चारित्र में प्राणी हिंसा की पूर्ण निवृत्ति होने से विशिष्ट विशुद्धि पायी जाती है उसे परिहार विशुद्धि कहते हैं। जिसने अपने जन्म से तीस वर्ष की अवस्था तक सुख पूर्वक जीवन बिताया हो और फिर जिन दीक्षा लेकर आठ वर्ष तक तीर्थंकर के निकट प्रत्याख्यान नाम के नौवें पूर्व को पढ़ा हो। उस महामुनि को परिहार विशुद्धि चारित्र होता है। उसके शरीर से किसी जीव को बाधा नहीं होती, अतः वह वर्षा काल में भी गमन कर सकता है रात को गमन नहीं करता। संध्या काल को छोड़कर दो कोस गमन करता है।

इस चारित्र वाले के शरीर से जीवों का घात नहीं होता इसी से इसका नाम परिहारविशुद्धि है। अत्यन्त सूक्ष्म कषाय के होने से सांपराय नाम के दशवें गुणस्थान में जो चारित्र होता है उसे सूक्ष्म साम्पराय चारित्र कहते हैं। समस्त मोहनीय कर्म के उपशम से अथवा क्षय से जैसा आत्मा का निर्विकार स्वभाव है वैसा ही स्वभाव हो जाना यथाख्यात चारित्र है। इस चारित्र को अथाख्यात भी कहते हैं 'अथ' शब्द का अर्थ अनन्तर है। यह समस्त मोहनीय के क्षय अथवा उपशम होने के अनन्तर होता है अतः इसका नाम अथाख्यात है तथा इसे तथाख्यात भी कहते हैं क्योंकि जैसा आत्मा का स्वभाव है वैसा ही इस चारित्र का स्वरूप है।

चत्वारि दर्शनानि ॥४०॥

सामान्य विशेषात्मक वस्तु के सामान्य रूप को विकल्प-रहित होकर ज्ञान से पहले प्रतिभास करने को दर्शन कहते हैं। इसके चक्षु दर्शन और अचक्षु दर्शन अवधिदर्शन केवल दर्शन ऐसे चार भेद हैं।

१ चक्षुरिंद्रिय मतिज्ञान के पहले होनेवाला चक्षु दर्शन, २ शेष इन्द्रिय मतिज्ञान से पहले होनेवाला अचक्षु दर्शन है, ३ अवधिज्ञान से पहले उत्पन्न होनेवाला अवधिक दर्शन कहते हैं। जैसे सूर्य निकलते ही सम्पूर्ण वस्तु एक साथ दीखने लगती हैं उसी तरह केवल दर्शनावरण कर्म का सम्पूर्ण क्षय होने के कारण सम्पूर्ण पदार्थ एक साथ प्रतिभासित होना केवल दर्शन है। दर्शनोपयोग का काल अन्तर्मुहूर्त होता है। यह क्रम से छद्मस्थों में और युगपत् अर्हंत भगवान और सिद्ध भगवान में होता है।

चक्षु दर्शन के स्वामी चौन्द्रिय पंचेन्द्रिय हैं, अचक्षु इन्द्रिय के स्वामी

एकेन्द्रिय, से पंचेन्द्रियतक अवधि दर्शन के स्वामी असंयत सम्यग्दृष्टि से क्षीण-कषाय तक होते हैं। और केवल दर्शन जिन तथा सिद्ध के होता है।

षड्लेश्याः ॥४१॥

लेश्या—कषाय के उदय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। वह अपनी आत्मा को पुण्य, पाप, प्रकृति, प्रदेश, स्थिति तथा अनुभाग बन्ध का कारण है। इस प्रकार की यह लेश्या छः तरह की होती हैं उसके क्रमशः कृष्ण नील, कापोत, पीत, पद्म तथा शुक्ल भेद होते हैं। इसमें की पहली तीन लेश्यायें अशुभ तथा नरक गति की कारण भूत हैं, किन्तु शेष तीन देव गति की कारण हैं। उनका लक्षण इस प्रकार है —

भौंरे के समान काला, नील के समान, कबूतर के समान, स्वर्ण के समान लाल कमल के समान और शंख के समान क्रम से कृष्ण, नील, कापोत, पति पद्म शुक्ल लेश्या के शारीरिक रंग होते हैं इस प्रकार लेश्या छः हैं। इनके प्रत्येक में असंख्यात व संख्यात विकल्प होते है। इस प्रकार की द्रव्य लेश्या व भाव लेश्याओं से जो रहित हैं वे मुक्त कहलाते हैं।

लेश्याओं के २६ अंश होते हैं। उनमें से मध्य के ८ अंश आयु बन्ध के कारण हैं, शेष १८ अंश चारों गतियों में गमन के कारण हैं।

कृष्ण, नील कापोत ये तीन अशुभ लेश्याएँ हैं इनमें से प्रत्येक के उत्तम मध्यम जघन्य तीन तीन भेद होते हैं। पीत पद्म शुक्ल लेश्या शुभ है इनमें से भी प्रत्येक के उत्तम मध्यम जघन्य तीन तीन भेद है, सब मिलकर १८ भेद हैं।

इनमें से शुक्ल लेश्या के उत्तम अंश के साथ मरकर जीव सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न होता है, जघन्य अंश सहित रहनेवाला शतार सहस्रार विमान में उत्पन्न होता है। मध्यम अंशों से मरने वाला सर्वार्थसिद्धि और शतार सहस्रार के बीच क विमानों में जन्म लेता है।

पद्म लेश्या के उत्कृष्ट अंश से सहस्रार स्वर्ग में और जघन्य अंश के साथ मरकर सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग में तथा मध्यम अंश के साथ मरा जीव सहस्रार सानत्कुमार माहेन्द्र के बीच के स्वर्गों में जाता है।

पीत लेश्या के अंश के साथ मरकर सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग के अंतिम हलेके श्रेणीबद्ध विमानों में, या इन्द्रक विमान में, जघन्य अंश के साथ मरा हुआ जीव सौधर्म ऐशान स्वर्ग के ऋतु नामक इन्द्रक विमान या तत्सम्बन्धी श्रेणीबद्ध विमान में जन्म लेता है। मध्यम अंश से मरकर दोनों के बीच में उत्पन्न होता है।

कृष्ण लेश्या के उत्कृष्ट अंश से सातवें नरक के अवधि स्थान नामक इन्द्रक विल में, जघन्य अंश से पांचवें नरक के तिमिश्र विलमें, मध्यम अंश से मरा हुआ बीच के नरकों में उत्पन्न होता है।

नील लेश्या के उत्कृष्ट अंश से पांचवें नरक के अन्ध्र नामक इन्द्रक विल में, जघन्य अंश से मरकर तीसरे नरक के अन्तिम पटल के संप्रज्वलित इन्द्रक विल में और मध्यम अंश से बीच के नरकों में उत्पन्न होता है।

कापोत लेश्या के उत्कृष्ट अंश से मरा हुआ जीव तीसरे नरक के द्विचरम पटल संज्वलित इन्द्रक विल में, जघन्य अंश से मरकर पहले नरक के सीमन्त इन्द्रक विल में और मध्यम अंशों से मरा हुआ जीव इनके बीच के नरक स्थानों मे उत्पन्न होता है।

इसके सिवाय अशुभ लेश्याओं के मध्यम अंश के साथ मरे हुए जीव पूर्वबद्ध आयु अनुसार कर्मभूमिज मिथ्यादृष्टि मनुष्य तिर्यञ्च होते हैं। पीत लेश्या के मध्यम अंश पूर्वबद्ध आयु अनुसार भोग-भूमिज मिथ्यादृष्टि मनुष्य तिर्यञ्च तथा भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी देव होते हैं। कृष्ण नील कापोत पीत लेश्या के मध्यम अंशों से मरे हुए जीव मनुष्य तिर्यञ्च भवनत्रिक सौ-धर्म ऐशान के मिथ्यादृष्टि देव होते हैं। कृष्ण नील कापोत के मध्यम अंशों से मरने वाले तिर्यंच, मनुष्य, अग्निकायिक, वायुकायिक, साधारण वनस्पति विकलत्रय में से किसी में उत्पन्न होते हैं।

अयदोत्ति छलेस्साओ सुहतियलेस्सा हु देशविरदत्ति।
एतत्तो सुक्कलेस्सा अजोगिणं अलेस्सं तु।३०।

द्विविधं भव्यत्वं ॥४२॥

भव्य और अभव्य ये भव्य मार्गणा के दो भेद हैं। उसमें सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र प्राप्त करके अनन्त चतुष्टय स्वरूप में परिणमन करने योग्य भव्य जीव होते हैं। सम्यक्त्वादि सामग्री को न प्राप्त करके मोक्ष न जाने योग्य अभव्य जीव होते हैं। स्थावर काय से लेकर अयोगी केवली तक १४ गुण-स्थानों में भव्य होते है। अभव्य मिथ्या-दृष्टि गुण-स्थानी होते हैं। सिद्ध भगवान में भव्य और अभव्य की कल्पना नहीं है।

षड्विधा सम्यक्त्वमार्गणा ॥४३॥

उपशम, वेदक और क्षायिक ऐसे तीन तथा मिथ्यात्व, सासादन एवं मिश्र ये तीन प्रतिपक्षी मिलकर सम्यक्त्व मार्गणा के छह भेद होते हैं। औप-शमिक सम्यक्त्व के उत्पत्ति निमित्त से प्रथम उपशम व द्वितीय उपशम ये दो भेद

होते हैं। उसमें मिथ्यादृष्टि को उत्पन्न होने वाला प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन है तथा वेदक सम्यग्दृष्टि को होनेवाला सम्यग्दर्शन द्वितीयोपशमिक है, किसी आचार्य के मत से उपशम श्रेणी चढ़नेवाले का उपशम सम्यक्त्व द्वितीय उपशम होता है, शेष प्रथम उपशम।

वह सम्यक्त्व कहां-कहां होता है, सो बतलाते हैं :—

मिथ्यादृष्टि भव्य संज्ञी पर्याप्तक गर्भज जीव लब्धि चतुष्टय इत्यादि सामग्री को प्राप्त करने के बाद त्रिकरण लब्धि को प्राप्त करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व को धारण करता है। और उसी समय अणुव्रत से युक्त होकर महाव्रत को धारण कर सकता है। भोगभूमिज, देव और नारकी को एक ही सम्यक्त्व होता है। तिर्यञ्च भी सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। कर्मभूमि के मनुष्य को दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय होने के कारण क्षायिक सम्यग्दर्शन भी होता है। क्षायिक सम्यक्त्वी जन्म-मरण के अधीन नहीं होते, अधिक से अधिक तीन भव धारण कर मुक्त हो जाते हैं। उपशम सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त होती है। और उपशम भाववाला जीव उपशम सम्यक्त्व के काल में अनन्तानुबन्धी चारों कषायों में से किसी एक के उदय में आते ही सम्यक्त्व रूपी शिखर से पतित होकर मिथ्यात्वरूपी भूमि को जबतक प्राप्त नहीं होता है। उस अन्तरालवर्ती समय में उसको सासादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं। उसका जघन्य काल एक समय होता है और उत्कृष्ट काल छह आवली प्रमाण होता है। तत्पश्चात् यंत्र में डाले हुए तार के समान दर्शन मोहनीय कर्म में से मिथ्यात्व का उदय होता है तब वह मिथ्यात्व को प्राप्त होता है उसमें वह जघन्य से अन्तर्मुहूर्त्त तक रहकर गुणान्तर को प्राप्त होता है। और उत्कृष्ट से अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल तक संसार सागर में परिभ्रमण किया करता है। दुर्गति को लेजाने का मूल कारण केवल मिथ्यात्व होता है। पुनः सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त होते हुए उसमें रहने के पश्चात् मिथ्या दृष्टि अथवा असंयत सम्यग्दृष्टि होते हैं। सम्यग्मिथ्यात्व मिश्रित श्रद्धान भाव होता है। इस गुणस्थान में मरण नहीं होता।

सम्यक् प्रकृति के उदय होने केबाद गंदे पानी में फिटकरी मिलनेसे जैसे कुछ मैल नीचे बैठ जाता है उसी प्रकार सम्यक् प्रकृति के उदय के कारण चल, मलिन तथा अगाढ़ परिणाम रूप वेदक सम्यग्दृष्टि होता है। यह क्षयोपशम सम्यक्त्व जघन्य से अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट से ६६ सागरोपम है। तदनुसार इस सम्यक्त्व वाला देवगति और मनुष्य गति में जन्म लेकर अभ्युदय सुख का अनुभव करके ६६ सागरोपम काल प्रमित आयु व्यतीत करता है।

किस-किस कल्प में कितनी-कितनी आयु होती है सो कहते हैं:—
लान्तव कल्प में १४, अच्युतकल्प में २२, उपरिमग्रैवेयक में ३१ सागरोपम आयु है। पर फिर भी वेदक सम्यग्दृष्टि अपनी अपनी आयु में हीन होते हैं। इसके पश्चात् वेदक सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणी चढ़ने के योग्य होने के कारण पहले अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन करते हैं। पुनः अधःकरण अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण द्वारा दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियों को उपशम करते हुए द्वितीयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर लेते हैं, तब उपशम श्रेण्यारूढ़ होकर ग्यारहवें गुणस्थान में पहुंच जाते हैं परन्तु उनके कषाय फिर उदय हो जाते हैं अतः वे ग्यारहवें गुणस्थान से नीचे के १० वें ९ वें आठवें गुणस्थानों में क्रमशः आ जाते हैं। कोई कोई श्रेणीवाला आयु न होने के कारण लेश्या के वश मरण को भी प्राप्त होता है।

परिहार विशुद्धि, मनः पर्ययज्ञान, प्रथमोपशमक को नहीं होते, बल्कि द्वितीयोपशम में होता है। और दर्शन मोहनीय क्षपण का प्रारम्भ कर्म भूमि के मनुष्यों को चौथे असंयत गुणस्थान में होता है। वे तीर्थंकर के पादमूल में अथवा श्रुत केवली के पादमूल में रहकर अनन्तानुबन्धी तथा दर्शन-मोहनीय-त्रिक का क्षय करते हैं। सो इस प्रकार है :—

योग्य निर्वाण क्षेत्र, काल, भव, आयु इन सबके साथ-साथ शुभलेश्या की वृद्धि, कषाय की हानि इत्यादि युक्त होने के निमित्त से अनंतानुबन्धी को अप्रत्याख्यान प्रकृति रूप करते है फिर सम्यग्मिथ्यात्व पश्चात् सम्यक्त्व प्रकृति को निःशेष क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर सिद्ध भगवान तक रहता है। उपशम-सम्यक्त्व उपशांत कषाय गुणस्थान तक होता है। मिथ्यात्व, सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-मिश्र, सासादन सम्यक्त्व अपने अपने गुणस्थान में ही होते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जन उसी भव तक अथवा तीन भव तक अथवा ज्यादा से ज्यादा चार भव तक ही संसार में रह सकते हैं। उनकी संसार की अपेक्षा से स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट से उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त तथा आठ वर्ष कम दो कोटि पूर्व सहित ३३ सागरोपम होती है। सिद्ध भगवान के क्षायिक सम्यक्त्व का अन्त नहीं होता है। वेदक उपशम सम्यक्त्वी ज्यादा से ज्यादा अर्ध पुद्गल तक संसार निवास करता है।

देवस देव मणुवे सुरणर तिरिये चदुग्गदि।
पिकद करणिज्जुप्पत्ति कमसो अंत मुहुत्तेण ॥३१॥

दर्शन मोहनीय कर्म की तीन प्रकृति का क्षय करने के बाद सम्यक्त्व

प्रकृति को पूर्ण रूप से क्षय करके यदि आयु एक अन्तर्मुहूर्त शेष रहे तो देव गति में जाकर जन्म लेता है। दो अन्तर्मुहूर्त शेष हो तो देव और मनुष्य गति में उत्पन्न होता है। तीन अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर देव, मनुष्य तथा तिर्यग्गति में उत्पन्न होता है। चार अन्त मुहूर्त शेष रहने पर क्रमशः चतुर्गतियों में उत्पन्न होता है। यदि उसे वेदक सम्यक्त्व प्राप्त हो जाय तो अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्गल परावर्तन पर्यन्त संसार में रहता है।

द्विविधं संज्ञित्वम् ॥४४॥

अर्थ—संज्ञी और असंज्ञी, ये दो प्रकार के जीव होते हैं। इनमें मन सहित जीवों को संज्ञी और मन रहित जीवों को असंज्ञी कहते है। एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीव असंज्ञी होते हैं। पंचेन्द्रियों में देव नारकी और मनुष्य संज्ञी होते है।

शंका—मन का काम हिताहित की परीक्षा करके हित को ग्रहण करके अहित को छोड़ देना है, इसको संज्ञा कहते हैं। अतः जब संज्ञा और मन दोनों का एक ही अभिप्राय है तो संज्ञी और समनस्क का मतलब एक ही है तो फिर सूत्र में "संज्ञि" क्यों कहा ?

समाधान—संज्ञा शब्द के अनेक अर्थ हैं। संज्ञा नाम को भी कहते हैं। अत जितने नामवाले पदार्थ हैं वे सभी संज्ञी कहलायंगे। संज्ञा ज्ञान को भी कहते हैं और ज्ञान सभी जीवों में पाया जाता है, अतः सभी संज्ञी कहे जायँगे। भोजन इत्यादि की इच्छा का नाम भी संज्ञा है, जोकि सभी जीवों में पाई जाती है, अतः सभी संज्ञी हो जायँगे। इसलिए जिसके मन है उसी को संज्ञी कहना उचित है। दूसरे गर्भअवस्था में, मूर्च्छित अवस्था में, हित-अहित का विचार नहीं होता। अतः उस अवस्था में संज्ञी जीव भी असंज्ञी कहे जायँगे। किन्तु मन के होने से उस समय भी वे संज्ञी हैं, अतः संज्ञी समनस्क दोनों पदों को रखना ही उचित है।

एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक सभी जीव असंज्ञी हैं। संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त सभी जीव संज्ञी हैं और केवली भगवान समनस्क हैं, द्रव्य मन की अपेक्षा अमनस्क नहीं हैं।

आहारोपपयोगश्चेति ॥४५॥

आहार के दो भेद हैं। १—आहारक, २—अनाहारक।

औदारिक वैक्रियिक आहारक इन तीन शरीरों तथा ६ पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण करना आहार है। गर्म लोहे का गोला जैसे

पानी में रख देने से अपने चारों ओर के पानी को खींच लेता है, उसी प्रकार आत्मा अपने चारों ओर की नोकर्म पुद्गल वर्गणाओं को खींच लेता है। यही आहार कहलाता है। उस नोकर्म वर्गणा का आहार मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोग केवली भगवान तक होता है. कुछ लोग इसका अर्थ विपरीत समझकर सर्वज्ञ भगवान "कवलाहार करते हैं" ऐसा कहते हैं, सो गलत है। आहार के भेद बतलाते हैं:—

णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओजमणोवि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो ॥३२॥
णोकम्मकम्महारो जीवाणं होदि चउगइगयाणं।
कवलाहारो नरपसु रुक्खेसु य लेप्पमाहारो ॥३३॥
पक्खीणु ओजहारो अंडयमज्झेसु वड्ढमानाणं।
देवेसु मनोहारो चउविसाणट्ठिदी केवलिणो ॥३४॥
णोकम्मकम्महारो उदियारेण तस्स आयामे।
भणियानहु णिच्चयेन सो विहुलियए वापारो जम्हा ॥३५॥

अर्थ—आहार छह प्रकार का होता है--१—नोकर्म आहार, २—कर्माहार, ३—कवलाहार, ४—लेप्याहार, ५—ओजाहार, ६—मानसिक आहार। इनमें से नोकर्मआहार (शरीर के लिये नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण) तथा कर्माहार (कर्म का आस्रव) तो चारों गतियों के जीवों के होता है। कवलाहार (भूख मिटाने के लिए अन्न फल आदि का भोजन) मनुष्य और पशुओं के होता है। वृक्षों के लेप्याहार (जल मिट्टी का लेप रूप खाद) होता है। अण्डे में रहनेवाले पक्षी आदि का ओजाहार (अपनी माता के शरीर की गर्मी-सेना) होता है। देवों के मानसिक आहार (भूख लगने पर मन में भोजन करने का विचार करते ही गले में से अमृत झरता है और भूख शान्त हो जाती है) होता है।

अनाहारक (शरीर और पर्याप्तियों के लिए आहार वर्गणा ग्रहण न करने वाले जीव) कौन से होते हैं सो बतलाते हैं—

विग्गहगइमावण्णा केवलिणो समुग्घदो अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारया जीवा।

यानी—एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण करने के लिए जाने वाले विग्रहगति वाले चारों गति के जीव, प्रतर और लोकपूर्ण समुद्घात वाले केवली तथा सिद्ध परमेष्ठी अनाहारक होते हैं, शेष ग। जीव आहारक होते हैं।

उपयोगश्चेति ॥४७॥

अर्थ—उपयोग के भी १२ भेद हैं।

उवओगो दुवियप्पो दंसणणाणं च सणं चदुधा।
चक्खुअचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं ॥३७॥
णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुद ओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जय केवलमवि पच्चक्ख परोक्ख भेयंच ॥३८॥

यानी—उपयोग के मूल दो भेद हैं—दर्शन और ज्ञान। इनमें से दर्शन उपयोग के ४ भेद हैं—१—चक्षु दर्शन (नेत्रद्वारा होनेवाले ज्ञान से पहले पदार्थ को सत्तामात्र का प्रतिभास होना), २—अचक्षु दर्शन (नेत्र इन्द्रिय के सिवाय शेष चार इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञान के पहले पदार्थों की सत्तामात्र का प्रतिभास होना). अवधिदर्शन (अवधिज्ञान के पहले पदार्थों की सत्तामात्र का प्रतिभास होना), ४—केवल दर्शन (केवल ज्ञान के साथ-साथ त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थों की सत्तामात्र का प्रतिभास होना)।

ज्ञान उपयोग आठ प्रकार का है। १—मतिज्ञान, २—श्रुतज्ञान, ३—अवधिज्ञान, ४—कुमति, ५—कुश्रुत, ६—कुअवधि, ७—मनपर्यय, ८—केवल ज्ञान। इनमें से मति, श्रुत, कुमति, कुश्रुत ये ४ ज्ञान परोक्ष हैं क्योंकि इन्द्रिय मन आदि के सहारे से होते है—अस्पष्ट होते है। अवधि, कुअवधि और मनपर्यय ज्ञान एक देश प्रत्यक्ष है और केवल ज्ञान पूर्ण प्रत्यक्ष है।

पहले गुणस्थान में कुमति, कुश्रुत, कुअवधि (विभंग अवधि) ज्ञान, चक्षु, अचक्षु दर्शन ये पांच उपयोग होते हैं। मिश्र गुणस्थान में मिश्रित पहले तीनों ज्ञान उपयोग होते हैं। चौथे पांचवें गुणस्थान में मति, श्रुत, अवधिज्ञान, चक्षु, अचक्षु, अवधिदर्शन ये ६ उपयोग होते है। छठे गुणस्थान से १२वें गुणस्थान तक केवल ज्ञान के सिवाय ४ ज्ञान और केवल दर्शन के सिवाय ३ दर्शन ये ७ उपयोग होते है। १३वें, १४वें गुणस्थान मे केवल ज्ञान, केवल दर्शन ये २ उपयोग होते हैं।

इनमें से केवल ज्ञान केवल दर्शन साक्षात् उपादेय है।

गुणजीवापज्जत्ती पाणा सण्णागइंदिया काया।
जोगावेदकसाया णाणजमा दंसणालेस्सा ॥३९
भव्वा सम्मत्ताविय सण्णी आहारगाय उवजोगा।
जोग्गा परूविदव्वा ओघादेसेसु समुदायं ॥४०॥

यानी—गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, संज्ञा, गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी, आहार, उपयोग इनको यथायोग्य गुणस्थानों तथा मार्गणाओं में प्ररूपण करना चाहिए।

पुद्गलाकाशकालद्रव्यास्रवाश्च प्रत्येकं द्विविधाः ॥४८॥

अर्थ—पुद्गल, आकाश, कालद्रव्य, और आस्रव प्रत्येक दो दो प्रकार के हैं। पूरण और गलन स्वभाव वाला पुद्गल द्रव्य है इसके परमाणु और स्कन्ध ये दो भेद हैं। पुद्गल का सबसे छोटा टुकड़ा (जिसका और टुकड़ा न हो सके) परमाणु है। परमाणु में कोई एक रस, कोई एक गन्ध, कोई एक रंग और रूखा, चिकना में से एक तथा ठंडा, गर्म में से एक, इस तरह दो स्पर्श ये पांच गुण होते है। अनेक परमाणुओं का मिला हुआ पिण्ड 'स्कन्ध' कहलाता है।

कहा भी है-

एयरसवण्णगंधा दो फासा खंध कारणमखंधं।
खंधतरिदं दव्वे परमाणु तं वियाणाहि

यानी—एक रस, एक वर्ण, एक गंध, दो स्पर्श वाला परमाणु होता है वह स्वयं स्कन्ध नही है किन्तु स्कन्ध का मूल कारण है।

दो परमाणुओं का स्कन्ध द्वि-अणुक कहलाता है। अनन्त परमाणुओं का पिण्ड **अवसन्नासन्न** होता है। ८ अवसन्नासन्न का एक **सन्नासन**, ८ सन्नासन्न का एक **त्रसरेणु**, ८ त्रसरेणु का एक **रथरेणु**, ८ रथरेणु का एक उत्तमभोगभूमिज के बालका अग्रभाग, उन आठ बालाग्र भागों का एक मध्यम भोगभूमिजका एक बालाग्र भाग, उन ८ बालाग्र भागों का जघन्य भोगभूमिज का बालाग्र भाग, उन ८ बालाग्र भागों का एक कर्मभूमिज का बालाग्र भाग होता है। उन आठ बालाग्र भागों की एक लीख होती है, आठ लीखों की एक सरसों, ८ सरसो का एक जौ, ८ जो का एक उत्सेधांगुल होता है। जीवो के शरीर की ऊंचाई, देवों के नगर; मन्दिर आदि का परिमाण इसी अंगुल के अनुसार होता है। ५०० उत्सेधांगुल का एक प्रमाणांगुल (भरत क्षेत्र के प्रथम चक्रवर्ती का अंगुल) होता है। प्रमाणांगुल के अनुसार महापर्वत, नदी, द्वीप, समुद्र आदि का परिमाण बतलाया गया है। अपने अपने काल के अनुसार भरत ऐरावत क्षेत्र के मनुष्यों का जो अंगुल होता है, उसे आत्मांगुल कहते हैं। इस अंगुल से झारी, कलश, धनुष, ढोल, छत्र आदि का परिमाण बतलाया जाता है। ६ अंगुल का एक पाद, २ पाद की एक बालिस्त, २ बालिस्त का एक हाथ, ४ हाथ

का एक धनुष, २००० धनुष का एक कोश, और ४ कोश का एक योजन होता है। २००० कोश का एक महायोजन होता है।

स्कन्ध के भेद—

स्कन्ध ६ प्रकार का है—बादर बादर, २—बादर, ३—बादर सूक्ष्म, ४—सूक्ष्मबादर, ५—सूक्ष्म, ६—सूक्ष्म सूक्ष्म।

जिन वस्तुओं के अलग अलग टुकड़े हो सकें जैसे लकड़ी, पत्थर आदि पार्थिव (पृथ्वी जन्य) पदार्थ बादर बादर है। जल, दूध आदि पदार्थ अलग करने पर भी जो फिर मिल जाते हैं वे बादर हैं। जो नेत्रों से दिखाई दे किन्तु जिसे पकड़ न सकें, जिसके टुकड़े न किये जा सकें, वे बादर सूक्ष्म हैं जैसे छाया। नेत्र के सिवाय चार इन्द्रियों के विषय, (रस, गन्ध, शब्द, वायु आदि का स्पर्श) जो दिखाई नहीं न दे सकें वे सूक्ष्म बादर हैं, जैसे शब्द, वायु, सुगन्ध दुर्गन्ध। जो स्कन्ध किसी भी इन्द्रिय से न जाने जा सकें वे सूक्ष्म हैं जैसे कार्माण स्कन्ध। परमाणु को सूक्ष्म सूक्ष्म कहते हैं।

परमाणु को सर्वावधिज्ञान तथा केवल ज्ञान जान सकता है। स्निग्ध (चिकना) तथा रूक्ष गुण के कारण परमाणुओं का परस्पर में बन्ध होकर स्कन्ध बनता है। बन्ध होनेवाले दो परमाणुओं में से एक में स्निग्ध या रूक्ष गुण के दो अविभाग प्रतिच्छेद अधिक होने चाहिए।

पुद्गल द्रव्य की १० पर्यायें होती हैं—१—शब्द, २—बन्ध, ३—सूक्ष्मता, ४—स्थूलता, ५—संस्थान (आकार), ६—भेद (टूटना टुकड़े होना), ७—अन्धकार, ८—छाया, ९—उद्योत (शीत प्रकाश) १०—आतप (उष्ण प्रकाश)।

आकाश के दो भेद हैं—१—लोकाकाश, २—अलोकाकाश।

आकाश के बीच में लोक ३४३ घनराजु प्रमाण, १४ राजु ऊंचा है, उत्तर से दक्षिण को सब जगह ७ राजु मोटा है, पूर्व से पश्चिम को नीचे ७ राजु चौड़ा, फिर घटते घटते ७ राजु की ऊंचाई पर एक राजु चौड़ा, उससे ऊपर क्रम से बढ़ते हुए साढ़े तीन राजु की ऊंचाई पर पांच राजु चौड़ा, फिर वहां से घटते हुए ३॥ राजु की ऊंचाई पर एक राजु चौड़ा रह गया है। नीचे के सात राजु में अधोलोक है। उसके ऊपर सुमेरु पर्वत की ऊंचाई (९९ हजार योजन) तक मध्य लोक है उसके ऊपर ऊर्ध्व लोक है। लोकाकाश में १४ राजु ऊंची, एक राजु लम्बी चौड़ी त्रस नाली या त्रस नाड़ी है, इसमें त्रस स्थावर जीव रहते हैं उससे बाहर केवल स्थावर जीव रहते हैं, त्रस जीव नहीं रहते। पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, जीव द्रव्य लोकाकाश में ही रहते हैं

(लोक्यन्ते जीवादयो यत्र स लोक:)। लोकाकाश के बाहर सब ओर अनन्त अलोकाकाश है। वहां आकाश के सिवाय अन्य कोई द्रव्य नहीं होता।

काल द्रव्य

निश्चयकाल और व्यवहार काल से काल के दो भेद हैं।

निश्चय काल-आदि मध्य अन्त से रहित यानी अनादि-अनन्त है। और अमूर्त, अवस्थित है, अगुरुलघु गुणवाला है। जीवादि पदार्थों की वर्तना का निमित्त कारण है। लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर एक एक कालाणु रत्न की राशि के समान रहता है। जो प्रदेश है वह परमाणु का क्षेत्र है। कालद्रव्य लोकाकाश के प्रदेश जितना है, उतना ही रहता है। उस परमार्थकाल के आश्रय से समय आवली उश्वास, स्तोक, लव, घड़ी, मुहूर्त, दिवस, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सरादि भेद से व्यवहार काल वर्तता है।

परमाणु लोकाकाश में अपने साथ वाले दूसरे प्रदेश पर मन्द गति से जितने काल में जाता है वह समय है। समय घंटा, घड़ी दिन इत्यादि व्यवहार काल है। असंख्यात समय की एक आवली, असंख्यात आवली का एक उच्छवास, सात उच्छवास से एक स्तोक होता है। सात स्तोक का एक लव, ३८॥ साढे अड़तीस लव की एक घड़ी, दो घड़ी का एक मुहूर्त, तीस मुहूर्त का एक दिन, पन्द्रह दिन का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतुओं का एक अयन, दो अयन का एक संवत्सर, पांच संवत्सर का एक युग, दो युग के दश वर्ष, इस प्रकार आगे आगे दश गुणे करते जायें तो १००, १०००, अयुत, लक्ष, प्रयुत, करोड़, अर्व, पद्म, खर्व, निखर्व, तथा महापद्म, शंख, समुद्र, मध्य, अंत्य, परमान्त्य, परम करोड़ ऐसी संख्या आती हैं। उससे आगे बढ़ते बढ़ते संख्यात, असंख्यात, और अनन्त होते हैं। वहां श्रुत केवली का विषय उत्कृष्ट संख्यात है, उससे ऊपर बढ़ते २ जो असंख्यात है वह अवधि ज्ञान विषय है। सर्वावधि ज्ञान के विषय से आगे अनन्त है। वह अनन्त प्रमाण केवल ज्ञान का विषय है। एकादांग, कुमुदांग, कुमुद, चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वाङ्ग और चौरासी लाख पूर्वाङ्ग का एक पूर्व होता है।

पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, कमलांग, कमल, त्रुट्यांग त्रुट्य, अटटांग, अटट, अममांग, अमम, हाहांग, हाहा, हू हू अंग, हू हू, लतांग, महालता इस प्रकार संख्यायें हैं। उपर्युक्त कही हुई संख्या को चौरासी लाख, के साथ अनुक्रम से गुणाकार करते जाने से भूत्पल भूत्पल राशियों को शीर्ष, प्रकंपित,

हस्तप्रहेलित, अचलात्मकत्व संज्ञा से कहा गया काल वर्ष गणना से संख्यात होता है। यह गणना प्रमाण संख्या है।

जो गणनातीत है वह पल्योपम आदि असंख्यात है। पल्योपम सागरोपम सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगतश्रेणी, लोकप्रतर, लोकपूरण ये आठ प्रमाण होते हैं। यह समस्त केवल प्रत्यक्ष ज्ञान गोचर हैं इनको कोई उपमा देने योग्य वस्तु न होने से उपमातीत कहा है। अथवा उपमा प्रमाण भी कहा है।

पल्यों का प्रमाण—

पल्य के तीन भेद हैं— १—व्यवहार पल्य, २—उद्धार पल्य, ३—अद्धापल्य।

प्रमाणांगुल के अनुसार एक योजन गहरा तथा एक योजन लम्बा चौड़ा गोल एक खड्डा खोदा जावे, फिर उत्तम भोगभूमि की भेड़ के ७ दिन के बच्चे के कोमल बाल काट कर, उनके इतने बारीक टुकड़े किये जावें कि उन का दूसरा टुकड़ा न हो सके, उन रोम खंडों (बालों के बारीक टुकड़ो) से उस खाड़े को अच्छी तरह ठूंस कर भर दिया जावे। फिर प्रत्येक रोम खंड को १००-१०० वर्ष पीछे उस गड्ढे में से निकाला जावे, जितने समय में वह गड्ढा खाली हो जावे उतने समय को **व्यवहार पल्य** कहते हैं।

यदि उन रोम खंडों को उस गड्ढे मे फिर भर दें और प्रत्येक रोमखंड को असंख्यात कोटि वर्ष पीछे निकालते जावें तो वह खड्डा जितने समय मे खाली हो जावे उतने समय को **उद्धार पल्य** कहते है। उद्धार पल्य के समयों को २५ कोड़ा कोड़ी (करोड़ × करोड़ = कोड़ा कोड़ी) से गुणा करने पर जितने समय आवें उतने द्वीप सागर मध्य लोक में है।

उद्धार पल्य के समयों को असंख्यात वर्ष के समयो से गुणा करने पर जितने समय आवें उतना एक **अद्धा पल्य** होता है। कर्मों की स्थिति इसी अद्धा पल्य के अनुसार होती है।

दश कोड़ा कोड़ी व्यवहार पल्यों का एक व्यवहार सागर होता है। दश कोड़ा कोड़ी उद्धार पल्यों का एक उद्धार सागर होता है। दश कोड़ा कोड़ी अद्धा पल्यों का एक अद्धा सागर होता है।

अद्धापल्य की अर्द्धच्छेद राशिका विरलन करके प्रत्येक पर अद्धापल्य रख कर सब का परस्पर गुणा करने से जो राशि होती है उसे **सूच्यंगुल** कहते हैं। सूच्यंगुल के वर्ग को **प्रतरांगुल** कहते हैं। सूच्यंगुल को तीन वार गुणा करने से जो राशि आवे वह **घनांगुल** है। पल्यकी अर्द्धच्छेद राशि के असंख्यातवें

भाग का विरलन करके प्रत्येक के ऊपर घनांगुल रखकर परस्पर गुणा करने से जो राशि आवे वह जगत्श्रेणी है। जगत्श्रेणी का सातवां भाग राजू है। जगत्श्रेणी का जगत्श्रेणी से गुणा करने पर जगत्प्रतर होता है। जगत्श्रेणी के घन को लोक कहते हैं। दश कोडा कोडी सागरों का एक उत्सर्पिणी काल होता है। अवसर्पिणी काल का भी उतना ही प्रमाण होता है। उन दोनों को मिलाने से कल्प नामक काल होता है।

बेदळखिळ भोगदायुव। कळेवरोछ्रोति वृद्धियुत्सर्पिणियोळ।
वलमुं भोगमुमायुं। कळेवरोछ्रोतियुमिळिगुमवसर्पिणीयोळ् ।१३।

आस्रव के दो भेद हैं—१ भावास्रव, २ द्रव्यास्रव।

जो शुभाशुभ परिणाम हैं वह भावास्रव है। उस भावास्रव के निमित्त से प्रति समय कार्माण स्कन्ध रूप समय-प्रबद्ध का आना द्रव्यास्रव है। इस द्रव्यास्रव को परिहार करने के लिये परम अत्यन्त सुखमूर्ति रूप निरास्रव सहजात्म-भावना को भाना चाहिए।

बंधहेतवः पंचविधाः ॥४८॥

अर्थ—पांच मिथ्यात्व, पांच अविरत, पंद्रह प्रमाद, चार कषाय, और ३ योग ये पांच भावास्रव के कारण हैं। स्त्री कथा, भोजन कथा, राष्ट्र कथा, अवनिपाल कथा ये चार विकथा, क्रोध आदि चार कषाय, स्पर्शनादि इन्द्रिय पांच, स्नेह, निद्रा ये पन्द्रह प्रमाद हैं।

विकथाश्च कषायाख्यस्नेहनिद्राश्चतुश्चतु:।
पंचकैकाक्षसंचारे प्रमादाशीतिबंधका: ।१७।

यानी—स्त्री कथा, भोजन कथा, अर्थ कथा, राज कथा, चोर कथा, वैर कथा, पर-पाखंडि कथा, देश कथा, भाषा कथा, गुण वध कथा, विकथा, निष्ठुर कथा, पैशून्य कथा, कंदर्प कथा, देश कालानुचित कथा, भंड कथा, मूर्ख कथा, आत्म-प्रशंसा कथा, पर-परिवाद कथा, पर जुगुप्सा कथा, पर पीड़ा कथा, भंड कथा कलह कथा, परिग्रह कथा, कृष्यादि व्यापार--कथा, संगीत कथा, वाद कथा, इस प्रकार पच्चीस विकथायें हैं। सोलह कषाय, हास्यादि नव नोकषाय इस प्रकार ये पच्चीस कषायें हैं। स्पर्शनादि छह इन्द्रिय, स्त्यानगृद्ध्यादि पांच निद्रा स्नेह मोह, प्रणय दो इस प्रकार ये सब मिलकर त्रेसठ प्रमाद होते हैं। उसके अक्ष-संचार से ३७५०० भेद होते हैं। अथवा पन्द्रह प्रमाद के अन्तर्भाव होकर चार भेद वाले होते हैं।

मिच्छत्तं अविरमणं कषायजोगा य आसवा होंति।

पणबारस पणवीसा पण्णरसा होंति तब्भेदो ।४१।

मिथ्यात्व के भेद—एकांत मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व, अज्ञान मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व ये पाँच मिथ्यात्व के भेद होते हैं। उसमें उत्पाद व्यय, ध्रौव्यात्मक जीव अजीवआदि,द्रव्य,शरीर इन्द्रिय आदि ये एक समय के बाद अनेक प्रकार से भिन्न भिन्न रूप में उत्पन्न होते हैं, इन सभी को नित्य ही कहना या इनको क्षणिक ही कहना, या किसी पात्र में या किसी भोजनादि में पड़े तो उसे पवित्र मानना इत्यादि एकांत पक्ष को लेकर मानने वाले बौद्धादिक के दुर्नया-भास,एकांत मिथ्यात्व है।

सदोष देव को सत्य देव कहना, बाल, उन्मत्त तथा पिशाच-गृहीत के समान आचरण करने वाले योगी के आचरण को ही योगीका लक्षण मानना तथा 'हिंसादिक से होने वाले पशु के मांस खाने में दोष नहीं है' कहना या इसको हिंसा नहीं मानना ये सभी विपरीत मिथ्यात्व है।

देव, राजा, माता, पिता, तपस्वी, शास्त्रज्ञ, वृद्ध बालक इत्यादि सभीको गुरुत्व भाव का भेद न करके सुवर्ण दान देकर इन सभी को समान भाव से अर्थात् गुरु की दृष्टि रखकर मन,वचन, और काय से विनय करना विनय मिथ्यात्व है।

बंध,मोक्ष, बंध कारण, मोक्ष कारण, ये संसार के कारण है या मोक्ष के कारण हैं इत्यादि शंका करना इसको संशय मिथ्यात्व कहते हैं।

अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर निर्जरा बंध मोक्ष ये नव पदार्थ इन सबको किसने देखा है, इस तरह अपने मन में मिथ्याविश्वास करके अपने माने हुए अज्ञान दर्शन को ही प्रमाण मानना इसका नाम अज्ञान मिथ्यात्व है।

एयंत बुद्धदरसी विवरीयो बम्हतावसो विणओ।

इंदोवि य संसइयोम क्कडियो चेव अण्णाणी ।४२।

अर्थ - बुद्ध दर्शन एकान्त, ब्राह्म विपरीत, तापारी विनय, इन्द्र संशय और मस्करी अज्ञान मिथ्यात्वी है।

षड् जीव निकाय-संयम, षड् इंद्रिय-संयम, ये संयम के १२ भेद होते और सोलह कषाय नौ नोकषाय, ये सभी मिलकर पच्चीस कषाय होते हैं। पन्द्रह प्रकार के योग होते हैं। ये सभी मिलकर ५७ भावास्रव होते हैं। अब ये किस २ गुणस्थान में होते हैं सो बतलाते है—

पणवण्णं पण्णासं तिदाल छादाल सत्ततिसाया।

चवुवीसदुबावीसा सोलस राणूणजावणव सत्ता ।४३।

पणवण्णं–५७ में आहारक के २ घटाने से मिथ्यादृष्टी में ५५ शेष रहते हैं। पणणासं—५ मिथ्यात्व के घटाने से सासादन में ५० शेष रहते हैं। तिदाल अनन्तानुबन्धी के ४ तथा औदारिकमिश्र,वैक्रियिक मिश्र, कार्माण योगत्रय इन सातों को घटाने से सम्यग्मिथ्यादृष्टि के ४३ शेष रहते हैं। पहले में घटाये हुए औदारिक मिश्र, वैक्रियिक मिश्र, कार्माण काय, ये योगत्रय, ऊपर के ४३ तेतालीस में मिलाने से असंयतके ४६ भेद होते हैं। सत्ततिसाय—उनमें, प्रत्याख्यान, चतुष्क, वैक्रियक मिश्र, कार्माण का ययोगत्रय, तीन असंयम इन नौ को घटाने से देश संयत में ३७ बच जाते हैं। चवुवीसं—बचे हुए शेष ग्यारह संयम तथा प्रत्याख्यान चतुष्क, इन पंद्रह को घटाकर तथा आहारक दो को मिला देने से प्रमत्त संयम में २४ चौवीस शेष रहते हैं। दुवावीसं— आहारक तथा आहारक मिश्र दो को घटाने से अप्रमत्त, अपूर्व गुणस्थान में २२ बावीस शेष रहते हैं।

सोलस—हास्यादि छह नोकषायों को २२ बावीस में घटा देने से अनिवृत्ति करण के पूर्व भाग में १६ सोलह शेष रहते हैं।

जावनव—नौवें में जो पहले कहे हुए १६ सोलहमें नपुंसक वेद, स्त्री वेद, पुरुष वेद, क्रोध, मान, माया के अनिवृत्ति करण के शेष भाग में सूक्ष्म लोभ नाम के नवम में क्रम से घटाने से शेष १५ पंद्रह रहते हैं। १५, १३, १२, ११; १०, ६, ऊपर के गुणस्थान में मन के चार वचन के चार औदारिक योग के नो, सत्यानुभय मनोयोग, सत्यानुभय, वाक्योग, औदारिक, औदारिक मिश्र, कार्मण काययोग ऐसे सात सयोग केवली में होते हैं।

बंधश्चतुर्विधः।४६।

प्रत्येक आत्म-प्रदेश में सिद्ध राशिके अनन्तवें भाग प्रमाण तथा अभव्य राशि के अनन्तगुणे प्रमित अनन्त कार्माण परमाणु प्रतिक्षण बंध में आने वाला प्रदेश बंध है, वह योगसे होता है। स्थिति और अनुभाग-बंध कषायों से होते हैं।

अष्ट कर्माणि।५०।

कर्म तीन प्रकार का है—द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नो कर्म। पौद्गलिक कार्माण वर्गणाऐं जो आत्मा से संबद्ध हो जाती हैं वह द्रव्य-कर्म है। उस द्रव्य कर्म के निमित्त-कारणभूत आत्मा के शुभ अशुभ परिणाम भाव कर्म हैं। औदारिक आदि तीन शरीर और ६ पर्याप्तियों को बनाने वाला नोकर्म है।

द्रव्य कर्म के मूल-प्रकृति, उत्तर-प्रकृति और उत्तरोत्तर प्रकृति इस तरह तीन प्रकार के भेद हैं।

द्रव्य कर्म

मूल प्रकृति—

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय इस तरह प्रकृति बंध ८ प्रकार का है। उसमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घाति कर्म हैं। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार अघाति कर्म हैं।

ज्ञानावरण कर्म ज्ञान को ढकने वाला है जिस तरह दीपक को घड़े से ढक दिया जावे उसके समान है। दर्शनावरण कर्म आत्मदर्शन नहीं होने देता। जैसे सूर्य के ऊपर मेघ आच्छादित होने से सूरज दिखाई नहीं देता। वेदनीय कर्म सुख दुःख दोनों को कराता है। जैसे खड्ग धारा में लगी हुई शहदकी बूंद को चाटते हुए जीभ कटकर सुख दुःख दोनों ही होते हैं। मोहनीय कर्म संसार में मोहित कर देता है। जैसे शराब पीने वाला मनुष्य। आयु कर्म जीव को शरीरमें रोक देता है लोह की जंजीर से दोनों पांव फंसे हुए बैठे मनुष्य के समान। नाम कर्म अनेक तरह शरीर बना देता है। जैसे चित्रकार अनेक तरह के चित्र तैयार करता है। गोत्र कर्म उच्च और नीच कुल में उत्पन्न करा देता है। जैसे कुम्भकार बर्तनों का। अन्तराय कर्म अनेक विघ्नों को करता है। जैसे भंडारी दानमें विघ्न करता है।

ज्ञानावरणीयं पंचविधम् ।५१।

मति ज्ञानावरण, श्रुत ज्ञानावरण, अवधि ज्ञानावरण, मनः पर्यय ज्ञानावरण तथा केवल ज्ञानावरण ये ज्ञानावरण के पांच भेद हैं।

इसमें इन्द्रियों तथा मन से अपने २ विषयो को जानना मतिज्ञान है। उसको विस्मृत करने वाला मतिज्ञानावरण है। मतिज्ञान से जाने हुए अर्थ के आधार से अन्यार्थ को जानना श्रुत ज्ञान है। इसको विस्मृत करने वाला श्रुत ज्ञानावरण है। रूपी द्रव्य को प्रत्यक्ष रूप से जानना अवधि ज्ञान है और उसको विस्मरण करने वाला अवधि ज्ञानावरण है। किसी अन्य के मन में रहने वाले विषय को जानना मनः पर्यय ज्ञान है और उसको विस्मरण करने वाला मनः पर्यय ज्ञानावरण है। त्रिकाल गोचर अनन्त पदार्थों को युगपत जान लेना केवल ज्ञान है। इसको विस्मृत करने वाला केवल ज्ञानावरण है। इस प्रकार ज्ञानावरण के पांच भेद हैं।

दर्शनावरणीयं नवविधम् ।५२।

दर्शनावरण के ९ भेद हैं—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधि दर्शनावरण, केवल दर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि।

जो चक्षुदर्शन को ढके वह चक्षुदर्शनावरण है, जो अचक्षुदर्शन को न होने दे वह अचक्षुदर्शनावरण है। जो अवधि दर्शन को ढक देता है वह अवधि दर्शनावरण है। केवल दर्शन को जो प्रगट नहीं होने देता वह केवल दर्शनावरण है।

जिसके उदय से नींद आती है वह निद्रा कर्म है। जिसके उदय से जागकर तत्काल फिर सो जावे वह निद्रानिद्रा कर्म है। जिसके कारण बैठे-बैठे नींद आ जावे, कुछ सोता रहे, कुछ जागता-सा रहे वह प्रचला है। जिसके उदय से सोते हुए मुख से लार बहती रहे, हाथ पैर भी चलते रहें वह प्रचलाप्रचला है। जिसके उदय से ऐसी भारी बुरी नीद आती है कि सोते सोते अनेक कार्य कर लेता है, सोते हुए बोझ भार भी लेता है, किन्तु जागने पर उसको कुछ स्मरण नही रहता।

वेदनीयं द्विविधं ॥५३॥

वेदनीय कर्म के दो भेद है-साता, असाता। साता वेदनीय कर्म के उदय से इन्द्रिय-जन्य सुख के साधन प्राप्त होते हैं और असाता वेदनीय कर्म के उदय से दुःखजनक सामग्री मिलती है।

मोहनीयमष्ट विशंति विधम् ॥५४॥

मोहनीय कर्म के मूल दो भेद हैं-दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय।

दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं-मिथ्यात्व, सम्यक मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति।

चारित्र मोहनीय के दो भेद है कषाय, नोकषाय। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ये १६ कषाय है।

नो कषाय मोहनीय के ९ भेद हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय तथा जुगुप्सा स्त्री वेद, पुंवेद, नपुंसक वेद।

मिथ्यात्व के उदय से अदेवों में देवत्व भाव, अधर्म में, धर्म भावना, तत्व में अतत्व भाव होता है, यह सभी मिथ्यात्व भावना है। सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से तत्वों मे तथा अतत्व मे समान भाव होता है, मिले हुए भाव होते हैं। यह सम्यग्मिथ्यात्व है। सम्यक् प्रकृति के उदय से आगम, पदार्थ का श्रद्धान होता है किन्तु सम्यक्त्व मे चल मल दोष होते हैं।

अनंतानुबंधी क्रोध पत्थर की रेखा के समान, मान पत्थर के स्तम्भ के समान, माया बांस की जड़ के समान, लोभ किरमिच रंग के कंबल के समान होकर

ये सभी सम्यक्त्व को नाश करने वाले हैं। अप्रत्यानख्यान क्रोध, काली पृथ्वी की रेखाके समान, मान हड्डी के खंभके समान, माया मेंढे के सींग के समान, लोभ नील कपड़ेके समान, ये सभी अणुव्रत का घात करते हैं। प्रत्याख्यान क्रोध धूलि रेखाके समान है। मान बांस समान है। माया गोमूत्रके समान है। लोभ मलीन अर्थात् कीचड़ में रंगी हुए साड़ी के समान है। ये महाव्रतों को नहीं होने देते हैं। संज्वलन क्रोध जल रेखा के समान है। मान बेंत की लकड़ी के समान है। माया चमरी बाल के समान है। लोभ हलके रंग की साड़ी के समान है, ये यथाख्यात चारित्र को उत्पन्न नहीं होने देते हैं। इस प्रकार ये सोलह भेद कषाय कर्म के हैं।

स्त्री वेद—पुरुष के साथ रमने की इच्छा को उत्पन्न करता है।

पुंवेद—स्त्री के साथ रमने की इच्छा को उत्पन्न करता है।

नपुंसक वेद—स्त्री और पुरुष दोनों से रमने की इच्छा को उत्पन्न करता है।

हास्य—हास्य (हंसी) को उत्पन्न करता है।

रति—प्रेम को उत्पन्न करता है।

अरति—अप्रीति को उत्पन्न करता है।

शोक—दुःख को उत्पन्न करता है।

भय—अनेक प्रकार के भय को उत्पन्न करता है।

जुगुप्सा—ग्लानि को उत्पन्न कर देता है। इस तरह ये नोकषाय हैं।

दर्शन मोहनीय में से मिथ्यात्व का उदय पहले गुणस्थान में होता है, सम्यक् मिथ्यात्व का उदय तीसरे गुणस्थान में और सम्यक् प्रकृति का उदय (वेदक सम्यक्त्व की अपेक्षा) चौथे से सातवें गुणस्थान तक होता है।

अनन्तानुबन्धी आदि सभी कषाय पहले गुणस्थान में, दूसरे गुणस्थान में अनन्तानुबंधी अव्यक्त होती है। चौथे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं होता, अप्रत्याख्यानावरण का उदय पांचवें गुणस्थान में नहीं होता, प्रत्याख्यानावरण का उदय छठे गुणस्थान में नहीं होता, नोकषाय नौवें गुणस्थान तक रहती हैं। संज्वलन कषाय दशवें गुणस्थान तक रहती है।

आयुष्यं चतुर्विधं।५५।

आयु कर्म के ४ भेद हैं नरक आयु, तिर्यञ्च आयु, मनुष्य आयु और देवायु। जो जीव को नारकी भव में रोके रखता है वह नरकायु है। तिर्यञ्चों के शरीर में रोके रखने वाला तिर्यञ्च आयु है, मनुष्य के शरीर में आत्मा को

रोके रखने वाला मनुष्य आयु है और देव पर्याय में रोक रखने वाला देवायु कर्म है।

द्विचत्वारिंशद्विधं नाम ।५६।

नाम कर्म के ४२ भेद हैं। जैसे—गति, जाति, शरीर, बंधन, संघात, संस्थान, अंगोपांग, संहनन, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्‌वास निःश्वास, विहायोगति, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्तक अपर्याप्तक प्रत्येक शरीर, साधारण शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, अनादेय, यशकीर्ति, अयशकीर्ति, निर्माण तथा तीर्थंकर नाम से पिंडापिंड प्रकृति भेद रूप नाम कर्म के ४२ भेद हैं।

विशेषार्थ—जिसके उदय से जीव दूसरे भव में जाता है उसे गति कहते है। उसके चार भेद हैं—नरक गति, तिर्यंगति, मनुष्य गति और देव गति। जिसके उदय से जीव के नारक भाव हों वह नरक गति है। ऐसा ही अन्य गतियों का भी स्वरूप जानना। उन नरकादि गतियों में अव्यभिचारी समानता के आधार पर जीवों का एकीकरण जिसके उदय से हो वह जाति नाम कर्म है। उसके पांच भेद हैं—एकेन्द्रिय जाति नाम, दो इन्द्रिय जाति नाम, तेइन्द्रिय जाति नाम, चौ इन्द्रिय जाति नाम और पंचेन्द्रिय जाति नाम। जिसके उदय से जीव एकेन्द्रिय कहा जाता है वह एकेन्द्रिय जाति नाम है। इसी तरह शेष में भी लगा लेना। जिसके उदय से जीव के शरीर की रचना होती है वह शरीर नाम है। उसके पांच भेद हैं—औदारिक शरीर नाम, वैक्रियिक शरीर नाम, आहारक शरीर नाम नाम, तैजस शरीर नाम और कार्मण शरीर नाम। जिसके उदय से औदारिक शरीर की रचना होती है वह आदारिक शारीर नाम है, इस तरह शेष को भी समझ लेना। जिसके उदय से अंग तथा उपांग का भेद प्रकट हो वह अंगोपांग नाम कर्म है। उसके तीन भेद हैं—औदारिक शरीर अंगापांग नाम; वैक्रियिक शरोर अंगोपांग नाम, आहारक शरीर अंगोपांग नाम। जिसके उदय से अंग उपांग की रचना हो वह निर्माण है। इसके दो भेद हैं—स्थान निर्माण और प्रमाण निर्माण। निर्माण नाम कर्म जाति के उदय के अनुसार चक्षु आदि की रचना नाम कर्म के उदय से ग्रहण किये हुये पुद्गलों का परस्पर में मिलना जिस कर्म के उदय से होता है वह बन्धन नाम है। जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों की आकृति बनती है वह संस्थान नाम है। उसके छः भेद हैं—जिसके उदय से ऊपर, नीचे तथा मध्य में शरीर के अवयवों की समान विभाग

रूप की रचना होती है उसे समचतुरस्र संस्थान नाम कहते हैं। जिसके उदय से नाभि के ऊपर का भाग भारी और नीचे का पतला होता है जैसे बट का वृक्ष, उसे न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान नाम कहते हैं। स्वाति यानी बाम्बी की तरह नाभि से नीचे का भाग भारी और ऊपर दुबला जिस कर्म के उदय से हों वह स्वाति संस्थान नाम हैं। जिसके उदय से कुबड़ा शरीर हो वह कुब्जक संस्थान नाम है। जिसके उदय से बौना शरीर हो वह वामन संस्थान नाम है। जिसके उदय से विरूप अंगोपांग हों वह हुंडक संस्थान नाम है। जिसके उदय से हड्डियों के बन्धन में विशेषता हो वह संहनन नाम है। उसके भी छै भेद हैं—वज्र ऋषभ नाराच संहनन, वज्रनाराच संहनन, नाराच संहनन, अर्ध नाराच संहनन, कीलित संहनन और असंप्राप्तासृपाटिका संहनन नाम। जिसके उदय से ऋषभ यानी वेष्टन, नाराच यानी कीलें और संहनन यानी हड्डियां वज्र की तरह अभेद्य हों वह वज्र ऋषभ नाराच संहनन नाम है। जिसके उदय से कील और हड्डियां वज्र की तरह हों और वेष्टन सामान्य हो वह वज्र नाराच संहनन नाम हैं। जिसके उदय से हाड़ों में कीलें हो वह नाराच संहनन नाम है। जिसके उदय से हाड़ों की सन्धियां अर्ध कीलित हों वह अर्ध नाराच संहनन नाम है। जिसके उदय से हाड़ परस्पर में हीं कीलित हों अलग से कील न हो, वह कीलित संहनन नाम है। जिसके उदय से हाड़ केवल नस, स्नायु वगैरह से बंधे हों वह असंप्राप्तासृपाटिका संहनन है। जिसके उदय से शरीर में स्पर्श प्रकट हो वह स्पर्श नाम है। उसके आठ भेद हैं—कर्कशनाम, मृदुनाम, गुरुनाम, लघुनाम, स्निग्ध नाम, रूक्षनाम, शीतनाम, उष्णनाम। जिसके उदय से शरीर में रस प्रकट हो वह रस नाम है। उसके पांच भेद हैं--तिक्तनाम, कटुकनाम, कषाय नाम, आम्लनाम, मधुरनाम। जिसके उदय से शरीर में गन्ध प्रकट हो वह गन्ध-नाम है। उसके दो भेद हैं—सुगन्धनाम और दुर्गन्ध नाम। जिसके उदय से शरीर में वर्ण यानी रंग प्रकट हो वह वर्ण नाम है। उसके पांच भेद हैं—कृष्ण वर्ण नाम, शुक्ल वर्णनाम नील वर्णनाम, रक्तवर्ण नाम और पीत वर्ण-नाम। जिसके उदय से पूर्व शरीर का आकार बना रहे वह आनुपूर्व्य नाम कर्म है। उसके चार भेद हैं—नरक गति प्रायोग्यानुपूर्व्यनाम, तिर्यंगति प्रायोग्यानुपूर्व्यनाम, मनुष्य गति प्रायोग्यानुपूर्व्यनाम और देवगति प्रायोग्यानुपूर्व्यनाम। जिस तरह मनुष्य या तिर्यंच मर करके नरक गति की ओर जाता है तो मार्ग में उसकी आत्मा के प्रदेशों का आकार वैसा ही बना रहता है जैसा उसके पूर्व शरीर का आकार था जिसे वह छोड़कर आया है, यह नरकगति प्रायोग्यानुपूर्व्यनाम कर्म का कार्य है। इसी तरह अन्य आनुपूर्वियों का कार्य जानना।

आनुपूर्वी कर्म का उदय विग्रह-गति में होता है। जिसके उदय से शरीर न तो लोहे के गोले की तरह भारी हो और न आक की रुई की तरह हल्का हो वह अगुरुलघु नाम है। जिसके उदय से जीव के अंगोपांग अपना घात करने वाले बनें वह उपघात नाम है। जिसके उदय से दूसरे के घात करने वाले सींग आदि अंगोपांग बनें वह परघात नाम है। जिसके उदय से आतपकारी शरीर हो वह आतप नाम है। इसका--उदय सूर्य के बिम्ब में जो बादर पर्याप्त पृथिवी कायिक जीव होते हैं उन्हीं के होता है। जिसके उदय से उद्योतरूप शरीर हो वह उद्योत नाम है। इसका उदय चन्द्रमा के बिम्ब में रहने वाले जीवों के तथा जुगनु वगैरह के होता है। जिसके उदय से उच्छ्‌वास हो वह उच्छ्‌वास नाम है। विहाय यानी आकाश में गमन जिस कर्म के उदय से होता है वह विहायोगति नाम है। हाथी बैल वगैरह की सुन्दर गति के कारण भूत कर्म को प्रशस्त विहायोगति नाम कहते हैं और ऊंट, गधे वगैरह की खराब गति के कारण भूत कर्म को अप्रशस्त विहायोगति नाम कहते हैं। यहाँ ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि पक्षियों की ही गति आकाश में होती है। आकाश द्रव्य सर्वत्र है अतः सभी जीव आकाश में ही गमन करते रहते हैं। सिद्ध जीव और पुद्‌गलों की गति स्वाभाविक है कर्म के उदय से नहीं है।

जिसके उदय से शरीर एक जीव के ही भोगने योग्य होता है वह प्रत्येक शरीर नाम है। जिसके उदय से बहुत-से जीवोंके भोगने योग्य एक साधारण शरीर होता है वह साधारण शरीर नाम है। अर्थात् साधारण शरीर नाम कर्म के उदय से एक शरीर में अनन्त जीव एक अवगाहना-रूप होकर रहते हैं। वे सब एक साथ ही जन्म लेते हैं, एक साथ ही मरते हैं और एक साथ ही श्वास वगैरह लेते हैं उन्हें साधारण वनस्पति कहते हैं। जिसके उदय से दोइन्द्रिय आदि में जन्म हो वह त्रसनाम है। जिसके उदय से एकेन्द्रियों में जन्म हो वह स्थावर नाम है। जिसके उदय से दूसरे जीव अपने से प्रीति करें वह सुभगनाम है। जिसके उदय से सुन्दर सुरूप होने पर भी दूसरे अपने से प्रीति न करें अथवा घृणा करें वह दुभगनाम है। जिसके उदय से स्वर मनोज्ञ हो जो दूसरों को प्रिय लगे वह सुस्वर नाम है। जिसके उदय से अप्रिय स्वर हो वह दुःस्वर नाम है। जिसके उदय से शरीर के अवयव सुन्दर हों वह शुभ नाम है। जिसके उदय से शरीर के अवयव सुन्दर न हों वह अशुभ नाम है। जिसके उदय से सूक्ष्म शरीर हो जो किसी से न रुके वह सूक्ष्म नाम है। जिसके उदय से स्थूल शरीर हो वह बादर नाम है। जिसके उदय से आहार आदि पर्याप्तियों की पूर्णता हो

वह पर्याप्ति नाम कर्म है। जिसके उदय से पर्याप्तियों की पूर्णता नहीं होती वह अपर्याप्ति नाम है। जिसके उदय से शरीर के धातु उपधातु स्थिर होते हैं जिससे कठिन श्रम करने पर भी शरीर शिथिल नहीं होता वह स्थिर नाम है। जिसके उदय से धातु उपधातु स्थिर नहीं होते, जिससे थोड़ा सा श्रम करने से ही या जरा-सी गर्मी सर्दी लगने से ही शरीर म्लान हो जाता है वह अस्थिर नाम है। जिसके उदय से शरीर प्रभासहित हो वह आदेय नाम है। जिसके उदय से प्रभा रहित शरीर हो वह अनादेय नाम कर्म है। जिसके उदय से संसार में अपयश फैले वह अयशस्कीर्ति नाम है। जिसके उदय से अपूर्व प्रभावशाली अर्हन्त पद के साथ धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन होता है वह तीर्थंकर नाम है। इस तरह नाम कर्म की बयालोस प्रकृतियों के ही तिरानवे भेद हो जाते है।

द्विविधं गोत्रम् ॥५७॥

उच्च गोत्र तथा नीच गोत्र ये गोत्र के दो भेद हैं। उसमें उत्तम कुल मे पैदा करने वाला उच्च गोत्र तथा नीच कुल में पैदा करने वाला नीच गोत्र कहलाता है।

पंचविधमन्तरायम् ॥५८॥

दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये अन्तराय कर्म के पांच भेद है।

जिसके उदय से मनुष्य दान न कर सके या जो दान में विघ्न करदे वह दानान्तराय कर्म है। लाभ की इच्छा होते हुये भी तथा प्रयत्न करने पर भी जिस के उदय से लाभ नहीं होता वह लाभान्तराय कर्म है। भोग और उपभोग की इच्छा होने पर भी जिसके उदय से भोग उपभोग नही कर सकता वह भोगान्तराय तथा उपभोगान्तराय कर्म है। शक्ति प्राप्त होने में विघ्न करने वाला कर्म वीर्यान्तराय कर्म है। ये पाच अंतराय कर्म तथा अन्य उपरिउक्त कर्म मिलकर कर्मों के कुल १४८ एक सौ अड़तालीस भेद होते हैं। इन कर्म प्रकृति के उत्तरोत्तर भेद असंख्यात होते हैं।

उनमें ज्ञानावरण कर्मकी, दर्शनावरण की, वेदनीयकी, अंतराय इन चार कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। मोहनीय कर्मकी सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर, नाम और गोत्र की २० बीस कोडाकोडी सागरोपम है। आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३३ तेतीस सागर की है। वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति १२ बारह मुहूर्त है, नाम और गोत्र के ८ आठ मुहूर्त है। शेष की अंतर मुहूर्त स्थिति होती है। घाति कर्मोंमें लता, काठ, अस्थि, शैलरूप चार प्रकार की

अनुभाग शक्ति होती है। अघाति कर्मों की अशुभ प्रकृतियोंमें नीम, कांजी, विष, हलाहल समान अनुभाग शक्ति होती है। शुभ अघाति कर्मों में गुड़, खांड, मिश्री और अमृत के समान अनुभाग शक्ति होती है। ये कर्म आत्माके साथ एक क्षेत्रावगाह रूपमें दोनों एक रूप मालूम होने पर भी आत्म-अनुभवी जीव अपनी विवेक शक्ति द्वारा इस आत्मा को उन कर्मों से अलग निकाल कर आत्म-स्वरूप को भिन्न कर सकते हैं।

अब कर्मों की बन्ध-सत्व-उदय त्रिभंगी का निरूपण करते हैं—

णमिऊण णेमिचन्दं असहायपरक्कमं महावीरं ।
बंधुदयसत्तजुत्तं ओघादेसे सयं बोच्छं ।४५।

अर्थ—मैं असहाय पराक्रम वाले महावीर, चन्द्र समान शीतल प्रकाशमान भगवान नेमिनाथ को नमस्कार करके कर्मों के बंध, उदय, सत्ता को गुणस्थानों, तथा मार्गणाओं को बतलाता हूं।

देहोदयेन सहिओ जीवो आहरदि कम्मनोकम्मं ।
पडिसमयं सव्वग्गं तत्तासयपिंडओव्व जलं ।४६।

अर्थ—जिस तरह लोहे का गर्म गोला पानी में रख दिया जावे तो वह चारों ओर से पानी को अपनी ओर खींचता रहता है इसी प्रकार देह-धारी आत्मा प्रति समय सब ओर से कार्माण नोकार्माण वर्गणाओं को ग्रहण करता रहता है।

सिद्धाणंतिमभागो अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव ।
समयपबद्धं बंधदि जोगवसादो दु विसरित्थं ।४७।

अर्थ—संसारी जीव प्रति समय एक समय-प्रबद्ध (एक समय में बंधने वाले कर्म वर्गणाओं) को बांधता है, उस समय-प्रबद्ध में सिद्ध राशि के अनन्त वें भाग तथा अभव्य राशि से अनन्तगुणे प्रमाण परमाणु होते हैं। समय-प्रबद्ध केउन परमाणुओं की संख्या में कमीवेशी तीव्र, मंद योगों के अनुसार होती रहती है।

एक्कं समयपबद्धं बंधदि एक्कं उदेदि कम्माणि ।
गुणहाणीण दिवड्ढं समयपबद्धं हवे सत्तं ।४८।

यानी—संसारी जीव प्रति समय एक समय-प्रबद्ध प्रमाण कर्म बन्ध करता है और एक समय-प्रबद्ध प्रमाण ही कर्म प्रति समय उदय आता है (झरता है) फिर भी डेढ गुणहानि प्रमाण कर्म सत्तामें रह जाता है।

देहे अविणाभावी बंधणसंघाद इदि अबंधुदया।
वण्ण चउक्के भिण्णे गहिदे चत्तारि बंधुदये।४६।

अर्थ—नाम कर्म की प्रकृतियों में ५ बंधन और ५ संघात शरीर नाम कर्म के अविनाभावी (शरीर के बिना न होने वाले) होने के कारण बंध और उदय के प्रकरण में पृथक् नहीं लिये जाते शरीर में ही सम्मिलित कर लिये गये हैं तथा वर्ण, रस, गंध स्पर्श के उत्तर भेदों (२०) को इन चार मूल भेदों में सम्मिलित किया गया है।

इस कारण बन्धरूप तथा उदयरूप कर्म प्रकृतियां भेद एवं अभेद विवक्षा से निम्न प्रकार हैं—

भेदे छादालसयं इदरे बंधे हवंति वीससयं।
भेदे सव्वे उदये बावीससयं अभेदम्हि ।।५०

यानी—भेद रूप से १४६ प्रकृतियों का बन्ध होता है (सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति पृथक् नहीं गिनो जाती)। अभेद रूप से १२० प्रकृतियों का बन्ध माना गया है–१० बन्धन संघात, १६ वर्ण रस आदि=२६ प्रकृति नहीं गिनी जातीं। उदय में भेद रूप से १४८ प्रकृति और अभेदरूप से १२२ प्रकृतियां कही जाती हैं। उक्त २६ अलग नहीं गिनी जातीं।

पंच णव दोण्णि छव्वीसमवि य चउरो कमेण सत्तट्ठी।
दोण्णिय पंचय भणिया एदाओ बंध पयडीओ ।।५१।।

अर्थ—अतः बन्ध के योग्य ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २६, आयु की ४, नामकर्म की ६७, गोत्र कर्म की २ और अन्तराय को ५ प्रकृतियां हैं।

पंचणवदोण्णि अट्ठावीसं चउरो कमेण सत्तट्ठी।
दोण्णिय पंचय भणिया एदाओ उदयपयडीओ ।।५२।।

अर्थ—उदय योग्य प्रकृतियां ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण को ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयु की ४, नाम की ६७, गोत्र को २ और अन्तराय की ५ हैं।

सम्मेव तित्थबंधो आहारदुगं पमादरहिदेसु।
मिस्सूणे आउस्स य मिच्छादिसु सेस बंधोदु ।।५३।।

अर्थ—तीर्थंकर प्रकृति का बंध सम्यग्दृष्टि के ही (चौथे गुणस्थान से सातवें

गुणस्थान तक) होता है। आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग का सातवें तथा आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक होता है। मिश्र गुणस्थान के सिवाय पहले गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक आयु कर्म का बन्ध होता है। शेष प्रकृतिओं का बन्ध पहले आदि गुणस्थानों में हुआ करता है।

बन्ध व्युच्छित्ति—

सोलस पणवीसणभं दस चउ छक्केक्क बन्धवोच्छिण्णा।
दुगतिगचदुरं पुव्वे पण सोलस जोगिणो एक्को ॥५४॥

यानी—कर्म प्रकृतियों की बन्ध व्युच्छित्ति (वहां तक बन्ध होना, आगे न होना) मिथ्यात्व आदि १४ गुणस्थानों में क्रम से यों है—१६-२५-०-१०-४-६-१ अपूर्व करण के विभिन्न भागों में २-३-४ प्रकृतियों की फिर नौवें आदि गुणस्थानों में क्रम से ५-१६-०-०-१-० प्रकृतियों की बन्ध व्युच्छित्ति होती है।

मिच्छत्तहुंडसंढाऽसंपत्तेयक्खथावरादावं।
सुहुमतियं वियलिंदी णिरयदुणिरयाउगं मिच्छे ॥५५॥

अर्थ—मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व, हुण्डक संस्थान, नपुंसक वेद असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय नरक गति, नरक गत्यानुपूर्वी और नरक आयु ये १६ प्रकृतियां बन्ध व्युच्छिन्न होती हैं यानी—इन १६ प्रकृतियों का इससे आगे के गुणस्थानों में बन्ध नहीं होता।

बिदियगुणे अणथीणति दुभगतिसंठाणसंहदि चउक्कं।
दुग्गमणित्थीणीचं तिरियदुगुज्जोव तिरियाऊ ॥५६॥

यानी—दूसरे सासादन गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, न्यग्रोध परिमण्डल, स्वाति, वामन कुब्जक संस्थान, बज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलक संहनन, अप्रशस्त विहायोगति, स्त्री वेद, नीच गोत्र, तिर्यंच गति, तिर्यंच-गत्यानुपूर्वी, तिर्यंचआयु और उद्योगत इन २५ प्रकृतियों की बन्ध—व्युच्छित्ति होती है।

अयदे बिदियकसाया बज्जं ओराल मणुदुमणु आऊ।
देसे तदियकसाया नियमेणिह बन्धवोच्छिण्णा ५७॥

अर्थ—असंयत सम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान माया लोभ, वज्रऋषभनाराच संहनन, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, मनुष्य गति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और मनुष्य आयु ये १० प्रकृतियां बन्धव्युच्छिन्न होती हैं। पांचवें देशसंयत गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इन ४ चार कषायों की बन्धव्युच्छित्ति होती है।

छट्ठे अथिरं असुहं असादमजसं च अरदिसोगंच ।
अपमत्ते देवाऊणिट्ठवणं चेव अत्थित्ति ॥५८॥

यानी—छठे गुणस्थान में अस्थिर, अशुभ, असाता वेदनीय, अयशकीर्ति, अरति और शोक इन ६ प्रकृतियों की बन्ध-व्युच्छित्ति होती है। अप्रमत्त गुणस्थान में देवायुकी बन्ध व्युच्छित्ति होती है।

मरणूणम्मिणियट्टी पढमे णिद्दा तहेव पयला य ।
छट्ठे भागे तित्थं णिमिणं सग्गमणपंचिंदी ॥५९॥
तेजदुहारदुसमचउ सुरवण्णगुरुगचउक्कतसणवयं ।
चरमे हस्सं च रदी भयं जुगुच्छाय बन्धवोच्छिण्णा ॥६०॥

अर्थ—अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान के मरणरहित प्रथम भाग में निद्रा, प्रचला, छठे भाग के अंत में तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्त विहायोगति, पंचेन्द्रिय जाति, तैजस, कार्माण, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग समचतुरस्र संस्थान, देवगति देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियक अंगोपांग वर्ण रस गंध, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात,-परघात उच्छ्वास, त्रस आदि ९, इन ३० प्रकृतियों की और अंत में हास्य, रति, भय, जुगुप्सा इन ४ प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होती है।

पुरिसं चदुसंजलणं कमेण अणियट्टिपंचभागेसु ।
पढमं विग्घं दंसण चउजसउच्चं च सुहुमंते ॥६१॥

अर्थ—नौवें गुणस्थान के पांच भागों में क्रम से पुरुष वेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ इन ५ प्रकृतियों में से एक एक की व्युच्छित्ति होती रहती है। सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान के अन्त में ज्ञानावरण की ५, अन्तराय की ५, दर्शनावरण की ४ (चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल), यशकीर्ति और उच्चगोत्र इन १६ प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है।

उवसंत खीणमोहे जोगिम्हि य समयियट्ठिदी सादं ।
णायव्वो पयडीणं बंधस्संतो अणंतो य ॥६२॥

अर्थ—ग्यारहवें, बारहवें तथा तेरहवें गुणस्थान में केवल साता वेदनीय कर्म का एक समय स्थिति वाला बन्ध होता है, अतः सयोगकेवली नामक तेरहवे गुणस्थान में केवल साता वेदनीय की व्युच्छित्ति होती है। चौदहवें गुणस्थान में न किसी प्रकृति का बन्ध होता है, न किसी की व्युच्छित्ति होती है।

अब बन्ध होने योग्य प्रकृतियों की संख्या बतलाते हैं—

सत्तरसेक्कग्गसयं चउ सत्तत्तरि सगट्ठि तेवट्ठी ।
बन्धाणवट्ठवण्णा दुवीस सत्तारसेकोघे ॥६३॥

अर्थ—मिथ्यात्व आदि १३ गुणस्थानों में बन्ध होने योग्य प्रकृतियों की संख्या क्रम से ११७, १०१, ७४, ७७, ६७, ६३, ५९, ५८, २२, १७, १, १ १ है। बन्ध योग्य प्रकृति पहले १२० बतलाई थीं उनमें से तीर्थंकर, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग का बन्ध चौथे से सातवें गुणस्थान तक होता है अतः १२० में से इन ३ प्रकृतियों को कम कर देने पर शेष ११७ प्रकृति पहले गुणस्थान में बन्धती हैं, फिर आगे आगे के गुणस्थानों में व्युच्छित्ति वाली प्रकृतियां घटा देने से गुणस्थानों में बन्ध योग्य प्रकृतियों की संख्या निकल आती है।

अब बन्ध न होनेवाली प्रकृतियों की संख्या बतलाते हैं—

तियउणवीसं छत्तिय तालं तेवण्ण सत्तवण्णं च ।
इगिदुगसट्ठीविरहिय सयतियउणवीससहिय वीससयं ॥६४॥

यानी—मिथ्यात्व आदि १४ गुणस्थानों में बन्ध न होने योग्य प्रकृतियों की संख्या क्रम से ३, १९, ४६, ४३, ५३, ५७, ६१, ६२, ९८, १०३, ११९, ११९ और १२० है।

आहारयं पमत्ते तित्थं केवलिणि मिस्सयं मिस्से ।
सम्मं वेदगसम्मे मिच्छदुगयदेव आणुदओ ॥६५॥

अर्थ—आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग का उदय छठे गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति का उदय सयोग केवली गुणस्थान में, सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) का उदय मिश्रगुणस्थान में और सम्यक् प्रकृति का उदय क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के चौथे से सातवें गुणस्थान तक ही होता है। आनुपूर्वी का उदय पहले दूसरे तथा चौथे गुणस्थान में होता है।

णिरयं सासणसम्मो ण गच्छदित्ति य ण तस्स णिरयाणू ।
मिच्छादिसु सेसुदओ सगसगचरमोत्ति णायव्वो ॥६६॥

अर्थ—सासादन गुणस्थान वाला नरक को नहीं जाता है इस कारण उसके नरक गत्यानुपूर्वी का उदय नहीं होता । शेष समस्त प्रकृतियों का उदय मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों में अपने अन्त समय तक होता है ।

अब उदय व्युच्छित्ति बतलाते हैं —

पणणव इगिसत्तरसं अड पंच च चउर छक्क छच्चेव ।
इगि दुग सोलस तीसं वारस उदये अजोगंता ॥६७॥

अर्थ—मिथ्यात्व आदि १४ गुणस्थानों में उदय व्युच्छित्ति यानी—आगे के गुणस्थानों में उदय न होनेवाली प्रकृतियों की संख्या क्रम से ५, ९, १, १७, ८, ५, ४, ६, ६, १, २, १६, ३० और १२ है ।

मिच्छे मिच्छादावं सुहुमतियं सासणे अणेइंदी ।
थावरवियलं मिस्से मिस्सं च य उदयवोछिण्णा ॥६८॥

अर्थ—मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, अस्थिर इन ५ प्रकृतियों की उदय व्युच्छित्ति होती है । सासादन में अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, एकेन्द्रिय, स्थावर, दोइन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार इन्द्रिय (विकलत्रय) ये ९ प्रकृतियां तथा मिश्र गुणस्थान में सम्यक्-मिथ्यात्व की उदय-व्युच्छित्ति होती है ।

अयदे विदियकसाया वेगुव्वियछक्क णिरयदेवाऊ ।
मणुयतिरियाणुपुव्वी दुब्भगणादेज्ज अज्जसयं ॥६९॥

अर्थ—चौथे गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया व लोभ, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु, देवायु, मनुष्यगत्यानुपूर्वी तिर्यंगत्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय और अयशकीर्ति इन १७ प्रकृतियों की उदय व्युच्छित्ति होती है ।

देसे तदियकसाया तिरियाउज्जोव णीचतिरियगदी
छट्ठे आहारदुगं थीणतियं उदयवोच्छिण्णा ॥७०॥

यानी—पांचवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ तिर्यंचआयु, उद्योत, नीच गोत्र, तिर्यंचगति इन ८ प्रकृतियों की तथा छठे गुणस्थान में आहारक शरीर आहारक अंगोपांग निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला स्त्यानगृद्धि इन ५ प्रकृतियों की उदय-व्युच्छित्ति होती है ।

अपमत्ते सम्मत्तं अंतिमतिय संहदीऽपुव्वम्हि ।
छच्चेवणोकसाया अणियट्टी भागभागेसु ।।७१।।

अर्थ—सातवें गुणस्थान में सम्यक् प्रकृति तथा अर्द्ध नाराच कीलक असंप्राप्ता सृपाटिका संहनन ये ४ प्रकृतियां उदय व्युच्छिन्न होती हैं। अपूर्व करण में तीन वेदों के सिवाय हास्य आदि ६ नोकषायों की व्युच्छित्ति होती है।

वेदतिय कोहमाणंमाया संजलणमेव सुहुमंते ।
सुहुमोलोहोसंते वज्जंनारायणारामं ।।७१।।

यानी—नौवें गुणस्थान के सवेद भागों में स्त्री पुरुष नपुंसक वेद तथा अवेद भाग में संज्वलन क्रोध मान माया की व्युच्छित्ति होती है। सूक्ष्म साम्पराय के अंत में संज्वलन लोभ की तथा ग्यारहवें गुणस्थान में वज्रनाराच और नाराच सहंनन की उदय व्युच्छित्ति होती है।

खीणकसायदुचरिमेणिछापयलाम उदयवोच्छिण्णा ।
णाणांतरायदसयं दंसणचत्तारि चरिमम्हि ।।७२।।

अर्थ—क्षीणकषाय के अंतिम समय से एक समय पहले निद्रा और प्रचला तथा अंतिम समय में ज्ञानावरण की ५ दर्शनावरण की ४ एवं अन्तराय की ५ कुल १४+२=१६ प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होती है।

तदियेवक वज्जणिमिणं थिरसुहसदगदिउरालतेजदुगं ।
संठाणंवण्णागुरुचउक्क पत्तेय जाणिम्मि ।।७३।।

अर्थ—सयोग केवली गुणस्थान में साता या असाता, वज्र ऋषभ नाराच संहनन, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ अशुभ सुस्वर, दुःस्वर, प्रशस्त, अप्रशस्त, विहायोगति, औदारिक शरीर औदारिक अंगोपांग तैजस कार्माण छहों संस्थान, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, अगुरुलघु आदि चार और प्रत्येक शरीर ये ३० प्रकृतियां व्युच्छिन्न होती हैं।

तदियेक्कं मणुवगदी पंचिंदियसुभगतसतिगादेज्जं ।
जसतित्थं मणुवाऊ उच्चं च अजोगचरिमम्हि ।।७४।।

अर्थ—अयोग केवली गुणस्थान के अन्त में साता या असाता मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, सुभग, त्रस आदि ३ आदेय, यशकीर्ति, तीर्थंकर प्रकृति मनुष्य आयु, ऊंच गोत्र इन १२ प्रकृतियों की उदय व्युच्छित्ति होती है।

णट्ठायरायदोसा इंदियणाणपांच केवलिम्हि जदो ।
तेणदु सादासादजणहदुक्खं णत्थि इंदियजं ॥७५॥

अर्थ—केवली भगवान के मोहनीय कर्म न रहने से रागद्वेष नहीं है, ज्ञानावरण का क्षय हो जाने से उनके इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं है इस कारण उनके साता असाता के उदय से होनेवाला इन्द्रिय जन्य सुख दुख भी नहीं है।

समयट्ठिदिगो बंधो सादस्सुदाण्गिो जदो तस्स ।
तेण असादस्सुदओ सादस रूवेणपरिणमदि ॥७६॥

अर्थ—केवली भगवान के एक समय की स्थिति वाला साता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है अतः वह उदय रूप ही होता है। इस कारण असाता वेदनीय कर्म का भी उदय साता के रूप मे परिणत हो जाया करता है।

एदेण कारणेण दुसादस्सेव दुण्णिरतरो उदओ ।
तेणासादणिकित्ता परीसहा जिणबरे णत्थि ॥७७॥

अर्थ—इस कारण केवली भगवान के निरन्तर साता वेदनीय कर्म का उदय रहता है। अतएव असाता वेदनीय के उदय से परिषह केवली को होने वाली नहीं होती।

उदय रूप प्रकृति-सख्या-

सत्तरसेक्कारखचदुसहियसयं सगिगिसीदि छदुसदरी ।
छावट्ठिसट्ठिणवसग वण्णास दुदालवारुदया ॥७८

अर्थ-मिथ्यात्व आदि गुणस्थानो मे क्रम से ११७, १११, १००, १०४, ८७, ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५६ ५७ ४२ और १२ प्रकृतिया उदय होती हैं।

अनुदय प्रकृतियां—

पंचक्कारसवावीसट्ठारसपंतीस इगिछादालं ।
पण्णं छप्पण्णं विति पणसट्ठि असीदि दुगुण पणवण्णं ॥७९॥

अर्थ—मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों मे क्रम से ५ ११ २२ १८ ३५ ४१ ४६ ५० ५६ ६२ ६३ ६५ ८० और ११० प्रकृतियों का उदय नहीं होता।

उदयस्सुदीरणस्स य सामित्तादो णविज्जदि विसेसो ।
मेत्तूण तिण्णि ठाणं पमत्त जोगी अजोगी य ॥८०॥

तीसं बारस उदयुच्छेदं केवलि मेकदं किच्चा ।
सानमसनं च तहि मणुवाउगमवणिदं किच्चा ॥८१॥
अवणिदतिप्पयडीण पमत्त विरदे उदीरणा होदि ।
णत्थित्ति अजोगिजिण उदीरणा उदय पयडीण ॥८२॥

अर्थ—कर्म प्रकृतियों की उदीरणा प्रमत्त सयोग केवली अयोग केवली इन तीन गुणस्थानों के सिवाय शेष समस्त गुणस्थानों में उदय के ही समान है। सयोग के ३० और अयोग केवली के १२ प्रकृतियों की [कुल ४२ की] उदय-व्युच्छित्ति होती है। परन्तु इनमें से साता असाता वेदनीय और मनुष्य आयु की उदीरणावहां नहीं होती है इसकारण सयोग केवली के ३९ प्रकृतियों की उदीरणा होती है। साता, असाता, मनुष्य आयु की उदीरणा (समय से पहले उदय आना) छठे गुणस्थान में होती है। अयोग केवली के उदीरणा नहीं होती।

उदीरणा व्युच्छित्ति—

पण णवइगि सत्तारस अट्ठट्ठ य चदुर छक्क छच्चेव ।
इगिदुग सोलुगदालं उदीरणा होंति जोगंता ॥८३॥

अर्थ—मिथ्यात्व आदि १३ गुणस्थानों में क्रम से ५ ९ १ १७ ८ ८ ४ ६ ६ २ २ १६ ३९ प्रकृतियों की उदीरणा व्युच्छित्ति होती है।

उदीरणा अनुदीरणा—

सत्तार सेक्कारख चदुसहियसयं सगिगिसीदि तियसदरी ।
णवतिण्णिसट्ठि सगछक्कवण्ण चउवण्णमुगुदाल ॥८४॥
पंचेक्कारसवावीसट्ठारस पंचतीस इगिणवदालं ।
तेवण्णेक्कुणसट्ठी पणछक्कडसट्ठि तेसीदी ॥८५॥

यानी—पहले से १३वें गुणस्थान तक में क्रम से ११७, १११, १००, १०४, ८७, ८१, ७३ ६९ ६३ ५७ ५६ ५४ ३९ प्रकृतियों की उदीरणा होती है। तथा इन ही गुणस्थानों में क्रम से ५, ११, २२, १८' ३५, ४१, ४९, ५३, ५९, ७५, ६५, ६६, ६८, ८३ प्रकृतियों की उदीरणा नहीं, अनुदीरणा है।

सत्व विवरण—

तित्थाहारा जुगवं तित्थं णमिच्छगादितिये ।
तस्सत्तकम्मियाणं तग्गुणठाणं ण संभवदि ॥८६॥

अर्थ—मिथ्यात्व गुणस्थान में नाना जीवों की अपेक्षा से १४८ प्रकृतियों की सत्ता है परन्तु तीर्थंकर तथा आहारक द्विक (आहारक शरीर आहारक

अंगोपांग) एक साथ (एक काल में) नहीं होते। सासादन में तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता नहीं।

चत्तारि वि खेत्ताइं आउगबंधेण होय सम्मत्तं।
अणुवदमहव्वदाइं लहइ देवाउगं मोत्तुं॥

अर्थ—चारों आयुओं में से किसी भी आयु का बंध हो जाने के पश्चात् सम्यक्त्व हो सकता है, परन्तु अणुव्रत महाव्रत का धारण देवायु का बन्ध करने वाले के ही होता है। अन्य किसी आयुका बन्ध कर लेने वाले के नहीं होता।

णिरयतिरक्खसुराउग सत्ते णहि दसमयलवदखवगा।
अयदचउक्कंतु अणं अणियट्टी करणबहुभागं॥
जुगवं संजोगित्ता पुणोवि अणियट्टिकरणबहुभागं।
वोलिय कमसो मिच्छं मिस्सं सम्मं खवेदि कमे॥

अर्थ--नरक आयु की सत्तामें देशव्रत, तिर्यंच आयु की सत्ता में महाव्रत और देवायु की सत्ता में क्षपकश्रेणी नहीं होती। अनंतानुबन्धी क्रोधमान माया लोभ का विसंयोजन (अप्रत्याख्यानावरण आदि रूप करना) चौथे से सातवें गुणस्थानों में से कहीं भी अनिवृत्ति करण परिणाम के अन्त में कर देता है। फिर मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक् प्रकृतिका क्षय करता है।

सोलट्ठेक्किगिछक्कं चदुसेक्कं बादरे अदोएक्कं।
खीणे सोलसड जोगे वावत्तरि तेरुवत्तंते।
णिरय तिरिक्खदु वियलं थीणतिगुज्जोवतावएइंदी।
साहरणसुहुमथावर सोलं मज्झिम कसायट्ठं॥
संढित्थिछक्कसाया पुरिसो कोहोय माण मायं च।
थूले सुहमे लोहो उदयं वाहोदि खीणम्हि॥

अर्थ—अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के पहले भाग में नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, ३ विकलेन्द्रिय, निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि, उद्योत, आतप, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर इन १६ प्रकृतियों को सत्वव्युच्छित्ति होती है। दूसरे भाग में अप्रत्याख्यान की ४, प्रत्याख्यान को ४ ये ८ प्रकृतियां, तीसरे भाग में नपुंसक वेद, चौथे भाग में स्त्री वेद, पाँचवें भाग में हास्य आदि ६ नो कषाय, छठे में पुरुष वेद, सातवें में संज्वलन क्रोध, आंठवें में मान, नौवें में माया की (कुल ३६ प्रकृतियों की) सत्वव्युच्छित्ति होती है। दशवें गुणस्थान में संज्वलन लोभ की व्युच्छित्ति

होती है। क्षीण कषाय गुणस्थान में ५ ज्ञानावरण, दर्शनावरण की ४ (चक्षु अचक्षु आदि), निद्रा, प्रचला, अन्तराय की ५ इस तरह कुल १६ प्रकृतियों की सत्वव्युच्छित्ति होती है।

देहादीफस्संता थिरसुहसरसुरविहायदुगसुभगं।
णिमिणाजसऽणादेज्जं पत्तेयापुण्ण अगुरुचऊ॥
अणुदयतदियं णीचमजोगिदुचरिमम्मि सत्तवोच्छिण्णा।
उदयगवा णराणू तेरस चरिमन्हि वोच्छिण्णा॥

अर्थ—(तेरहवें गुणस्थान में किसी भी प्रकृति की सत्वव्युच्छित्ति नहीं है) अयोग केवली गुणस्थान में औदारिक शरीर आदि स्पर्श तक की ५० प्रकृतियां, स्थिर अस्थिर, शुभ अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर, देव गति देवगत्यानुपूर्वी प्रशस्त, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भाग, निर्माण, अयशस्कीर्ति, अनादेय, प्रत्येक, अपर्याप्त, अगुरुलघु आदि ४, साता या असाता वेदनीय, नीचगोत्र ये ७२ प्रकृतियां अंत के प्रथम समय में सत्वव्युच्छित्ति होती हैं। अन्तिम समय में इसी गुण स्थान की उदयरूप १२ प्रकृतियां और मनुष्यगत्यानुपूर्वी ये १३ प्रकृतियां सत्ता से व्युच्छिन्न होती हैं।

सत्व असत्व प्रकृतियां—

णभतिगिणभइगि दोद्दो दसदस सोलट्ठगादिहीणेसु।
सत्ता हवंति एवं असहाय परक्कमुद्दिट्ठे॥

अर्थ—मिथ्यात्व गुणस्थान से अपूर्वकरण तक के आठ गुणस्थानों में क्रम से ०, ३, १, ०, १, २, २, १०, प्रकृतियों का असत्व है। नौवें गुण स्थान के पहले भाग में १०, दूसरे में १६, तीसरे आदि भाग ८ प्रकृतियों का असत्व है। असत्व प्रकृतियों को १४८ प्रकृतियों में से घटा देने पर शेष प्रकृतियां अपने अपने गुणस्थान में सत्वरूप हैं।

गाथा—

सव्वां तिगेग सव्वां चेगं छसु दोण्णि चउसु छद्दसय दुगे।
छस्सगदालं दोसु तिसट्ठी परिहीण पडिसत्तं जाणो॥

अर्थ—मिथ्यात्व गुणस्थान में १४८ प्रकृतियों की सत्ता है, दूसरे में ३ कम, तीसरे में १ कम, चौथे में सब, पांचवें में १ कम, प्रमत्त, अप्रमत्त में २ कम, उपश्रेणी की अपेक्षा अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों में ६ कम, क्षपक श्रेणी की अपेक्षा अपूर्व करण आदि दो गुणस्थानों में १० कम, सूक्ष्म साम्पराय में ४६ कम, सयोग केवली अयोग केवली में ६३ प्रकृतियां कम का सत्व है।

बंध-त्रिभंगी

गुणस्थान	मि०	सा०	मिश्र	अवि०	देश	प्रमत्त	अप्र०	अपू०	अनि०	सूक्ष्म	उप०	क्षीण०	योग	अयोग
व्युच्छित्ति	१६	२५	०	१०	४	६	१	३६	५	१६	०	०	१	०
बंध	११७	१०१	७४	७७	६७	६३	५९	५८	२२	१७	१	१	१	०
अबंध	३	१९	४६	४३	५३	५७	६१	६२	९८	१०३	११९	११९	११९	१२०

उदय त्रिभंगी

गुणस्थान	मि०	सा०	मिश्र	अवि०	देश	प्रमत्त	अप्र०	अपू०	अनि०	सूक्ष्म	उप०	क्षीण	योग०	अयोग
व्युच्छित्ति	१०	४	१	१७	८	५	४	६	६	१	२	१६	३०	१२
उदय	११७	१११	१००	१०४	८७	८१	७६	७२	६६	६०	५९	५७	४२	१२
अनुदय	५	११	२२	१८	३५	४१	४६	५०	५६	६२	६३	६५	८०	११०

उदीरणा त्रिभंगी

गुणस्थान	मि०	सा०	मिश्र	अवि०	देश	प्रमत्त	अप्र०	अपूर्व	अनि०	सूक्ष्म	उप०	क्षीण	योग०	अयोग
व्युच्छित्ति	५	९	१	१७	८	८	४	६	६	१	२	१६	३९	०
उदीरणा	११७	१११	१००	१०४	८७	८१	७३	६९	६३	५७	५६	५४	३९	०
अनुदीरणा	५	११	२२	१८	३५	४१	४९	५३	५९	६५	६६	६८	८३	०

सत्व त्रिभंगी

गुणस्थान	मि०	सा०	मिश्र०	अवि०	देश	प्रमत्त	अप्र०	अपू०	अनि०	सूक्ष्म	उप०	क्षीण	योग०	अयोग
व्युच्छित्ति	०	०	०	१	१	०	४	०	०	०	०	१६	०	८५
सत्व	१४८	१४५	१४७	१४८	१४७	१४६	१४६	१४२	१४२	१४२	१४२	१०१	८५	८५
असत्व	०	३	१	०	१	२	२	६	६	६	६	४७	६३	६३

कर्म की १० दशायें

कर्म की १० दशायें (करण) होती हैं—१ बन्ध (आत्म प्रदेशों के साथ कार्माण वर्गणों का संयोग), २ उत्कर्षण (बन्ध हो जाने पर कर्मों की स्थिति अनुभाग में वृद्धि होना), ३ अपकर्षण (कर्मों की स्थिति अनुभाग में कमी होना), ४ संक्रमण (कर्म प्रकृतिक अन्य प्रकृति रूप परिणत हो जाना) ५ उदीरणा (समय से पहले कर्म का उदय में आना), ६ सत्व (कर्मोंका आत्मा के साथ सत्तामें रहना), ७ उदय (कर्मका अपने समय पर फल देना), ८ उपशान्त (जो कर्म उदीरणा में न आ सके), ९ निधत्ति (जिस कर्म की उदीरणा संक्रमण न हो सके), १० निकाचित (जिस कर्म की उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण न हो सके।)

पुण्यं द्विविधम् ।५९।

अर्थ-पुण्य के दो भेद हैं—१ द्रव्य पुण्य, २ भाव पुण्य। शुभ कर्म के आस्रव के कारणभूत जो सम्यक्त्व सहित, अणुव्रत, महाव्रत, समिति, दान, पूजन आदि के शुभ परिणाम हैं वह भाव पुण्य है।

शुभ परिणामों के कारण जो शुभ कर्मों का बन्ध होता है वह द्रव्य पुण्य है। द्रव्य पुण्य के ४२ भेद हैं। उन पुण्य प्रकृतियों के नाम ये हैं—साता वेदनीय, तिर्यञ्च आयु, मनुष्यायु, देवायु, उच्च गोत्र, देवगति, मनुष्यगति पंचेन्द्रिय जाति, ५शरीर, ३अंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभ नाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण, तीर्थंकर। ५ बंधन, ५संघात को शरीरोंमें और स्पर्श, रस, गंध, वर्णके उत्तर भेदों को मूल भेदों में सम्मिलित किया गया है। उत्तर भेद सहित ६८ प्रकृतियां हैं।

पापं च द्विविधम् ।६०।

अर्थ-पाप भी दो प्रकार है १ द्रव्य पाप, २ भाव पाप।

मिथ्यात्व सहित तीव्र कषाय भाव, (हिंसा, असत्य, चोरी व्यभिचार, परिग्रह आदि के अशुभ परिणाम भाव पाप हैं। पाप परिणामों के कारण जो दुखदायक अशुभ कर्मों का बन्ध होता है वह द्रव्यपाप है। द्रव्यपाप प्रकृतियां ८४ हैं।

ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ९, मोहनीय की २८, अन्तराय की ५, नरकगति, तिर्यञ्च गति, एकेन्द्रिय आदि ४ जाति, ५ संस्थान, ५ संहनन,

अप्रशस्त वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, नरकायु, असाता वेदनीय, नीचगोत्र, ये पाप प्रकृतियां हैं।

कहा भी है—

सुह असुहभाव जुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।
सादं सुहाउणामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च ॥

इसका अभिप्राय ऊपर लिखा है।

संवरश्च ।६१॥

अर्थ—संवर के भी दो भेद हैं-१ द्रव्य संवर, २ भाव संवर।

निज शुद्ध परमात्म रुचि, स्वशुद्ध आत्म अनुभूति रूप, निश्चय रत्नत्रय-रूप परिणामों से कर्म आस्रव नहीं होता है, अतः कर्म आस्रव निरोध रूप के परिणाम भाव संवर हैं। उन भावसंवर रूप परिणामों के कारण द्रव्य कर्मों का आस्रव नहीं होता वह द्रव्य संवर है।

निश्चय नय से अपने आप ही आत्मा सिद्ध होता है, अतः वह निरपेक्ष है, सहज परम पारिणामिक भाव की अपेक्षा से नित्य है।

परम उद्योत स्वभाव से स्वपर प्रकाश को समर्थन करने वाला है। आदि अन्त तथा मध्य से रहित है। दृष्ट श्रुतानुभूत भोग-कांक्षा रूप निदान बन्धादि समस्त रागादि मल से रहित अत्यन्त निर्मल है। परम चैतन्य विलास लक्षणों से परम सुख मूर्ति है। निरास्रव सहज भाव की अपेक्षा समस्त कर्म संवर के लिए कारण है, ऐसा शुद्ध चैतन्य भाव भाव संवर है। भाव सवर के कारण जो कार्य रूप नवीन द्रव्य कर्म का आस्रव न होना द्रव्य संवर है। कहा भी है।

वदसमिदी गुत्तीओ धम्माणुपिहा परीसह जयोय।
चारित्तं बहुभेया णादव्वा भाव संवरविसेसा ३०६।

यानी—व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह जय ये भाव संवर के विशेष भेद हैं।

एकादश निर्जराः ।६२।

अर्थ—कर्म निर्जरा के ११ स्थान हैं।

१ शुद्धात्म रुचिरूप सम्यक्त्व उत्पत्ति में, २ श्रावक व्रत ग्रहण में, ३ महाव्रत धारण करने में, ४ अनन्तानुबन्धी को विसंयोजन करने में, ५ दर्शन

मोहनीयको क्षपण करने में, ३ उपशमश्रेणी आरोहण करने में, ७ उपशान्त कषाय में, ८ क्षपक श्रेणी में, ९ क्षीण कषाय में, १० स्वस्थान जिन में तथा ११ समुद्घात जिन में, कहे हुये, निर्जरा के ११ स्थान हैं। इनमें पूर्व पूर्व की अपेक्षा असंख्यात गुण क्रम से कर्मों की निर्जरा होती है। रत्न त्रयात्मक परिणाम रूप से अविपाक निर्जरा, निर्विकार परम चैतन्य लक्षण निज परमात्म रूप भावना के परिणाम में परिणति करने वाले आत्म का परिणाम संवर पूर्वक उत्कृष्ट तप है। इसी तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है।

त्रिविधो मोक्ष हेतुः।६३।

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र ये तीन मोक्ष के कारण हैं। वीतराग सर्वज्ञ निर्दोष परमेश्वर परम भट्टारक तथा उनके मुख कमल से निकले हुये पूर्वापर विरोध रहित निर्दोष परमागम को और उस परमागम में कहे हुये षड् द्रव्य पांच अस्तिकाय तथा ९ पदार्थ को एवं उस सर्वज्ञ प्रणीत क्रम से चलने वाले तपस्वी का मूढत्रयादि २५ मल दोषों से रहित होकर विश्वास (श्रद्धान) करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

इन कहे आगम, पदार्थ तथा तपस्वी आदिकों को संशय तथा दोष रहित होकर जानना व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहलाता है। भगवान जिनेश्वर प्रणीत परमागम में उक्त गुण, शिक्षा, व्रतादि देशव्रतो में, २८ मूल गुण और ८४ गुणात्मक महाव्रतों में निरतिचार पूर्वक आचरण करना व्यवहार सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार यह व्यवहार रत्नत्रय साधक है। ज्ञानावरणादि समस्त कर्मों से निर्मुक्त केवलज्ञानादि समस्त गुण समेत आत्मा ही मेरे लिये साक्षात् मोक्ष का कारण है और "आत्मोत्थ सुख ही मोक्ष रूप नित्य है" ऐसा विश्वास करके उसी में रुचिपूर्वक रत रहना निश्चय सम्यग्दर्शन है।

निष्कर्म, नित्य, निरंजन, निरुपम, निर्लेप निज शुद्धात्मा ही मेरा साक्षात् मोक्ष का कारण है, आत्मोत्थ सुख ही वास्तविक सुख है, मोक्ष ही नित्य है और सदा यही आत्मा को सुख शांति देने वाला है इस प्रकार समझकर निश्चय से अपनी आत्मा में रत होना निश्चय सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

कर्मोपाधि-निरपेक्ष परम सुख मूर्ति, सदानन्द, चिदानन्द, नित्यानन्द, ज्ञानानन्द, परमानन्द, निज शुद्धात्मा का सविकल्प-निर्विकल्प रूप से ध्यान करना निश्चय चारित्र है। इस प्रकार निश्चय रत्नत्रय साध्य है और उभय रत्नत्रय से उत्पन्न हुआ मोक्ष साध्य है।

द्विविधो मोक्षः ॥६४॥

अर्थ—मोक्ष दो प्रकार की है १ द्रव्य मोक्ष, २ भाव मोक्ष।

घाति कर्मों के क्षय की अपेक्षा अर्हन्त अवस्था प्राप्त होना द्रव्य मोक्ष है और अनन्त चतुष्टय प्राप्त होकर अर्हन्त पद प्राप्त करना भाव मोक्ष है। ये एकार्थ-वाची हैं। कर्म से रहित होना, कर्म क्षय करना, कर्मों से आत्मा का पृथक् होना अथवा आत्म-स्वरूप की उपलब्धि होना या कृत्स्न (समस्त) कर्मों से मुक्त होना मोक्ष है, यह सब कथन भी एकार्थ वाचक है। इस तरह समस्त पर विजय प्राप्त करना द्रव्य मोक्ष है। वही उपादेय है।

मूलुत्तर पयडीणं बंधोदयसत्तकम्म उम्मुक्क ।
मंगल भूदा सिद्धा अट्ठगुणातो तसंसारा ॥११०॥

अर्थ—कर्म की समस्त मूल तथा उत्तर प्रकृतियों के बन्ध, उदय, सत्व से छूटे हुए मंगलमय सिद्ध भगवान है जोकि आठ कर्मों के क्षय से प्रगट हुए आठ गुणों से सहित हैं और संसार से पार हो चुके हैं।

प्रकृति, प्रदेश आदि कर्मों से युक्त जीवों के तीन भेद है—१ बहिरात्मा, २ अन्तरात्मा, ३ परमात्मा। कहा भी है-

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु ।
उपेयस्तत्र परमं मध्ये पायात् बहिस्त्यजेत् ॥

अर्थ—आत्मा तीन तरह का बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा। इनमें से परमात्मा उपादेय है, अन्तरात्मा को पाना चाहिये और बहिरात्मता को त्याग देना चाहिए।

शुद्ध आत्म-अनुभव से विपरीत इन्द्रिय सुख में लीन रहने वाला बहिरात्मा है। अथवा अमूर्त शुद्ध आत्मतत्व भावना से रहित देह आदि पर-द्रव्य को आत्मा मानने वाला बहिरात्मा है। उससे प्रतिपक्ष भावना वाला अन्तरात्मा है। आत्मा से भिन्न पुद्गल कर्मों के निमित्त से उत्पन्न हुए राग द्वेष आदि विकार भावों के कारण शुद्ध चैतन्य आत्म स्वरूप में, सर्वज्ञ प्ररूपित नव पदार्थों में से किसी में भी, परस्पर अपेक्षा रहित श्रद्धान ज्ञान से रहित बहिरात्मा है। इससे भिन्न शुद्ध आत्म स्वरूप का अनुभवी, आत्मा और देह में विवेक रखने वाला, वीतराग उपदिष्ट तत्वों में रुचि रखने वाला सम्यग्दृष्टि सम्यग्ज्ञानी अन्तरात्मा है।

परमात्मा

आत्मा की परम–उत्कृष्ट स्वच्छ निर्मल दशा का प्रगट होना ही परमात्मा पद है। घाति कर्म नष्ट हो जाने पर वीत राग अर्हन्त भगवान **परमात्मा** कहलाते हैं। अपने केवल ज्ञान द्वारा वे लोक अलोक में व्याप्त होने के कारण उनको '**विष्णु**' कहते हैं। दिव्य वाणी रूप सरस्वती तथा मुक्ति लक्ष्मी के पति होने से उनका नाम '**माधव**' (मायाः धवः–माधवः) भी है। पूर्णशुद्ध निज ब्रह्म में निरन्तर तन्मय रहने के कारण तथा परम सुन्दरी उर्वसी रम्भा तिलोत्तमा आदि देवाङ्गनाओं द्वारा भी ब्रह्मचर्य से परिभ्रष्ट न होने कारण उनकी संज्ञा '**ब्रह्म**' है। अपने दिव्य उपदेश द्वारा त्रिलोक में शान्त सुख स्थापित करते हैं अतः वे '**शंकर**' (शंकरोति इति शंकरः) हैं।

सर्वज्ञ वीतराग रूप वे स्वय हुए हैं, उनका यह रूप किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं हुआ अतः वे '**अज**' [न जायते केनापि स अजः] हैं। समवशरण छत्र, चमर, सिंहासन आदि बाह्य सब ऐश्वर्य एवं अनन्त ज्ञान आदि अन्तरंग ऐश्वर्य से शोभायमान होने के कारण वे यथार्थ में '**ईश्वर**' भी हैं।

मुक्ति प्राप्त होने से तथा शुद्ध ज्ञान मय होने से वे '**सुगत**' हैं। कर्म शत्रुओं को जीत लेने के कारण उनका '**जिन**' [जयति इति जिनः] नाम भी विख्यात है। इन्द्र धरणीन्द्र चक्रवर्ती सम्राट आदि द्वारा पूज्य होने से उनका '**अर्ह**' वा '**अर्हन्**' नाम भी विश्वविख्यात है। मोहनीय कर्म को '**अरि**' शत्रु कहते हैं मोहनीय कर्म के नाशक होने से उन्हें '**अरिहन्**' [अरिंहन्ति इति अरिहन्] कहते है। 'रजः' ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मों का नाम हैं अर्हन्त भगवान दोनों कर्मों को नाश कर चुके हैं अतः उन्हें **रजोहरण** भी कहते हैं। 'रहस्' नाम अन्तराय का है, अन्तराय कर्म के विजेता होने के कारण उनका नाम '**रहस्यगुर**' भी है।

मुक्ति पथ के निर्माता होने के कारण उन्हें '**विधाता**' कहा ज ता है। इस प्रकार परमात्मा अर्हन्त भगवान की १००८ नामों से इन्द्र ने स्तुति की।

इस प्रकार आत्मा के तीन रूप हैं।

इनमें से जो जीव भव्य है किन्तु वर्तमान में मिथ्यादृष्टि हैं, उनमें बहिरात्म-स्वरूप व्यक्त रूप में पाया जाता है। तथा अन्तरात्मा और परमात्मा उनमें शक्ति रूप से हैं, भावी नैगम नयकी अपेक्षा उनमें अन्तरात्मा तथा परमात्मा रूप व्यक्तरूप से है।

अभव्य जीव में बहिरात्म-तत्व व्यक्त रूप से है, अन्तरात्मा, परमात्मा दोनों रूप शक्ति रूप से रहते हैं। भावी नैगम नय की अपेक्षा से व्यक्त नहीं है। अभव्य जीव में परमात्मारूप यदि व्यक्त होता है तो फिर वह अभव्य किस प्रकार माना जावेगा ?

किन्तु शुद्ध नयकी अपेक्षा से भव्य और अभव्य दोनों का परमात्मा स्वरूप समान है। कहा भी है —

"सव्वे सुद्धा सुद्धनया"

अभव्य में परमात्म पर प्रकट न हो सकने रूप स्वाभाविक अयोग्यता है जैसे कि बन्ध्या स्त्री में सन्तान उत्पन्न न कर सकने रूप स्वाभाविक अयोग्यता होती है। भव्यों में कुछ भव्य दूरातिदूर भव्य होते हैं जिनमे परमात्मा होने की स्वाभाविक योग्यता होते हुए भी परमात्मत्व के कारणभूत सम्यग्दर्शन गुण प्राप्त होने का नितित्त कभी नहीं मिल पाता अतः वे मब अनन्त काल संसारी ही रहते हैं। जैसे कुलीन बाल विधवा स्त्री में सन्तान पैदा करने की योग्यता है फिर भी पुरुष का समागम न मिलने में वह गर्भ धारण नहीं कर पाती।

तीनों आत्माओं के गुणस्थान—

पहले तीन गुणस्थान के जीव तरतमभाव से बहिरात्मा हैं। असंयत गुणस्थान वर्ती जघन्य अन्तरात्मा है। देशविरत से लेकर उपशांत कषाय गुणस्थान तक (५, ६, ७, ८, ९, १०, ११ गुणस्थान वाले) तरतम भाव से मध्यम अन्तरात्मा है। क्षीण कषाय गुणस्थानवर्ती जीव उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं। सयोग केवली भगवान अयोग केवली भगवान शुद्धनिश्चयनय से सिद्ध सदृश परमात्मा है। सिद्ध परमेष्ठी साक्षात् परमात्मा हैं। आत्मा के इन तीन रूपों में संसार कारण की अपेक्षा से बहिरात्मापन हेय है अर्थात् त्यागने योग्य है।

मोक्षसुख का कारणभूत अन्तरात्म रूप उपादेय है यानी ग्रहण करने योग्य है। शुद्ध ज्ञानानन्दमय होने के कारण परमात्मस्वरूप साक्षात् उपादेय है। ऐसा समझकर भव्य जीव को परमात्म स्वरूप प्राप्त करने योग्य है। इन ही परमात्मा का ध्यान करना योग्य है। विषय कषायादि दुष्परिणाम के परिहार करने के लिए सविकल्प अवस्था में अर्हत सिद्धआचार्य उपाध्याय सव साधु के गुणस्मरण तथा भक्ति पूर्वक जाप और ध्यान करनेवाले के भाव शुद्ध होती है और अंत में उत्तम फल की प्राप्ति होती है।

पणतीस सोलछप्पण चदुदुगमेगचं जवहझायेह।
परमेष्ठि वाजयाण अण्कचगुरुव देसेण ॥१११॥

अरहंता असरीरा आइरियातह उवज्झायामुणिणो ।
पढमक्खरणि पण्णा ओंकारो पंचपरमेष्ठी ॥११२

इस प्रकार पराश्रित ध्यान का स्वरूप है स्वआश्रित ध्यान का स्वरूप यों है भोगोपभोगादि चेतन अचेतन समस्त परद्रव्यों से निरालंब परिणाम रूप जो स्वसंवेदन ज्ञान है वह ज्ञान बाहरी लाभ ख्याति, पूजा, दृष्ट श्रुतानुभूत कांक्षा, निदान बन्धादि समस्त रागादि विभाव परिणति से रहित होता है, त्रिकरण शुद्धि पूर्वक स्वशुद्धात्म-भावनोत्थ वीतराग परमानन्द सुख में रत होते हुए परमार्थ सहज शुद्ध चित्तस्वसंवित्ति लक्षणरूप निज परमात्मतत्व ही सम्यक्त्व ज्ञानाचरण से युक्त है निश्चय रत्नत्रयात्मक भावना से उत्पन्न सर्वात्म प्रदेशाल्हादक कारण रूप परम समरसी भाव सुखामृत में तन्मय होकर शान्त रस से तृप्त होकर परम निर्विकार निःसग अपने निजात्म सन्मुख होकर उसी में तन्मय होते हुए उसी में परिणामन होकर ध्यान करना इसको निश्चय ध्यान कहते हैं।

वीतराग परमानन्द सुखामृत से अपने भीतर स्फुराय मान होना इसका नाम दिव्य आत्मकला है। वही शुद्धात्मानुभूति है शुद्धात्मा संवित्ति है, और वही परमानन्द है, सहजानन्द है, सदानन्द है, चिदानन्द है, नित्यानन्द है, ज्ञानानन्द है, भूतार्थ है, परमार्थ है, निश्चय पंचाचार है, समयसार है, अध्यात्म है, और वही परममंगल है। परमोत्तम है, परम शरण है, परम केवल ज्ञानोत्पत्ति कारण है और कर्म क्षय कारण है, परम देवे है। वही शुद्धोपयोग है, शुक्ल ध्यान है, रूपातीत ध्यान है और वही चतुर्विध आराधना है। वही निश्चय षडावश्यक कर्म है, परम स्थान है, वही परम समाधि है। परम स्थान है, परम भेद विज्ञान है और परम स्वसंवेदन है तथा वही परम समरसी भाव है।

इस स्वरूपाश्रित ध्यान से मोहनीय कर्म का नाश होता है। तत्पश्चात् ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तराय से तीन घाति कर्म नाश होने से केवल ज्ञान होता है। बन्ध के कारण रहित होने तथा सकल निर्जरा होने के कारण प्रकृति स्थिति अनुभाग प्रदेश बन्ध तथा उदय उदीरण सत्व कर्मों का निरविशेष होना इसी का नाम मोक्ष है। मोक्ष मे क्षायिक सम्यक्त्व केवल ज्ञान, केवल दर्शन अनन्त सुख, सिद्धत्व, होता है। इसके सिवाय शेष औपशमिकादि भाव नाश हो जाते हैं। इस तरह सम्पूर्ण कर्म नाश होने से यह आत्मा सीधा लोकशिखर तक ऊर्ध्व गमन करता है। इसके लिए दृष्टांत—

जैसे कुम्हार हाथ में डण्डा लेकर उससे चाक को घुमाता है, तो चाक

घूमने लगता है। उसके बाद कुम्हार डण्डे को हटा लेता है फिर भी चाक जब तक उसमें पुराना संस्कार रहता है तब तक घूमता रहता है।

इसी तरह संसारी जीव मुक्ति की प्राप्ति के लिए बार-बार प्रयत्न करता था, कि कब मुक्ति गमन हो। जीव मुक्त हो जाने पर वह भावना और प्रयत्न नहीं कर रहा फिर भी पुराने संस्कार वश जीव मुक्ति-स्थान की ओर गमन करता है।

जैसे मिट्टी के भार से लदी हुई तूंबी जल मे डूबी रहती है। किन्तु मिट्टी का भार दूर होते ही जल के ऊपर आ जाती है। वैसे ही कर्म के भार से लदा हुआ जीव कर्म के वश होकर संसार मे डूबा रहता है। किंतु ज्यों ही उस भार से मुक्त होता है तो ऊपर को चला जाता है।

जैसे एरण्ड के बीज एरण्ड के डोडे में बन्द रहते है। ज्यों ही डोडा सूखकर फटता है तो उछलकर ऊपर को ही जाते है। वैसे ही मनुष्य आदि भवों में ले जाने वाले गति नाम, आदि समस्त कर्म बन्ध के कट जाने पर आत्मा ऊपर को ही जाता है। जैसे वायु के न होने पर दीपक की लौ ऊपर को ही जाता है। वैसे ही मुक्त जीव भी अनेक गतियों मे ले जाने वाले कर्मों के अभाव से ऊपर को ही जाता है। जैसे आग का स्वभाव ऊपर को जाने का है वैसा ही जीव का स्वभाव भी ऊर्ध्व गमन ही है। गति में सहायता करनेवाले धर्मास्तिकाय लोक के शिखर तक ही है आगे नही है अत मुक्त जीव लोक के अन्त तक ही जाकर ठहरता है आगे नही जाता।

द्वादश सिद्धस्यानुयोगद्वाराणि ॥६५॥

अर्थ—सिद्ध परमेष्ठी का १२ विकल्पो से विशेष विवरण जाना जाता है। वे १२ विकल्प (अनुयोग) ये है—१—क्षेत्र, २—काल,--३गति, लिङ्ग, ५-तीर्थ, ६—चारित्र, ७--प्रत्येक बुद्ध बोधित, ८--ज्ञान, ९--अवगाहना, १०--अन्तर ११--संख्या, १२--अल्प बहुत्व।

यद्यपि समस्त सिद्ध शुद्ध, निरञ्जन, निर्विकार आत्मदृष्टि से एक समान हैं परन्तु भूतग्राहक नय की अपेक्षा उक्त विकल्पो मे परस्पर भेद है।

क्षेत्र की अपेक्षा प्रत्युत्पन्न ग्राहक नय विवक्षा से सिद्ध क्षेत्र, स्वआत्म-प्रदेशों में, आकाश प्रदेशो में सिद्ध होते है। भूत ग्राहक नय की अपेक्षा से सिद्धो का क्षेत्र १५ कर्म भूमि हैं। अपहरण की दृष्टि से ढाईद्वीप, दो समुद्रवर्ती क्षेत्र से सिद्धि प्राप्त होती है।

किस काल में सिद्ध होते है? इस अनुयोग के अनुसार उत्तर है कि

वर्तमान ग्राही नयकी अपेक्षा एक समय मे सिद्ध हुआ करते है। भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी के सुषमादु:षमा काल के अन्त में तथा दु:षमासुषमा काल में उत्पन्न हुआ मनुष्य सिद्ध होता है। दुखमा काल में उत्पन्न हुआ मनुष्य सिद्ध नहीं होता। संहरण की अपेक्षा (विदेह क्षेत्र आदि से किसी मुनि को उठाकर अपहरण करके कोई देव आदि किसी अन्य क्षेत्र में छोड दे) उत्सर्पिणी अवसर्पिणी के सभी कालो में सिद्ध हो सकते है।

किस गति से सिद्ध होते है ? इस अनुयोग का उत्तर है कि सिद्धगति मे सिद्ध होते है। भूतपूर्व नयकी अपेक्षा भिन्न भिन्न चारो गति के जीव मनुष्य भव पाकर सिद्ध हुआ करते है।

लिग की अपेक्षा किससे सिद्धि होती है, इसके समाधान में उत्तर है लिग शब्द के दो अर्थ है —१ वेश, २--वेद। वेश की अपेक्षा वर्तमान ग्राही नयानुसार निर्ग्रंथ लिग से सिद्ध होते है, भूतग्राही नयानुसार सग्रन्थ लिग से (निर्ग्रन्थ दीक्षा लेने से पहले) सिद्धि हाती है। वेदार्थवाची लिग शब्दानुसार वर्तमानग्राही नयका अपेक्षा अलिग से सिद्ध होते है, भूत काल की अपेक्षा द्रव्य पुरुष एवं भाव पुरुष, भाव स्त्री, भाव नपुंसक लिंग से सिद्धि होती है।

लिग शब्द का अर्थ चिन्ह भी है तदनुसार सिद्ध होनेवाले सभी मुनियो का भावलिग तो निर्ग्रन्थ ही होता है। द्रव्यलिग की अपेक्षा कुछ विकल्प होते है सर्व साधारण मुनि यथाजात रूप मे सर्व परिग्रहत्यागी नग्न होते है किंतु शोच के लिए जलका कमण्डलु, सयम (जीव रक्षा) के लिए मोर के पंखो को पीछी तथा ज्ञान का उपकरण शास्त्र अपने साथ रखते हैं इस तरह उनका द्रव्यलिग पीछीकमण्डलु, शास्त्र होता है परन्तु तीर्थंकरों के जन्म से ही मल मूत्र नही होता अतः उनको शौच के लिए जलका कमण्डलु रखने की आवश्यकता नही होती, वे अवधिज्ञानी भी जन्म से होते हैं, अतः वे अपने साथ शास्त्र भी नही रखते। इस तरह नग्न रहते हुए भी उनका द्रव्य लिग शास्त्र, पीछी कमंडलु के बिना होता है।

चारित्र का अपेक्षा वर्तमान-ग्राहक नयके अनुसार यथाख्यात चारित्र से या नाम-रहित चारित्र से सिद्धि होती है, अतीत की अपेक्षा किसी मुनि को परिहार विशुद्ध चारित्र होता है किसी को नही होता। तदनुसार किसी को तीन चारित्र से तथा किसी को ४ चारित्रों से सिद्धि होती है।

तीर्थ की अपेक्षा किन्हीं को सिद्धि तीर्थंकर के सद्भाव मे होती है, कोई तीर्थंकर के न रहते हुए सिद्ध होते हैं।

प्रत्येक बुद्ध बोधित—कोई मनुष्य अन्य किसी मुनि आचार्य गणधर तीर्थङ्कर आदि के उपदेश द्वारा प्रतिबुद्ध होकर मुनि बनकर सिद्ध होते है, तीर्थंकर आदि कोई व्यक्ति स्वयं विरक्त एवं प्रतिबद्ध होकर मुक्त होते हैं।

ज्ञान—कोई मुनि मति, श्रुत ज्ञान से केवल-ज्ञान प्राप्त करके सिद्ध होते हैं, कोई मति, श्रुत, अवधिज्ञानी होकर केवल ज्ञानी होते हैं, कोई मति श्रुत मन पर्याय ज्ञानी होते हुए केवल ज्ञान प्राप्त करके सिद्ध होते हैं और कोई मुनि मति, श्रुत, अवधि मनपर्ययज्ञान पूर्वक केवल ज्ञानी बनकर सिद्ध होते हैं। इस तरह ज्ञान की अपेक्षा भूत-प्रज्ञापन नय मे अनेक भेद हैं, वर्तमान नयानुसार केवलज्ञान से ही सिद्ध होते हैं।

अवगाहना–सिद्ध होने वाले मुनि की उत्कृष्ट अवगाहना (शरीर का कद) ५२५ धनुष है जैसा कि बाहुबली का शरीर था। जघन्य अवगाहना ३॥साढे तीन हाथ की है। इन दोनों अवगाहनाओं के बीच के बहुत से भेद हैं। इस तरह अवगाहना की अपेक्षा अनेक विकल्प हैं। सिद्ध अवस्था में अपने अंतिम शरीर से कुछ कम अवगाहना होती है।

अन्तर–यदि निरन्तर सिद्ध होते रहें तो कम से कम दो समय तक और अधिक से अधिक आठ समय तक निरन्तर सिद्ध होते रहे। यदि अन्तर पड़े (कोई भी व्यक्ति सिद्ध न हो) तो कम से कम एक समय तक और अधिक से अधिक ६ महीने का अन्तर पड़ जाता है, तदनुसार किसी विवक्षित सिद्ध के विषय में विचार किया जा सकता है।

संख्या–कम से कम एक समय में एक ही जीव सिद्ध होता है, अधिक से अधिक एक समय में १०८ जीव सिद्ध होते हैं। मध्यवर्ती संख्या के अनेक विकल्प हैं।

अल्प बहुत्व–क्षेत्र आदि की अपेक्षा सिद्धों की थोड़ी बहुत संख्या का विचार करना अल्प-बहुत्व अनुयोग है। वर्तमान ग्राही नयानुसार सभी सिद्ध सिद्ध क्षेत्र में हैं उनमें अल्प बहुत्व का अनुयोग नहीं होता। भूत नय की अपेक्षा से अनेक विकल्प होते हैं। कोई मुनि अपने जन्म क्षेत्र (कर्म भूमि) से सिद्ध होते हैं इनकी संख्या सबसे अधिक होती है। किन ही मुनियों को उनके पूर्व का शत्रु कोई देव आदि उस क्षेत्र से उठाकर आकाश से पटक देता है, उनमें से कोई-कोई पृथ्वी या जल में गिरने से पहले आकाश में ही कर्म काट कर सिद्ध हो जाते हैं ऐसे मुनि या सिद्ध सबसे थोडे होते हैं, कोई मुनि किसी पाताल (गहरे गड्ढे) में गिर कर सिद्ध हो जाते हैं वे आकाश सिद्ध की अपेक्षा अधिक

होते हैं, कोई मुनि देवादि द्वारा अपहरण हो जाने पर नदी समुद्र तालाब आदि में गिरा दिये जाते हैं उस उपसर्ग की अवस्था में भी आत्मनिमग्न रह कर जो सिद्ध हो जाते हैं, वे पूर्वोक्त सिद्धों की अपेक्षा अधिक होते है। कोई मुनि दूसरे क्षेत्र में छोड दिये जाते हैं वहां से वे मुक्ति प्राप्त करते हैं, उनकी संख्या और अधिक होती है। इत्यादि विकल्पों द्वारा सिद्धों का अल्प-बहुत्व-अनुयोग से विभाग किया जाता है।

अष्टौ सिद्धगुणाः ॥६६॥

अर्थ—सिद्ध भगवान के आठ गुण होते हैं।

सम्मत्तणाणदंसणवीरिय सुहुमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलहुमव्ववाहं अट्ठगुणा हुंति सिद्धाणं ॥११३॥
अट्ठविहकम्ममुक्का सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥११४॥

यानी—सिद्धों में आठ कर्मों के क्षय हो जाने से ८ गुण होते हैं। १ सम्यक्त्व (मोहनीय कर्म के नाश से), २ केवल ज्ञान (ज्ञानावरण के नाश से), ३ केवल दर्शन (दर्शनावरण के नाश से), ४ अनन्तवीर्य (अन्तराय के नाश से), ये चारों गुण अनुजीवी हैं। ५ अगुरुलघु (गोत्र कर्म के नाश से ऊंच नीच के अभाव रूप), ६ अवगाहन (नाम कर्म के नाश से दूसरों को स्थान देने तथा स्वयं दूसरों में स्थान पाने रूप), ७ सूक्ष्मत्व (नाम कर्म के अभाव से सूक्ष्मता), ८ अव्याबाध (वेदनीय कर्म के अभाव से बाधा-रहितपना) ये पिछले ४ गुण प्रतिजीवी हैं।

प्रश्न—शरीर-रहित सिद्धों को क्या कितना कुछ सुख होता है?

उत्तर जैसे खुजली के रोग वाले को खुजली से व्याकुलता होती है तब वह अपने खुजली के फुन्सी फोड़ों को खुजाता है, खुजाने समय कुछ देर के लिए उसे बहुत आनन्द आता है किन्तु जैसे ही खुजाना वह बंद कर देता है, तब उन फोड़े फुन्सियों में जो वेदना होती है उसे वही जानता है। इन्द्रियों के विषय-जन्य सुख भी ऐसे ही हैं। सिद्धों का सुख इन्द्रिय विषयों की खुजली से रहित, पराधीनता से रहित, निरन्तर, सदा रहने वाला आत्मोत्थ (स्वयं आत्मा से उत्पन्न हुआ) सुख है, उसमें व्याकुलता लेशमात्र भी नहीं है, अतः सिद्धों का सुख स्वाधीन, नित्य, निराकुल, निश्चिन्त, शान्त शाश्वत है।

आत्मोपादनसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालम् ।
वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वन्द्वभावम् ।
अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपममभितं शाश्वतं सर्वकालम् ।
उत्कृष्टानन्तसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम् ॥

यानी—सिद्ध परमेष्ठी का सुख स्व-आत्मरूप उपादनकारण मे सम्पन्न हुआ है, अतिशयशाली है, बाधा रहित है, सीमा-रहित विशाल है, उसमें कमी-वेशी नहीं होती, बाहरी विषयों से उसका कुछ संबन्ध नहीं, उसका कोई प्रतिपक्षी नहीं है, अन्य पदार्थ के आश्रय से नहीं होता, अनुपम है, अनन्त है सदा निरन्तर रहने वाला है, उत्तम है, अनन्त सार-सम्पन्न है, अतः सिद्ध परमेष्ठी का सुख परम सुख है ।

त्रैकाल्ये त्रिलोकेषु प्राणिनां पिण्डितात् सुखात् ।
अनन्तगुणितं प्रोक्तं सिद्धक्षणसुखाम्बुधेः ॥

यानी—त्रिकालवर्ती त्रिलोकवर्ती जीवों के सुख को एकत्र किया जाय उससे भी अनन्त गुणा सुख सिद्धों को एक क्षण का बतलाया गया है ।

अंतिम मंगल के रूप में टीकाकार कहते हैः—

तिरधियसयणवणउदीछण्णवदी अप्पमत्त वेकोडी ।
तद् गुणा हु पमत्ता अजोगिणो खवगपरिमाणा ॥११७॥

अर्थ—२९६९९१०३ अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि हैं, उनसे दूने ५९-३९८२०६ प्रमत्त गुणस्थानवाले मुनि हैं । क्षपक श्रेणी वाले मुनियों के बराबर आयोग केवली हैं ।

तिसयं हवंति समगा खगवा तद् गुण जोगिअडलक्खा ।
अडणउदि सहसपणसयदुगं च संखेति णायव्वा ॥११८॥
सत्तादी अट्ठंता छण्णवमज्झा य संजदा सव्वे ।
अंजलिमौलियहत्थो तियरणसुद्धे णमंसामि ॥११९॥

अर्थ—३०० मुनि उपशम श्रेणी वाले होते हैं, क्षपक श्रेणी वाले उनसे दूने हैं । (किसी आचार्य के मत से उपशम श्रेणी वाले ३०४ होते हैं । और किसी आचार्य के मत से उनकी संख्या २९९ है ।) सयोगकेवलियों की संख्या ८९८५०२ है ।

अर्थ—छठे गुणस्थान से १४वें गुणस्थान तक के समस्त संयमियों की संख्या ८९९९९९९७ है, उनको त्रियोग शुद्धि के साथ हाथ जोड़ शिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ ।

पुरुनत्याद्विवयं सार्द्धं द्वीपद्वितयवर्तिनः ।
वन्दामहे त्रिसंख्योननवकोटिमुनीश्वरान् ॥१२०॥
न्यूनकोटिनवाचार्यान् ज्ञानदृक्चरणाञ्चितान् ।
ज्ञानदृक्सुखवीर्यार्थमानमाम्यार्यवन्दितान् ॥१२१॥

अर्थ—इन दोनों श्लोकों द्वारा भी पूर्वगाथानुसार ढाई द्वीपवर्ती समस्त यानी तीन कम नौ करोड़ मुनियों को नमस्कार किया गया है।

नमोवृषभसेनादिगोतमान्तगणेशिने ।
मूलोत्तर गुणाढ्याय सर्वस्मै मुनये नमः ॥१२२॥

अर्थ—श्री वृषभसेन से लेकर गौतम गणधर तक मूलगुण उत्तरगुण-धारक समस्त मुनियों को नमस्कार करता हूं।

भेदाभेदसमाख्यातसद्रत्नत्रयशोभिने ।
सर्वस्मै योगिवर्गाय नमस्कुर्वे स्वसिद्धये ॥१२४।

अर्थ—अपनी आत्मसिद्धि के लिये मैं भेद अभेद रत्नत्रय से विभूषित समस्त मुनियों को नमस्कार करता हूं।

श्री अन्तिम तीर्थङ्कर विश्ववन्द्य भगवान महावीर स्वामी के पश्चात् गौतम, सुधर्म, जंबु स्वामी ये तीन अनुबद्ध केवली हो गये हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूं। अंतिम अननुबद्ध केवली श्रीधर हुए हैं उनको मेरी वन्दना है। तदनन्तर श्री नंदि, (विष्णु), नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु इन पांच श्रुतकेवलियों को मेरा नमस्कार है।

श्री विशाख मुनि, प्रोष्ठिलयति, क्षत्रिय योगी, जयऋषि, जयनागयोगी सिद्धार्थ, धृतिषेण विजयसेन, बुद्धिल, गंगदेव, क्रम से इन ११ अंग दशपूर्व धारी ग्यारह आचार्यों को अपने हृदय में स्मरण करके नमस्कार करता हूं।

श्री नक्षत्रयोगी, जयपाल, पांडुमुनि, धृतषेण ध्रुवसेन कंसाचार्य, इन ग्यारह अंगधारी पांच मुनियों को नमस्कार करता हूं।

सुभद्र, जयभद्र (यशोभद्र)- जयबाहु भद्रबाहु, लोहाचार्य इन आचारांग-धारी चार आचार्यों को मेरा नमस्कार है।

विनयंधर, श्रीदत्त, शिवदत्त, अर्हद्दत्त ये एक पूर्व धारी चार मुनि हुए हैं उन को नमस्कार करता हूं।

अर्हद् बलि, माघनंदीयोगी, धरसेन आचार्य भूतबली पुष्पदंत इन एक पूर्वधारी पांच आचार्यों को नमस्कार करता हूं।

श्रीदत्त, यतिवृषभ, उच्चारणाचार्य, माघनंद्याचार्य, कुंदकुंदाचार्य, समंतभद्राचार्य, शुभनंद्याचार्य, वीरनंद्याचार्य, बोप्पन देवाचार्य, लोहाचार्य, वीर सेनाचार्य, जिनसेनाचार्य, गुणभद्राचार्य आदि अविच्छिन्न श्रुत संतान परम्पर में चले आये आचार्यों को मैं नांदीमंगल पूर्वक नमस्कार करता हूं।

श्रीमज्जैनेन्द्रधर्माम्बरकमलशिखे विश्रुते मूलसंघे ।
तत्संघश्रीकभूषाविलसदिह्गणश्रीबलात्कार नाम्नि ।।
केचित्त्रैविद्यदेवाः कविकुलतिलकाः केचिदाचार्यवर्याः ।
केचिद्वादीभसिंहा गुरुकुलतिलकाः केचिदेवं प्रसिद्धाः ।।२०।।

स्वास्ति श्री मूलसंघ बलात्कार गणान्वय में अनेकाचार्य प्रवर्तन करनेवाले काल में श्री वर्द्धमान भट्टारकके शिष्य पद्मनंदी त्रैविद्यदेव, इनके शिष्य श्रीधराचार्य, इनके शिष्य वासुपुज्य सिद्धांति देव, इनके शिष्य मासोपवासी रविचंद्र सिद्धांति देव, इनके शिष्य श्रुत कीर्ति त्रैविद्यदेव, इनके शिष्य वीरनंदी सिद्धांति देव, इनके शिष्य गंडविमुक्त नेमिचंद्र भट्टारक देव, इनके शिष्य पक्षोपवासी जिन चन्द्र भट्टारक देव, इनके शिष्य वर्द्धमान भट्टारक देव, इनके शिष्य श्रीधर पंडित देव, इनके शिष्य (वासुपूज्य त्रैविद्यदेव, इनके शिष्य उदयचंद्र सिद्धांति देव, इनके शिष्य ।)

स्वस्ति श्रीमूलसंघप्रवरगणबलात्कारसंज्ञे प्रसिद्धः।
सज्ज्ञानांभोजमित्रः सकलगुणगणालंकृतो वासुपूज्यः ।।२५।।
त्रैविद्याख्यस्यसूनुर्विलसदुदयचंद्रोमुमुक्षुप्रमुख्यः ।
तच्छिष्यस्तत्ववेदी परमकुमुदचंद्रोल्लसत्कीर्तिसांद्रः ।।२६।।

श्रेयस्कर अत्यन्त प्रवर संघ में रहने वाले बलात्कार गण में प्रसिद्ध सम्यग्ज्ञान रूपी कमल के लिये सूर्य के समान और सर्व गुणों से सुशोभित ऐसे वासुपूज्य त्रैविद्य देव, इनके पुत्र (शिष्य) संसार से मुक्त होने के इच्छुक उदय चंद्र इनके शिष्य तत्वज्ञान में कोविद तथा कीर्ति से प्रकाशमान "कुमुदचन्द्र" गुरु हैं। उनका मैं मंगलमय ५२ श्लोकों द्वारा मन वचन काय से नमस्कार करता हूं।

परम्परानुसार समस्त आचार्यों को नमस्कार करने के पश्चात् श्रीमाघ-नन्दिआचार्य द्वारा निज-गुरु श्री कुमदेन्दु आचार्य को नमस्कार:—

दुश्चित्तदुर्भावविवर्जिताय सज्ज्ञानचारित्रदृगूर्जिताय ।
सद्धर्मतत्वं हि समर्जिताय श्रीकौमुदेन्दुव्रततर्जिताय ।।२७।।

अज्ञानतमसा लुप्तो मार्गो रत्नत्रयात्मकः ।
तत्प्रकाशसमर्थाय नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।।२८।।

जिन्होंने अपनी मानसिक बुरी कल्पनाओं को छोड़ दिया है, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र से जो समृद्ध हैं, जो सत्यधर्म के तत्व का सदा आराधन करने वाले हैं तथा प्रकाशमान चन्द्रमा के द्वारा समान जिन्होंने आत्मतत्व को वश कर लिया है और अपने आत्मरूपी चन्द्रमा के द्वारा चारों ओर फैले हुये अज्ञानान्धकार को हटाकर रत्नत्रयरूपी मार्ग को प्रकाश करने के लिये जो समर्थ हैं, ऐसे श्री कुमुदचन्द्राचार्य को नमस्कार हो ।

संसारदुःखभीताय स्वात्मोत्थसुखसेविने ।
रत्नत्रयपवित्राय नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।।२८।।

संसार के दुःख से भयभीत आध्यात्मिक सुख का सेवन करने वाले और रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र से परिशुद्ध श्री कुमुदेन्दु आचार्य को नमस्कार हो ।

जिनवाक्यार्णवोद्भूतरत्नत्रयसु निर्मलम् ।
चित्तसंधारकस्तस्मै नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।।३०।।

जिनवाणी रूपी समुद्र से उत्पन्न हुये रत्नत्रय से निर्मल चित्त को धारण करने वाले श्री कुमुदेन्दु आचार्य को नमस्कार हो ।

अध्यात्माम्बुधिसंजातसद्रत्नत्रयधारिणे ।
भव्यसार्थोपदेशाय नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।।३१।।

आध्यात्मिक समुद्र से उत्पन्न हुये रत्नत्रय को धारण करने वाले तथा भव्य जीवों को सदुपदेश करने वाले श्री कुमुदेन्दु आचार्य को नमस्कार हो ।

रुचिनिश्चित्तिचारित्रपदार्थानागमाद्ध्र वम् ।
चित्ते संधारकस्तस्मै नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।।३२।।

शास्त्रानुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा पदार्थों को अपने अंतःकरण में रखने वाले श्री कुमुदेन्दु आचार्य को नमस्कार हो ।३२।

श्रद्धानज्ञानचारित्रं शुद्धात्मन्येव वर्तते ।
बुद्धेत्थन्देशकस्तस्मै नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।।३३।।

इस जगत में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों शुद्ध आत्मा में ही रहते हैं, ऐसा जिन्होंने समझा है उन श्री कुमुदेन्दु आचार्य को नमस्कार हो ।

ओजसं दर्शनं सम्यगोजसं ज्ञानमुत्तमम् ।
ओजसं चरणं तस्मै नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।३४।

उज्ज्वल प्रदीप्त सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र जिनमें है, ऐसे श्री कुमुदेन्दु आचार्य को नमस्कार हो ।

भेदसम्यक्त्वयुक्ताय भेदज्ञानार्थवेदिने ।
भेदचारित्रधाराय नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।३५।

विविध भेदों से युक्त सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र के धारक श्री कुमुदेन्दु आचार्य को नमस्कार हो ।

प्रशस्तदर्शनाढ्याय समस्तवस्तुवेदिने ।
निरस्तरागद्वेषाय नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।३६।

प्रशस्त सम्यक्त्व से सम्पन्न, समस्त पदार्थों को अच्छी तरह से जानने वाले तथा राग-द्वेष को दूर करने वाले श्री कुमुदेन्दु आचार्य को नमस्कार हो ।३६।

सम्यक्त्वरत्नपात्राय ज्ञानरत्नप्रकाशिने ।
वृत्तरत्नपवित्राय नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।३७।

सम्यग्दर्शन रूपी रत्नत्रय के पात्र, ज्ञानरूपी रत्न से प्रकाश करनेवाले तथा सम्यक्चारित्र से पवित्र श्री कुमुदेन्दु आचार्य को नमस्कार हो ।३७।

श्रद्धाने बुद्धिचित्ताय संज्ञानामृतपायिने ।
सत्संयमाधाराय नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।३८।

सम्यग्दर्शन में दृढ़ चित्त रहने वाले, सम्यग्ज्ञानरूपी अमृत को पान करने वाले तथा उत्तम संयम को धारण करने वाले श्री कुमुदेन्दु आचार्य को नमस्कार हो ।३८।

द्विप्रकारमिदं प्रोक्तं रत्नत्रयसुनिर्मलम् ।
तत्सारचेतकस्तस्मै नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।३९।

रत्नत्रय के दो भेद हैं। निश्चय और व्यवहार । उसके सार को जानने वाले श्री कुमुदेन्दु आचार्य को नमस्कार हो ।३९।

द्रव्यास्तिकायतत्वार्थबंधमोक्षादिकारणं ।
यो नरो मोयते तस्मै नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।४०।

बंध, मोक्षादि के कारण द्रव्य, अस्तिकाय, तत्व, पदार्थ के जो ज्ञाता हैं उन श्री कुमुदेन्दु आचार्य को नमस्कार हो ।४०।

द्रव्यास्तिकायतत्वार्थसारभूतं निजात्मकं ।
तद्ध्यानयोगयुक्ताय नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।४१।

आत्मस्वरूप तथा सारभूत द्रव्य, अस्तिकाय, तत्व, पदार्थ का ध्यान करने वाले कुमुदेन्दु आचार्य को नमस्कार हो ।४१।

द्रव्यत्वं च गुणत्वं च पर्यायार्थं निजात्मना ।
यो जानाति स्फुटं तस्मै नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।४२।

अपने आत्मा के साथ जो द्रव्यत्व और गुणत्व और पर्यायार्थ को स्पष्ट जानते हैं उन श्री कुमुदेन्दु आचार्य को नमस्कार हो ।

सर्वद्रव्यन्तु सर्वज्ञैः पूर्वाचार्यैश्च वर्णितम् ।
तदेव वर्णकस्तस्मै नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।४३।

जिस प्रकार सर्वज्ञ परमेश्वर तथा पूर्वाचार्यों ने समस्त द्रव्यों का वर्णन किया है उसी प्रकार वर्णन करने वाले श्री कुमुदेन्दु आचार्य को नमस्कार हो ।

द्रव्योत्पत्तिव्ययात्मनं शुद्धात्मानं नयादिभिः ।
ज्ञातोपदेशकस्तस्मै नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।४४।

उत्पत्ति व्यय स्वरूप द्रव्य को तथा शुद्धात्मा के जो नय निक्षेप आदि से ज्ञाता हैं तथा उनके उपदेशक हैं ऐसे श्री कुमुदेन्दु आचार्य को नमस्कार हो ।

शुद्धोपयोगयुक्ताय शुद्धतत्वोपदेशिने ।
शुद्धात्मध्याननिष्ठाय नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।४५।

शुद्धोपयोग से युक्त तथा शुद्ध तत्वोपदेश को करने वाले और शुद्धात्मा में लीन श्री कुमुदेन्दु आचार्य को नमस्कार हो ।

नमः कुमुदचन्द्राय चन्द्रज्योतिःप्रकीर्तये ।
कीर्तिताशेषभव्याय भव्यव्यूहप्रबोधिने ।४६।

चन्द्रमा की ज्योति के समान कीर्तिमान, समस्त भव्य जीवों द्वारा प्रशंसित, भव्य जीवों को प्रबुद्ध करनेवाले श्री कुमुदेन्दु आचार्य को नमस्कार हो ।

सम्यक्त्ववज्रपातेन मिथ्यात्वाद्रिप्रभेदिने ।
सद्व्रतचक्रधाराय नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।४७।

सम्यक्त्व रूपी वज्र से मिथ्यात्वरूपी पर्वतों को चकनाचूर करने वाले सद्व्रत रूपी चक्र को धारण करने वाले श्री कुमुदचन्द्र को नमस्कार हो ।

मिथ्यात्वाद्रिसुवज्राय अज्ञानध्वान्तभानवे ।
अव्रताग्निं च तोयाय नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।४८।

मिथ्यात्व रूपी पर्वत के लिये वज्र के समान, अज्ञान अन्धकार के लिये सूर्य के समान और अव्रतरूपी अग्नि को बुझाने के लिये जल के समान श्री कुमुदचन्द्र को नमस्कार हो ।४८।

रुचि बल्या ...बोधाब्धेर्विधुरोचिने ।
चारित्राम्बुजमित्राय नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।४६।

अर्थ—ज्ञानरूपी समुद्र को उद्वेलित करने के लिए चन्द्रमा के समान चारित्ररूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये सूर्य के समान श्री कुमुदचन्द्र को नमस्कार हो ।

जीवपुद्गलमाकाशं धर्माधर्मौ च कालकं ।
येन-प्रकाशितं तस्मै नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।५०।

जीव, पुद्गल, आकाश, धर्म अधर्म और काल द्रव्य को जिन्होंने ग्रन्थ प्रकाशित किया है ऐसे श्री कुमुदेन्दु आचार्य को नमस्कार हो ।

विद्दरतपोबलं वृत्तमाचारं पंचभेदकं ।
मनोमन्दिरधाराय नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।५१।

दुर्द्धरद तपो बल और पांच प्रकार के आचार को जिन्होंने अपने मन रूपी घर में धारण किया है उन श्री कुमुदेन्दु आचार्य को नमस्कार हो ।

मारमातंगसिंहाय चारित्राम्बुजभानवे ।
कारुण्यार्णवचन्द्राय नमोस्तु कुमुदेन्दवे ।५२।

मदनरूपी हाथी को सिंह के समान, चारित्ररूपी कमल को सूर्य के समान, दयारूपी समुद्र को चन्द्र के समान श्री कुमुदेन्दु आचार्य को नमस्कार हो।

अनादि अनिधन श्रुतस्कंध परमागम में सारपद समूह के अर्थ के साथ करके जगत्रय तथा कालत्रयवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् अवलोकन करने में समर्थ, सकल विमल केवल ज्ञान के अधीश्वर श्री ऋषभनाथ तीर्थंकर के चरण संनिधि में वृषभसेन गणधर ने भरत चक्रवर्ती को तत्व-उपदेश दिया था । श्री महावीर स्वामी के चरण निकट में श्री गौतम गणधर ने भी श्री मगधापति राजा श्रेणिक से चार अनुयोग कहे थे । वही जैनागम ज्ञान वैराग्य-सम्पन्न, सप्त भय से रहित, गुरु-परम्परा क्रम से चला आया है, प्राकृत, संस्कृत आदि अनेक भाषामय है उसे कर्णाटक की जनता के उद्देश्य से तथा अज्ञानी जीवों के

उद्देश्य से संधि, समास, क्रिया, कारक, विशेष, विशेषण वाक्य परिसमाप्ति, पुनरुक्तादि दोषों का विचार न करके व्यक्तार्थ होकर नित्यानन्द श्री कुमुदचन्द्र दिगम्बर जैनाचार्य देव के प्रिय शिष्य श्री माघनन्दी सिद्धान्ति देव ने शास्त्रसार समुच्चय ग्रन्थ बनाया है। भेदाभेद रत्नत्रय की भावना वाले भव्य जीव, निर्मत्सर भाव वाले बहुश्रुती यदि इस ग्रन्थ में कुछ त्रुटि देखें तो उसको शुद्ध लिखकर, लिखाकर अथवा सुनकर या प्रवर्तन कर पुण्यवृद्धि को, यशवृद्धि को तथा स्वर्गापवर्ग को प्राप्त करें।

श्रेयात्श्रीधर देवशिष्यतिलकः श्री वासुपूज्यमुनिः।
त्रैविद्यतदपत्यनुत्यनुदयेंदुख्यात सिद्धांतितत्पुत्रः ॥
कुमुदेन्दुयोगितिलकः तत्सूनुरत्युन्नतः ।
सिद्धान्तार्णव चन्द्रमात्सुख पदं श्रीमाघनंदीव्रति ॥२१॥
मूल संघक्षितोभाति बलात्कारगणांबुधिः ।
नूत्नरत्न समूहं व्याशोभंतेमि मुनिश्वराः ॥५३॥
श्रीनाथ जैनमार्गोत्तमरेंशिसि तपख्यातियंताळिसर्ब ।
ज्ञानात्मवर्धमान प्रवररवशिष्यर्महावादिगळ्वि ।
द्यानंदस्वामिगळ्तन् मुनिगळनुजर्तार्किकार्काभि ।
दानादिर्माणिक्यनंदि व्रति प्रतिगळवर्शासिनिद्धात्सहस्तर् ॥२२॥
तदपत्यगुणकीर्ति पंडितखतरर्चासनख्यातको ।
विदरासूरिगळात्मजर्विमलस्तत्पदांभोजष ।
ट्पदरुद्यगुणचंद्ररंतवरशिष्यरेवीशास्त्रार्थदोळ् ।
विदितगंड विमुक्तरि नभयनंद्याचार्यरार्योत्तमर् ॥२३॥
कृतकृत्यरभयनंदिग। ळतनुजर्सकल चन्द्र सिद्धांतिकर
प्रतिमस्सर्वांगमळा। न्वितगंडविमुक्त देवमुनि शिष्पर् ॥२४॥
एनसिद गंड विमुक्तर। तनूभवच्छरकरणपदविद्यापा-।
वन मंत्र वाददोळु त्रिभु। वनचंद्रमुनिंद्र रल्ते बुधजनवंद्यर् ॥२५॥
अतिशय चन्द्र कीर्ति मुनिराज तपोवन राज कीरनू
र्जितगुण मेघ चंद्रमुनि वाक्यपयः प्लवराज्य हंसनु ॥
सद्गुण वत्सल सुकविवत्सल नूर्जित कीर्ति भारति।
पतिएने पोललार्त परमशिनवर् श्रुत कीर्ति देवरं ॥२६॥

श्री वर्धमानयतिवर । राविक्रितबोधवार्धिबाक् श्रीधररं ॥
त्रैविद्यावासुपूज्यर । निवसुधावंद्यरेणि सिद्धदर्येबुगळं ॥२७॥
नेनेवें कुमुदेंदुगळ । अननुतनेमिचन्द्र भट्टारकरं ॥
विनुतस्त्रिभुवन चन्द्रर । ननवरतं वाल चन्द्र विद्यात्रयरं ॥२८॥
तूयाध्ययन संपन्ने शास्त्र सार समुच्चये ।
पठितेन्त्रोपवासार्धं फलं स्यान्मुनि भाषितं ॥५४॥
चतुरध्याया संशुद्धे शास्त्रसार समुच्चये ।
पठिनेनन्त सोख्यं स्याद्भाषितं मुनि पुगंवै : ॥५५
उक्तं श्री मूलसघे श्रीबलात्कार गणाधिपैः ।
श्रीमाघनंदि सिद्धांतैः शास्त्रसार समुच्चय ॥५६॥
स्वस्ति श्री मूलसंघेस्मिन् बलात्कार गणेजनि ।
श्री माघनंदि सिद्धान्ति शास्त्रसाराख्याशास्त्रकृत् ॥५७ ।
श्रीयं श्रीदेवराजस्तुतननु पनिः कामनाचारसारं ।
न्यायान्याय प्रभेद प्रकरटन पटुश्यु भव्यांभोदियोगी ॥
ज्यायं श्री माधनंदि व्रतिपतिनुतराद्धांतचक्रेश्वरं वा ।
क्श्रीयं कूत्तिगे भव्यावळिगे गुरुगळप्पैवरंतोप्पै तोपं ॥२९॥
अरेवेण्णादन दोर्वनोर्वनुरम कूतित्तनोवंगेदे ।
वरोळोर्व मोरेगेट्टनेन्नोळेडर्दं गोद्भवं बिकंमे ।
रिरेतन्नोळ् गुणदिंदे का्ट वृषदिंदं पेट्टमं पूडिनो ।
डो सिद्धान्तिक माघनंदियेळदं प्रोद्धामनं कामनं ॥३०॥
वारिजनाभनं मवुपनं ह्रिय पशु गावनं जटा ।
धारिक पदियंतिरिवनं बल॥५ वेल्वेनेवंह ॥
कारदि बंबु नीं तोडवेंयप्पोडेदर्पक माधणंदि सै- ।
द्धांतिक देवरिं पडेवे भगचयंगळनाजिरंगदोळ् ॥३१॥
मल्लिगेय नगे मोगंगळ् । मेल्लनेबेळपेरे मंबमरुतम् भयदिं ।
वल्लल्लिगे हुगे मदनन । विल्लं श्री माघनंदियतिपतिमुरिदं ॥३२॥
असेयलुदर्पक निन्नोळुप्रनळिपं मायाविळ पोल्लड ।
पशु पाक्कि नेहवन्ननेलसद् भोधासन निस्पृह ॥

विसुटं मायेयनोक्कनु प्रतेमनीं कोविद्दु बोडागविर् ।
कुसुमोग्रायुध माघनंदियतियोळ् सिद्धान्त चक्रेशनोळ् ॥३३॥
परमर्हत्स्वमताब्धि वर्द्धहिमकृद्बिंबं विनेयाबुहो ।
त्करं द्रविबबन्ध समयक्षेभं वेह्रसंबन- ॥
स्मरतिशोध विडंबनें भरदि व्याकरणकु संततं ।
धरयोरंतिरे माघनंदियतिय सिद्धान्त चक्रेशनं ॥३४॥

येनारेष पदार्थ सार्थ कथनं जागद्यते संततं ।
एनातंककळंकपंक मुनिशं दोधूयते भूयशा ॥
एन श्री जिन राजितयशो जेगीयते सांप्रतं ।
सोयं जोवतु माघनंदि यतियं सिद्धान्त चक्रेश्वर ॥३५॥

श्रुत कांता कान्त कांतामल गुणमणिकान्तिमोहव्यूह ।
दूरी कृत विततपोरुप रुपायतोद्य ॥
त्परमानंदा यलोका हृदय जाब्जाब्ज वर्धस्वळोके ।
यतिप श्री माघनंदि मुनि जननुतराद्धांत चक्रेशमित्थं ॥३६॥

तत्पादांभोज भक्त्ं द्दिशतु निरुपमं चित्सुखं दोषदूरं ।
नित्यानंदं निजोत्थं परम समरसि भावमत्यंतसेव्यं ॥
राद्धांतांबोधिचंद्रं प्रतिगुण निधें माघनंदी व्रतींद्रं ।
स्तेयात्सं सत्वमद्दुदय कुमुदके कंतुगर्वादिवज्रं ॥३७॥

श्री माघनंद्याचार्य की बिरुदावली—

स्वस्ति श्री समस्त अमुख प्रमुख लेख सेखर शोमणि माणिक्य पुंज रंजित चारु चरणारविदद्वन्द्व परम जिनेन्द्र चरण स्मरण परिणतः करणापार संसार पारा वारोत्तरण, श्री मूल संघ क्षीर वाराशिरंजित बलात्कार गणोदया द्रिन्द्र समुत्पन्नोदय चन्द्रराद्धांतात्मज श्री कुमुदचन्द्र भट्टारक देवस्यमनः प्रिय शिष्य स्वशुद्धात्म भावना धीश्वर, गुणो पोषकः राग द्वेषद्वय वर्जित भक्ति भर विनय जननीरेज मित्रं, भेदाभेद रत्नत्रय पवित्र गात्रं त्रिमूढ, त्रिशल्य त्रिगारव, त्रिदंड खंडितं चतुर्विध पांडित्यत्वगुणमंडितं, निश्चय व्यवहार पंचाचारएचित सहितं, पंचेंद्रियेभ पंचाननं, षडावश्यक षडाननयुक्तं सप्तभय विप्रमुक्तं, नव विधब्रह्मचर्य समेतं, द्वादशानुप्रेक्षा भावना चतुर, निजनिरंजन परमात्म तत्व सेवना कुशल अध्यात्म शास्त्र वेदादि युक्तान् सिद्धान्त सार सर्वस्व कोशावासैकसूतये नमः । श्री माघनंद्याख्य विश्वविख्यात कीर्तये: ।

नमोनम्मजनानंदस्यंदिने माघनंदिने ॥
जगत्प्रसिद्ध सिद्धान्त वेदिने चित्प्रमादिने ॥५८॥

परमागम अध्यात्मवेदी निजात्मोत्थसुखसम्पन्नादी श्री कुमुदचन्द्र भट्टारक देव के प्रिय शिष्य चतुरनुयोग कुशल सिद्धान्त वारिध सुधाकर श्री माघनन्दि सिद्धान्तिक देव द्वारा विरचित चतुरयोग नाम अपर नाम शास्त्र समुच्चय के चौथे द्रव्यानुयोग की कर्णाटक वृति का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

वीरप्रभुमुखोद्भूता विश्वकल्याणकारिका।
चतुरनुयोगरूपा सा जीयाज्जैनभारती ॥१॥
माघनन्दियतीन्द्रेण तस्याः सारसंग्रहः
व्यधायि सूत्ररूपेण नाम्ना शास्त्रसमुच्चयः ॥२॥
अज्ञातविदुषा केन-चन कन्नडभाषया।
विहिता व्याख्या तस्या विशाला चित्तहारिणी ॥३॥
जनोपयोगमुद्दिश्य हिन्दीवाण्यामनूदिता।
देशभूषणमुनीन्द्रेण दिक्पटव्रत धारिणा ॥४॥
इन्द्रप्रस्थमहानगरे दिल्ली प्रख्यातनामके।
लालदुर्गो महानस्ति यमुनानद्यास्तटे ॥५॥
तत्समक्षं शोभतेऽतीव जैनलालमन्दिरम्।
अस्मिञ्जिनालये पूते पूतं कार्यमिदं कृतम् ॥६॥
षोडशोनसहस्राब्द अयातीते च निर्वृतेः।
श्रीशवीरजिनेन्द्रस्य विश्ववन्द्य गुणोदधेः।
मासाश्विनपक्षे शुक्ले विजयादशमीतिथौ।
कार्यमेतत्समापन्नं गुरौ हि शुभवासरे ॥८॥

इति माघनंद्याचार्य विरचित शास्त्र सार
समुच्चय हिंदी अनुवाद
समाप्तः

अन्तिम प्रशस्ति

आनन्दाब्धेर्महितसे लोकजनानन्दकन्दलसमेते ।
श्रावकवृन्दसनाथे सोमे वारे हि मकरगेचन्द्रे ॥
अथ विजयदशम्यामाश्विने निल्लकारे,
विपुलमहितशोभेऽनन्तनाथस्य गेहे ।
जिनपगुणनिधानं शास्त्रसारात्मसारं,
व्यलिखतमिति कीर्तिश्चन्द्रवाराशिसूरिः ॥

यानी-जनता को सुख कारक, धर्म-प्रिय श्रावकों के नायक आनन्दसागर के राज्य में सोमवार के दिन (जब चन्द्रमा मकर राशि में था) विजयादशमी (आसोज सुदी १०) को निल्लिकार के अनन्तनाथ जिनालय में समस्त शास्त्रों के सारभूत इस शास्त्रसार समुच्चय (की टीका) को चन्द्रकीर्ति आचार्य ने लिखा है ।

